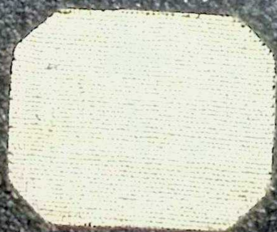


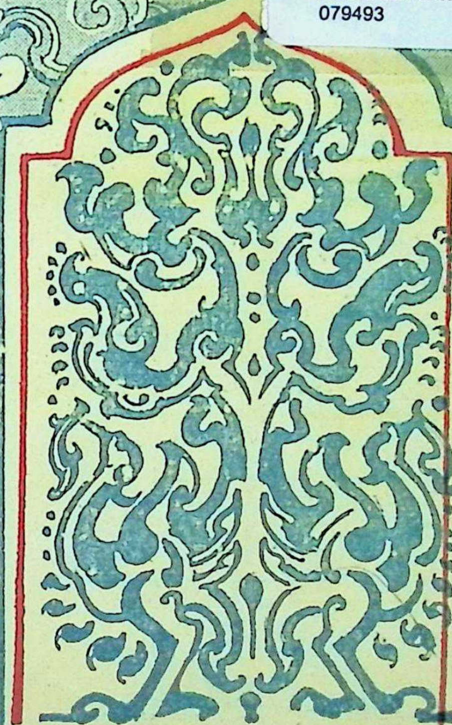
AVANTIKA AUG-DEC 1954

G.K.U.

अवन्तिका

अगस्त
१९५४ ई०





वार्षिक १०)

संपादक
लक्ष्मीनारायण सुधांशु

एक प्रति १)

अवन्तिका की नियमावली

संपादन-विभाग

१. अवंतिका प्रतिमास अँगरेजी महीने की पहली तारीख को प्रकाशित हुआ करेगी।

२. अवंतिका में सार-संकलन के अतिरिक्त केवल मौलिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जायँगी। अन्यत्र प्रकाशित या रेडियो द्वारा प्रसारित रचनाएँ अवंतिका में प्रकाशित नहीं की जायँगी।

३. किसी भी रचना को प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को रहेगा।

४. अवंतिका में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ दूसरे पत्रों को न भेजी जानी चाहिए।

५. अवंतिका में साहित्य, संगीत, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के लेख प्रकाशित हुआ करेंगे।

६. अवंतिका में प्रकाशनार्थ भेजी जानेवाली रचनाओं की प्रतिलिपि लेखकों को अपने पास अवश्य रख लेनी चाहिए।

७. अवंतिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ कागज के एक ही पृष्ठ पर, यथेष्ट उपांत छोड़कर, साफ-साफ लिखी रहनी चाहिए।

८. अवंतिका में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं के संबंध में निश्चित रूप से यह बताना संभव नहीं है कि कौन रचना किस अंक में प्रकाशित हो सकेगी।

९. अवंतिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ, परिवर्तनार्थ पत्र-पत्रिकाएँ और आलोचनार्थ पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के नाम ३।५, आर० ब्लॉक, पटना के पते पर भेजी जानी चाहिए।

प्रबंध-विभाग

१. अवंतिका का वार्षिक चन्दा १०) दस रुपए और एक अंक का १) एक रुपया तथा विदेशों के लिए १७ शिलिंग है।

२. अवंतिका का ग्राहक किसी भी महीने से बनाया जाता है।

३. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

४. कम-से-कम ५ प्रतियाँ मँगानेवाले को एजेंट नियुक्त किया जायगा।

५. नमूने का अंक मुफ्त भेजने की प्रथा नहीं है।

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४


सुखमय भविष्यकी नीव

साहित्यसाधना की पृष्ठभूमि

लेखक : श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव'

आलोचना-साहित्य में अनुपम देन : मूल्य ६) मात्र

कुछ सम्मतियाँ

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी :

......'बहुत अच्छी लगी। यह स्रष्टा का विवेचन है। आलोचक अगर स्रष्टा नहीं हुआ तो वह नीरस हो जाता है और अपने ज्ञान की गरिमा से पाठक की गरदन तोड़ देता है। आपकी विवेचना सरस है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग :

साहित्य-शास्त्र-संबंधी इस ग्रंथ को अत्यन्त परिश्रम और मनोयोग के साथ लिखा गया है। इस विषय पर यह अपने ढंग का बहुत सुन्दर है।

डा० शिवनाथ, शान्ति-निकेतन :

हिन्दी में ऐसे सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रंथ थोड़े हैं।

कविता

अशोक—श्री रामदयाल पाण्डेय	१।।)
कबीर · श्री यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज'	१।)
स्वर्णोदय—'प्रभात'	१।)

कथा-साहित्य

अनोखा आदमी—पं० छविनाथ पाण्डेय	३)
अस्पताल में ,,	३)
अंधकार ,,	३)
बदलती दुनिया—श्री सुरेश्वर पाठक	२।।।)
दरवेश का बेटा—श्री भालचन्द्र ओझा	१।)
केशवहार एजेंट—श्री राधाकृष्ण प्रसाद	१)
मृत्यु के मुँह में—श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)

नाटक

कसाई—श्री मोहनलाल महतो	२)
पुनरावृत्ति—श्री हंसकुमार तिवारी	१।।।)
पंचामृत—श्री अनूप	१।)

किशोर साहित्य

धरती पर धावा	।।)
विदेशी गाथाएँ	।।।)
कला की कुटिया में	१।)
विज्ञान के पथ पर	१।)
आदि मानव	।।।)
हमारे युग-पुरुष	१)
मेरा विहार	१।)
कविता कानन	१।)
हम और हमारा समाज	२।)
हमारी शिक्षा	१)
सत्यं-शिवं-सुन्दरम्	।।=)
भूला हुआ भारत	१)
कृषि के वे दिन और ये दिन	।।)
हम कौन थे क्या हो गए	।।)

ग्राम्य साहित्य

पेड़-पौधों का संसार	२)
साग-सब्जी की खेती	२)
पशुओं का अनुभूत इलाज	१।।)
मनुष्य और भूमि	।।=)
कृषि और कृषक	।।)।।

गाँधी साहित्य

राष्ट्रपिता	।।≡)
बापू की बातें	।।≡)
बापू को जानो	।।≡)
बापू की सीख	।≡)
बापू की गूँजती आवाजें	।≡)
स्वराज्य का सच्चा अर्थ	।।-)

प्रकाशन की पूरी सूची मँगाकर देखें

ज्ञानपीठ लिमिटेड : पटना-४

राष्ट्र को आह्वान

तीन साल पहले, मार्च १९५१ में, भारत के लोगों ने अपने लिए एक बेहतर ज़िन्दगी का निर्माण शुरू किया। हमारी पहली पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य था अधिक अन्न उपजाना, अधिक सामान पैदा करना, सामाजिक सेवाओं को उन्नत करना और अधिक रोज़गार खोलना।

अभीतक की प्रगति प्रभावशाली रही है। एक नये भारत का निर्माण करने के इस महान साहसिक कार्य में हम अबतक लगभग एक हज़ार करोड़ रुपया खर्च कर चुके हैं। अन्न के लिए अब हम बाहरी सहायता पर निर्भर नहीं करते। हमने तिलैया जैसे विशाल बाँध बनाये हैं, बोकारो जैसे थर्मल पावर स्टेशन कायम किये हैं, सिंदरी जैसे कारख़ाने कायम किये हैं और चंडीगढ़ जैसे नगर बनाये हैं। हम ख़ुद अपने रेलवे इंजिन बनाते हैं और अपनी मोटर कारें और विमान जोड़ लेते हैं। सामुदायिक योजनाओं और ग्राम्य विस्तार सेवाओं के ज़रिये, हमने ग्राम्य वैभव और ख़ुशहाली की नींव रखी है।

जी-जान से कोशिश की ज़रूरत है। इस प्रगति के बावजूद, अपने लिए निश्चित किये लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बाकी बचे दो वर्षों में जी-जान लगाकर कोशिश करने की ज़रूरत है। इस कोशिश के लिए अदा करने को भारत को अभीभी लगभग तेरह सौ करोड़ रुपये की ज़रूरत है।

राष्ट्रीय योजना ऋण, समय की पुकार पर उठ खड़े होने के लिए राष्ट्र को आह्वान है। पंच-वर्षीय योजना जनता की योजना है। इस साहसिक कार्य की सफलता के लिए अपने भाग का योग देना जनता का कर्तव्य है। यह आपका भी कर्त्तव्य है और मेरा भी।

राष्ट्रीय योजना ऋण

में उदारतापूर्वक धन दीजिये,

(३.५% प्रतिवर्ष ब्याज; हर छः माही दिया जाता है)

और अधिक विवरण के लिए रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया, इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया, दि हैदराबाद स्टेट बैंक, दि बैंक ऑफ़ मैसूर लि. की किसी भी शाखा या किसी भी सरकारी ख़ज़ाने या उप-ख़ज़ाने को लिखिये।

राष्ट्रीय योजना सर्टिफ़िकेट्स

ख़रीदिये।

(पूर्ति पर ४.५% प्रतिवर्ष ब्याज)

और अधिक विवरण सेविंग्स बैंक का काम करनेवाले डाक-घरों से मिल सकता है।

योजना की प्रगति

	लक्ष्य योजना अवधि १९५१-५६ के लिए	सफलताएँ १९५१-५४ तक
अन्न	७६.० लाख टन	६०–७० लाख टन
	(अतिरिक्त उत्पादन प्रति वर्ष)	
सिंचाई (बड़ी योजनाओं के ज़रिये)	८५,३३,००० एकड़	३५,५६,००० एकड़
पावर	१०,८७,००० किलोवाट	७,२४,००० किलोवाट
नई सड़कें	८७० मील	४४७ मील
सूती वस्त्र	९,८२० लाख गज़	१,१,६३० लाख गज़
	(अतिरिक्त उत्पादन प्रति वर्ष)	
सामुदायिक योजनाएँ और ग्राम्य विस्तार योजनाएँ	१,२०,००० (गाँव)	४८,७५० (गाँव)
नये स्कूल	४३,६५५	२९,७२३
नये अस्पताल	९९६	६०९

भारत के भविष्य में धन लगाइये



परिषद् के ग्यारह अमूल्य ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठ : मूल्य ३।), २।।।)
२. हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, आर्ट पेपर, तिरंगे और एकरंगे लगभग १०१ चित्र, मूल्य ६।।)
३. सार्थवाह : डॉ मोतीचन्द, अध्यक्ष, प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बंबई, सैकड़ों अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र, लगभग ३५० पृष्ठ, मूल्य ११
४. विश्वधर्म-दर्शन : श्री साँवलियाबिहारीलाल वर्मा, पृष्ठ ७००, मूल्य १३।।)
५. यूरोपीय दर्शन : स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठ, मूल्य २।)
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा : डॉ० सत्यप्रकाश, प्रयाग-विश्वविद्यालय, मूल्य ८)
७. गुप्तकालीन मुद्राएँ : डॉ० अनंत सदाशिव अलतेकर, आर्ट पेपर पर २७ फलकें, हिन्दी परिचय के साथ, मूल्य ६।।)
८ प्राङ्मौर्य बिहार : डॉ० देवसहाय त्रिवेद, मूल्य ७।)
९. श्रीरामावतार-निबंधावली : स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, मूल्य ८।।।)
१०. काव्य-मीमांसा (राजशेखर-कृत) अनुवादक—केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत', 'सुप्रभातम्'-सम्पादक, काशी, मूल्य ६।।)
११. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए०, (द्वितय), पी० एच० डी०, अनेक रंगीन चित्रों से भरपूर, मूल्य १४)

शीघ्र ही प्रकाश में आनेवाले ग्रन्थ

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य : प्रो० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग विश्वविद्यालय
२. रवर : श्री फूलदेवसहाय वर्मा

प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, कदमकुआँ, पटना-३


ICI

वार्षिक
१०)

अवन्तिका

एक प्रति
१)

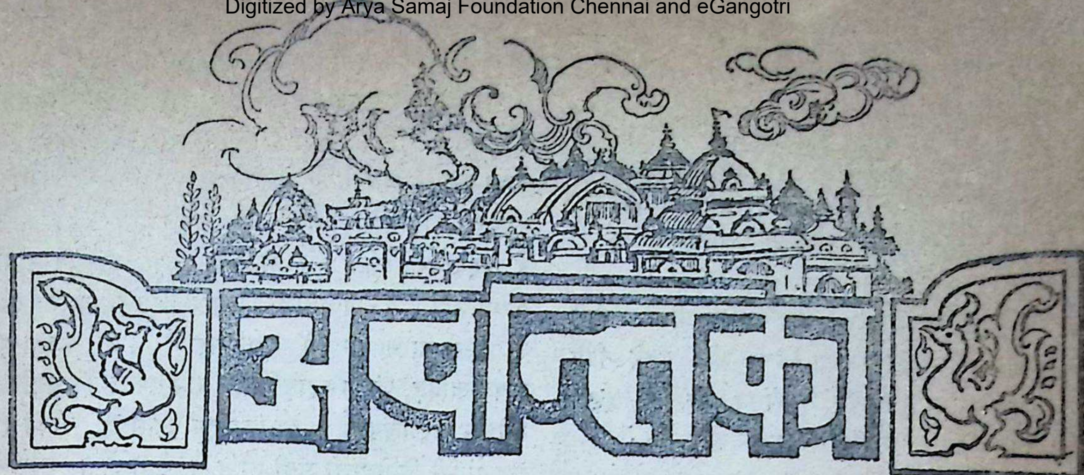
[विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

विदेश के लिए
सतरह शिलिंग

जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश, पेप्सू तथा विहार की सरकारों द्वारा
कॉलेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विदेश के लिए
डेढ़ शिलिंग

विषय-सूची : अगस्त, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड(२)] पटना, अगस्त १६५४ ई० :: श्रावण, २०११ वि० [अंक २ : पूर्णांक २०

संपादकीय

१. भूदान और जीवन-दान

विगत अप्रेल महीने में बोधगया (बिहार) में सर्वोदय-समाज के छठे वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर भूदान-यज्ञ के पुरोहित संत विनोवा की उपस्थिति में भाषण करते हुए श्री जयप्रकाशनारायण ने भूदान, श्रमदान, संपत्तिदान, कूप-दान, साधन-दान, बुद्धि-दान आदि की कड़ी में जीवन-दान की एक नई कड़ी जोड़ी। जयप्रकाशजी राजनैतिक वर्गभेद से प्रजा-समाजवादी नेता हैं, किंतु उनके विचारों का प्रभाव समान रूप से राष्ट्र के युवक-समुदाय पर पड़ता है। राष्ट्रपिता बापू के जीवन-काल में अपनी धारणा तथा विश्वास के अनुसार जयप्रकाशजी ने मतभेद ही प्रकाशित किया, किंतु जिस धातु या उपादान से जयप्रकाशजी का हृदय निर्मित हुआ है वह प्रायः बापू के निधन के बाद से स्पष्ट हो रहा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि तपः-पूत राष्ट्रपिता की साधना के साथ जयप्रकाशजी की प्रकृति का स्वाभाविक मेल है, किंतु कई कारणों से उनका राजनैतिक विश्वास जो अन्यत्र आधृत हो गया था, अब फिर अपने उचित स्थान पर जमने लगा है।

जयप्रकाशजी ने अपने भाषण के सिलसिले में कहा—

'कार्यकर्त्ताओं की संख्या कैसे बढ़े, इस प्रश्न पर हमें सोचना है। किस तरीके से नये कार्यकर्त्ता इस तरफ खींचे जा सकते हैं, इस पर सोचना है। जिस आंदोलन में नये कार्यकर्त्ता खींचने की शक्ति नहीं होती है, उसमें आंतरिक शक्ति नहीं है, ऐसा कहना पड़ेगा। परंतु हम कहते हैं कि इस आंदोलन में तो बड़ी शक्ति है। इसलिए भविष्य में हजारों नये कार्यकर्त्ता मिलेंगे। फिर उन्हें शिक्षण देने की व्यवस्था करनी होगी। काम के जरिये, क्रांति के काम के जरिये शिक्षण दिया जायगा। एक जगह बैठकर अध्ययन करने की बात नहीं रहेगी। यह सब हमें करना है। पिछले साल चांडिल में सर्वोदय-सम्मेलन में जो प्रस्ताव पेश किया गया था, उसमें तरुणों से और खासकर विद्यार्थियों से अपील की गई थी कि कम-से-कम एक साल का समय भूदान-यज्ञ के लिए दीजिए। अब हमें सोचना है कि इस तरह एक साल या पाँच साल देने की भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यह एक ऐसा आंदोलन है जिसमें एक साल या पाँच साल देने से ही काम नहीं चलेगा। इसमें तो जीवन-दान ही देना होगा। ऐसे जीवन-दानी कार्य-कर्त्ताओं का आवाहन इस संमेलन से होना चाहिए। मैं ऐसे कार्यकर्त्ताओं को आवाहन करता हूँ, यद्यपि आज मेरी वाणी बहुत शिथिल है। चांडिल-सम्मेलन के बाद

अखबारों में रिपोर्ट आई थी कि जयप्रकाश ने पार्टी छोड़कर, एक साल तक भूदान का काम करने का निश्चय किया है। उस समय मैंने वैसा कुछ नहीं कहा था। एक साल, दो साल देने की कोई बात मैंने नहीं कही थी। लेकिन आज मैं यह कह रहा हूँ कि मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त है कि मेरा नाम उन जीवन-दानी कार्यकर्त्ताओं में शामिल है।

जयप्रकाशजी के भाषण के बाद विनोबाजी ने अपने भाषण में जीवन-दान का समर्थन किया और दूसरे दिन जयप्रकाशजी के नाम एक पत्र लिखकर उन्होंने अपना जीवन समर्पण किया। उनका पत्र इस प्रकार है—

श्री जयप्रकाश,

कल आपने जो आवाहन किया था उसके जवाब में—

भूदान-यज्ञ-मूलक ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रांति के लिए मेरा जीवन समर्पण।

—विनोबा

सर्वोदयपुरी
२०-४-५४

जयप्रकाशजी के जीवन-दान-संबंधी आवाहन में और विनोबाजी के जीवन-समर्पण में विचार-भेद तो नहीं है, पर शब्द-भेद महत्त्वपूर्ण है। व्यवहार में अंतर न होने पर भी जीवन-दान और जीवन-समर्पण में तात्त्विक अंतर है। शंकराचार्य के मतानुसार विनोबाजी ने—दानं संविभागम्—दान को संविभाग माना है, किंतु शब्द-कोश में दिए गए अर्थ के अतिरिक्त 'समर्पण' का कोई दूसरा अर्थ या भाव, विनोबाजी की दृष्टि में क्या है, इसकी सूचना हमें नहीं है।

विनोबाजी के जीवन-समर्पण के बाद जीवन-दानियों की जैसी बाढ़ आई उससे किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति का घबरा जाना असंभव नहीं है। जयप्रकाशजी ने कहा—

विनोबा के पत्र के जवाब में मैंने जो शब्द आशा बहन को लिखकर भेजे और जिन्हें आप सुन चुके हैं, उनके बाद अपनी तरफ से मैं और कुछ कहना नहीं चाहता। मेरे पास जीवन-दानियों के इतने संकल्प-पत्र आ चुके हैं कि मुझे तो ऐसा हो रहा है कि यहाँ से भाग निकलूँ! मैं थोड़े ही इनका भार उठा सकूँगा! यह मेरा सामर्थ्य नहीं है। मेरे अपने जीवन की त्रुटियाँ, अशुद्धियाँ और खामियाँ मेरे सामने नाचने लगती हैं। इस जीवन-दान-यज्ञ का होता मैं बनूँ, यह तो मजाक की बात होगी। मैं पूज्य विनोबा के चरणों में ये सारे संकल्प-पत्र समर्पित करता हूँ।

जीवन-दानियों का अद्यतन आँकड़ा जो हमें प्राप्त है वह लगभग एक हजार है। जीवन-दान में जो साधना और तपस्या की भावना है उसको देखते हुए यह एक बहुत बड़ी संख्या है। अपने उद्देश्य के प्रचार-कार्य के लिए विनोबाजी को इससे संतोष नहीं है। चंपारण जिले के अपने यात्रा-क्रम के प्रवचन में उन्होंने भूदान की अपेक्षा जीवन-दान की ही माँग की है। माँग करने में कोई बाधा नहीं है, पर उसकी पूर्त्ति कैसे होती है, क्या यह विचारणीय विषय नहीं है? विनोबाजी विचार-परिवर्त्तन करना चाहते हैं, इसी कारण उन्होंने भूदान-यज्ञ में प्राप्त अच्छी-बुरी, ऊबड़-खाबड़, जंगल-पहाड़ आदि सब प्रकार की जमीन को स्वीकार कर लिया है। ऐसा मालूम पड़ता है, जीवन-दान-यज्ञ में भी विनोबाजी उसी नीति से काम लेना चाहते हैं। भूदान और जीवन-दान में एक ही नीति का अवलंबन वांछनीय नहीं। भूदान के बाद भूमि के साथ दाता का संबंध टूट जाता है, पर जीवन-दान में दाता के साथ समाज का संबंध अविच्छिन्न हो जाता है। विनोबाजी का उद्देश्य महान् है, इसलिए उसका साधन भी तदनुकूल महान् होना चाहिए। विनोबाजी इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं, किंतु यह खेद की बात है कि वे संख्या पर जोर देकर प्रकारांतर से अपने उद्देश्य की महत्ता को लघुता में परिणित कर रहे हैं। यह उनकी गणितज्ञ प्रकृति का परिणाम है।

जयप्रकाशजी ने भूदान-यज्ञ में नये कार्यकर्त्ताओं को खींचने के विचार से जीवन-दान का आवाहन किया था जैसा कि उनके उल्लिखित भाषण से स्पष्ट है, किंतु श्री धीरेंद्र भाई ने जीवन-दान की जो तात्त्विक व्याख्या की उसमें इस विचार को इतना गौण कर दिया गया कि उसकी झलक भी नहीं रह गई। धीरेन भाई एक अच्छे चिंतक तथा विचारक हैं। जयप्रकाशजी के हृदय में जीवन-दान के संबंध में जो प्रेरणा उत्पन्न हुई वह हमें राजनीति के व्यवहार-पक्ष की ओर ले जाती है, विनोबाजी ने उसमें अपना जीवन समर्पित कर उसके प्रचार-पक्ष को दृढ़ किया और धीरेन भाई ने अपनी व्याख्या से उसकी तात्त्विक पुष्टि की। उन्होंने कहा—

ईश्वर की प्रेरणा से भाई जयप्रकाश ने जीवनदान का जो आवाहन किया है उस आवाहन के जवाब में मैं भी अपना नाम लिखा रहा हूँ। मैंने काफी घबराहट के साथ अपना नाम लिखाया है, क्योंकि इस आवाहन की जो मूल प्रेरणा है और उस प्रेरणा के पीछे नाम देनेवालों की जो जिम्मेवारी है उसका मुझे भान है। भाई जयप्रकाश

ने सहज ही यह आवाहन किया है। वह मैंने जैसा समझा है, आज के भूदान-प्राप्ति और वितरण के लिए ही उन्होंने हमारा जीवन नहीं माँगा है। भूमिदान के मूल में जो विभिन्न मंत्र हैं, उनकी दीक्षा के लिए हमको आवाहन किया गया है। भूमिदान-यज्ञ में जो जीवन-क्रांति और समाज-क्रांति है उसे दृष्टि में रखकर यज्ञ में आहुति देने के लिए उन्होंने हमें बुलवाया है। जयप्रकाश बाबू ने केवल कार्यकर्त्ता बटोरने के लिए यह सामान्य आवाहन नहीं किया है। वैसा होता तो विनोबा को भगवान् प्रेरणा नहीं देते कि तुम भी अपना नाम लिखाओ। यह एक पवित्र आरंभ है। उसके लिए हम अपने को तैयार करते हैं। हमारी तैयारी आजीवन चलेगी। जीवन-दान का यह मतलब है।

जयप्रकाशजी और धीरेन भाई के विचार तथा दृष्टिकोण में जो तात्त्विक भेद है उसपर किसी विशेष टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। ऐसा भेद सदा से रहा है और रहेगा। जयप्रकाशजी ने राष्ट्र को अपना नेतृत्व दिया और धीरेन भाई ने अपना तत्त्वचिंतन! हमें देखना यह है कि संत विनोबा के तत्त्वावधान में भूदान और जीवन-दान को लेकर जो कुछ हो रहा है उसका प्रभाव राष्ट्र या समाज पर विषम तो नहीं पड़ रहा है!

सर्वोदय-समाज देश की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी संस्था है। यदि इस संस्था का संचालन विवेक-बुद्धि के साथ अपने आदर्श के अनुकूल होगा तो इससे राष्ट्र के बहुविध विकास में बड़ी सहायता मिलेगी। सर्वोदय-समाज के छठे वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर उसके सहमंत्री श्री वल्लभ स्वामी ने कहा था—

हमारा सम्मेलन जब शुरू हुआ तब वह बहुत छोटे पैमाने पर शुरू हुआ। पहले पाँच वर्ष नन्हे बालक की तरह गए। मनु का नीति-वचन है—

लालयेद् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेद्,
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

हमारे पहले पाँच साल समाप्त हो चुके हैं, अब हम दूसरी श्रेणी में दाखिल हुए हैं। इसलिए हम चाहेंगे कि लोग इस सम्मेलन की आलोचना करें और जरूरत महसूस हो तो तीव्र आलोचना भी करें। हमें उमीद है कि आप जो आलोचना करेंगे वह सुधार की दृष्टि से ही करेंगे। वह इसीलिए होगी कि हम आगे बढ़ सकें।

श्री वल्लभ स्वामी ने आलोचना का जो आमंत्रण दिया है वह बहुत सद्भावनापूर्ण है। सुधार से की गई आलोचना में सहानुभूति तथा सद्भावना बहुत आवश्यक है। कटुता तथा दुर्भावना से की गई आलोचना से कटुता तथा दुर्भावना ही उत्पन्न होती है। उसकी प्रतिक्रिया इतनी विषाक्त होती है कि वह सुधार की भावना को नष्ट कर अपने दोषों पर ही जमकर बैठने की प्रेरणा देती है। हम भूदान-यज्ञ को राष्ट्र के केवल आर्थिक विकास की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं मानते, प्रत्युत उसको आध्यात्मिक विकास का भी एक कारण मानते हैं। भूदान-आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन है। राष्ट्र की सारी भूमि-समस्या का इससे समाधान हो सकेगा, ऐसी न तो हमारी धारणा है और न विश्वास, किंतु आर्थिक विषमता को बहुत कुछ दूर करने तथा भूमि-समस्या के समाधान की भूमिका के रूप में इस भूदान-यज्ञ-आंदोलन को हम निस्संदेह आवश्यक समझते हैं।

विनोबाजी शत-प्रतिशत भूदानी या जीवन-दानी चाहते हैं और देश के ऐसे सामूहिक यज्ञ में जो अपना हिस्सा नहीं देते वे देशद्रोही साबित होते हैं,—ऐसा विनोबाजी जाहिर करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार तथा साधन के अनुसार राष्ट्र की सेवा करने का अधिकार है। यह अधिकार कोई छीन नहीं सकता। विनोबाजी ने सेवा के जो क्षेत्र गिनाए हैं उनके अतिरिक्त भी राष्ट्र-सेवा के अनेक क्षेत्र हैं और हो सकते हैं, तब यह कैसे मान लिया जा सकता है कि अपने स्वतंत्र विचार तथा पद्धति से राष्ट्र-सेवा करनेवाला देश-द्रोही है। संभव है, विनोबाजी का अभिप्राय इस सीमा तक देश-द्रोह मानने का नहीं रहा हो, परंतु गाँधीजी की तरह विनोबाजी व्यक्ति के विचार-स्वातंत्र्य को अपेक्षित महत्त्व नहीं देते। गाँधीजी ने कहा था—'कातो, समझ-बूझ कर कातो।' विनोबाजी की शत-प्रतिशत माँग में समझ-बूझकर देने की स्वतंत्रता छिन जाती है। राष्ट्र या समाज के शत-प्रतिशत व्यक्ति को सत्यवादी तथा सदाचारी बनाने का लक्ष्य बुरा नहीं कहा जा सकता, व्यावहारिक चाहे वह भले ही न हो। विनोबाजी विचार-परिवर्त्तन पर जितना जोर देते हैं उतना विचार-स्वातंत्र्य पर नहीं।

भूदान के लिए जीवन-दान चाहिए और जीवन-दान से भूदान का काम चलेगा, ऐसी मान्यता जयप्रकाशजी की है। नये कार्यकर्त्ताओं को खींचने के लिए जीवन-दान के जिस मंत्र का उच्चारण किया गया उससे वस्तुतः नये कार्यकर्त्ताओं का आगमन तो नहीं हुआ, विनोबाजी के

जितने पुराने अनुयायी तथा सहयोगी थे वे प्रायः सब-के-सब जीवन-दानी के रूप में सम्मुख उपस्थित हो गए। नये जीवन-दानी कार्यकर्त्ताओं का ठीक आँकड़ा हमारे पास नहीं है, लेकिन जितनी जानकारी है उसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि नये कार्यकर्त्ता पाँच प्रतिशत भी नहीं आए।

जीवन-दानियों की जीविका का प्रश्न एक ऐसा विषय है जो सर्वथा सहानुभूतिपूर्वक विचारणीय है। जीवन-दान का अर्थ निश्चय ही प्राण-दान नहीं है, अतः प्रत्येक जीवन-दानी को अपनी जीविका का कोई साधन अवश्य रहना चाहिए और जिसके पास ऐसा साधन न हो उसे संस्था की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। जब संस्था की ओर से आर्थिक सहायता देने का प्रश्न उठता है तब विषय की गंभीरता बढ़ जाती है और समस्या कुछ जटिल हो जाती है। कारण इतना स्वाभाविक और स्पष्ट है कि उसकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। जीवन के लिए भोजन नितांत आवश्यक है, पर भोजन के लिए जीवन-यापन आलसी का विलास हो सकता है। जिनके जीवन पर परिवार के भरण-पोषण का दायित्व है उनके जीवन-दान का मूलभूत अधिकार छीना नहीं जा सकता, किंतु उन्हें जीवन-दान का नैतिक अधिकार नहीं है। ऐसे व्यक्ति यदि जीवन-दान करते हैं और समाज से जीविका का अर्जित साधन प्राप्त करते हैं तो उनका सारा भार परिवार के साथ ही समाज पर पड़ता है। यह अनुचित है। जो व्यक्ति समाज में रहकर उचित उपाय से अर्थोपार्जन कर अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं वे देशद्रोही नहीं, बल्कि समाज के सेवक ही माने जा सकते हैं।

साप्ताहिक 'योगी' के १७ जुलाई, १९५४ ई० के अंक में 'जीवन-दान और नौकरी'-शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसके कुछ अंशों को विषय के स्पष्टीकरण के लिए हम उद्धृत करते हैं।

> जो व्यक्ति जीवनदानी हैं, उस निष्ठावान पूर्ण समय देनेवाले कार्यकर्त्ता के लिए आखिर कुछ-न-कुछ सुविधा देनी ही चाहिए और जो कुछ सुविधा उसे संस्था दे रही है उसके लिए वह उसकी उपकारी है, जीवनदानी उपकृत। उपकृत इसलिए कि संस्था उसे भोजन-वस्त्र की चिंता से मुक्त कर देती है जिससे वह स्वतंत्र होकर अपना पूरा समय—अपनी ध्येय-निष्ठा को समर्पित कर सके। जाहिर है कि ध्येय-निष्ठा के आवरण में, छद्मवेश में, बहुत-से अवसरवादी भी आ गए हैं। संस्था को इस ओर सतर्कता से काम लेना चाहिए। २००,२५० या ३०० रुपये लगभग मासिक पानेवाले व्यक्ति या ४३५, ४५० रुपये लेकर सेकेंड क्लास में यात्रा करनेवाले व्यक्ति ही, इस 'जीवनदानी' शब्द को अपने ऊपर सार्थक कर रहे हैं या इसकी व्याख्या कर रहे हैं। व्याख्याताओं और नेताओं को खान-पान या यात्रा-संबंधी अधिक सुविधा क्यों दी जा रही हैं, यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि 'जीवनदान' के पवित्र वातावरण में यह विषमता क्यों? क्यों एक वेतन-भोगी का चार-पाँच आने का रिक्शा-ताँगे का भाड़ा आभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों के विलासिता के सामानों के सामने मँहगा समझा जाय?
>
> जीवनदानी व्यक्ति का वेतन-भत्ता आदि जायज है तो फिर क्या कारण है कि नौकरी के द्वारा अपनी बुढ़िया मा, अपने दूधमुँहे बच्चे और अपनी पत्नी के लिए, सेवा करके चार पैसे कमा लेनेवाले अध्यापकों को हम कालिदास की दुहाई देकर कोसें? कालिदास के जमाने में आटे-दाल का भाव आज की तरह इतना जटिल नहीं था। कालिदास ने आदर्श की व्याख्या करने के लिए ही ऐसा लिखा है, पर आज जो हम स्कूल-कालेज के अध्यापकों को 'किताबखोर' 'विद्या बेचकर खानेवाला' 'दूकानदार' कहते हैं, यह अनुचित, अशिष्ट और अशोभन है। सरकारी या गैर-सरकारी दफ्तरों में, समाचारपत्रों के कार्यालयों में, रेलवे या जहाज पर काम करनेवाले वैतनिक कार्यकर्त्ताओं को हम त्यागी न कहें न सही, पर इन्हें समाज-सेवक न समझना समाज-सेवा के क्षेत्र को संकुचित कर लेना है। और इनके इन कामों को आत्मविक्रय समझ लेना तो ऐसा ही उपहासास्पद कार्य है, जैसा कोई सड़क पर चलनेवाला अपनी विचार-धारा से विपरीत राय रखकर चलनेवालों को अपना शत्रु समझ कर करता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जो प्रश्न उठाये गए हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। वेतन और भत्ता में अंतर है। इसी कारण वेतन पानेवाले की मनोवृत्ति से भत्ता पानेवाले की मनोवृत्ति में अंतर रहना स्वाभाविक है, किंतु यह अंतर ऐसा नहीं है कि एक व्यक्ति स्वार्थी समझा जाय और दूसरा त्यागी। स्वार्थ और त्याग में जितना बड़ा अंतर बताया जाता है, वस्तुतः उतना बड़ा अंतर नहीं है। स्वार्थ की बड़ी महिमा है। वह हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दृष्टि-भेद तथा विचार-भेद के रूप से विभिन्न आवरणों में आता है। स्वार्थ में जो तीव्रता है उसको

लक्ष्य कर ही भर्तृहरि ने कह दिया है कि परार्थ ही जिसका स्वार्थ है वही महापुरुष है। फिर स्वार्थ से हमारा पिंड छटता कहाँ है? आज के अर्थ-दुर्बल अध्यापकों को कालिदास के 'तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदंति' का पाठ पढ़ाना उनसे जीवन-दान के बदले प्राण-दान माँगना है। यदि समाज उनके पारिवारिक भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर ले ले तो ज्ञान की दूकान खोलकर उन्हें सौदागर बनने की जरूरत नहीं रहेगी।

भूदान-यज्ञ के कार्यकर्ताओं तथा जीवन-दानियों के वेतन और भत्ते के लिए मुख्यतः अभी सर्व-सेवा-संघ या सर्वोदय-समाज को गांधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि से ही पैसे मिलते हैं। भूदान-यज्ञ के कार्यकर्त्ताओं तथा जीवन-दानियों में दस-पाँच ऐसे भी हैं जो संस्था से व्यक्तिगत आर्थिक सहायता न लेकर अपने घर या मित्रों की सहायता से अपना काम चलाते हैं।

जुलाई '५४ ई० के अंतिम सप्ताह में, ता० २४ से २८ तक, मुजफ्फरपुर में विहार के जीवन-दानियों का शिक्षण-शिविर खुला था और उस शिविर में भत्ता तथा वेतन-मान की भी चर्चा हुई थी। निश्चित रकम से कम लेने-वाले कार्यकर्त्ता और अधिक लेनेवाले कर्मचारी कहलावें, ऐसी भेद-भावना वांछनीय नहीं मानी जा सकती। छूट हर चीज के लिए रखी गई है, अन्यथा एक बार ही मनुष्य के मोहजाल को छिन्न-भिन्न करना संभव नहीं है।

यह प्रसन्नता की बात है कि विनोवाजी ने वेतन-भत्ता क संबंध में स्पष्ट रूप से जीवन-दानियों को चेतावनी दे दी है। उन्होंने कहा—

> जीवन-दान का काम ऐसी सामाजिक रचना निर्माण करने के लिए है जिसमें शासन और शोषण—दोनों न हों। हिंदुस्तान में पाँच-लाख गाँव हैं। हम चाहते हैं कि हर गाँव में से ऐसे दो-दो, चार-चार मनुष्य निकलें जो जीवन-दान दें। ऐसी दृष्टि रखकर सोचना होगा। इसलिए समझ लेना चाहिए कि जितने जीवनदानी भाई-बहन हैं उनके उदर-पोषण का खर्चा हम नहीं उठाने-वाले हैं।

जिन दिनों मुजफ्फरपुर में जीवन-दानियों का शिक्षण-शिविर चल रहा था, लगभग ठीक उसी अवधि में अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक अजमेर में हो रही थी जिसमें गाँधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि के संबंध में एक संकल्प उपस्थित किया गया। अ० भा० काँग्रेस-कमिटी ने उस संकल्प को स्वीकृत कर गाँधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि के ट्रस्टियों के पास विचारार्थ उसे भेजा है। उक्त संकल्प को उद्धृत कर देने से ही उस विषय का स्पष्टीकरण हो जायगा। वह संकल्प निम्न प्रकार है।

> गाँधी - राष्ट्रीय स्मारक निधि इकट्ठा करते समय कार्यकर्त्ताओं तथा दाताओं को यह बताया गया था कि जिस स्थान से जितनी निधि इकट्ठी होगी उसका तीन-चौथाई भाग वहीं खर्च किया जायगा। गाँधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि संग्रह का काम बंद हुए करीब पाँच साल हो गए। अभी तक किसी भी जगह पर वहाँ से वसूल हुए गाँधी-निधि का समुचित भाग खर्च करने में नहीं आया। इससे दुख होता है और यह बात गाँधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि के पालकों के सामने इस संकल्प द्वारा लाई जाती है। और भी एक बात पर गौर करना जरूरी है। गाँधी-राष्ट्रीय स्मारक निधि के बारे में लोगों को निराशा होने से दूसरी कोई भी निधि जमा करते समय लोगों की ओर से बहुत ही रुकावट पैदा की जाती है।

यह स्वीकृत संकल्प किस दिशा की ओर संकेत करता है, इसको बताने की आवश्यकता नहीं। भूदान-यज्ञ एक व्यापक तथा जनहितकारी आंदोलन है और स्मारक निधि के उद्देश्य की सीमा के भीतर भी है, इसमें संदेह नहीं, किंतु स्मारक निधि के उद्देश्यों का न तो क्षेत्र सीमित किया जाना चाहिए और न आनुपातिक वितरण में किसी प्रकार के पक्षपात को स्थान मिलना चाहिए।

२. विश्वविद्यालय की उपाधियाँ और सरकारी नौकरियाँ

हमारे देश में सरकारी नौकरियों के लिए विश्वविद्यालय की उपाधियाँ आवश्यक मानी जाती हैं। विश्वविद्यालय की किसी उपाधि से विभूषित हुए बिना किसी सरकारी पद के लिए कोई प्रार्थी नहीं हो सकता, भले ही वह उस पद के लिए अन्य दृष्टियों से सर्वथा योग्य हो। उपाधियों का मूल्य और महत्त्व इस समय इतना बढ़ गया है कि अधिकांश ही नहीं, प्रायः सब विद्यार्थियों का एकमात्र ध्येय, चाह जिस प्रकार हो, उपाधियाँ प्राप्त करना रह गया है। यदि यह कहा जाय कि सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए ही आज के विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं तो यह कोई अत्युक्ति की बात न होगी। विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले दस-पाँच विद्यार्थी ऐसे भी हो सकते हैं जिनका लक्ष्य किसी प्रकार की नौकरियाँ लेने का

नहीं हो, किंतु इनकी संख्या इतनी नगण्य है कि इनसे समस्या के समाधान में कोई सहायता नहीं मिलती। आज शिक्षा का ध्येय प्रधानतः सरकारी नौकरियाँ और गौणतः ज्ञानार्जन है। इस कारण शिक्षा का मानदंड क्रमशः ह्रासशील हो रहा है। ज्ञानार्जन के लिए जो श्रद्धा तथा सत्यनिष्ठा चाहिए, दुर्भाग्य से वह हमारे देश के विद्यार्थियों में दूसरे देश के विद्यार्थियों की अपेक्षा अल्पतम है। यह एक ऐसी स्थिति है-जिसपर राष्ट्र के कर्णधारों को विचार करना चाहिए।

प्रसन्नता की बात है कि विगत १२ जुलाई को भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने मिर्जापुर जिले के चुनार नामक स्थान में एक समारोह में भाषण करते हुए सरकारी नौकरियों के लिए ही विश्वविद्यालयों की उपाधियों को प्राप्त करने के विचार की बड़ी भर्त्सना की। उन्होंने कहा—

'हमारे देश में जो कुछ होता है उसका प्रभाव दुनिया पर पड़ता है। हमने क्या किया, इसका अंदाज हम नहीं कर सकते, किंतु इतिहास कर सकता है। हमें भी अपने कदम आगे बढ़ाने पड़े। देश की खुशी देश की शक्ति से होती है। हमारा देश कमजोर हो गया था। इसकी जिम्मेवारी अँगरेजों के साथ ही हमारे निकम्मेपन की भी थी। स्वराज्य का अर्थ सिर्फ अँगरेजों को हटाना तो अधूरा था। आधा काम तो देश की जनता को पूरा करना है।

'जो लोग यह समझकर स्कूल-कालेजों में जाते हैं कि उन्हें नौकरियाँ मिलेंगी, वे धोखे में हैं। पैंतीस करोड़ लोगों को नौकरियाँ नहीं मिल सकतीं। आजकल बी० ए० होना बिलकुल निकम्मी चीज है। आज बी० ए०, एम० ए० ठकरा रहे हैं। लेकिन अगर दस हजार ओवरसियर हमें दें तो हम नौकरी देने के लिए तैयार हैं। देश में टेकनिशियनों की कमी है। विश्वविद्यालयों में विद्या के लिए जाना तो ठीक है, लेकिन नौकरी के लिए जाना खतरनाक है। पढ़ाई के सिलसिले को नौकरी से अलग करना पड़ेगा।

'हम अखबारों में पढ़ते हैं कि लड़के फेल ज्यादा हुए, इसलिए पासमार्क कम कर दिया जाय। फिर इम्तिहान ही बंद कर दिए जायँ और यह एलान कर दिया जाय कि पैंतीस करोड़ हिंदुस्तानी बी० ए० पास हो गए। यह अच्छा तमाशा होगा। हमें अपने मुल्क को फोर्थ क्लास का निकम्मा नहीं बनाना है।'

आज की शिक्षित बेकारी को देखते हुए देश का प्रत्येक समझदार व्यक्ति श्री नेहरू के विचार से सहमत होगा। श्री नेहरू ने नवजात राष्ट्र की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। पर, केवल कह देने से ही समस्या का समाधान नहीं होता। श्री नेहरू ने जो कुछ कहा है वह भारत के प्रधान मंत्री की हैसियत से ही कहा है, ऐसा न मानने का कोई कारण हमारे पास नहीं है। यदि वस्तुतः सरकार इस चिंतनीय स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करे तो इसमें बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। केवल नौकरी पाने की इच्छा से पढ़नेवाले विद्यार्थियों की मनोवृत्ति अवश्य ही दूषित है, पर इस विषय पर विचार करते समय इसका दूसरा पहलू भी सामने आता है। बेचारे विद्यार्थी करें तो क्या! उनकी समस्या पर ध्यान न देना प्रश्न को टालना है। आज देश के हजारों विद्यार्थी विज्ञान की आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर इंजिनियर तथा डॉक्टर बनने के लिए कॉलेजों में नाम लिखाना चाहते हैं, पर वे बुरी तरह निराश होते हैं। यह स्थिति भी कम दुखद नहीं है। सरकार के कर्णधार जो चाहते हैं वह करें, उन्हें रोकता कौन है! आज सारा राष्ट्र इस समस्या के समाधान में उनका साथ देगा। वे आगे तो बढ़ें।

३. नेपाल में हिंदी

नेपाल के दक्षिणी हिस्से में जिसे तराई कहा जाता है, ऐसे लोग बसे हुए हैं जिनकी भाषा हिंदी है। हिंदी के अंतर्गत ही मैथिली भाषा की गणना भी है। नेपाल की सारी जन संख्या का अधिकांश—लगभग ७५ प्रतिशत—तराई के क्षेत्रों में बसता है और हिंदी-भाषा-भाषी है। तराई के क्षेत्रों में भी कहीं-कहीं ऐसे लोग बसे हुए हैं जो नेवारी या नेपाली बोलते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही कम है।

नेपाल में जो नवजागरण हुआ उसके कारण राजसत्ता राणाशाही से उतरकर बहुत-कुछ प्रजा के नेताओं के हाथ में आई, पर पारस्परिक कटुता तथा मनोमालिन्य के कारण स्थायी सरकार की स्थापना अवतक वहाँ नहीं हो सकी है। नेपाल ने अवतक अपना संविधान भी नहीं वनाया है। नेपाल भारत का पड़ोसी राज्य है। दोनों देशों में धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता भी है। दोनों देशों को मिलकर रहना दोनों के लिए हितकर है।

नेपाल के अनेक राजनैतिक नेताओं की शिक्षा-दीक्षा भारत में हुई है और इस कारण हिंदी भाषा के साथ उनका पुराना परिचय है। कुछ तो हिंदी के अच्छे लेखक भी हैं। हिंदीवालों का कभी यह आग्रह नहीं है कि नेपाल की जनता नेपाली या नेवारी को छोड़कर हिंदी को ही अपनावें। प्रत्येक क्षेत्र की भाषा या वोली को उचित महत्त्व अवश्य देना चाहिए।

नेपाल की वर्त्तमान परामर्शदात्री सभा में इस वार हिंदी को लेकर कुछ अप्रिय प्रसंग उपस्थित हो गया। भाषा के प्रश्न पर दो-तीन दिनों तक कुछ वाद-विवाद भी होते रहे। इसका कारण यह था कि तराई के सदस्यों को सभा में हिंदी में वोलने की सुविधा दी गई देखकर सभा के एक नेवार सदस्य श्री वासुपाशा को यह बुरा लगा और उन्होंने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि तराईवाले सदस्यों को जव हिंदी में वोलने की अनुमति दी जाती है तव नेवारों को भी उनकी भाषा नेवारी में वोलने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए। सभा के उपाध्यक्ष ने उस समय उन्हें नेवारी में भाषण करने की अनुमति नहीं दी। इसपर श्री वासुपाशा ने रुष्ट होकर विरोध-प्रदर्शन किया और वोलना ही बंद कर दिया। वाद की बैठक में सभा के अध्यक्ष श्री वालचंद्र शर्मा ने अपने एक वक्तव्य में सदस्यों से अनुरोध किया कि वे भाषा के प्रश्न को लेकर इस प्रकार के विवाद में नहीं पड़ें। तराई के सदस्यों से विशेष कर उन्होंने अनुरोध किया कि वे धीरे-धीरे नेपाली में ही वोलने का प्रयत्न करें।

कई सदस्य सभा में वरावर हिंदी में ही भाषण करते हैं। नेपाल के प्रधान मंत्री श्री मातृकाप्रसाद कोईराला भी समय-समय पर हिंदी में वोलते हैं। हिंदी के प्रति उनके विचार वहुत उदार हैं। नेपाल की राजभाषा नेपाली हो, इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए, पर हिंदी में भाषण करनेवालों पर किसी प्रकार का भी प्रतिवंध लगाना उचित नहीं माना जायगा।

४. भारतीय पर-राष्ट्रनीति की सफलता

इस समय जवकि अंतरराष्ट्रीय जगत् में विभिन्न राजनतिक मतवादों को लेकर पारस्परिक स्वार्थों के घात-प्रतिघात चल रहे हैं और हिंसा, संदेह, घृणा तथा भय की तरंगें मनुष्य के मन पर रह-रहकर आघात कर रही हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में विभिन्न राष्ट्रों के जो राजनीतिज्ञ मानव-समाज के भविष्य को सर्वनाश से वचाने के लिए निश्छल भाव से प्रयत्न कर रहे हैं उनमें भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू का एक विशिष्ट स्थान है। भारत की स्वाधीनता के वाद से ही जव श्री नेहरू पश्चिमी राष्ट्रों के गुटों से भारत को तटस्थ रखकर स्वतंत्र पर-राष्ट्रनीति का संचालन करने लगे तव आशंका के कारण उन्हें अपने ही कुछ लोगों की वड़ी कटु आलोचना सुननी पड़ी। एशिया महादेश की शांति को अक्षुण्ण रखकर ही विश्व-शांति की समस्या का समाधान हो सकता है, इस आदर्श को वरावर उन्होंने अपने सामने रखा और इसी दृष्टि से विश्व की अन्यान्य समस्याओं पर विचार किया। आज भारत की पर-राष्ट्रनीति की प्रशंसा संसार के अनेक छोटे-वड़े राष्ट्र कर रहे हैं। सामरिक शक्ति में अधिक संपन्न न रहने पर भी श्री नेहरू के नेतृत्व में, अंतरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में, भारत की जो मर्यादा-वृद्धि हुई है, वह हमारे लिए अवश्य ही गौरव का विषय है।

जेनेवा-सम्मेलन में भारत आमंत्रित नहीं था, किंतु फिर भी एशिया के अंतर्गत हिंद-चीन में शांति स्थापित करने के लिए भारत की ओर से श्री कृष्ण मेनन ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया और उन्हें सफलता भी मिली। यह सफलता केवल शांति-स्थापना में ही नहीं मिली, वल्कि पिछले सात-आठ वर्षों से हिंद-चीन में चली आती हुई लड़ाई को रोकने के लिए कनाडा, पोलैंड और भारत का जो एक आयोग संगठित हुआ उसकी अध्यक्षता भी भारत को ही प्राप्त हुई।

भारत-स्थित विदेशी राज्यों के संबंध में भी भारत जिस नीति का अवलंवन कर रहा है उससे विना युद्ध किए ही सारे विदेशी राज्य एक-एक कर भारत में आत्मसात् हो जायगे। इस दिशा म फ्रांस न जो समझदारी

की नीति अपनाई है उससे समस्या का समाधान जल्द ही हो जायगा, पर पुर्तगाल पर अभी तक अमेरिकी प्रभाव पड़ा हुआ है। कुछ घटनाएँ तो आगामी १५ अगस्त को घटेंगी और शेष थोड़े ही दिनों के भीतर इस प्रकार घटेंगी कि भारत-स्थित सारे विदेशी राज्य भारत में विलीन होकर ही रहेंगे।

५. हमारा 'हिंदी-दिवस'

१९५३ के नवंबर में राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन का अखिल-भारतीय अधिवेशन नागपुर में संपन्न हुआ था। इस अधिवेशन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया था कि प्रतिवर्ष १४ सितंबर को सारे देश में 'हिंदी-दिवस' मनाया जाय। स्मरण होगा कि १४, सितंबर १९४९ को ही हमारे संविधान द्वारा हिंदी को राष्ट्रभाषा तथा नागरी लिपि को राष्ट्रलिपि स्वीकार किया गया था। अतः यह उचित ही है कि प्रतिवर्ष हम १४ सितंबर को 'हिंदी-दिवस' मनाएँ और वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्रभाषा के मार्ग की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर उसके समाधान के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार तथा प्रसार पर प्रकाश डालें और उसके संवर्द्धन की दिशा में उचित कदम उठाएँ।

आज हिंदी के समक्ष बड़ी गंभीर परिस्थिति उपस्थित है। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि हिंदी के प्रचार से प्रांतीय भाषाओं का गला घुट जायगा, कुछ लोग यह समझते हैं कि हिंदी उनपर जबरदस्ती लादी जा रही है। ये सब धारणाएँ निराधार हैं। भावुकतावश इस प्रकार के जो भ्रांत विचार चिनगारी की तरह जहाँ-तहाँ सुलगते रहते हैं, उनका अंत किस रूप में होगा यह तो अभी कहा नहीं जा सकता; पर, अपनी ओर से तथा हिंदी-भाषा-भाषी क्षेत्रों की ओर से इस प्रकार का कभी कोई कार्य न होना चाहिए, जिससे उनकी भ्रांत धारणाओं को और बल मिले। सच तो यह है कि हिंदी को किसी भी प्रांतीय भाषा से किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं और न हम—हिंदी-भाषाभाषी—किसी पर हिंदी को लादना ही चाहते हैं। समस्त भारतीय भाषा के विरोध में यदि कोई भाषा है तो वह अँगरेजी है, जिसका विरोध हम सबको एक होकर करना है। भारत की ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जिसे अँगरेजी ने हत-प्रभ नहीं कर दिया हो। फिर, अँगरेजी को छोड़कर और कौन ऐसी भाषा हो सकती है, जिसके साथ हमारी प्रतिद्वंद्विता रहे! इसी प्रकार प्रांतीय भाषाओं को नष्ट करने तथा दूसरों पर हिंदी लादने की बात भी निरर्थक ही है

राष्ट्रभाषा हिंदी प्रांतीय भाषाओं के मार्ग में रोड़ा बनना नहीं चाहती। प्रांतीय भाषाओं का विकास और राष्ट्रभाषा हिंदी का विकास - दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रांतीय भाषाओं के विकास एवं सुसंपन्नता से राष्ट्रभाषा हिंदी का संवर्द्धन ही होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु प्रांतीय भाषाओं का अपना क्षेत्र है, वे अपने क्षेत्र में पुष्पित-पल्लवित हों; किंतु अंतर्देशीय तथा राष्ट्रीय मंच पर राष्ट्र-भाषा हिंदी ही सारे देश का प्रतिनिधित्व करे--हम यही चाहते हैं; और इसीसे सारे देश की एकता एवं संस्कृति अक्षुण्ण रह सकती है।

आशा है, १४ सितंबर को 'हिंदी-दिवस' मनाने के अवसर पर हम इन सब बातों को ध्यान में रखेंगे और चेष्टा करेंगे कि हिंदी को लेकर अहिंदी-भाषा-भाषी क्षेत्रों में जो गलतफहमी फैल रही है, वह दूर हो जाय। उस दिन का कार्य-क्रम भी कुछ ऐसा होना चाहिए, जो संक्षिप्त तो रहे अवश्य; किंतु अपनी भव्यता, प्रभावोत्पादकता एवं रचनात्मकता की दृष्टि से लेशमात्र भी कम आकर्षक न रहे।



वल्लरी और वृक्ष

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'

वल्लरी, मत वृक्ष से दब,
वृक्ष है अधिकार तेरा
क्योंकि ऊँची वस्तु पर
चढ़ना सतत व्यापार तेरा !

शीश तक तू जा भले ही
वृक्ष को जग वृक्ष कहता
भले अर्पण हो न दुनिया
मानती अधिकार तेरा।

वृक्ष पर अहसान तेरा है
कि तू चढ़ती उसी पर
उसी की श्रृंगार है तू
वह नहीं श्रृंगार तेरा।

वृक्ष की मुहताज तू कब
है हरित अभिमान वाली !
एक ऊँचा जग रहा है—
अमरतम संसार तेरा।

वृक्ष ने किस दिन किए,
निज फूल-फल तेरे हवाले ?
वृक्ष की दुनिया अलग है
अलग है संसार तेरा।

तू चढ़ाई की दिवानी,
तुझे नित दुनिया बसानी
भूल है जो विश्व कहता—
वृक्ष है अभिसार तेरा।

लौह पर चढ़ती जवानी
ले, हरित तोरण सजाती !
लौह - मंडप पर लहर,
बनती स्वयं मोहक चितेरा !

कंटकित झाड़ों सजाती
तू हरे अरमान अपने
मोह कब तेरी विवशता
रूप कब अभिमान तेरा !

वृक्ष झुकता भूमि पर
लाचार बोझिल और व्याकुल
किंतु ऊँचे और ऊँचे
पर चढ़े अरमान तेरा !

हरित जग में तू असंभव
नित्य संभव कर दिखाती
लौह - खंभे या कि दीवारों
लगाती हरित डेरा !

कौन-सा विस्तार ? कैसी
चरम सीमा ? कौन-सी गति ?
वृक्ष क्या जाने पहुँच—
निज शीश पर रख, स्वप्न घेरा।

भूमि पर ऊगे भले तरु,
भूमि पर वह आ न सकता·
भूमि पर, आकाश पर, बस
एक-सा विस्तार तेरा !

तू नहीं सौंदर्य में, रस—
में, सुगंधों में, फलों में,
—वृक्ष की मुहताज है;
है वृक्ष तेरा एक चेरा !

लिपटना वरदान तेरा
कौन है जिसको न देती ?
ठूँठ, तरु, पशु, मनुज
ऐसा कौन है, तूने न घेरा ?

वृक्ष देता आम तो सखि !
तू मुझे अंगूर देती
विश्व-मस्तक डोलते हैं
माँगते मधु-दान तेरा !

★

बुद्धिवाद : एक विवेचन

श्री पंचानन मिश्र

यूरोपीय इतिहास के अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं सदी को ज्ञान का युग कहते हैं। इसी समय ज्ञान-विज्ञान को धार्मिक रूढ़ियों के बंधनों से मुक्ति मिली। अब उसे धर्माचार्यों की स्वीकृति आवश्यक नहीं रह गई थी। धर्म ही उसका लोहा मानने लगा, भले उसके सामने माथा नहीं टेके। परंतु यह स्थिति सहसा नहीं आई थी, सदियों का संघर्ष और बलिदान का इतिहास इसके पीछे था। इस संघर्ष को चलानेवाला और उसके कटु फल को सबसे अधिक चखनेवाला मध्य-बुद्धि-जीवी वर्ग था। नवयुग की प्रेरणा इस वर्ग को सामने ला रही थी। इसी के द्वारा चलाए हुए आंदोलन ने इसके आर्थिक आश्रय छीन लिए। इसके पहले अपनी रोटी के लिए यह वर्ग या तो धार्मिक मठ की शरण में जाता था या राजाओं और सामंतों का पल्ला पकड़ता था। धर्म की शक्ति नव-ज्ञान के प्रकाश में मंद पड़ गई और राजे युग के आगे परास्त हो गए। अब न तो मठों में और न राजन्यों—सामंतो में विद्वानों की सभा जुटाकर रखने की क्षमता बच गई। फलस्वरूप यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से निरवलंब हो गया; किंतु इससे वह और भी स्वावलंबी, स्वतंत्र और आत्माभिमानी होता गया। उसे अपने पर अधिक भरोसा हुआ, उसने अपनी छिपी शक्ति पहचानी और आत्मलीन हो गया। नवीन परिस्थितियाँ उसका विस्तार करती गईं; आंतरिक भी और वाह्य भी।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी से ही विचारकों का एक दल ग्राह्य-ज्ञानवाद (इंपेरिकइज्म) को लेकर चलता आ रहा था। धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त मान्यताओं और स्थिर सिद्धांतों का मुकाबिला करने के लिए एकमात्र यही उपयुक्त अस्त्र था। बुद्धिजीवी वर्ग ने इसे ही अधिक माँजा-चमकाया और इसका नाम दिया बुद्धिवाद। जो बुद्धि में नहीं आ सके, जिसे मन स्वीकार नहीं करे, वह आर्ष वाक्य होने पर भी, धर्म द्वारा विहित रहने पर भी ग्राह्य नहीं है। बुद्धिवाद ने एक ओर परंपरा का बंधन ढीला किया, दूसरी ओर अन्य धर्मों और जातियों के निकट-संपर्क में आने का अवसर प्रदान किया। इससे मानव-वाद और विश्व-धर्म की मधुर-कल्पनाएँ विकसित हुईं; मानव ब्रह्मांड का सर्वश्रेष्ठ जीव है—यही हमारा चरम लक्ष्य है, दुखी जनों की सेवा ही धर्म की मूल कसौटी है। मानववाद का ईश्वर जीवन के मानवोपयोगी कार्यों के भीतर ही झाँकता है। इसी रूप को लक्ष्य करते हुए गुरुदेव रवि बाबू ने कहा है—

जेथाय थाके सबार अधम दीनेर हते दीन
सेइ खाने जे चरन तोमार राजे
सबार पिछे, सबार निचे
सबहारादेर माझे।
जखन तोमाय प्रनाम करि आमि,
प्रनाम आमार कोन खाने आय थामि,
तोमार चरन जेथाय नामे अपमानेर तले
सेथाय आमार प्रनाम नामे ना जे
सबार पिछे सबार निचे
सबहारादेर माझे।
अहंकार तो पाय ना नागाल जेथाय तुमि
रिक्तभूषन दीन-दरिद्र साजे
सबार पिछे सबार निचे,
सबहारादेर माझे।
संगी हये आछ जेथाय संगीहीनेर घरे
सेथाय आमार हृदय नामे ना जे
सबार पिछे सबार निचे
सबहारादेर माझे।

बुद्धिवाद और मानववाद पाश्चात्य इतिहास और विचार का वरदान है—यह मानना अपने को भ्रम में डालना है। वास्तव में जहाँ-कहीं विभिन्न जातियों और धर्मों का संपर्क और संमेलन होगा तथा विभिन्नताओं को खुलकर अपना-अपना विकास करने का अवसर मिलेगा, वहाँ अपने-आप बुद्धिवाद किसी-न-किसी रूप में पनपेगा ही। जहाँ मानव को अनेक विश्वासों में से स्वतंत्रता के साथ एक को चुनकर स्वीकार करना होगा, वहाँ वह बुद्धि के सिवा किसका सहारा पकड़ेगा? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे देश में सर्वदा यह स्थिति मौजूद रही है; क्योंकि यहाँ अनेकता कभी कुचली नहीं जाती थी, अपितु प्रोत्साहित की जाती थी। यही कारण है कि हमारे धर्म-शास्त्रों, श्रुतियों और ऋषियों

के आदेशों में अनेकरूपता है—'श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।' लौकिक आचारों और व्यवहारों में यह भिन्नता और भी अधिक थी। नए-नए धर्म और नए-नए संप्रदाय सदा सामने आते रहते थे। यही कारण है कि बुद्धि से स्वतंत्र निर्णय करने का उपदेश हमारे सभी ग्रंथों में मिलता है। उपनिषदों के ज्ञान, अद्वैतवाद और वेदांत बुद्धिवाद की ही चरम परिणति के फलस्वरूप मिले थे। भगवान बुद्ध ने तो स्पष्टतया अपने उपदेशों को सोने के समान बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही ग्रहण करने की सलाह दी। व्यास ने 'नहि मनुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्'—मनुष्य से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, कहकर बहुत पहले ही मानववाद का उद्‌घोष किया था। मिंग-राज्यकाल में चीन में भी एक जबरदस्त बुद्धिवादी आंदोलन चला, जिसे चीनी-भाषा में ली-शुर्भ कहते हैं। इस आंदोलन का सबसे प्रधान प्रणेता चाऊ-तुम-ची नामक प्रसिद्ध विद्वान था।

किंतु हमें आधुनिक बुद्धिवाद और प्राचीन बुद्धिवाद को एक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए, दोनों में महान् अंतर है। आज का बुद्धिवाद धर्म से संघर्ष करके आगे बढ़ा है, और शुद्ध भौतिक विज्ञान के तलदर्शी प्रकाश में यह पल्लवित और पुष्पित हुआ है। इसलिए धर्म के प्रति इसमें वैसी आस्था और वैसा आकर्षण नहीं है। वह विज्ञान का पल्ला अधिक पकड़ता है। परंतु प्राचीन बुद्धिवाद धर्म के गर्भ से उत्पन्न होता था, धर्म की गोद में पलता था और धर्म की ही उँगली पकड़कर चलना सीखता था। उसके संस्कार एक या कई जातियों के निश्चित संस्कार थे। यदि वह किसी भिन्न संस्कार के संसर्ग और संपर्क में आता था तो भी इतनी बहुलता या विपरीतता नहीं रहती थी कि उसे आत्मसात् नहीं कर सके; वरन् इतिहास इसका साक्षी है कि बुद्धिवाद के आंदोलन का जन्म या तो विभिन्न संस्कारों और संस्कृतियों के आत्मीकरण (एसीमिलेशन) के लिए होता था या नवीनता-प्राचीनता का समन्वय स्थापित करने के लिए। यही कारण है कि यदि वह किसी स्थापित और स्थिर-धर्म का विरोध करता था तो इसलिए नहीं कि धर्ममात्र की सत्ता समाप्त कर ले, वरन् इसलिए कि उसके स्थान पर वह किसी नवीन धर्म या संप्रदाय की प्रतिष्ठा करना चाहता था। धर्म को छोड़कर जाने की कहीं जगह ही नहीं थी। बुद्धि दौड़ती थी, परंतु सामुद्रिक जहाज के पक्षी के समान उड़कर कहीं जा नहीं सकती थी। उसे बैठने या विश्राम करने का कोई दूसरा आधार ही नहीं था। आज का जीवन इतना बहुरूपी हो गया है कि बुद्धिरूपी पक्षी को धर्म का आश्रय छोड़ देने पर भी विहार के लिए अनेक शीतल वृक्ष और आकाश चूमनेवाले महलों के मुँड़ेरे मिल जाया करते हैं। भगवान बुद्ध ईश्वर को अव्याकृत मानते थे, किंतु निर्वाण और आर्य-सत्यों के उपदेश से उन्होंने एशिया का गगन-मंडल गुंजित कर दिया। सांख्य-जैसे नास्तिक दर्शन भी आत्म-मुक्ति की कल्पना से प्राणवान थे। चीनी बुद्धिवादी विद्वान चाऊ तुम-ची महान निरपेक्ष की आकृति और उसकी व्याख्या (ताई-ची-तू-सुओ अर्थात् द डायग्राम आफ द ग्रेट एब्सोल्यूट एंड इट्स एक्सप्लेनेशन) का स्वरूप स्पष्ट करता था। हमारे दार्शनिक ग्रंथों में भोगवादी धर्मविरोधी चार्वाक के उल्लेख हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि या तो यह एक कल्पित व्यक्ति है, जिसकी कल्पना धर्म-विरोध और धर्महीनता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए हुई है अथवा इसके सिद्धांतों को सही रूप में हमारे सामने नहीं रखा गया है। बौद्ध और जैन-ग्रंथों में अजित-केशकंबली गोशालक और पूरण-काश्यप को चार्वाक के समान चित्रित किया गया है। परंतु उन्हें धर्म-हीन नहीं बताया गया है, वे सहज-धर्म के माननेवाले थे, और इसीलिए बहुत-से लोग उन्हें साधु और तीर्थंकर मानते थे।

आज का बुद्धिवाद अत्यंत व्यक्तिगत है। इसके वरदानों के साथ यह एक अभिशाप भी लगा हुआ है। आज का व्यक्ति विभिन्न समुदायों और समाजों से संस्कार ग्रहण करता है जिनमें न तो समन्वय स्थापित कर पाता है और न जिन्हें पचा पाता है। प्राचीन काल का व्यक्ति अपने समुदाय और समाज का अभिन्न अंग था। इसलिए उसके व्यक्तिगत निर्णयों में समाज की स्पष्ट छाप रहती थी। समाज की स्थापित धारणा के विपरीत हृदय से सही समझकर वह अपना मत तभी देता था, जब समाज की किसी आवश्यकता का अनुभव करता था। यदि जन-समाज भी उस अनुभव को किसी तरह अपना लेता था तो उसका मत समाज का मत बन जाता था; अन्यथा उसे दंड भोगना पड़ता था। कभी-कभी तो महापुरुष युग की चेतना से आगे बढ़ जाते थे। फलस्वरूप समाज उन्हें समझ नहीं पाता था और इसका कटु-फल उन्हें

चखना पड़ता था। आज हर व्यक्ति जो चाहे, मत रख सकता है, और जो चाहे, विश्वास कर सकता है। प्राचीन काल में इस 'कर सकने' की सीमा इतनी व्यापक नहीं थी और न हो सकती थी। व्यक्ति बाहर और भीतर—दोनों ओर से बँधा हुआ था, बाहरी बंधन नहीं रहने पर भी भीतरी बंधन ही कम मजबूत नहीं थे। बौद्धिक दृष्टि से वह इतना स्वतंत्र नहीं था और इसलिए इतना बहुरूपी, अस्थिर और उच्छृंखल भी नहीं था।

बुद्धिवाद द्वारा प्रदत्त धर्म-स्वातंत्र्य और विचार-स्वातंत्र्य ने मध्य-बुद्धिजीवी वर्ग को सारे बंधनों से मुक्त होकर अपनी बुद्धि को अधिकाधिक व्यापक बनाने की प्रेरणा दी। उसने आकाश-पाताल छान डाला और आज के मानसिक तथा भौतिक जगत् के निर्माण में अपनी क्षमता का अभूतपूर्व परिचय दिया। उसने व्यक्तित्व का वास्तविक मूल्य इस स्वतंत्रता की छाया में ही आँका। आज के अहंप्रधान अनेक संस्कार और वातावरणवाले युग में इस अनेकता की स्वतंत्रता स्वीकार करने के सिवाय दूसरा रास्ता ही क्या है? परंतु हो यह रहा है कि किसी प्रकार का सामाजिक बंधन—चाहे मानव-कल्याण और हमारे मंगल के लिए ही क्यों न हो, हमें अखरने लगता है; मानों बंधन सहने की हमारी शक्ति ही विलुप्त हो गई हो। हम वास्तव में मुक्त नहीं रहते हुए भी इतना तो अनुभव करना चाहते ही हैं कि हम भाव-जगत् में उन्मुक्त विचर सकते हैं।

वास्तव में न तो मानव मुक्त है, और न उसकी निर्णयकारिणी बुद्धि ही सर्वतंत्र-स्वतंत्र है। मनुष्य की बुद्धि और विचार का निर्माण वातावरण करता है। यह वातावरण बड़ा व्यापक शब्द है। इसके अंतर्गत परिवार आदि प्राथमिक समुदाय, संसर्ग, अध्ययन, सामाजिक पद और श्रेणी, जीवन-विधि आदि कई तत्त्व संमिलित हैं। प्राचीन समाज में और आज भी पुराने रूप में जीवन-यापन करनेवाली जातियों में परिवार और प्राथमिक जनपद ही मनुष्य के विचार-संस्कार प्रदान करने में प्रमुख भाग लेते हैं। आज का मानव और विशेषतया मध्य बुद्धिजीवी वर्ग का मानव परिवार आदि के द्वारा जितना बनता है उससे कम दूसरे तत्त्वों से नहीं बनता। आज के बहुरंगी और बहुरूपी वातावरण और विभिन्न संस्कारों में पले व्यक्तियों से सतत संपर्क करानेवाली जीवनविधि के कारण विचारों, धारणाओं तथा मान्यताओं में स्थिरता नहीं रही। अपने से बाहर के समुदायों के प्रति हममें उदारता आ गई है, हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो गया है, किंतु युग की इस महान् देन के कारण ही हमारे अपने संस्कार धूमिल हो गए हैं। हमारे विचारों में स्पष्टता और स्थिरता नहीं रहती। हम स्वयं नहीं समझ पाते कि हमारे क्या विचार हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक क्षण के हमारे निर्णय इतने विपरीत होते हैं कि वे एक ही व्यक्ति में हैं, इसमें भी संदेह होने लगता है; मानों हमारा प्रत्येक क्षण का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है, और हम विभिन्न व्यक्तित्वों से मिलकर बने हैं। इसे ही सरल शब्दों में कह सकते हैं कि पुराने मनुष्य के मानस में अच्छे-बुरे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की विभाजक रेखा स्पष्ट थी। बुराई करनेवाला भी समझता था कि वह अधर्म कर रहा है। अंतर में द्वंद्व तभी उत्पन्न होता था जब दो कर्त्तव्यों में से एक को स्वीकार करना पड़ता था और दूसरे की उपेक्षा। परशुराम के सामने द्वंद्व था कि वे पिता की आज्ञा का पालन करें या माता की रक्षा करें। मानव के जीवन में ऐसे द्वंद्वों के अवसर बहुत ही कम आते हैं। इसलिए जीवन के सामान्य कर्त्तव्यों के संबंध में प्राचीन मानव का दृष्टिकोण स्पष्ट था और इसलिए उस का रास्ता भी साफ था, अपनी कमजोरियों के कारण वह उसपर चले या नहीं चले।

जहाँ संस्कार हमें पथ नहीं दे सकता, उससे कर्त्तव्य का स्पष्ट निर्देश नहीं मिल पाता, वहाँ स्वार्थ और मन की सुप्त वासना का नियंत्रण जोरदार हो जाता है, और हम अनजान ही अपने विचार और अपने निर्णय उन्हीं पर छोड़ देते हैं। मानसिक स्थिति या मूड का प्रभाव मनुष्य के क्षणिक निर्णयों पर बराबर पड़ा करता है। भिखारी को कुछ दे दें या डाँटकर द्वार से हटा दें, किसी की माँग पर हाँ कर दें या ना, इसमें हमारा स्वभाव ही एकमात्र निर्णायक तत्त्व नहीं है; वरन् हमारी उस समय की मानसिक दशा भी विशेष हाथ बँटाती है। मन प्रसन्न रहने पर हम किसी बालक की चंचलता से आनंदित होंगे, परंतु आंतरिक उद्विग्नता या खिन्नता की स्थिति में तमाचा जड़ देंगे। मानसिक स्थिति का प्रभाव एक सनातन तत्त्व है, परंतु पुराने मानव के सामने सु और कु की रूपरेखा साफ थी, उसका संस्कार निश्चित धारणा देता था। इसलिए जीवन और समाज के प्रधान विचारों और कर्त्तव्यों

के क्षेत्र में यह क्षणिक स्थिति बहुत कम घुस पाती थी। किंतु वर्तमान जीवन-प्रवाह को और विचारधारा को वह मोड़ती और बदलती रहती है। आज के मध्यवर्गीय मानव की कामनाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ आकाश में उड़ती रहती हैं यद्यपि उसका पैर इसी कँटीली जमीन पर टिका हुआ है। इसलिए वह कभी तृप्त और संतुष्ट नहीं हो पाता। एक शायर ने इसी का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा है—

मेरी घुट की हसरतें मर गईं
मैं उन हसरतों का मजार हूँ।

वास्तव में आज के प्रत्येक बुद्धिजीवी का हृदय अवदमित और वंचित कामनाओं का समाधिस्थान है। इसलिए वे हमारे विचारों की नकेल पकड़कर घुमाया करती हैं। हम कह सकते हैं कि हमारे व्यक्तित्व का प्रधान भाग उनके ही द्वारा आवृत और आच्छन्न है।

स्वार्थ भी हमारे विचारों को कम प्रभावित नहीं करता। यह स्वार्थ क्षणिक भी हो सकता है और चिरकालीन भी, स्थूल भी हो सकता है और सूक्ष्म मानसिक भी। पहले अपने स्वार्थ के लिए ही, स्वार्थ की प्रेरणा से ही, काम करनेवाला अपनी स्थिति से अवगत रहता था। आज अस्पष्टता के कारण बहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं कि उनका परिवर्त्तन स्वार्थ की प्रेरणा से घटित हो रहा है। यदि द्वंद्व की धुँधली छाया आती है तो हमारी बुद्धि ग्रहण किए हुए नए विचारों के तर्क, उपादेयता और महत्ता का इतना सुंदर प्रकाशमय चित्र उपस्थित कर देती है कि द्वंद्व उसी में खो जाता है। केवल नेतृत्व के लिए विचार बदलने के उदाहरण राजनीतिक जगत् में नित्य मिलते हैं। इतना ही तक होता तो विशेष चिंता की बात नहीं थी; किंतु हम तो अपने नीच-से-नीच अपकर्मों को भी सही प्रमाणित करने के लिए दर्शन और विचारों की शरण ले सकते हैं; क्योंकि आज और किसी चीज का अभाव भले हो, विचारों का और हेत्वारोपण (रेशनलाइजेशन) के साधनों का अभाव नहीं है। चोरी और डाके तक का समर्थन करने के लिए विषमता और इससे संबद्ध दर्शन हमारी सहायता के लिए प्रस्तुत रहते हैं। घूसखोरी, कर्त्तव्य की अवज्ञा और चोरबाजारी के लिए भूख और पेट का दर्शन कम सहायक नहीं है। अँगरेजी की पुरानी कहावत है कि 'इव्न द शैटन कैन कोट स्क्रीप्चर्स' अर्थात् शैतान भी धर्मग्रंथों का हवाला दे सकता है। परंतु पुराना शैतान समझता था कि वह दूसरों को ही ठगने के लिए धर्मग्रंथों की पंक्तियाँ बोल रहा है, किंतु आज सामान्य शिक्षित सभ्य मनुष्य—शैतान ही नहीं, अपने दर्शन के जंजाल से दूसरों को ठगे या नहीं ठगे, अपने को अवश्य ठग सकता है और ठग लेता है।

कई विद्वान हमारी सांस्कृतिक अचेतनता और अस्थिरता का उत्तरदायित्व दोषपूर्ण शिक्षापद्धति पर डालते हैं। आज की दोषपूर्ण शिक्षा के कारण हम वास्तविक मूल्यों से परिचित तो होते हैं, परंतु उनके प्रति सचेत नहीं होते। इसलिए उनकी दृष्टि में हम संस्कृति के साधनों से अपरिचित होने के कारण संस्कृति की अवहेलना नहीं करते; क्योंकि संस्कृति के निर्माण करनेवाले तत्त्वों से हम परिचित रहते हैं, किंतु हमारा यह परिचय और ज्ञान हमें उसके प्रति जागरूक नहीं बनाता।

हमारी इस अचेतनता के मूल में एकमात्र वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली है, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह तो युग का रोग है। शिक्षा-प्रणाली भी युग या वातावरणजन्य संस्कारों से परे न तो जा सकती है और न ले जा सकती है।

बुद्धिवाद बुद्धि-जीवी वर्ग की वस्तु है, इसीने उसका पोषण किया, उसे बढ़ाया और आज भी उसे लिए चल रहा है। जिस समय ज्ञान-विज्ञान की नवीन छाया में बुद्धिवादी परंपरा का विकास हो रहा था, उसी समय यूरोप का जन-समूह आर्थिक क्रांति से बाध्य होकर मजदूरों के रूप में गाँवों से हटकर मिलों के घिनौने वातावरण में एक नवीन जीवन-यापन करने लगा था। इस वातावरण में वह उन सारे मूल्यों को भूलता जा रहा था, जिन्हें वह धर्म तथा नैतिकता के रूप में ग्रहण किए हुए था। परिवार के बंधन शिथिल हो रहे थे, शराबखोरी और व्यभिचार के खुले-छिपे अड्डों की भरमार हो रही थी; मानों, समाज के निचले स्तर में एक नई अस्वस्थ-अनैतिक मानवता के निर्माण का सरंजाम किया जा रहा था। समय के साथ मजदूरों की भौतिक स्थिति सुधरी और यूरोप ने इनके साथ ही विकास किया। परंतु विशेषीकरण (स्पेशलाइजेशन) ज्ञान-विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति के साथ ही विभाजीकरण और सुविधाओं की घोर विषमता के कारण बौद्धिक स्तरीकरण और भी स्पष्ट होता गया। इसके फलस्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग ऊपर उठ गया और सामान्य जन-समाज की साधारण धरती पर उसके पैर

नहीं रह गए, वह विचार की दृष्टि से आकाश में टँग गया।

यूरोप या पश्चिम का जनसमाज बुद्धिवादी है—यह कहना सत्य नहीं है। बुद्धिवाद का प्रथम लक्षण है उदारता और सहनशीलता। जुलूसों के, तोड़-फोड़ और विरोधियों पर अंडे और सड़े फल फेंकने के समाचार बराबर मिलते हैं, जो बतलाते हैं कि वस्तुत: बुद्धिवाद का अभाव है, प्रधानता है उद्वेगवाद की। जनता में आज भी कुछ ऐसी गलत या सही मान्यताएँ हैं जिनके प्रति उसका दृष्टिकोण नितांत अबुद्धिवादी है। अमेरिका के गोरे काले लोगों को देखते ही मानों बुद्धि खो देते हैं। ऐसा लगता है कि वहाँ नवीन वातावरण में प्राचीन मूल्य तथा धारणाएँ अपना महत्त्व खो चुकी हैं, किंतु जन-समाज उनकी दासता से मुक्त नहीं हो सका है। नवीन जीवन ने अपनी बहु-रूपता, अस्थिरता और विषमता के कारण ऐसी मान्यताओं या मूल्यों का निर्माण नहीं किया जो प्राचीनता का स्थान ले सकें। ऐसी स्थिति में पश्चिम निराधार हो रहा है, कभी स्वार्थ के नाम पर और कभी प्राचीनता के नाम पर भड़क उठता है, परंतु स्थिर नहीं रह पाता। पढ़ा-लिखा समुदाय बुद्धिवाद और विचार-स्वातंत्र्य का सहारा लेकर संतोष कर लेता है, और अपने को धोखा भी दे लेता है।

जब प्रथम-प्रथम बुद्धिवाद प्रधान नारा बना तब प्राचीन या मध्ययुगीन नैतिक और धार्मिक संस्कार मौजूद थे। मध्य-वर्ग ने वाह्य धार्मिक बंधनों का विरोध किया, कभी-कभी ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया; किंतु पुराने संस्कारों के बल पर भावी उत्कृष्ट समाज की—मानव-मानव के बीच मधुर संबंधों के विकास की—उसने कल्पना की, सुखद सपने देखे। उसे जान पड़ता था कि सारा ब्रह्मांड उन्नति की ओर जा रहा है, मानों इस जगत् के भौतिक विकास के पीछे कोई चेतन-सत्ता है, जो इसे नवीन विकास की ओर ले जा रही है। किंतु आज यह निरंतर प्रगति (ग्रेजुअल प्रोग्रेस) का विश्वास समाप्त हो चुका है, सारे सपने भंग हो चुके हैं, कल्पनाएँ कभी मूर्त्त नहीं हो सकीं। वास्तव में समाज के धरातल पर अंधकार तो उसी समय घिरने लगा था, परंतु आज-जैसा स्पष्ट नहीं हो सका था। टाल्स्टाय आदि महात्मा उसी समय चिंतित दिखाई पड़ते थे और संसार को पीछे लौटाना चाहते थे।

हमारे यहाँ आर्थिक जीवन में वह क्रांति नहीं हुई जो सारा बाहरी नक्शा ही बदल डाले, और हमारी मानसिक स्थिति में भी क्रांति कर दे। जो १७ प्रतिशत आबादी शहरों में रहती है उसका भी एक बड़ा भाग खेतों और गाँवों से अनेक रूपों में बँधा हुआ है। इसलिए उसकी धारणाएँ वैसी ही पुरानी हैं। कालेज की शिक्षा पाए हुए अधिकांश भारतीय बुद्धिवादी होने का दावा करते हैं, परंतु आज के अर्थ में वे बुद्धिवादी नहीं हैं। हाँ, निराधार लटके हुए और पेंडुलम के समान डोलनेवालों की संख्या अवश्य काफी है।

इस संबंध में एक प्रश्न और उठता है। यह बुद्धिवाद एक दर्शन है या जीवन का नया दृष्टिकोण है? शुद्ध दर्शन विद्वानों की वस्तु है, जनता के जीवन की नहीं। जन-समाज तक पहुँचने के लिए दर्शन को या तो धर्म से संबद्ध होना पड़ता है या किसी सामाजिक आंदोलन की चेतना का रूप ग्रहण करना पड़ता है। धर्म का अर्थ ही है आस्था तथा धारणा; इसलिए धर्म का पल्ला पकड़ने पर उसे भी विश्वास की वस्तु बनना आवश्यक हो जाता है। बुद्धिवाद और चाहे जो हो, आस्था नहीं है। साथ ही बुद्धिवाद का उद्भव तब हुआ, जब नवीन धर्मों की उत्पत्ति का द्वार बहुत-कुछ बंद हो गया था। इसलिए वह उधर जा ही कैसे सकता था? आज के युग में किसी भी दर्शन को शक्तिशाली बनने के लिए आंदोलन का ही रूप लेना पड़ता है। किंतु आंदोलन के लिए स्थिरता चाहिए और किसी वर्ग को उठाने के लिए ठोस प्रेरणा चाहिए। यह बुद्धिवाद किसी स्थिर सिद्धांत के आक्रमण से बचने के लिए ढाल बन सकता है, और उसने आजतक यही किया है, परंतु नवीनता की प्रतिष्ठा के लिए आजीवन आक्रमण की शक्ति उसमें नहीं आ सकती। वस्तुतः यह एक नया दृष्टिकोण ही है। परंतु इसे ग्रहण करने के लिए जिस निष्पक्ष मुक्त मानस की आवश्यकता है, वह आज के विषम, स्वार्थ-पूर्ण और जर्जर विश्व के पास नहीं है।

हम बुद्धिवाद को छोड़कर पुनः अंधविश्वासों की दुनिया में नहीं लौट सकते। इसलिए इसके सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। पर यह सफल तभी हो सकता है जब विश्व इसके योग्य बन सकेगा; और यह योग्यता आज के समाज में क्रांति हुए बिना नहीं आ सकती। वर्त्तमान विषमता और नीच स्वार्थों के संसार में यह पुष्प नहीं खिल सकता, हम चाहे इसका ढोंग भले ही कर लें।

आकर्षण का वैज्ञानिक रहस्य

श्री महावीरप्रसाद प्रेमी

यह विज्ञानानुमोदित बात है कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में पंच-तत्त्व (आकाश, अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल)-संबंधी विद्युत्-शक्ति न्यूनाधिक दो धाराओं में—जिन्हें ऋणात्मक या आकर्षण (निगेटिव) और धनात्मक या विकर्षण (पौजिटिव) बिजली कहते हैं—निरंतर प्रवाहित होती रहती है। नारी-नर के शरीर में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की विद्युत्-धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। नारी के शरीर में ऋणात्मक और नर के शरीर में धनात्मक विद्युत् अधिक मात्रा में होती है। युवावस्था में नवीन रक्त होने के कारण ये धाराएँ अधिक मात्रा में होती हैं; परंतु दोनों ही एकांगी होती हैं। इस विद्युत्-प्रवाह की दोनों धाराओं के मिलन से शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों की क्रियाशीलता में सहायता मिलती है और दोनों की अपूर्णता दूर होती है अर्थात् उनमें 'सत्यं, शिवं और सुंदरम्' का समावेश हो जाता है। यही वैज्ञानिक रहस्य है मनुष्य और पशु-पक्षी के पारस्परिक आकर्षण एवं प्रेम का। शरीर में विभिन्न रूप से अग्निरूपी विद्युत् निवास करती है, जिसे 'तेजस्' कहते हैं। हरएक देश के लोगों ने किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे 'पर्सनल मेग्नेटिज्म' या 'औरा' एवं अरबों ने 'नूर' कहा है। यही 'ओजस्' है। इसकी कमी होने से मनुष्य का आकर्षण, सौंदर्य, शारीरिक बल, बुद्धि, स्मरण-शक्ति या धारणा-शक्ति और इंद्रियों की स्फूर्ति इत्यादि सब नष्ट हो जाता है एवं शरीर यक्ष्मा, प्रमेह और निर्बलता आदि तरह-तरह के रोगों से क्षीण हो जाता है।

यह जग-जाहिर है कि शरीरस्थ धातुओं के पचन से ओजस् उत्पन्न होता है। यह ओज ही प्राणी के शरीर की श्री, कांति, प्रतिभा, स्थिरता और दीर्घायु का मूल है। शरीरस्थ सप्त धातुओं में शुक्र शरीररूपी दीपक में स्नेह की तरह बलता हुआ उसे प्रकाशित करता है। यही ओजस् है जिसे तेजस् भी कहते हैं। ओजस् लौ (दीप-शिखा) और तेजस् उसका प्रकाश है।

जैसा कि मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ—विद्युत्-धारा चर-अचर, जड़ और चेतन में लगभग समान रूप से प्रवाहित होती रहती है। चेतनों में फिर अंश-भेद के साथ एक तीसरी धारा उस शक्ति की प्रवाहित होती है, जो शक्ति इन भौतिक जड़ पदार्थों की अपेक्षा अधिक उन्नत, उत्कृष्ट एवं ज्ञान-पूर्ण रहती है। परंतु यह भी इससे सिद्ध है कि जड़ और चेतन दोनों में रहनेवाली विभिन्न विद्युत्-शक्तियाँ परस्पर आकृष्ट होती हैं। यद्यपि कमल में संचरित होनेवाली विद्युत्-शक्ति सुरभि के रूप में वायु के संचार से समस्त आकाश में फैलती और चतुर्दिक् विद्यमान वस्तुओं पर अपना प्रभाव डालती है, तथापि उसका प्रभाव वहीं प्रत्यक्ष होता है, जहाँ उसके अनुकूल उसे ग्रहण करने में समर्थ, तदाकर्षक और तद्ग्राहक शक्ति का केंद्र (रिसीवर) होता है। और, कमल की यह सौरभरूपी शक्ति भ्रमर के अंतस्तलव्यापिनी विद्युत्-शक्ति से मिल जाती है और भौंरा उसकी ओर हठात् खिंचकर आ जाता है। इसका उत्तम उदाहरण रेडियो है, जिसमें विद्युत्-शक्ति से शब्द एक स्थान से चलने पर स[illegible] आकाश-मंडल में फैल जाते हैं और वहाँ फिर प्रकट होते हैं, जहाँ उनके पकड़ने के लिए विद्युत्-शक्ति-संपन्न उपयुक्त रेडियो-यंत्र रहता है। यही बात चाँद के प्रति चकोर के आकृष्ट होने पर भी लागू होती है।

प्रेम और भोग

नारी और नर में लौह-चुंबक-सा स्वाभाविक खिंचाव होने के कारण दोनों साथ-साथ रहना पसंद करते हैं। पशु-पक्षी भी जितने विकसित होते जाते हैं, वे परस्पर आकर्षण का अनुभव करते और साथ-साथ रहना चाहते हैं। चकवा, कबूतर, सारस, बत्तक, तीतर और राजहंस आदि पक्षियों एवं सिंह, भेड़िया तथा हिरन आदि पशुओं के अतिरिक्त मगर और सर्प आदि जीव-जंतु भी जोड़े-जोड़े ही रहते हैं। जो उपयुक्त जोड़ा चुनना नहीं जानते, वे भी समय-समय

पर परस्पर आकर्षित होते रहते हैं और विपरीत-योनि के साथ रहने में अपूर्व सुख अनुभव करते हैं। इसे ही प्रीति के नाम से अभिहित किया जाता है। यही डोर प्राणियों को साथ-साथ रहने के लिए आपस में बाँधे रहती है। परंतु जो लोग 'प्रेम' में कामवासना को संमिलित करते हैं, उनको घोर अज्ञानी और कलुषित-हृदय समझना चाहिए। 'प्रेम' मनुष्य को अधिक-से-अधिक अभिन्न-हृदयता का संदेश प्रदान करता है एवं प्राणी को उदार बनाता है। वासना और प्रेम अलग-अलग वस्तुएँ हैं। मन को चाहे कोई कितना ही धोखा दे, प्रेम प्रेम है और वासना वासना। काम-रहित 'प्रेम' मानव को ऊँचा उठाता है और काम-वासनावाला संबंध मनुष्य को नीचे गिराता है। प्रेम में पावनता की प्रतिष्ठा है। अतः जो व्यक्ति निरंतर प्रेम, उत्साह, उल्लास, उत्कर्ष, आनंद, दया, शांति, न्याय, क्षमा या अहिंसा और सत्य आदि के विचारों से अपने हृदय को परिपूर्ण रखता है, उसका जीवन सदैव प्रसन्न, उन्नत एवं शक्तिशाली बना रहता है।

सभी पुरुष न तो पशु हैं और न सभी नारी देवियाँ। जो व्यक्ति—चाहे वे स्त्री हों या पुरुष—काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि विकारों की अग्नि से अपने तेजस् को विकारी बनाकर भस्म कर लेते हैं, वे स्वयं तो जला ही करते हैं, साथ ही इन प्रज्वलित अंगारों को फेंककर दूसरों को भी जलाते हैं।

तरुण व्यक्ति यदि विवाह की इच्छा करे, तो यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसमें हानि कुछ नहीं, लाभ ही है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनि सपत्नीक रहते थे। आज तो यह भ्रम फैल गया है कि पत्नी के साथ रहकर मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता है। किसी मंगल-उद्देश्य की पूर्ति या जन-कल्याण के लिए, तपश्चर्या और ध्यान द्वारा आत्म-ज्ञान या आत्म-सिद्धि के लिए, स्त्री तथा जगत् को त्याग कर अथवा स्त्री या जगत् के साथ जल में कमलवत् रहते हुए अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना भी अपवादस्वरूप संभव है।

सपत्नीक रहना बुरा नहीं है; लेकिन प्रेम की स्वाभाविक शक्ति और गर्भाधान-क्रिया के तात्कालिक आनंद—इन दोनों सात्त्विक वस्तुओं को जब हम काम-वासना के बुरे रूप में परिणत कर देते हैं, तब वह शरीर तथा मन के लिए बहुत घातक वस्तु बन जाती है। वस्तुतः यौन-आकर्षण की स्वाभाविक क्रिया को जब कामाग्नि के रूप में परिणत कर दिया जाता है, तब यह अग्नि शरीर को जलाकर भस्म कर देती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दिन भर पंखा चलाने और रात भर प्रकाश देनेवाली और सब प्रकार का सुख देनेवाली बिजली भी यदि अनुचित रूप से छू ली जाती है, तो वह एक ही झटके में प्राण ले लेती है।

यद्यपि काम-वासना जीवनी शक्ति का एक चिह्न है, तथापि उसका निर्धारित समय पर नियमित और संयमित रूप से उपयोग करना ही उत्तम होता है। अपनी इंद्रियों—खासकर मन पर, जितना अधिक हो सके, नियंत्रण रखना चाहिए एवं निर्मल बुद्धि से काम लेना चाहिए।

विचार-प्रवाह

हमारी मानसिक विद्युत् में से प्रतिक्षण जो लहरें उठती हैं, उन्हें विचार की संज्ञा दी जाती है। विचार केवल शब्द नहीं है, वरन् एक मूर्त्तिमान पदार्थ है, जिसे वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष देखा जाने लगा है। अमेरिका में ऐसे छाया-चित्र खींचने के कैमरे बना लिए गए हैं, जो विचारों के फोटो (चित्र) साफ-साफ खींच लेते हैं। आप जिस वस्तु का चिंतन कर रहे हैं, उसी वस्तु के समान मानस-चित्र बनने लगते हैं। उन यंत्रों की सहायता से स्थूल वस्तुओं की तरह उन मानस-आकृतियों का भी छाया-चित्र खिंच जाता है। विचार हर क्षण मस्तिष्क में से निकलकर बाहर की ओर उड़ते रहते हैं। उन उड़ते हुए विचारों का चित्र ठीक वैसे ही आता है, जैसी मनुष्य की कल्पना होती है।

सच पूछिए तो मनुष्य में विचार-शक्ति सर्वोच्च है। विचारों के प्रबल प्रवाह का परिणाम ही तेजस् है। विचारों की प्रधानता के साथ-साथ आहार, विहार, दर्शन, स्पर्श और श्रवण आदि विषय भी तेजस्-निर्माण में अपना कार्य करते हैं। व्यक्ति जैसे विषयों का उपभोग करता है, उसका तेजस् वैसा ही बनता रहता है। पवित्र तथा तीव्र तेजस्-निर्माण के लिए पवित्र विचार, शुद्ध भावनाएँ एवं शुद्ध आहार-विहार और नियमित जीवन की अपेक्षा है।

जल में लहरें उठती हैं। ये लहरें चाहे किसी स्थान से उठती हों, समाप्त वहीं जाकर होंगी, जहाँ उनका अंत होगा। पानी का अंत चाहे कितनी ही दूर हो और

लहर चाहे कितनी ही छोटी हो, वह बराबर बहती रहेगी और जब किनारे पर पहुँच जायगी, तब पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उसके वेग को अपने अंदर खींच लेगी। विचार भी मानसिक विद्युत् (तेजस्) की लहरें हैं, जो विश्व-ब्रह्मांड में व्याप्त आकाश (ईथर)-तत्त्व में उठती हैं। आकाश अनंत है, उसका कहीं अंत न होने के कारण उन लहरों का भी कहीं अंत नहीं होता और वे निरंतर बहती रहती हैं। विचार विभिन्न प्रकार के होते हैं; उस भिन्नता के कारण उनके रंग-रूप में भी अंतर पड़ जाता है और भावनाओं के अनुसार वह बदलता भी रहता है। इन विचाररूपी विद्युत्-प्रवाहों (तेजस्) के रंग प्रायः दस प्रकार के होते हैं—(१) विद्वानों और बुद्धिमानों का तेजस् (विद्युत्-प्रवाह) पीले रंग का होता है। (२) शुद्ध प्रेम का तेजस् गुलाबी रंग का होता है। (३) परोपकारी का तेजस् उज्ज्वल होता है। (४) धार्मिक या सदाचारी व्यक्ति का तेजस् नीले रंग का होता है। (५) आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का तेजस् हल्के रंग का होता है। (६) प्रेम-आसक्तिवाले का तेजस् किरमिची रंग का होता है। (७) लाभ की कामनावालों के तेजस् का रंग नारंगी होता है (८) क्रोधी व्यक्ति के तेजस् में गहरे लाल रंग की धारियाँ होती हैं। (९) अपवित्र तथा दुष्ट व्यक्तियों के तेजस् का रंग काला होता है और (१०) ईर्ष्यालु एवं द्वेषी-भावनावाले का तेजस् गहरे मेघ के रंग का होतो है।

हाँ, एक समान विचार दूर-दूर से इकट्ठे होकर घने होते रहते हैं, जैसे अलग-अलग स्थानों से उड़ती हुई भाप एक स्थान पर जमा होते-होते बादल बन जाती है। बिजली में आकर्षण-शक्ति भी होती है, इस कारण ये विचार एक दूसरे को खींचते रहते हैं। आप जैसे विचार करते हैं, मस्तिष्क में उसी जाति की आकर्षण-शक्ति उत्पन्न होती है और वह आकाश में उड़नेवाले उसी प्रकार के विचारों को पकड़कर अपने अंदर खींच लेती है। अतएव जो बात आप सोचते हैं, उसके संबंध में बहुत-सी नई बातें मालूम कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि उस प्रकार का विचार कभी किन्हीं व्यक्तियों ने किया होगा और उनका अनुभव जो उड़ता फिर रहा था, आपको मिल गया। परोपकार और भलाई के विचार करने से वैसे ही विचारों का जमाव होता है और हृदय बड़ी शांति एवं शीतलता का अनुभव करता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, घृणा, मद और कपट के विचारों में तल्लीन रहता है, वह अपने दुर्विचारों के कारण अपने मन का बेचैन बना देता है।

कोई-कोई ऐसे सच्चे महापुरुष होते हैं, जो प्रत्यक्षतः संसार की भलाई का कोई अधिक कार्य नहीं करते, परंतु वे उच्च कोटि की अपार शक्तिशालिनी पवित्र विचार-धारा संसार में प्रवाहित करते रहते हैं। अनेक महात्मा पर्वतों की कंदराओं या निर्जन स्थानों में तप द्वारा अपनी आत्म-विद्युत् (तेजस्) को बहुत प्रबल करते रहते हैं। योगाभ्यास तेजस्-निर्माण में विलक्षण प्रभाव दिखाता है। योग के अष्टांगों में से प्रथम 'यम' और 'नियम' का पालन ही मानव के तेजस् को दिव्य महापुरुषों के तेजस् में परिणत कर देने में समर्थ होता है। आसन और प्राणायाम द्वारा तेजस् का विकास सूर्योदय की तरह निरंतर बढ़ता रहता है। परिणामस्वरूप महात्माओं का तेजस् सर्वत्र व्याप्त होकर निखिल विश्व के कोने-कोने में प्रसारित हो जाता है और अंतरिक्ष को भी पूर्ण कर देता है। दिव्य पुरुषों का तेजस् उनकी वाणी से निकलकर वायु-मंडल में व्याप्त हो जाता है, जिसका प्रभाव जन-साधारण पर पड़े बिना नहीं रहता।

मानवीय विद्युत्-चिकित्सा

यों तो रोगों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की चिकित्साएँ प्रचलित हैं और चिकित्सक रोगियों को नीरोग करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियाँ तैयार करते एवं प्रयोग में लाते हैं। उनके प्रयोग से प्रायः लाभ भी पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश जनता अपनी निर्धनता के कारण विशेष खर्चीली चिकित्सा कराने में असमर्थ भी रहती है। अतएव हम इस स्थल पर एक ऐसी चिकित्सा-विधि का वर्णन करना चाहते हैं, जो मूल्य में सबसे सस्ती है और गुण में हरएक बहुमूल्य औषधि से बढ़कर है, जिसके सेवन में कुछ भी कठिनाई नहीं है और जो हर व्यक्ति के पास हर समय रहती है और शर्तिया लाभ पहुँचाती है। इस औषधि का प्रयोग किसी भी दशा में व्यर्थ नहीं जा सकता। सच तो यह है कि जबतक इस दवा का न्यूनाधिक मिश्रण न हो, तबतक अन्य दवा-दारू विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकती। यह औषधि है 'मानवीय-विद्युत (तेजस)।' यद्यपि यह

तेजस् सदैव प्रत्येक व्यक्ति, पशु-पक्षी, वनस्पति और सृष्टि के वस्तुमात्र से निकलता रहता है, तथापि जन-साधारण को नहीं दिखाई देता। यौगिक शक्ति-संपन्न या दिव्य-दृष्टिवाले ही इसे देख पाते हैं।

दिव्य पुरुषों, योगियों और ऋषि-मुनियों के चित्रों में उनके मुख-मंडल के चारों ओर एक गोलाकार ज्योति बनी रहती है, जिससे मालूम होता है कि प्राचीन काल से ही भारतीयों को तेजस् का पता था, यह कोई नवीन शोध (गवेषणा) की बात नहीं है। मानवीय विद्युत्-प्रवाह के अस्तित्व को प्राच्य और पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अनुभव एवं परीक्षा के उपरांत माना है। यह विद्युत्-प्रवाह एक व्यक्ति से निकलकर दूसरे व्यक्ति में प्रवेश कर सकता है। हिप्नाटिज्म के मास्टर (प्राण-चिकित्सा-विशेषज्ञ) कहते हैं कि मानवीय विद्युत्-शक्ति आँखों और हथेली या अगुलियों के पोरों (अंतिम छोरों) से विशेषरूप से निकलती रहती है और इनमें रोग-निवारण-शक्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है; अतः पीड़ित स्थान पर इनका कुछ समय तक नित्य-प्रति मार्जन-क्रिया करनी चाहिए।

कोई भी प्रकाश अग्नि के अभाव में संभव नहीं है। प्रकाश अग्नि का सूचक है। मनुष्य-शरीर में ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि या कोष्ठाग्नि—ये अग्नित्रय वर्तमान हैं। ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मों को प्राप्त कराने-वाला है। दर्शनाग्नि रूप-आकार को देखता है और कोष्ठाग्नि भोजन को पचाता है। अतएव जब किसी व्यक्ति के पेट में कोई शिकायत हो, वेदना (दर्द) हो रही हो, तो अपनी हथेलियों को गोलाकर में उस स्थान पर घुमाना चाहिए। कुछ देर तक यह क्रिया दाहिनी ओर से बाईं ओर करनी चाहिए और फिर इसके विपरीत हथेलियों को बाईं ओर से दाहिनी ओर गोलाकार में घुमाना चाहिए। बीच-बीच में थोड़ी ही देर में दीख पड़ेगा कि पेट में उमड़नेवाली वायु घट गई है और वेदना दूर हो रही है। हथेलियाँ जब किसी अंग की त्वचा से रगड़ती हैं, तो वहाँ गरमी पैदा होती है। यह शारीरिक तेज जिस स्थान पर अधिक उत्पन्न होगा, वहाँ लहू की चाल बढ़ जायगी, तदनुसार रोग को हटना ही पड़ेगा। यदि सिर में दर्द हो रहा हो, तो वहाँ भी एक हाथ या दोनों हाथों से स्पर्श करना चाहिए। जहाँ फुंसी, चमक, [illegible] तनाव, खजली और भारीपन मालूम पड़े, वहाँ अंगुलियों के अग्रभाग से या हथेली से धीरे-धीरे सहलाना चाहिए। ऐसा करने से उस स्थान के स्वस्थ जीवाणुओं को बल मिलता है और वे अपने आस-पास भरे हुए विजातीय द्रव्य को बाहर निकाल देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

शरीर या मस्तिष्क की बढ़ी हुई गरमी को घटाने के लिए मार्जन बहुत उपयोगी है। पंखा झलना प्राचीन मार्जन-क्रिया की नकल है। जब ज्वर चढ़ रहा हो, लू लग गई हो, फोड़े में जलन हो रही हो, मादक द्रव्यों के कारण किसी को गरमी चढ़ गई हो या अन्य किसी प्रकार से उष्णता बढ़ी हो, तो दोनों हाथों की अंगुलियों को इस तरह रोगी की ओर पसारना चाहिए जिससे नाखूनों के अंतिम सिरे रोगी के पीड़ित अंग की ओर रहें। अब हाथों को नीचे की ओर इस तरह खींचना चाहिए, मानो उस स्थान की बढ़ी हुई गरमी को अंगुलियों से चिपकाकर पीछे की ओर खींच रहे हैं। यथावसर कुछ दूर हाथों को खिसकाने के बाद उन्हें पीछे की ओर खींचना और एक ओर इस प्रकार झटकारना चाहिए, मानों अपने हाथ पानी में भींग गए थे और उनकी बूँदों को अलग झटकार दिया हो। इस क्रिया को बार-बार करते रहना चाहिए; फिर देखिए कि कितनी जल्दी गरमी घट जाती है और बीमार व्यक्ति को शांति मिलती है। इस प्रकार की क्रियाओं में इच्छाशक्ति का जितना सहयोग होता है, उतनी ही शीघ्र अधिक सफलता मिलती है।

कोई व्यक्ति थक जाता है, तो उसके पैर दबाए जाते हैं, ताकि उसके निर्बल तंतुओं को दबानेवाला अपनी बिजली भर दे। देखा जाता है, कि पैर दबाने के बाद आदमी प्रफुल्लित हो जाता है। मालिश का भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। पहलवान लोग शरीर की मालिश करने का महत्त्व जानते हैं। घटी हुई गरमी को बढ़ाने के लिए वैद्य लोग मालिश कराने का आदेश देते हैं। थककर चकनाचूर हुए घोड़े मालिश के बाद अपना सारा श्रम उतार देते हैं। सिर की मालिश करने में कुछ नाई इतने निपुण होते हैं, कि भारीपन और खुश्की मालिश की विशेष क्रियाओं द्वारा बिलकुल दूर कर देते हैं। गठिया, चोट, निर्बलता या अशक्तता में तेल के साथ मालिश कराई जाती है। माथा जब भारी हो जाता है या बुद्धि जब ठीक तरह काम नहीं करती, तब लोग

माथे पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं या माथा खुजलाने लगते हैं। ऐसा करने से उनका मस्तिष्क फिर से प्रफुल्लित (तरोताजा) हो जाता है और जो प्रश्न हल नहीं हो रहा था, वह हल हो जाता है।

पलकों पर कभी-कभी एक फुंसी उठती है, जिसे 'गुहेरी' कहा जाता है। पलक के ऊपर फोड़े को अच्छा करनेवाली किसी तीक्ष्ण औषधि का लगाना खतरे से भरा हुआ होता है। इसलिए हथेली पर अँगुली घिसकर उस अँगुली को पलक पर लगाते हैं और देखते हैं कि वह फुंसी (गुहेरी) शीघ्र अच्छी हो जाती है। नेत्र में अकस्मात् कुछ झटका या चोट लग जाने पर तात्कालिक उपचार यह बताया जाता है कि किसी साफ कपड़े को मुँह की भाप से गरम करके आँख पर लगाया जाय; आँख में कैसा भी दर्द हो रहा हो, इस क्रिया से तुरंत ही कुछ लाभ होता है। अँगुली या अन्य स्थान पर चोट लग जाने से स्वभावतः लोग उसे फूँकते हैं। बालक अपने-आप अपनी अँगुली को फूँककर अच्छा कर लेने का ज्ञान रखते हैं। बहुधा फूँक द्वारा किसी अंग पर शारीरिक बिजली का प्रवाह डालने से संतोषजनक फल निकलता है।

जिसका जितना सबल-स्वस्थ मन और शरीर होता है, उसका विद्युत्-प्रवाह (तेजस्) भी उतना ही प्रबल, स्पष्ट और प्रभावोत्पदक होता है।

संगति में विद्युत् का प्रभाव

मनुष्य दूसरों की विद्युत्-शक्ति को भी खींचकर अपने अंदर धारण कर सकता है। अतः संगति का भला-बुरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। दुष्टों के संग से मनुष्य वैसा ही बनने लगता है और सत्संगति में रहकर सुधर जाता है। विचारशील पाठकों से यह छिपा नहीं है कि सदाचारी नर-रत्नों के समीप पहुँचने पर एक अनिर्वचनीय आनंद और शांति का अनुभव होने लगता है, जबकि एक दुष्टात्मा की संगति में दुःख और अशांति का वातावरण बन जाता है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार पुष्प अपनी गंध के परमाणु हर समय वायु में फेंकता रहता है उसी प्रकार मानव-शरीर से भी अपनी शारीरिक विद्युत् के परमाणु हर समय इधर-उधर उड़ते रहते हैं। जिस प्रकार पुष्पोद्यान का वायु-मंडल सुगंध से भर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की शारीरिक विद्युत् के परमाणु अपने समीप वैसा ही घेरा बना लेते हैं, जैसा कि उसका विचार या शारीरिक स्थिति होती है।

रोगी और नीरोग—सभी मनुष्यों के शरीर में से विद्युत्-परमाणु उड़ते रहते हैं एवं जैसे वे होते हैं, अपना प्रभाव दूसरों पर डालते रहते हैं। दूसरों के शारीरिक और मानसिक शक्ति-संपन्न विद्युत्-परमाणुओं को मनुष्य चाहे तो प्रबल मनस्विता के द्वारा रोक भी सकता है। परंतु साधारणतः उनका प्रभाव दूसरों पर अवश्य होता है। उपर्युक्त अपवाद सहस्रों घटनाओं में कहीं एकाध बार देखे जाते हैं, अन्यथा साधारणतः मनुष्यों की मानसिक स्थिति ऐसी ही रहती है कि वे नए प्रभावों को ग्रहण करें। बालकों में न तो गहरा अज्ञान होता है (क्योंकि इस समय उनके पूर्व-संस्कार पूर्णतः सुप्त होकर नए साँचे में नहीं ढल गए होते) और न निरोधक शक्ति का विकास होता है। इस कारण वे जैसे लोगों के साथ रखे जायँगे, निश्चय वैसे ही बन जायँगे। इसमें भी कुछ अपवाद पाए जाते हैं। कुछ बालक अपने माता-पिता से विरुद्ध गुण-स्वभाव के होते हैं। इसका मुख्य कारण उनके पुराने अत्यंत प्रबल संस्कार को समझना चाहिए।

उपर्युक्त कुछ अपवादों को छोड़कर शेष निन्यानबे प्रतिशत लोगों पर संगति का असर होता है। किसका प्रभाव किस पर कितना होगा,—यह अपनी-अपनी धारणा, योग्यता और आकर्षण-शक्ति पर निर्भर है अर्थात् जिसमें यह गुण अधिक होगा, वह एक-दूसरे को उतना ही अधिक अपनी ओर आकर्षित तथा प्रभावित कर लेगा। प्रतिदिन लोग बहुत-से व्यक्तियों से मिलते-जुलते हैं, परंतु कोई खास असर एक-दूसरे पर नहीं होता; क्योंकि इनके विद्युत्-परमाणु साधारण कोटि के होते हैं और एक दूसरे से टकराकर लौट जाते हैं, किंतु विशेष शक्ति रखनेवालों का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। विशेषरूप से भले या विशेषरूप से बुरे लोग ही किसी को प्रभावित कर सकते हैं। हमारे मन में जिस प्रकार के विचारों के बीज होते हैं, हम उसी प्रकार के लोगों की ओर आकर्षित होते हैं और उनके सहवास से अपने उन बीजों को वृक्षरूप में बढ़ा लेते हैं; तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का अमुक प्रकार का प्रभाव इसपर हुआ है। जबतक सांसारिक अनुभव परिपक्व दशा में नहीं होता, तबतक दोनों ओर झुक जाने की आशंका रहती है। नवयुवकों

में हर तरह की हवा का विरोध करने की क्षमता नहीं होती और वे जैसा प्रवाह देखते हैं, उसी ओर बह सकते हैं। कई अधिक अवस्था के व्यक्ति भी ऐसे ही कोमल प्रकृति के होते हैं और वे दूसरों से अतिशीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। परंतु जीवन की एक दिशा दृढ़ता के साथ निर्धारित हो जाने या कुछ ध्येय निश्चित कर लेने पर अपने विषय का ही प्रभाव पड़ता है, अन्य प्रकार के प्रभाव व्यर्थ हो जाते हैं।

हमें अपना जीवन जिस ढाँचे में ढालना हो, उस प्रकार के प्रतिभाशाली लोगों का सत्संग करना चाहिए और उनसे श्रद्धा, प्रेम और नम्रतापूर्वक मिलना-जुलना चाहिए। ऐसा करने से पारस्परिक आकर्षण-शक्ति बढ़ जायगी और हम उन महानुभावों के निकटवर्ती परमाणुओं को अपन अंदर खींच सकेंगे। पवित्र लोगों के निवास-स्थानों पर बैठने से भी अपने अंदर बड़ी शांति प्राप्त होती है और बुद्धि का विकास होता हुआ दृग्गोचर होता है।

दो व्यक्ति जब एक दूसरे को कुछ आदान-प्रदान करने के उद्देश्य से एकाग्र होकर सत्संग करते हैं, तब उसका फल बहुत ही प्रभावोत्पादक होता है। दोनों की एकाग्रता हो जाने से दोनों परस्पर संबद्ध हो जाते हैं। एक व्यक्ति अपना ज्ञान दूसरे पर फेंकता है और दूसरा उसे पूरी तरह ग्रहण करता है। वह ज्ञान-ग्राहक के अंतःकरण में बहुत गहरा उतर जाता है। साधारण उद्योग-धंधे के ज्ञान अथवा लोक-व्यवहार की भौतिक शिक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिकता, आत्मानुभूति का मनोयोग-पूर्वक सिखाया या सीखा हुआ ज्ञान स्थायी होता है।

तेजस्वी व्यक्ति के निकट बैठकर सत्संग करना सबसे उत्तम है। परंतु जहाँ ऐसी सुविधा न हो, वहाँ अन्य प्रकार से भी यह हो सकता है। अपने जिन विचारों को हम पुष्ट करना चाहते हैं, उनके लिए सद्-ज्ञान-संपन्न सुजनों के साथ पत्राचार करने से बड़ा लाभ होता है। उनके पत्र औषधि की तरह बड़ी प्रेरणा-भरे होते हैं। पत्र का कागज उनके हाथ में आता है और उनके विचारों से लद जाता है। पानी में बिजली को पकड़ने की बड़ी क्षमता है। स्याही के साथ वे विचार कागज से चिपक जाते हैं। यह पत्र आधे मिलन का काम देता है। प्राचीन महापुरुषों की हस्तलिपियों को बहुत अधिक मूल्य में लोग खरीदते हैं, क्योंकि उन कागजों में उन महानुभावों के जीवित विचार चिपके हुए हैं। हमें जब अपने किन्हीं प्रिय जनों का पत्र मिलता है, तब निश्चय ही उससे आधे मिलन का अनुभव होता है। सम्मिलन का यह दूसरा उपाय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

छपी हुई पुस्तकें भी अपने लेखक की भावनाओं को धारण किए रहती हैं। यद्यपि मुद्रणालय की स्याही के साथ उन विचारों का कोई संबंध नहीं, तथापि उन विचारों को पढ़ते ही ठीक उसी प्रकार के विचार अपने मन में पैदा होते हैं, जैसा कि उस पुस्तक या निबंध को लिखते समय लेखक के मन में पैदा हुए थे। विचारों का कभी नाश नहीं होता। जो विचार मस्तिष्क से निकलते हैं, वे अनंतकाल तक ईथर तत्त्व में मँड़राते रहते हैं और जब कोई उनके समान विचार करता है, तब दौड़कर वहीं पहुँच जाते हैं। यदि किसी प्रबल मनस्वी के वे विचार हैं, तो बलवान होंगे और अधिक प्रभाव डालेंगे। पुस्तक या पत्र-पत्रिकाओं में व्यक्त लेखक और पत्रकार के विचारों का स्वाध्याय करते ही जो विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं, वे ही लेखक या पत्रकार के विचार वायु-मंडल में घूम रहे हैं और इस अवसर पर वे तुरंत दौड़ पड़ते हैं और पढ़नेवालों के विचार के साथ-साथ सम्मिलित हो जाते हैं। अतः लेखक के सत्संग का आनंद अनुभव होने लगता है। विचारों के परमाणुओं की गति इतनी तीव्र है कि क्षणमात्र में हम तीन बार पृथ्वी की परिक्रमा कर सकते हैं। इस कारण वह लेखक या पत्रकार कितनी ही दूर क्यों न हो, उसके विचारों को अपने पास पहुँचने में तनिक भी विलंब नहीं लगेगा। लेखक या पत्रकार ने जितने मनोयोग के साथ उन विचारों को लिखा होगा, उतना ही उसका अधिक प्रभाव पड़ेगा। हल्के तौर से या इधर-उधर की यों ही जो पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ लिखकर प्रकाशित की जाती हैं, उनका पाठकों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। अतः उत्तम विचारों की ओर परिपक्व-मति, दृढ़-सद्विचार-संपन्न, क्रियाशील सात्त्विक वृत्ति-युक्त सच्चरित्र लेखकों और संपादकों द्वारा लिखित एवं संपादित पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ पढ़नी चाहिए और यदि उनसे अधिक लाभ उठाना हो, तो लेखक या संपादक का चित्र ध्यान में रखते हुए यह समझना चाहिए कि वह मेरे सामने बैठकर ही इन बातों को समझा रहा है। इस दृष्टि से उत्तम लेखकों, संपादकों और युग-निर्माता महामानवों का चित्र अपने सामने रखना विशेष लाभदायक है। उत्तम

पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के सत्संग से भी हम पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। इसकी अपेक्षा वासनायुक्त, भोग-परायण, कामी, क्रोधी, व्यभिचारी, हिंसक, आसुरी संपदा-वाले लोगों के द्वारा लिखित पुस्तकों एवं पत्रों का बहुत बुरा असर होता है, वह भयानक कुसंग है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए।

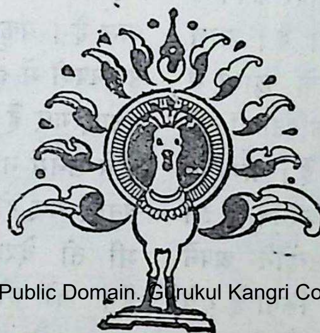
विचारों का गंभीर मनन और खोज-संबंधी सूक्ष्म कार्य, तो एकांत एवं शांत वातावरण में होता है; परतु दबी हुई आत्म-शक्ति को उभारने के लिए सामूहिक सत्संग से अधिक बल मिलता है। जब बहुत-से लोगों के चित्त एक बात पर एकत्र होते हैं, तब उनकी सम्मिलित शक्ति बड़ी जोरदार हो जाती है और जब वह लौटकर उप-स्थित लोगों के पास आती है, तब उनमें उत्साह और स्फूर्ति भर देती है। सभा, सम्मेलन, बैठक, पंचायत और जुलूस में सम्मिलित होने पर तत्संबंधी विचारों का अधिक प्रभाव पड़ता है। सामूहिक प्रार्थना, सत्संग या संकीर्तन द्वारा भी उन विचारों को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। परंतु इसका फल शक्ति का उदय करने तक ही है, किसी वस्तु का अन्वेषण या तत्त्व की प्राप्ति तो एकांत में ही हो सकती है।

एकाग्रता और एकांत

पाठकों को यह तो मालूम ही होगा कि किसी अभीष्ट वस्तु के अन्वेषण, ज्ञान की प्राप्ति या सिद्धि में एकाग्रता एवं एकांत का अधिक महत्त्व है। प्रसिद्ध तत्त्व-ज्ञानी एमरसन का कथन है कि 'यदि जीवन में बुद्धिमानी की कोई बात है, तो वह एकाग्रता है और यदि कोई खराब बात है, तो वह है अपनी शक्तियों को बिखेर देना। बहु-चित्तता कैसी भी हो, इससे क्या? वही चीज अच्छी है जो हमें खिलवाड़ और भ्रम की चीजों से दूर कर देती है और हमें हृदय से अपना काम करने के लिए भेजती है।'

बिना किसी वस्तु की सहायता के एक नियमित समय पर यदि दो व्यक्ति एकाग्र होकर बैठें और अपने विचार एक दूसरे को भेजने का प्रयत्न करें, तो थोड़े दिनों के अभ्यास से ही उन्हें आशातीत सफलता मिल सकती है। प्रारंभिक दशा में भी उन्हें जो संदेश प्राप्त होंगे, उनमें बहुत-से सत्य होंगे। आत्मा निर्मल होगी और जिस अनुपात से एकाग्रता बढ़ती जायगी, उसी अनुपात से वे संदेश अधिक स्पष्ट एवं ठीक सुनाई देने लगेंगे। आध्यात्मिक विद्युत् द्वारा यह बेतार का तार बड़ी सफलता-पूर्वक चल सकता है। प्राचीन काल के ऐसे अनेक उदा-हरणों से इतिहास भरे हुए हैं। आज भी जो परीक्षा करना चाहें, उन्हें इसका अनुभव हो सकता है। यहाँ तक कि दिव्य दृष्टि भी प्राप्त हो सकती है।

वैज्ञानिक लोग ईथर तत्त्व की सहायता से टेलिविजन मशीनों (दूरवीक्षण-यंत्रों) द्वारा एक स्थान के चित्र दूसरे स्थानों को भेजते हैं। आत्मिक पवित्रता, एकाग्रता और अभ्यास या तपस्या द्वारा दूरस्थ या दूर देशों की घटनाएँ अपने दिव्य चक्षुओं से देखी जा सकती हैं। प्रयत्न करने से सफलता मिल सकती है। थोड़ा-सा दिव्य दर्शन तो प्रथम प्रयत्न में भी हो सकता है। एकांत स्थान में एकाग्रतापूर्वक अपनी दिव्य दृष्टि को अभीष्ट स्थान पर भेजने से वहाँ के दृश्यों का अनुभव अवश्य होगा। आरंभ में ये चित्र धुँधले और अशुद्ध हो सकते हैं, परंतु आत्मिक उन्नति के साथ इनकी स्पष्टता और सत्यता बढ़ती जायगी। यह सब मानवीय विद्युत-प्रवाह (तेजस्) के अद्भुत प्रभाव हैं।



भारत के प्राचीन साहित्य में प्रकृति और प्रजा

श्री अभिराम झा

काव्य के प्रयोजन के संबंध में आचार्यों के विचार लगभग मिलते-जुलते-से ही प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन है यशःप्राप्ति, धनार्जन, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल-विनाश, मोक्ष और कांता-सम्मित उपदेश की प्राप्ति। इनमें कांता-सम्मित उपदेश की प्राप्ति सर्वप्रमुख है; क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने प्रयोजन बताए गए हैं उनकी सिद्धि इस चमत्कारिक शक्ति के बिना आकाश-कुसुम होकर रहेगी। कांता-सम्मित उपदेश सत्काव्यों का प्राण है, अतः वह विफल नहीं होता। इस प्रकार के उपदेश में प्रियतमा के समान रिझाते हुए सत्पथ पर लाने की क्षमता होती है जिसके चमत्कार का अनुभव कर मन-ही-मन चकित हो जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त है प्रभु-सम्मित और मित्र-सम्मित उपदेश। प्रभु-सम्मित उपदेश श्रेष्ठ जनों की आज्ञा के रूप में प्रारंभ में औषधि के समान कटु होने पर भी अंत में गुण-प्रद सिद्ध होता है। वेद, उपनिषद् आदि का उपदेश इसी कोटि में पड़ता है। मित्र-सम्मित उपदेश पुराणादि ग्रंथों में मिलता है। इससे यह स्पष्ट झलकता है कि हमारे यहाँ के आचार्यों ने उपर्युक्त तीनों प्रकार के उपदेशों के लिए हमें अनेक ग्रंथ दिए। इस प्रकार सोद्देश्य साहित्य की सृष्टि अन्य देशों में नहीं के बराबर है। किंतु खेद का विषय है कि भारतीय प्राचीन आदर्शों के इन आधारभूत ग्रंथों का आज उतना आदर नहीं जितना कि पहले था; यहाँ के साहित्य से किसी समय संसार प्रेरणा लेता था। किंतु आज भारत ही उसका अनादर करने में द्रुत गति से अग्रसर होता दिखाई दे रहा है। आज आधुनिकों में—खास कर अँगरेजी कालेजों के छात्रों में यह प्रवृत्ति पाई जा रही है कि अँगरेजी कविताओं के रसपान से ही वे संतोष का अनुभव करते हैं। अँगरेजी कविताओं के पठन में गौरव का अनुभव करनेवाले इन व्यक्तियों से मैं पूछता हूँ कि क्या कभी उन्होंने अपने साहित्य के विभिन्न अंगों के अध्ययन का कष्ट किया है? वे वर्ड् सवर्थ के 'डेफोडिल्स'-शीर्षक कविता पढ़ने के बाद झूम उठने का अभिनय करते हैं—ब्रह्मास्वाद-सहोदर आनंद का अनुभव करने की मुद्रा प्रकट करते हैं। जहाँ तक उनके झूम उठने और आनंद अनुभव करने का प्रश्न है, किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किंतु इतने से ही संतोष न पाकर वे भारतीय आचार्यों और कवियों की कृतियों को बुद्धि का व्यायाम और अश्लीलतापूर्ण कहने का भी दुस्साहस कर बैठते हैं। मुझे बहुत ही अँगरेजीदाँ मित्रों ने स्पष्ट शब्दों में कई बार कहा है कि स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग-वर्णन की प्रधानता के कारण संस्कृत-साहित्य लोगों की रुचि बिगाड़ने का काम कर रहा है। वे संस्कृत-साहित्य पर, स्त्रियों को हेय, तुच्छ और कामवासना-तृप्ति-साधनमात्र बताने का भी अभियोग लगाते हैं। उन्होंने प्रायः कभी अधो-लिखित श्लोक का अवलोकन नहीं किया—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

अस्तु, यह एक पृथक् ही प्रसंग है। मैं जो कहने जा रहा था, वह यह है कि तथाकथित आधुनिक समाज अपनी समस्याओं के समाधान का साधन पाश्चात्य साहित्य को समझता है। वह यूरोपीय साहित्य में ही जनता और प्रकृति को पाता है, अपने साहित्य में नहीं। वह यह नहीं जानता कि यूरोप का प्राचीन सांस्कृतिक साहित्य जनता-जनार्दन और प्रकृति के संबंध में कुछ नहीं बताता। हाँ, उसके नए साहित्य में उसका कुछ पुट अवश्य मिल रहा है। किंतु अपने देश के साहित्य के साथ यह बात नहीं। यहाँ के वेदों में भी जनता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रकृति तो ऋग्वेद में नाचती-सी प्रतीत होती है। उपनिषदों में हमारी समस्याओं के समाधान के विविध उपाय बताए गए हैं। हो सकता है कि आज की जो समस्याएँ हैं वे उनमें न हों और उनके समाधान के उपाय भी नहीं बताए गए हों। ऐसा होना भी अनिवार्य ही है। समस्याएँ भी तो देश, काल, पात्र के अनुसार ही उत्पन्न होती हैं। जो हो, इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि उसमें जनता और प्रकृति को प्रधानता दी गई है।

ऋग्वेद में, जो केवल भारत का ही नहीं, बल्कि समस्त मानव-सभ्यता का साहित्य बन चुका है, प्रकृति को अत्यधिक प्रश्रय देख कुछ लोग यह भी कह बैठते हैं कि आदिकालीन मनुष्यों ने प्रकृति की लीला देखकर भय और आश्चर्य प्रकट किया है; किंतु उसके बाद के साहित्यों के संबंध में तो वे वैसा भी नहीं कह सकते। आप उदाहरणार्थ आदिकवि वाल्मीकि की रामायण को ही लें। उसमें मर्यादापुरुष रामचंद्र श्रीमती सीता के साथ जंगल में निवास करते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने राजप्रासाद का सब सुख छोड़ जंगल की पर्णकुटी में शरण ली है, फिर भी प्राकृतिक रम्य लीला में उन्हें कुछ भी दुःख नहीं मालूम होता। अपने दुःख को भूलकर वे प्रकृति के संबंध में चर्चा करते दिखाई देते हैं। सीता के वियोग में भी उन्हें किसी अन्य से नहीं, किंतु प्रकृति से ही सीता का पता पूछने की इच्छा होती है।

रामायण ही क्या, उसकी कथा को लेकर बने अन्य ग्रंथों में भी आप वैसा ही पायँगे। विरही रामचंद्र वृक्षों, लताओं और प्रकृति की अन्य संतानों से इस प्रकार प्रश्न करते हैं—

भो वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता
वायुना वीज्यमानाः।
रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः
शोकशुक्रेण दग्धः।
पद्मास्या चारुनेत्रा सुजघनदशना
पक्वबिम्बाधरोष्ठी।
सा सीता केन नीता मम नयनगता
को भवान् केन दृष्टा ।।

रामचंद्रजी भ्रमर के निकट यह पूछते हुए बढ़ रहे हैं (मित्र की भाँति भ्रमर की पीठ पर हाथ रखने की मुद्रा में)—

भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम्।

किसी के हाथ के निकट पहुँचने का आभास पाकर भ्रमर झंकार कर उड़ जाता है जिसकी 'ओम्'-सदृश ध्वनि को 'हाँ' समझ रामचंद्र आगे बढ़ते और कहते हैं—

ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे।
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कोदृशीयम् ।।

प्रकृति के रम्य प्रांगण में निर्वैर भाव से विचरते हुए सर्प से भी पूछने में वे नहीं हिचकते! आप हनुमन्नाटक के अधोलिखित श्लोक पर दृष्टिपात करें—

भो भो भुजंग तरुपल्लवलोलजिह्व
बन्धूकपुष्पवरशोभित पुष्कराक्ष।
पृच्छामि ते पवनभोजन कोमलांगी
काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा ।।

रामचंद्र को अपने प्रश्न का उत्तर सर्प से इस प्रकार मिलता है—

गता गता चम्पकपुष्पवर्णा
पीनस्तनी कुङ्कुमर्चिताङ्गी।
आकाशगङ्गेव सुशीतलाङ्गी
नक्षत्रमध्ये इव चन्द्ररेखा ।।

प्रकृति के साथ हँसने, खेलने और वार्त्तालाप करने में जिस असीम आनंद का हमारे कवियों ने अनुभव किया है उतना अन्य किसी ने नहीं। साधारण जनता के साथ—गरीबों के साथ रामचंद्र-जैसे राजा की भेंट और उनकी पत्नी श्रीमती सीता के साथ ग्रामवधूटियों की स्नेहमय वार्त्ता यह बताती है कि हमारे कवियों ने मानवता को कितना महत्त्व दिया है। आप इसके संबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी की अधोलिखित चौपाइयों का अवलोकन करें—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे
नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी
पियतन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि
निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि।

इसमें भारत की आदर्श नारी की आत्मा और उसके सहज गुण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। आज की रानियाँ या आधुनिक महिलाएँ ग्रामवधूटियों की ओर देखतीं तक नहीं, हार्दिक वार्त्तालाप करने की बात तो दूर रही। अगर वे बार-बार पूछने पर उत्तर भी देंगी तो उन लज्जा-भावयुक्त मुद्राओं में नहीं जो कि उपर्युक्त पंक्तियों में बोलती हुई सीता में पाई जाती है।

वियोगी रामचंद्र को प्रकृति भी सीता की याद दिलाने में बराबर सचेष्ट रही। शरद् ऋतु की सूखी नदियों के भीगे अंचल में सिमटकर धारा बह रही है और उसके अतिनिकटवर्त्ती पार्श्वों में हवा के झोंके से उठी

तरंगों के घात-प्रतिघात से बालुकामय समतल इस प्रकार विषम और धारीदार बन गया है कि वह साड़ी की सिकुड़न के समान तहदार हो गया है। यह स्थिति एक दिन में नहीं, किंतु धीरे-धीरे हुई है। पहले यह समतल भी पानी से ढँका हुआ था। स्थिति ठीक वैसी है जैसी कि लज्जायुक्ता नवविवाहिता वधू की होती है। वह अपने जघनस्थल पर क्रमशः साड़ी को सिमटने देने में बाधा नहीं पहुँचाती। ठीक ऐसी प्रियतमा के रूप में रामचंद्र शरद् की नदियों को देख अपने प्रेम के बीते दिनों की याद करते हैं। आप वाल्मीकि के शब्दों में सुनिए—

दर्शयन्ति शरन्नद्य: पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसंगमसव्रीड़ाजघनानीव योषितः ।।

आप महाभारत में भी प्रकृति को उन्मुक्त विचरण करते पायँगे। गंधमादन पर्वत पर आँधी-तूफान में पड़ जाने पर भी युधिष्ठिर अपनी रक्षा की चिंता न कर प्रकृति का वर्णन करते पाए जाते हैं।

ये तो कुछ ही उदाहरण हुए। भारतीय साहित्य में ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत के साहित्यकारों में प्रकृति और जनता के लिए बड़ी श्रद्धा थी। वे प्रकृति को वर्णन के लिए नहीं, वरन् पृष्ठभूमि के रूप में देखते थे। उनके नायकों और नायिकाओं का कार्यकलाप, सुख-दुःखानुभव प्रकृति को देखकर प्रारंभ होता था। संस्कृत-साहित्य ने इस विषय पर पूर्णतया प्रकाश डाला है कि पदेन कोई महान् नहीं बनता, अपने चरित्र से ही कोई महान् बन जाता है। उच्च पद पर आसीन लघु महान् नहीं बन जाता और नीच पद पर बैठकर महान् लघु नहीं बन जाता। आजकल उच्च पद पर जाने से ही लघु भी महान् समझा जाने लगता है। किंतु हमारे कवियों ने ऐसे लोगों के संबंध में क्या कहा है, उसपर जरा दृष्टि डालें—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघु-
र्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन्।
शैलशेखरगतो दृषत्कण-
श्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ।।

अब यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने प्रकृति और साधारण जनता को पूरा प्रश्रय दिया है।

हम कुरुक्षेत्र के समरांगण में दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण के शव के पास बैठे उनके संबंधियों को गृध्र और जंबुक (सियार) के संवाद से वेदांत का महोपदेश सुनते पाते हैं। आप महाभारत की अधोलिखित पंक्तियों को पढ़ें। गृध्र कहता है—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्र-गोमायु-संकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ।।
नचेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ।।

संध्या के बाद सियारों का समय आ जायगा और हम उससे वंचित हो जायँगे,—इस स्वार्थसिद्धि की भावना से भी गृध्र जो कुछ कहता है, वह बिलकुल वेदांतिक सत्य है।

गृध्र के वचन से सियारों को चिंता होती है कि कहीं शव के निकट बैठे लोग सूर्य के अस्त होने से पूर्व ही चले गये तो हम उससे वंचित हो जायँगे। वे कहते हैं—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ।।
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यजध्वमविशङ्किताः ।।

अब आप देखें कि गीदड़ों और गीधों के द्वारा इतना बड़ा सत्य अन्य किस साहित्य में दरसाया गया है? ये प्रकृति की सन्तानें दुर्योधन-परिवार को संतोष नहीं बँधातीं तो अन्य वहाँ था ही कौन?

हमारे प्राचीन साहित्य में सबसे अधिक विशिष्टता यह है कि वे बड़े-बड़े राजाओं की पैदल जंगल-यात्रा दिखाकर हमें यह बताते हैं कि वे किस प्रकार साधारण लोगों की तकलीफ का अनुभव करते और तदनुसार उनके समाधान का उपाय सोचने में क्षम होते थे। उन्हें किसीके यहाँ जाने और किसीसे वार्त्ता करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी।

कुछ आधुनिक अँगरेजीदाँ लोग यह भी कह बैठते हैं कि राजाओं के दरबार के पंडित होने के कारण संस्कृत के बड़े-बड़े कवि नष्ट हो गए। उन्होंने सिर्फ राजाओं का वर्णन किया। ऐसा कहनेवालों को संस्कृत-साहित्यानभिज्ञ कहने के सिवा हम और क्या कह सकते हैं। भीतर प्रवेश किए बिना ही संस्कृत-साहित्य की

आलोचना करने की जो धृष्टता करते हैं, वे देश और साहित्य के हितैषी नहीं। कुछ लोग संस्कृत-साहित्य को क्लिष्ट कहकर भी निंदा करते हैं। वे अपनी अनभिज्ञता को दोष न देकर कवि को कोसने लगते हैं। इस प्रसंग में मुझे एक बहुत ही रोचक श्लोक याद आ रहा है।

विपुलहृदयैकवेद्ये खिद्यति शास्त्रे जनो न मौर्ख्ये स्वे।
निन्दति कंचुकिकारं प्रायः शुष्कस्तनी नारी ।।

कालिदास की देन

अब इन संस्कृत-कवियों के बाद एक लंबी अवधि पार कर हम कालिदास के पास पहुँचते हैं। इनके साहित्य के संबंध में बहुत प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ हो चुकी हैं। आज मैं इनके उन गुणों के संबंध में कुछ बताना आवश्यक समझता हूँ जो हमारे लिए संप्रति आवश्यक प्रतीत हो रहे हैं।

उनके रघुवंश को आप पढ़ें। उसमें उन्होंने प्रारंभ में ही राजाओं के कर्तव्य का जो वर्णन किया है वह प्रत्येक शासक के लिए आदर्श हो सकता है।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।।

इसमें कवि राजाओं को ऐसा देखना चाहता है जिससे राष्ट्र का मंगल हो। कालिदास के काव्य-चमत्कार पर संसार मुग्ध हो चुका है। जर्मनी के महाकवि गेटे ने 'शाकुंतल' को पढ़कर जो उद्‌गार प्रकट किया था, वह चिरस्मरणीय रहेगा। उसने कहा था—

यदि आप युवावस्था के फूल और प्रौढ़ावस्था क फल और अन्य ऐसी सामग्रियाँ एकत्र पाना चाहते हों, जिनसे आत्मा प्रभावित होती हो, तृप्ति और शांति मिलती हो, अर्थात् यदि आप स्वर्ग और मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हों तो मेरे मुँह से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है—शाकुंतल। आप गेटे के हृदय के भाव को समझने के लिए इस संस्कृतानुवाद को भी पढ़ें—

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोक-भूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ।।

हाँ, यहाँ मैं भी कालिदास के दिलीप की भाँति, जो प्रकृति की शोभा देखने में लीन हो गोरक्षा तक भूल गए थे, अपना प्रकृत विषय भूलकर रमणीय काव्य-कानन में इधर-उधर विचरण करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। यही कारण है कि मैं कालिदास के रघुवंश की बात छोड़ खुद कालिदास के ही संबंध में बने काव्य का रसास्वादन करने लगा। अस्तु, काव्य-जगत् ऐसा है जिसमें बड़े धैर्य के साथ आगे बढ़ना पड़ता है। आशा है, यह सहृदयों की दृष्टि में क्षम्य ही होगा।

तो, प्रकृत विषय यह था कि कविकुल-शिरोमणि ने राजाओं का क्या कर्तव्य बताया है और उन्हें किस रूप में उपस्थित किया है। अब उनके दिलीप को गाय के चरवाहे के रूप में देखिए। राजा दिलीप वशिष्ठ के आश्रम की ओर जा रहे हैं। उन्होंने कुछ दूर जाकर अपने अनुयायियों को रास्ते में ही छोड़ दिया; क्योंकि उन्हें जंगल का असली रूप देखना है, जंगल के जीवों पर यह जताना नहीं कि वे भीरु होकर सेना के साथ आए हैं। साथ ही व्रत का भी तो उन्हें पालन करना है। मनु की संतान होने के कारण उन्हें अपने वीर्य से अपनी रक्षा करने का दावा भी है। आप अधोलिखित श्लोक को पढ़ें—

व्रताय तेनानुचरेण धेनो-
र्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा
स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ।।

राजा जंगली पशुओं से डरते नहीं। उनके साथ पाथेय आदि की भी कोई व्यवस्था नहीं है। आज के शासकों और तथाकथित नेताओं की भाँति कहीं अग्रिम सूचना भेजकर खेमे या शिविर की व्यवस्था नहीं की गई है। मार्ग में कहीं उद्घाटन-भाषण आदि का भी आयोजन नहीं है। उनके मंगल के लिए विहित पद्धति के पालन की भी व्यवस्था नही है। किंतु क्या उन्हें कालिदास इन चीजों से वंचित होने देते हैं? देखिए, प्रकृति की पुत्रियाँ—बाल लताएँ—मार्ग में आचार प्रसिद्ध लाजा (लावा) बिखेरकर उनकी शुभाशंसा करती हैं—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं
तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।
अवाकिरत् बाललताः प्रसूनै-
राचारलाजैरिव पौरकन्याः ।।

साधारण जनता रास्ते में स्वेच्छा से उनके सामने उपहार उपस्थित करती और राजा—अंगरक्षक-

हीन राजा—स्वयं उन उपहारों को ग्रहण करते आगे बढ़ते हैं।

वे सिर्फ उपहार ही नहीं लेते, वरन् उनसे कुशल-प्रश्नादि पूछकर उन वृक्षों के संबंध में परिचय प्राप्त करते हैं जिन्हें उन्होंने पहले नहीं देखा था। राजप्रासाद में ये चीजें कहाँ से और कैसे मिलतीं? वे साधारण मनुष्य की भाँति बर्त्ताव कर रहे हैं और वनवासी लोग भी नागरिक की भाँति उनसे बातें करते हैं। सलामी आदि की कहीं कोई व्यवस्था नहीं है।

क्षमा करेंगे! मैं फिर भी यहाँ श्रीहर्ष के नल को देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। नल जंगल जा रहे हैं और उन्हें वनपाल प्रत्येक फल और वृक्ष की ओर संकेत कर उसका परिचय दे रहा है—

ततः प्रसूने च फले च मंजुले
स सम्मुखस्थाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना
व्यलोकयत्काननरामणीयकम्॥

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हमारे कवियों के राजा यह महसूस करते हैं कि राष्ट्र के अंतर्गत बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके संबंध में साधारण जनता उनका गुरु है और उन्हें उनसे बहुत-कुछ सीखना है।

इससे यह समझ बैठना गलत होगा कि विषय को तोड़-मरोड़कर लेखक अपने उद्देश्य की बातें निकालने में व्यस्त है। उसमें तो ये विचार स्वतंत्र और अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रहे हैं। हाँ, पाश्चात्य कवियों के बहुत-से ग्रंथों में अनावश्यक ढंग से आलोचकगण अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं। उनमें ऐसी विचारधाराओं का स्वतंत्र प्रवाह नहीं। छायावाद के मायाजाल की भाँति हमारे साहित्य नहीं कि उनमें से जिसको जैसी इच्छा हो, वैसा अर्थ निकाल ले और अपनी कविता को सर्वोच्च समझ बैठे।

हाँ, तो राजा हमारे साहित्य में आए हैं, किंतु कला को प्रभावित करने में उनका स्थान नहीं रहा है।

इसी प्रकार राजा अज को भी देखिए। वे विवाहार्थ विदर्भ जा रहे हैं। मार्ग में ठहरने के लिए कहीं कोई खास व्यवस्था तक नहीं। और, इंदुमती के वियोग में तो वे साधारण मनुष्य की भाँति रोते दिखलाए गए हैं—

स्त्रगियं यदि जीवितापहा
हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवे-
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया क्वचित्॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न काव्यों में राजा मुख्य पात्र के रूप में रहे हैं अवश्य; किंतु उन्हीं के सहारे अन्य सारे पात्र निखरकर कला को पूर्ण बनाने में सफल हुए हैं।

अब कालिदास के दुष्यंत को तपोवन में देखिए। उस समय तपोवन जाने क लिए कैसा वेष उपयुक्त था, निरखिए—

विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि।

कण्व के आश्रम में अनसूया, शकुंतला और प्रियंवदा हैं। मुनि की अनुपस्थिति में शांतभाव से ये ही उनका स्वागत करती हैं। जंगल के ऋषियों को कोई पूर्व-सूचना भी नहीं है, न दुष्यंत के आने पर वे कोई खास व्यवस्था ही करते हैं। किसी साधारण आगंतुक की भाँति अविचल भाव से मुनि-कन्याएँ उन्हें देखती और बातें करती हैं। अब आप भलीभाँति समझ सकते हैं कि राजा का साधारण मनुष्य से यहाँ कोई बड़ा स्थान नहीं था। फिर ऐसे कवियों को राजाओं का गुणगान करनेवाला बताना अनभिज्ञता नहीं तो और क्या है?

अब आप कालिदास के मेघदूत को भी एक नजर देखें। कालिदास का मेघ चित्रकूट से हिमालय तक जाता है, किंतु रास्ते में किसी राजा या महाराज का अतिथि नहीं होता। वह अतिथि होता भी है तो पर्वत का—

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिंग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्॥

क्या आप कह सकते हैं कि इतने लंबे मार्ग में राजा और महाराज नहीं थे? यदि थे तो हमारे कवि ने उन राजाओं के संबंध में क्यों नहीं लिखा? उनके मंत्रियों और शासनों से उन्होंने आँखें क्यों मूँद लीं? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मेघ को अपने उद्देश्य की सिद्धि में राजाओं की कोई आवश्यकता नहीं थी।

वे गरीब मजदूरों को भी नहीं भूलते। 'जिधर आप जायँगे उधर पाथेय बाँधकर राजहंस जायँगे' इसका तात्पर्य यह भी है कि जहाँ वर्षा होने की संभावना होगी उस दिशा की ओर खेतिहर मजदूर पाथेय लेकर निकल पड़ेंगे। कालिदास के अधोलिखित श्लोक पढ़ें—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामबन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥

मार्ग में कृषक-पत्नियाँ भी कालिदास के मेघ को देखेंगी—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपद-वधूलोचनैः पीयमानः॥

किसानों की भोली-भाली स्त्रियाँ जिन्हें भौंहें चलाकर रिझाना नहीं आता, मेघ को बड़े प्रेम और आदर से देखेंगी। यहाँ भ्रूविलासानभिज्ञ शब्द से शहरी छोकरियों का निरादर किया गया है।

फूल चुननेवाली मालिन युवतियों की भी कवि उपेक्षा नहीं करता—

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावी मुखानाम्॥

नागर युवकों के संबंध में कवि की धारणा अधोलिखित श्लोकांश में प्रकट होती है—

यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥

अर्थात्—ऐसे प्रस्तर-खंडों पर जहाँ नागर युवक महिला मित्रों के साथ आकर शाम बिताते—जिनके वहाँ बैठने की तथा मंडली की सूचना रति-परिमल से मिलती रहती है।

कालिदास के मित्र अग्निमित्र की स्थिति सर्वविदित है। अतः उसकी साधारण चर्चा कर दी गई है। उज्जयिनी उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। उस नगरी का वर्णन भी आवश्यक ही था। वहाँ भी बड़े-बड़े लोगों का वर्णन छोड़ कवि ने साधारण वेश्याओं का वर्णन किया है। महाकाल-मंदिर में उनके नृत्य का वर्णन पढ़िए—

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखं प्राप्य वर्षाग्रविन्दून्
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥

अर्थात्—संध्याकालीन नृत्य में पैरों पर थिरकती हुई जिन वेश्याओं की करधनी के घुँघरू बड़े मीठे बज रहे होंगे उन वेश्याओं के नखक्षतों पर जब तुम्हारी ठंढी-ठंढी बूँदें पड़ेंगी तब वे बड़े प्रेम से अपनी चितवन तुमपर डालेंगी।

उज्जयिनी की पौर कन्याओं का भी वर्णन इस प्रकार मिलता है—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥

कालिदास के इन काव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में साधारण जनता के लिए अगाध प्रेम था और उनके आसपास रहनेवाले अन्य तत्त्वों के लिए भी उनके हृदय में उपेक्षा नहीं थी। राजा को नायक के रूप में रखने से उन्हें यह दिखाने की सुविधा होती है कि राजा साधारण मनुष्य से भिन्न नहीं, वे भी मनुष्य ही होते हैं। जनता का ऐसा कवि प्रायः ही किसी युग में और किसी देश में हुआ होगा।

मानवाधिकार की रक्षा तथा मानव-सभ्यता को नष्ट होने से बचाने में भी हमारे यशस्वी कवियों ने बहुत काम किया है। वेद-पुराण से लेकर काव्यों तक में यह सिद्ध कर दिखाया गया है कि मानव, अगर वह सच्ची मानवता से युक्त हो, सबसे बड़ा है।

एक समय था जबकि लोग संसार से घृणा कर देवत्व को पसंद करने लगे थे। संसार के सारे कारोबार ठप्प पड़ जाते यदि कवियों ने यह नहीं बताया होता कि संसार स्वर्गलोक से अच्छा है और मानव देवता से भी अच्छे हैं। यहाँ एक-आध उदाहरण इस प्रसंग में दिया जा सकता है। मर्त्यलोक से राजा दशरथ देवताओं के पक्ष से दानवों से लड़ने गए थे। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव और देवता में कोई अंतर नहीं यदि मानव शक्ति-संपन्न हो। ईर्ष्या-घृणा का जहाँतक संबंध है, वह देवलोक में भी कम नहीं। यह तथ्य भी उस घटना से सिद्ध हो जाता है जो

राजा दिलीप के साथ घटी थी। केवल नमस्कार न करने के कारण कामधेनु-पुत्री नंदिनी असंतुष्ट हो गई और राजा को शाप दे दिया। देवकन्याएँ भी मर्त्यलोक के लोगों को मिलती थीं और वह भी घूस के रूप में। हम राजा पुरूरवा को उर्वशी के साथ पाते हैं। ऐसा क्यों हुआ था? इंद्र ने पुरूरवा से युद्ध में सहायता पाने के कारण उर्वशी दी थी। जहाँतक स्त्रियों का मादक वर्णन किया गया है, जिसे कुछ सज्जन अश्लील कहते हैं, देश-काल-पात्रानुसार आवश्यक ही है। लोग संसार से विरक्त होकर वैसा विकास नहीं कर पाते जिसका उपभोग आजकल हमलोग कर रहे हैं। संसार और उसकी विषय-वासना को सुंदर रूप में उपस्थित कर कवियों ने मानव-समाज को उसमें लगे रहने और तदनुरूप उसकी रक्षा करने की प्रेरणा दी। इससे फल यह हुआ कि उसके लिए अपेक्षित अन्य कार्यों का भी विकास जारी रहा।

इन सारी बातों को सोचने के बाद प्रायः कोई भी विवेकी भारतीय अपना साहित्य पढ़ने में अपने को अधिक गौरवान्वित समझ सकता है। आज देश स्वतंत्र हो चुका है। अतः सबको अपने साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ अन्य साहित्यों के अध्ययन के लिए प्रयत्न करना है। आधुनिक आलोचकों से मेरा अनुरोध है कि सभी साहित्यों के पूर्ण अध्ययन के बिना वे तुलनात्मक विवेचन और उसमें भी अपना निष्कर्ष देकर आगामी पीढ़ी के मस्तिष्क को विकृत करने की चेष्टा न करें।

गीत

श्री कृष्णनंदन 'पीयूष'

न पालो इस तरह सपना किसी का, मौन आँखों में!
न फूलो पूर्णिमा की रसभरी सुकुमार रातों पर,
न भूलो आप खुद को, प्यार की बदनाम बातों पर;
गगन का तोड़कर तारा नहीं लाया गया अबतक,
प्रतीक्षा में जलोगे इस तरह मजबूर तुम कबतक?
गुनाहों से भरी है जिन्दगी यह प्यार की मेरी—
न पालो इस तरह सपना किसी का, मौन आँखों में!

प्रणय-संदेश ले जो खग उड़ा, लौटा न संध्या तक
उठीं लहरें समुंदर की, न छू पाईं गगन-तारक;
प्रतीक्षा में जला जो दीप वह तो बुझ गया पथ पर,
न आई रात की रानी, न फूटा गीत का निर्झर;
यही छोटी कहानी है, जिसे सब प्यार कहते हैं—
न पालो इसलिए सपना किसी का, मौन आँखों में!

न बाँधो मन कभी अपना किसी के स्नेह-अलकों से,
न सपने को कभी बाँधो किसी की स्याह पलकों से;
अमा में चाँदनी की लौ, भरम-भर है, दुराशा है,
न मानो स्वप्न को संसार, क्षण भर का तमाशा है;
न पालो आग छाती में, तुम्हें बरबाद कर देगी—
न पालो इस तरह सपना किसी का, मौन आँखों में!

नर्स

श्री नरेंद्रनारायण लाल

रात का आलम, चारों ओर सन्नाटा था। अस्पताल में ड्यूटी करनेवाले लोग जाग रहे थे। हाँ, कई मरीज भी ऐसे थे जिन्हें नींद न आ रही थी; कुछ को तो सचमुच दर्द था और कई जिंदगी से ऊब, मरने की सोच रहे थे। विचारों के सागर में डूबती-उतराती अन्यमनस्क-सी राजर्स अपने दफ्तर में बैठी थी। उसके मन में रह-रहकर यह बात उठ खड़ी होती—क्या चार नंबर के मरीज को रिपोर्ट मालूम हो गई? और फिर वह इस ढंग से सोचने लगती जैसे मरीज को रिपोर्ट सचमुच मालूम हो चुकी हो; वह घबरा जाती।

एकाएक राजर्स कुर्सी से उठ खड़ी हुई और उसके पाँव अनायास चार नंबर बेड की ओर बढ़ चले। वार्ड की बिजली बुझी हुई थी। उसने सोचा, मरीज सो रहा है। हाथ के टॉर्च का बटन दबाते ही मरीज का चेहरा दमक उठा; गोरा रंग, उभरे गाल, उन्नत ललाट और मूँछें उभार पर थीं, फिर भी चेहरा पीला था, खून का नाम नहीं। टॉर्च की रोशनी पड़ते ही मरीज ने आँखें खोल दीं। राजर्स ने पूछा—'नींद नहीं आती है क्या?'

'नहीं'—मरीज की बोली में एक अजीब दर्द था।

'कोशिश कीजिए, आपके लिए सोना अच्छा है।'

'सोने से क्या होगा, नर्स?'

'आप जल्द अच्छे हो जायँगे।'

'अच्छा ही होकर क्या करना है?' मरीज की आवाज में नाउम्मीदी की बू देख राजर्स कुछ देर मौन रही। फिर उसने कहा—'बीमारी की हालत में मरीज को खुश रहना चाहिए; खुश रहने से आधी बीमारी खुद ही अच्छी हो जाती है।'

'आपका कहना ठीक है, लेकिन जिसने जिंदगी में यह जाना ही नहीं कि खुशी किस चिड़िये का नाम है, भला वह क्योंकर खुश रहेगा।' मरीज के जवाब में एक ऐसा दर्द था जिससे राजर्स की हृदय-वीणा के सभी तार एक साथ झनझना उठे। राजर्स को लगा, बातें ज्यादा बढ़ाने से मरीज को हरारत न हो जाय! और बिना कुछ बोले वह आगे बढ़ गई।

आज राजर्स को क्या हो गया? वह खुद भी समझ नहीं पाती। आखिर उसका दिल चार नंबर के मरीज की ओर इतना खिंचता क्यों जा रहा है; वह हजार कोशिश करती कि उसका खयाल अपने मन में न रखे, पर हमेशा नाकामयाबी ही नसीब होती। सोचती—'मुझे इस तरह एक मरीज के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। यह अस्पताल है, मरीज आते ही रहते हैं; सभी मरीजों पर मुझे एक-सा ख्याल रखना चाहिए। मैं नर्स हूँ। मेरा काम ही सेवा करना है······तो क्या मेरा जन्म केवल सेवा करने के लिए ही हुआ है? क्या मैं सिर्फ एक नर्स हूँ? क्या मुझमें औरत का दिल नहीं?······पर, पर यह कौन ताकत है जो मुझे चार नंबर के मरीज की ओर खींचे जा रही है?······आखिर मैं उनकी ओर खिंची क्यों जा रहीं हूँ? क्या वे सुंदर हैं? क्या वे जवान हैं?······ नहीं-नहीं, अस्पताल में कितने जवान और कितने खूबसूरत मरीज आए और आयँगे भी; पर उन्हें हमेशा देखते रहने की ख्वाहिश क्यों? क्यों मैं चाहती हूँ कि वे जल्द अच्छे हो जायँ?······' आदि कई सवाल उठ-उठकर राजर्स को बेकरार बना रहे थे; लाख कोशिश करने पर भी उसे नींद नहीं आती। खाट पर पड़े-पड़े बस करवटें बदले जा रही थी। वह चाहती थी कि थोड़ी देर के लिए भी नींद आ जाय, क्योंकि फिर रात की ड्यूटी जो करनी थी। लेकिन उसे नींद न आई और ड्यूटी का वक्त भी हो आया।

वार्ड में घूमते-घूमते राजर्स के पैर चार नंबर बेड के नजदीक अचानक रुक गए। मरीज ने उसे देखकर पूछा—'नर्स! एक्सरे की रिपोर्ट आ गई न?' मरीज की बातों से राजर्स का दिल धक-सा हो गया। सोचने लगी—'क्या इन्हें रिपोर्ट मालूम हो गई? अगर मालूम हो गई तो यह बहुत ही बुरा हुआ!' राजर्स को चुप देख मरीज ने फिर पूछा—'नर्स? मैं रिपोर्ट की बातें पूछ रहा हूँ।'

'आप जानकर क्या करेंगे ?'—राजर्स ने कुछ रुखाई से जवाब दिया।

'आपको भी मुझसे चिढ़ है ?'—कातर स्वर में मरीज ने पूछा। उसके प्रश्न से राजर्स को बड़ी ग्लानि हुई और नम्र हो वह बोली—'नहीं, मुझे आप गलत न समझें; आपके भले के लिए ही कहती हूँ।' मरीज को सचमुच राजर्स की आवाज में अपनापन का भाव मिला। सोचने लगा—'क्या नर्स सचमुच मुझे अपना मानती है ? क्या सभी नर्सें सभी मरीजों के साथ ऐसा ही व्यवहार रखती हैं ?…लेकिन, यह नर्स तो मुझपर खास ख्याल रखती है, ऐसा मालूम होता है। इसे और मरीजों से इतनी बातें करते भी कभी नहीं देखता…तो इसे मेरे भले से क्या लाभ ? मैं मर जाऊँ या जीता रहूँ, इससे इसे क्या गरज ? यह तो एक नर्स है, मरीजों की सेवा करती है तो उसके लिए इसे रुपए मिलते हैं। फिर भी मुझसे इसे हमदर्दी क्यों ?'' मरीज की मुखमुद्रा गंभीर हो उठी, पर उसकी आँखें राजर्स की ओर ही लगी थीं, और राजर्स आँखें नीचे किए कुछ सोच रही थी। और जब उसने एकाएक आँखें उठाईं तो उसकी आँखें मरीज की बड़ी-बड़ी आँखों से टकरा गईं। राजर्स तिलमिला उठी और उसके पैर वार्ड से सटे हुए बरामदे की ओर बढ़ गए।

आकाश में चाँद खिलखिला रहा था, राजर्स रेलिंग पकड़े खड़ी थी और उसकी आँखें चाँद की ओर लगी हुई थीं। बहुत परीशान थी। कभी चाँद को देखती तो कभी बरामदे में टहलती। अपने को बार-बार सँभालते रहने पर भी वह फिर चार नंबर बेड के निकट पड़ी हुई स्टूल पर जा बैठी। मरीज जगा ही हुआ था, आहट पा उसने करवट बदल डाली। स्टूल पर राजर्स को बैठे देख उसने पूछा—'क्यों नर्स ! आप कुछ कहना चाहती हैं ?'

'जी, आपको परीशान नहीं होना चाहिए। आप जल्द अच्छे हो जायँगे।'—राजर्स ने तो मरीज से कहा, पर उसे ऐसा लगा, मानों वह खुद को ढाढ़स बँधा रही हो।

'नर्स ! दुनिया में जिसका कोई न हो, उसे मरने से डर ही क्या ?'

'तो क्या आपके कोई नहीं है ?'

'मा-बाप को छोड़ सभी हैं, पर वे नहीं के बराबर ही हैं।'

'आपकी बातों से ऐसा लगता है, मानों आप जमाने से बहुत सताए हुए हैं !'

'नर्स ! आप अपना काम करें, मेरे साथ आप क्यों नाहक परीशान हो रही हैं ?'

'तो क्या मैं आपकी कोई नहीं ?'—राजर्स के मुँह से अचानक यह निकल पड़ा; वह जैसे शर्मा गई और आँखें नीची कर लीं। मरीज के चेहरे पर एक अजीब-सी रेखा दौड़ गई; उसे ऐसा महसूस हुआ, मानों, उसे मरुभूमि में पानी का एक कतरा मिल गया हो। उसके मन में विचार उठने लगे—'क्या नर्स को मुझसे प्यार है ? आजतक तो मुझसे किसी ने ऐसी प्यार-भरी बातें नहीं कहीं थीं !' फिर दूसरे ही क्षण वह सोचने लगा—'क्या मैं नर्स के प्यार के लायक हूँ ?…' और तुरत वह बोल उठा—'नर्स ! मैं अभागा हूँ; जन्म के पहले पिताजी चल बसे और पैदा लेते ही प्रसव की पीड़ा के कारण मा भी मुझे छोड़ गई। बचपन दुःख में बिताया और जवानी प्रेम के एक शब्द के लिए तड़प रही है; पर आपकी बात सुन आज मुझे सचमुच नई जिंदगी मिल गई। लेकिन…… लेकिन अब मैं इस लायक भी नहीं……जो मौत के दरवाजे पर हो, आप उससे कौन-सी उम्मीद रख सकती हैं ?'

'मुझे गलत न समझें।'

'मैंने आजतक किसी को गलत नहीं समझा, नर्स !'—रुकते हुए मरीज ने फिर कहना शुरू किया—'आप ऐसा न समझें कि मेरे पहलू में दिल ही नहीं ….दिल है, पर, पर…..'

'आप आराम करें। ज्यादा बोलने से परीशानी बढ़ जायगी।'—बीच में ही यह कह उसे रोकते हुए राजर्स एक-ब-एक उठकर चली गई।

आज राजर्स को काम करने में तबीयत नहीं लगती, रह-रहकर चार नंबर के मरीज के साथ बातें करने के लिए उसका मन मचल उठता। अपने दफ्तर में बैठ वह सोच रही थी—'मैंने उनसे क्या कह दिया ? मुझे कहना नहीं चाहिए था !……तो क्या उन्हें रिपोर्ट मालूम हो गई ?'

'हलो, नर्स !'—एकाएक इस आवाज से राजर्स चौंक पड़ी और सामने देखा तो हाउस सर्जन खड़ा मुस्कुरा रहा था। उसकी मुस्कुराहट से राजर्स के चेहरे पर भी जब कभी मुस्कुराहट की हल्की रेखा दौड़ जाती थी और

हँसती हुई वह सर्जन का स्वागत करती थी; पर, आज उसका चेहरा उतरा हुआ था। सर्जन ने पूछा—

'वार्ड में तो खैरियत है ?'

'हाँ, डाक्टर ! सब खैरियत ही है !'—राजर्स ने अन्य-मनस्क-सा जवाब दिया।

'नर्स ! चार नंबर का मरीज कैसा है ?' इसे सुनते ही राजर्स की हालत अजीब-सी हो गई। फिर भी अपने को सँभालती हुई उसने पूछा—'क्या बात है, डाक्टर ?'

'फेफड़े क़रीब-क़रीब गायब हैं और किडनी भी खराब है; दो-तीन दिन भी बच जाय तो गनीमत समझो।'

'पर, देखने से तो कुछ पता नहीं चलता और बातें भी वे अच्छी तरह कर लेते हैं !'

'इस रोग में अक्सर ऐसा ही होता है ?'

'तो क्या उन्हें बचाने का अब कोई उपाय नहीं है, डाक्टर ?'—राजर्स पूछ बैठी; पर उसे स्वयं ही अपने प्रश्न पर दुःख हुआ। 'डाक्टर क्या समझेगा ?'—इसे सोच वह कुछ बेचैन-सी हो गई।

'तुम्हें बहुत फिक्र है चार नंबर के लिए ?'—सर्जन ने पूछा।

'मैं नर्स हूँ, डाक्टर ! मैं हमेशा मरीजों का भला चाहती हूँ।'

'अच्छा चलो, वार्ड का राउंड तो दे आवें।'

घूमते-घूमते दोनों चार नंबर मरीज के पास पहुँचे। मरीज कराह रहा था; बहुत बेचैन-सा मालूम हो रहा था। सर्जन ने पूछा—'कैसी तबीयत है ?' वार्ड की बिजली बुझी रहने की वजह से चेहरा देखना मुश्किल था; पर सर्जन ने टॉर्च जलाकर देखा, मरीज का चेहरा जर्द होता जा रहा था। घबराकर सर्जन ने फिर पूछा—

'कैसी तबीयत है ?'

'तबीयत अच्छी नहीं मालूम होती है, डाक्टर ! अभी-अभी कै भी हुई है।'—बड़ा मायूस हो मरीज ने जवाब दिया। खाट के नीचे ही काँच का एक बर्तन रखा हुआ था। सर्जन ने टॉर्च जलाकर देखा; बर्तन में खून की ढेर-सी कै थी। सर्जन का चेहरा उतर गया और राजर्स व्यग्र हो उठी। शांति भंग कर मरीज ने कराहते हुए कहा—'डाक्टर ! अब मैं नहीं बचूँगा !'

'घबराइए नहीं। अभी आपको एक सूई दिए देता हूँ, बेचैनी दूर हो जायगी।'—सर्जन ने कहा।

'एक घड़ी की बेचैनी दूर होने से होता ही क्या है, डाक्टर ? यहाँ तो बस मौत का इंतजार है !'

'आप ज्यादा न बोलें, सूई पड़ने से आपकी तबीयत ठीक हो जायगी !'—राजर्स ने सहानुभूति दिखाते हुए कहा।

'आप भी यही कहती हैं, नर्स !'—बड़े भावपूर्ण ढंग से मरीज बोला। सर्जन सूई का सामान ठीक कर रहा था और राजर्स उसकी मदद कर रही थी। मरीज की बात सुन राजर्स बेचैन-सी हो गई। और, सूई देकर जाते हुए सर्जन ने धीरे से कहा—'नर्स ! चार नंबर पर पूरा ख्याल रखना…।' सर्जन के जाने के बाद राजर्स कै वाला बर्तन उठाने लगी। मरीज ने रोकते हुए कहा—'नर्स ! आप मेरे पीछे जान देने पर क्यों तुली हैं ? कै मामूली नहीं, खून से भरी है ! जिस समय मैं कै कर रहा था, वार्ड की बिजली जल रही थी और उसकी रोशनी में मैंने उस खून को देखा था !' मरीज की बातें सुन राजर्स घबरा उठी। लेकिन उसने बर्तन हटा ही दिया। मरीज ने कराहते हुए कहा—

'नर्स ! मुझे अफसोस है।'

'किसलिए ?'

'मुझे ऐसा लगता है कि अब मैं दो-तीन दिनों का ही मेहमान हूँ और…और…जाने दीजिए।'

'आप क्यों घबरा रहे हैं ? डाक्टर ने कहा है, आप जल्द अच्छे हो जायँगे !'

'इस ढाढ़स के लिए धन्यवाद !'

'अभी आप कुछ कह रहे थे ?'

'छोड़िए'

'कहिए भी, बात क्या है ?'

'आप क्रोधित न होंगी ?'

'क्रोध करने की कौन ऐसी बात है ! कहिए।'

'पता नहीं, पहले दिन से ही आपकी ओर मैं क्यों खिंचता गया और आज ऐसा लगता है, मानों, हम दोनों के जिस्म दो हैं, पर जान एक ही है !'

'……………'

'बोलिए न ?'—राजर्स को मौन देख मरीज ने कराहते हुए फिर पूछा।

'आप ज्यादा न बोलें, हरारत बढ़ जायगी।'—राजर्स ने उत्तर दिया।

'आपको बोलना ही होगा, नर्स ! जिंदगी भर मैं प्यार के लिए तड़पता रहा और आज आपका सहारा मिला है तो आप मौन साधे बैठी हैं; माना कि मुझसे प्यार करने में आपका कुछ भी लाभ नहीं, मैं मौत के मुँह में पड़ चुका हूँ।'—बोलते-बोलते वह आवेश में उठ बैठा और फिर बोलने लगा – 'नर्स ! मेरी तसल्ली के लिए इतना कह दीजिए कि आपको मुझसे प्यार है; मेरे दिल को आराम होगा और मैं चैन से मर सकूँगा।' राजर्स के अंतःकरण में विचारों का भयंकर द्वंद्व छिड़ा हुआ था। क्या कहे और क्या न कहे,—इसी छः-पाँच में वह पड़ी हुई थी। उधर उसे इसका भी भय था कि कहीं कोई उनकी बातें न सुन ले। सोचते-सोचते उसकी व्यग्रता इतनी बढ़ गई कि वह उठकर चली गई।

× × ×

राजर्स दो दिनों से खाट पर पड़ी हुई थी; मौसमी बुखार था। उसे चार नंबर के मरीज की चिंता परीशान किए हुए थी। अपने-आप पर कभी उसे क्रोध आता और कभी सोचती—"कैसी तबीयत होगी उनकी ? सूई का असर जरूर अच्छा हुआ होगा…'

चार-पाँच दिनों के बाद स्वस्थ हो वह ड्यूटी पर जाने लगी। उसके पाँव अस्पताल की ओर तेजी से बढ़ रहे थे, पर रह-रहकर उसे लगता, कहीं उन्हें कुछ हो तो नहीं गया। इस ख्याल के उठते ही वह बेचैन हो जाती। अस्पताल पहुँचने पर सीधे वार्ड में गई और चार नंबर बेड के नजदीक जाकर खड़ी हुई। मरीज का चेहरा चादर से ढँका हुआ था। राजर्स ने बड़े प्रेम से कहा—'मेरी तबीयत खराब हो गई थी। अब अच्छी हूँ।' मरीज को मौन देख उसने फिर पूछा—'तबीयत तो अच्छी है आपकी ?' मरीज ने चेहरे से चादर हटाते हुए कहा—'मेहरवानी है आपकी ! तबीयत अच्छी है।' पर, मरीज का चेहरा देख राजर्स के पाँव-तले की जमीन खिसक गई। यह तो दूसरा मरीज है। क्या वे घर चले गए ? आखिर क्या हुआ उन्हें ? वह परीशान हो उठी। हिम्मत बटोर उसने पूछा—"इस बेड पर जो पहले मरीज थे..' मरीज ने बीच में ही छेड़ दिया—'बेचारे का देहांत कल हो हो गया। मरने के एक घंटा पहले वे बेहोश हो गए थे और बेहोशी में जब-तब 'नर्स-नर्स' बोल उठते थे। एकाएक उनकी हृदय-गति बंद हो गई। मैं सात नंबर बेड से आज यहाँ लाया गया, पता नहीं, क्या कारण है ?'

राजर्स मूर्तिवत् खड़ी थी, काटो तो बदन में खून नहीं। कंठ भर आया था, आँखें सजल हो उठी थीं। इतने में ही मरीज ने पूछा—'क्या बात है, नर्स ? क्या वे आपके कोई होते थे ?' मरीज ने उसे मौन देख फिर पूछा—'उनकी मौत सुन आप बहुत बेचैन-सी लगती हैं ?' राजर्स ने अपने को सँभालते हुए पूछा—'मुझसे आप कुछ पूछ रहे हैं ?'

'जी। इस बेड के पहले मरीज की मृत्यु की खबर सुन आपकी आँखें गीली हो उठीं; क्या बात है, नर्स ?'

'कुछ भी नहीं। मरीजों की सेवा करना मेरा धर्म है, मैं एक नर्स हूँ न ? मैं सभी मरीजों का भला चाहती हूँ !' —बड़ी मुश्किल से यह बोलती हुई राजर्स आगे बढ़ गई।

जागरण : श्री आलोक

खोलो नयन बंधु, खुलते कमल बंद;
जल-थल-गगन बीच गूँजा किरण-छंद।

मुख से तिमिर-पट हटाती जगी रात—
सोए जगत को जगाती बनी प्रात;
कहती नई बात बहती पवन मंद।
खोलो नयन बंधु, खुलते कमल मंद।

कुंकुम बने उड़ रहे स्वप्न रंगीन;
जग में नई चेतना की बजी बीन;
जीवन विभालीन; निर्बंध आनंद।
खोलो नयन बंधु, खुलते कमल बंद।

मानव-विजय के महापर्व का गान
गाती धरा, गा रहा व्योम, दिनमान;
जग का बढ़ा मान—छाई सुयश-गंध।
खोलो नयन, बंधु खुलते कमल बंद।

आदिवासी लोकगीतों का अध्ययन

श्री जगदीश त्रिगुणायत

यों तो सारे भारतवर्ष में नृतत्त्वशास्त्र की इस शाखा का, जिसे लोकवार्ता कहते हैं, अच्छा विकास नहीं हुआ है; किंतु आदिवासियों में यह विषय और भी उपेक्षित रहा है। जहाँ आदिवासियों के खँडहर को पुराना और जंगल-झाड़ से ढँका हुआ पाकर नृतत्त्वशास्त्रियों ने इसपर सबसे अधिक धावा बोल दिया, वहीं इनकी अशिक्षा, पिछड़ेपन और विकट परिस्थितियों के कारण इनकी वार्त्ताएँ अपेक्षा-कृत अधिक रहस्यमयी बनी रहीं। शायद यह बात भी थी कि ये वार्त्ताएँ ईसाई-धर्म-प्रचार के अनुकूल नहीं थीं। यूरोप से चले हुए राज्य, विज्ञान और ईसाई धर्म इस विषय में बड़े भाग्यहीन रहे हैं कि वे जहाँ-जहाँ एक साथ गए, उन्हें आपस में ही टकरा जाना पड़ा। उन्हें अपने कार्यक्षेत्र की जनता के दुर्भाग्य और अपने दुर्योग से आपस में ही गठ-बंधन करने पड़े और इस प्रयत्न में वे जन-कल्याण से दूर ही होते गए। जहाँ नृतत्त्वशास्त्र को लोक-वार्त्ताओं से सहानुभूति होती और उन्हें महिमा प्रदान की जानी चाहिए थी, वहाँ ईसाई धर्म अँगरेजी राज्य की प्रेरणा से उन्हीं वार्ताओं को मिटाने और हीन दिखाने पर कमर कसे बैठा था।

आदिवासी कविता

जब आदिवासियों के क्षेत्र में जाति, परिवार, रक्त, भाषा, स्वभाव आदि बहुत-से रहस्यों का उद्घाटन हो चुका था तब भी उनकी अन्य वार्त्ताओं की तरह उनकी कविता भी रहस्यमयी और अधूरी ही बनी रही। श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर ने १९४३ में लिखा था कि—'दस वर्ष पहले तक भारतीय जन-जातियों की कविता सभी जिज्ञासुओं के लिए एक वर्जित प्रदेश थी।' ब्राउन का विश्वास था कि तांगखुल (आसाम) की नागा जाति अपने अधिकांश उन गीतों को जिन्हें वह गाती थी, समझती नहीं थी। और ग्रिनगार्ड ने उराँव गीतों के संबंध में अपनी धारणा प्रकट की थी कि किसी भी उराँव गीत के विभिन्न पदों में जो विचार रहते हैं, उनको पकड़ सकना कठिन है। प्रथम दर्शन में ही आँखें प्रकाशों और रंगों के प्रदर्शनों से चौंधिया-सी जाती हैं। कान वर्त्तालाप के असंबद्ध टुकड़ों का वस्तुतः सिर-पैर नहीं ढूँढ पाते। पाश्चात्य पाठक कुछ क्षुब्ध हो जाता है।

और हेमंड्रोफ ने आसाम के 'कोयोंक' नागाओं के गीतों के संबंध में लिखा था कि 'बहुत-से गीत एक अत्यंत सीमित क्षेत्र में ही पूर्णतया समझे जाते हैं। यहाँ तक कि गायक भी बहुधा प्रत्येक शब्द का अर्थ नहीं बता पाता। गायक कहता है कि हम योंही गाते हैं, किंतु साधारण बातचीत में इन शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करते हैं, और न कह सकते कि इनका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?'

वास्तव में जहाँ मनुष्य ने मनुष्य को ही नहीं समझा, और संसार के बहुत-से देशों में आदिवासी सामान्य मानव की जगह 'अलिफलैला की कहानी' समझे गए जो विचित्र लोक के जीव हैं, जिनके सिर नीचे और पैर ऊपर हैं, जो हवा में उड़ते और आग खाते हैं, तो ऐसी दुनिया में उनके गीतों के संबंध में उपर्युक्त धारणाएँ होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

लेकिन अध्ययन और संपर्क से इन धारणाओं में परिवर्त्तन हुआ। श्री वैरियर एलविन और शामराव हिवाले के संमिलित प्रयत्नों ने मध्यप्रदेश की जन-जातियों के मानस में प्रवेश करके उनकी कलाओं और गीतों के विस्तृत अध्ययन का द्वार पहली बार खोला। आदिवासी गीतों के संबंध में इस महत्त्वपूर्ण युग-परिवर्तन की चर्चा करते हुए आर्चर ने लिखा है—'......लेकिन १९३५ में 'सांग्स आफ दी फारेस्ट' के प्रकाशन ने स्थिति को बिलकुल बदल दिया, क्योंकि उसमें गोंड कविताओं को पारदर्शी और भाव-मूलक बताया गया था। चार वर्षों के बाद 'दी वैगा' ने अंतिम रूप से रहस्यात्मक तत्त्वों को पूर्णतया हटा डाला; क्योंकि इसमें न केवल आदिवासी कविता को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया था, वरन् उसमें जनजीवन के आधार-भूत तत्त्वों को भी प्रकट किया गया था। जहाँ आदिवासी कविता आदिवासी जीवन की

सारी मनोवृत्तियों और विचारों की कुंजी के रूप में दिखाई गई, वहीं उनके जीवन से इनकी सारी कविताओं का समाधान और उत्तर मिल गया। 'दी वैगा' के प्रकाशन के बाद ही यह समझना संभव हो सका कि एक जाति को कविता से क्या लाभ है एवं कविता के प्रति उसकी स्वाभाविक प्रकृति क्या है ?'

जन-जातियों की कविता के अध्येताओं में एलविन के समान ही शामराव हिवाले, डब्ल्यू० जी० आर्चर और फ्यूरर हेमंड्रोफ के नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'सांग्स आफ दी फारेस्ट' एलविन और हिवाले की सम्मिलित रचना है। 'दी ब्लू ग्रोव' उराँव गीतों पर आर्चर की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। और, 'सांग्स आफ दी फारेस्ट' तथा 'दी वैगा' के विषय में आर्चर की जो सम्मति है वह स्वयं उनकी पुस्तक पर भी उतनी ही चरितार्थ होती है। आर्चर ने मुंडा, उराँव, खड़िया, हो, संथाल आदि जातियों के हजारों-हजार गीतों का मोटी-मोटी जिल्दों में संग्रह भी किया है, यद्यपि वह कोरा संग्रह ही है।

अध्ययन के भिन्न-भिन्न उद्देश्य

लेकिन आदिवासी लोकगीतों के अध्ययन के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रहे हैं। बहुधा इनमें विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण का प्रयोग कम किया गया है और वैसा परिणाम भी कम निकला है। जैसे बहुत-से नृतत्त्वशास्त्री जन-जातियों को अपनी उसी आरंभिक दशा में इसलिए रहन देना चाहते हैं जिससे वे उनके और उनके उत्तराधिकारियों के अध्ययन और शोध की सामग्री बनी रहें, वैसे बहुत-से लेखक इनकी लोकवार्त्ताओं का केवल मनोरंजन के लिए उपयोग करते रहे हैं। उन्होंने इनकी सारी कलाओं और गीतों को म्यूजियम की सामग्री समझा है, जिन्हें पढ़-सुनकर विद्या-विलासी पाठकों को कौतूहल हो और फुरसत की घड़ियों में उनका मन बहले। आर्चर ने आदिवासियों के समाज से कई हजार गीतों को बटोरकर रख लेना इसलिए आवश्यक समझा जिससे वे सभ्यता और शिक्षा की बाढ़ में बह न जायँ और नृ-वंश तथा पुरातत्त्व की विद्याएँ अपने अध्ययन के लिए इस महत्त्वपूर्ण सामग्री से वंचित न हो जायँ, हालाँकि आर्चर के आदर्श ऊँचे थे और उनके पास ऐसी उच्च कोटि की प्रतिभा थी कि यदि उन्होंने इन संगृहीत गीतों का अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया होता तो लोक-गीतों के क्षेत्र में उनके पद-चिह्न बहुत महत्त्वपूर्ण हुए होते।

दूसरा दृष्टिकोण सुधारवादी था। इनमें से एक वर्ग—विशेष कर ईसाई मिशनरियों ने सारा अध्ययन सुधार की दृष्टि से किया जिससे इन जातियों के विश्वासों, आस्थाओं, मान्यताओं आदि की निरर्थकता सिद्ध की जाय, उनकी हीनता दिखाई जाय और फिर धर्म-परिवर्तन के हरे बाग की ओर उन्हें हाँक ले जाया जाय। एक उद्देश्य यह भी था कि भारत के अन्य लोगों से इनकी ऐतिहासिक घृणा और परंपरागत कटुता के अभिनव सिद्धांत की स्थापना की जाय और वार्त्ताओं की खोज में इन आपसी संबंधों में यदि कहीं थोड़ी-सी भी 'सूजन' दिखाई पड़े तो उसपर मक्खी की तरह बैठकर उसे और भी जहरीला बना दिया जाय। ऐसे ही किसी सुधारक ने 'कोल' शब्द का आविष्कार किया है और यह प्रमाणित किया है कि यह शब्द अन्य भारतीयों से इनकी परंपरागत घृणा का प्रतीक है। उदाहरण-स्वरूप पाश्चात्य पुराविद् कहते हैं—

'कोल जाति आर्य जाति से पूर्ववर्त्ती भारत की आदिम आदिवासी जाति है।'

× × ×

'वर्त्तमान काल में हो, मुंडा, उराँव, भूमिज आदि कई जातियाँ ही कोल कहलाती हैं। उनमें हो या लड़का कोल-प्रकृति कोल-जसे जान पड़ते हैं। संभवतः अति पूर्वकाल में मुंडा, उराँव और हो—ये तीन श्रेणियाँ एकत्र और एक परिवार-युक्त होकर रहती थीं। मालूम पड़ता है, छोटानागपुर में कोलों के संस्कृत 'मुंडा' नाम ग्रहण करने के पहले ही 'हो' लोग पृथक् हो गए। मुंडा आदि श्रेणियों का आचार-विचार कितना भ्रष्ट होते हुए भी लड़का कोल प्राचीन रीति-नीति बराबर सामन भाव से पालन करते रहे हैं।'

स्पष्टतः मुंडाओं पर इस नाराजी का कारण उनक संस्कृत 'मुंडा' नाम ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

फिर इन्साइक्लोपीडिया किसी ऐसे ही 'सुधारक' द्वारा प्रस्तुत की हुई एक लोककथा का उद्घाटन करती है—'लड़का कोलों का कहना है कि सिंगबोंगा ने एक बालक और एक बालिका को बनाया। उनमें काम की प्रवृत्ति न देखकर उन्हें धान की शराब बनाना सिखाया। तब कामेच्छा हुई और वंशवृद्धि होने लगी। प्रथम नर-नारी से १२ पुत्रों और १२ कन्याओं ने जन्म लिया। सिंगबोंगा ने

तरह-तरह के मांस और शाक-भाजी पकाकर उन्हें भोज दिया। एक-एक भाई-बहन का जोड़ा लगाकर एक-एक चीज खिलाई। प्रथम और द्वितीय भाई-बहन ने बैल और महिष का मांस लिया। उन्हीं से कोल और भूमिज जाति की उत्पत्ति हुई। शाक-भाजी खानेवालों से ब्राह्मण, क्षत्रिय और छाग-मांसाहारियों से शूद्र जाति की उत्पत्ति है। उसी समय सूअर का मांस खाने से एक जोड़ा संथाल हो गया। कोल अपनी भाँति यूरोपियनों को भी प्रथम मिथुन से उत्पन्न बताते हैं।' × ×

'×…×लड़का कोल…यह किसी दूसरी जाति के साथ एकत्र रहना नहीं चाहते और दूसरी सभी जातियों—विशेष कर हिंदुओं—से बड़ी घृणा करते हैं।'

इनका अलौकिक संबंध और हिंदुओं से परंपरागत घृणा के सिद्धांत की स्थापना ही यूरोपियनों की इस अभिनव कथा का उद्देश्य है।

इस विषय में श्री शरच्चंद्र राय का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। अँगरेज शासक और पादरी अपने इतिहास में शरत् बाबू को उनकी मोटी पुस्तकों के अन्य अनुसंधानों से अधिक इसी बात के लिए याद रखेंगे। शरत्‌बाबू की पुस्तकें परतंत्रता के दिनों में एक मिलिटरी कैंप के समान रहीं जिनमें रहकर शासन और धर्म-प्रचार ने भारतीयता और भारतीय स्वतंत्रता के विरुद्ध युद्ध का मोरचा बनाया। युद्ध-काल में कैंप के समान ही उनम चहल-पहल रही और अब आजादी में वे कैंप के समान ही निर्जीव बनकर रह गई। शरत् बाबू की सारी व्याख्याएँ इस द्वेषभाव से ओत-प्रोत हैं।

मिशनरियों के द्वारा जो भी प्रयत्न हुए उनमें एक घृणा और उपेक्षा का भाव था और यह उद्देश्य था कि इन आदिम जातियों की दृष्टि से अपनी ही वार्त्ताएँ उतर जायँ। उन तथाकथित सुधारकों के सिर पर सुधार और धर्म-प्रचार का ऐसा भूत सवार था कि लोक-मानस के निर्मल जल में खिलनेवाले इन पवित्र फूलों को रौंद डालने में उन्हें कुछ भी पीड़ा नहीं हुई। आदिम जातियों के सरल-सहज भावों को मिटाकर उनकी जगह धार्मिक भावों को भरने के इन मिशनरियों के प्रयत्न पर खेद प्रकट करते हुए आर्चर लिखता है कि 'इंग्लैंड-जैसे देश में जहाँ शत-प्रतिशत क्रिश्चियन हैं, जातीय कविता का एक बहुत अल्प भाग ही बाइबिलिकल है। जातीय परंपरागत कविताओं के स्थान पर बाइबिल-संबंधी कविताओं को स्थान देना अधिकांश क्रिश्चियन मुंडाओं को अत्यावश्यक मुंडा-चेतना से पृथक् करना था। इस प्रकार के पृथक्करण के खतरे स्पष्ट हैं।'

सुधारकों की इस मनोवृत्ति के प्रति एलविन लिखता है—'यहाँ सांप्रदायिक मनोवृत्तिवाले तथा अर्द्धशिक्षित आदिवासियों में एक बड़े घृणित आंदोलन को प्रोत्साहन दिया गया कि भारत के जंगलों और पहाड़ों से नृत्य-संगीत बंद कर दिए जायँ। यह कला और सौंदर्य के प्रत्येक प्रेमी, नृत्य और संगीत के प्रत्येक पर्यवेक्षक और प्रत्येक उस व्यक्ति के लिए, जो जीवन, संगीत और स्वतंत्रता में विश्वास करता है, एक चुनौती है कि वह इस आंदोलन का विरोध करे। भारत के बहुत बड़े भाग के आदिवासी सुधारकों और मिशनरियों की अंधकारपूर्ण छाया में पड़ गए हैं। इनके मनोरंजन को छीन लेना एक भीषण डकैती है। गीतों का चुरा लेना सोने को चुरा लेने से भी बढ़कर है। इनके नृत्य, गीत और प्रसाधनों पर हँसकर उन्हें लज्जित करना—बड़ी भारी दुष्टता है।'

इस धर्म-प्रचार की घृणित मनोवृत्ति को छोड़ देने से जो शुद्ध मानवीय समवेदना की दृष्टि शेष रह जाती है उस दृष्टि से आदिवासियों के लोक-साहित्य के लिए काम लगभग नहीं हुआ है। लेकिन वैरियर एलविन का नाम इसका अपवाद है। उसने मानवीय समवेदना की आत्मीय दृष्टि से मध्यप्रदेश के आदिवासियों की जीवन-कलाओं को समझने का सच्चा प्रयत्न किया है और गोंड, वैगा आदि जातियों के साहित्य, संगीत आदि के बारे में अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। हाँ, एलविन का यह मानवतावाद कुछ पृथक्करण की ओर झुका हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बहुत-से भारतीय सेवकों और सुधारकों का मानवतावाद अंधाधुंध संपर्क का समर्थक है। भीलों, संथालों, सवरियों आदि में और भी कुछ सच्चे कार्यकर्त्ता छिटफुट प्रयत्न कर रहे हैं। किंतु उनका परिणाम सामने आना अभी शेष है।

अध्ययन का शुद्ध उद्देश्य

वास्तव में लोक-जीवन को समझने के लिए लोक-वार्त्ताओं का बड़ा महत्त्व है। और, विशेष कर आदिवासियों के विषय में तो सबसे पहली आवश्यकता यही है कि उन्हें ठीक से समझा जाय। अबतक आदिम जातियों की दुनिया में जो भी सेवक, सुधारक या लेखक गए, एक बँधी हुई धारणा लेकर गए और अपने-आपको कुछ

भिन्न और कभी-कभी विकृत संस्कारों में लपेटकर गए। सबसे बड़ा अनर्थ तो तब हुआ जब वे कोई विशेष उद्देश्य लेकर गए। स्पष्ट है कि उन्होंने अपने रंगीन चश्मों से आदिवासी जीवन को देखा और जो देखा वह सत्य से कभी-कभी बहुत दूर रहा।

जन-जातियों के बीच जानेवालों को, चाहे वे सेवा के लिए जायँ या अध्ययन के लिए जायँ, उनके प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव लेकर जाना चाहिए और मन में उनका सभी बातों के प्रति आत्मीयता का भाव होना चाहिए। हमको दृष्टि ऐसी हो कि हम शहरी संस्कारों के ऊँचे कोठे पर चढ़कर दूर से उनके जीवन की औघट घाटियों पर दृष्टि न डालें, वरन् उनकी विशेष परिस्थितियों क निकट जाकर, उन्हीं की परिस्थितियों में उनके जीवन का अध्ययन करें। आदिम जातियाँ समाज की अविकसित अवस्था में मानी जाती हैं। यदि यह बात सच हो तो भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शिशु का विकास धूल क घरौंदे और काठ के घोड़े पर ही होता है। और, जो अभिभावक शिशु की अभिरुचियों और ममताओं को सहानुभूतिपूर्वक नहीं समझता और केवल अपनी इच्छाओं को ही सर्वदा शिशु के सिर पर लादा करता है, वह मूर्ख उसके साथ अत्याचार करता है। हमें अपने आदर्शों को उन्हें समझाने और उसी कसौटी पर उनके जीवन को कसने के बदले उनके आदर्शों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। आदिम जातियों की बहुत-सी बातों को बुरी, निरर्थक और हीन समझनेवाले बुद्धिमानों को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि ये पिछड़े कहे जानेवाले लोग भी वैसे ही उन सभ्यों की भी बहुत-सी बातों को हीन और निरर्थक समझते हैं।

लोक-वार्त्ताओं में जनता के प्राण बसे रहते हैं। विशिष्ट वर्गों के साहित्य और कलाएँ अधिक संस्कृत होती हैं। उनमें आडंबर, कृत्रिमता और सजावट होती है। इसलिए मन-बहलाव और फैशन में ही उनकी अधिक उपयोगिता है। किंतु जनता और विशेष कर पिछड़ी जातियों की वार्त्ताएँ केवल मन-बहलाव और फैशन की ही सामग्री नहीं होतीं, वरन् वे साँसों की तरह महत्त्वपूर्ण होती हैं। उनके दुखी और पिछड़े जीवन के सारे रस और आनंद उन्हीं में बिखरे होते हैं।

लोक-वार्त्ताएँ और लोक-कविताएँ आदिम जीवन के पंछी के लिए जंगल की डाल है जिसके रसमय और उन्मुक्त वातावरण में उनके पंख स्पंदित होते हैं और स्वर फूटते हैं, आदिम जातियों के प्राणों की मछली के लिए निर्मल धारा हैं जिसमें उनके प्राण गतिशील होते हैं। गीत और नृत्य उनके प्राणों की सूखती हुई खेती के लिए सावन की काली घटा है, और उनकी मुरझाई हुई कलियों के लिए वसंत की ठंढी हवा है। जैसे पंछी की मस्ती को वन से हटाकर और मछली की जिंदगी को पानी से अलग करके नहीं देखा जा सकता वैसे ही गीत-नृत्य से हटा लेने पर आदिवासी जीवन टूटी हुई टहनी की तरह मुरझा जाता है। वन-पर्वत, नृत्य-संगीत तथा उमंग और मस्ती की पृष्ठभूमि के बिना आदिवासी जीवन का चित्र भरपूर नहीं उभरता और सफेद दीवार पर उजली रेखाओं के समान निर्जीव जान पड़ता है।

प्रकृति से संस्कृति की ओर विकासशील आदिम जातियों के जीवन की हर अवस्था के लिए उनकी कलाओं और कविताओं का समान महत्त्व है। परिवर्तन की जिस अवस्था में उनका संबंध इन कलाओं से टूट जाता है वह या तो उनके ह्रास की अवस्था है अथवा तथाकथित 'संस्कृति' के नाम पर उनमें विकृति आ रही है। प्रकृति को ही विकसित, संयमित, मर्यादित और उपयोगी बनाने का नाम संस्कृति है। जो विकास प्रकृति को मिटाकर या उसका गला घोंटकर किया जाता है, उस पीछे हटी हुई ऋण-प्रकृति का नाम विकृति है। इनके सेवकों, शुभ-चिंतकों और लेखकों को इस विषय में भी सावधान होना है और इस खतरे को समझना है। खतरा इसलिए, जैसा एलविन ने लिखा है—'सारी दुनिया में यह बात पाई गई है कि जब आदिम जातियाँ किसी दूसरी सभ्यता के संपर्क में आती हैं तब वे इस नई सभ्यता की बुरी बातें अपना लेती हैं और अच्छी बातों की ओर ध्यान नहीं देतीं। इससे भी अधिक बुरी बात यह होती है कि ऐसे संपर्क से उनमें एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति पैदा होती है कि वे अपनी पुरानी और सुंदर बातों को छोड़ देती हैं। आज भारत के आदिवासियों में भी यही हो रहा है और इनमें अपनी कला और संस्कृति की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।'

एलविन इसी स्थिति के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हुए 'दी ट्राइवल आर्ट आफ मिडिल इंडिया' की भूमिका

में कलात्मक वस्तुओं के अपने संग्रह के प्रसंग में लिखता है—'मुझे भय है कि अब संग्रह करने योग्य अधिक नहीं बचा है। हम बहुत देर से काम शुरू कर पाए। भारतीय आदिवासी का स्वर्णयुग बीत चुका है। अब तो हम मलबे में से प्रेरणा और सौंदर्य का खंडित अंश ही ढूँढ़ सकते हैं।' और आर्चर ने भी मुंडा-सांग्स की भूमिका में यही स्थिति स्पष्ट की है—'ट्राइबल समाज में ऐसी भी परिस्थिति उपस्थित होती है जब उस जाति की मौखिक कविताओं का संग्रह आवश्यक हो जाता है। सबसे स्पष्ट परिस्थिति उस समय आती है जब शिक्षा उनके जातीय जीवन को नष्ट कर रही हो तथा उनके विश्वास जातीय जीवन के स्तर को दुर्बल बना रहे हों।'

वास्तव में भारतीय आदिवासियों की विकास-प्रणाली में ऐसे विरोधाभास आए हैं और ऐसे मौलिक दोष रहे हैं जिनसे विकृति क ही खतरे अधिक उपस्थित हुए हैं। संपर्क की जिस वैज्ञानिक स्थिति की चर्चा एलविन ने की है वह तो उसके लिए उत्तरदायी है ही, किंतु अपनी कला के प्रति उपेक्षाभाव को प्रोत्साहन देनेवाले ईसाई मिशन और अपने शोषण के द्वारा इनके जीवन का ह्रास करनेवाले विभिन्न प्रकार के शोषक भी कम जिम्मेवार नहीं हैं।

लेखक, सेवक और सुधारक—सभी प्रकार के शुभ-चिंतकों को यह समझ लेना आवश्यक है। आदिवासियों का विकास इस ढंग से हो कि उनके प्राणों के फूल जिस मिट्टी की सोंधी गंध में विकसित हुए हैं उनसे इन पृथ्वी-पुत्रों का संपर्क न टूटे। कला और संगीत की अपनी प्राकृतिक अभिरुचियों को ये परिमार्जित करें, उनमें इनकी लगन और गहरी हो तथा मानव की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही इनके विकास की आधार-शिला बनी रहें। आदिवासियों के सेवकों और उनके गीतों के व्याख्याकारों की यह जिम्मेवारी है कि वे अपने सरल संस्कारों से दूर न होने पावें, उनके जीवन की वीणा के तारों में उनके चिर-परिचित संगीत बंद न हों। उनके प्राणों की बाँसुरी अपने मधुर स्वरों को भूल न जाय और वे अपनी प्रकृति के कोमल प्रसूनों को विकृत सभ्यता के बाजार में कागजी फूलों से बदल लेने का प्रयास न करें।

इसके लिए ऐसा सहानुभूतिपूर्ण हृदय होना चाहिए जिसकी आँखें इनकी कला की मनोहरता को देख सकें, जिसके कान इनकी कविता के रागों की मिठास सुन सकें और जिसके कंठ से आदिम गीतों की वह स्वर-लहरी फूट उठे जो वन-जीवन को झंकृत करती हुई इनके सूखे प्राणों पर बरसकर इन्हें नई हरियाली से लहलहा दे!

उलझन : श्री सेवक

मेरे अपने ये गीत
तुम्हार जब बनते
मेरे जीवन में एक प्रश्न बढ़ जाता तब
—तुम कौन ?
ऐसा लगता है
तुम भी उन्मन
एक—कहीं जीते हो,
मेरे कंचन के बीच अकिंचन
एक—कहीं रीते हो;
बस एक समय की सीमा में
तुम मेरे सँग होते हो,
बस एक अंश अपना आकर
मुझमें तुम खो देते हो;
पर मैं न रखूँगा पास तुम्हें
चाहे हम दो का
कैसा भी बंधन हो,

क्षण भर तुम में थे प्राण
किंतु अवशेष क्षणों में
मेरे हित
बस नई-नई उलझन हो;
तुम 'तुम' हो—चाहे जो कुछ हो
पर हो इसलिए कि मैं हूँ,
तुम इसीलिए 'तुम' हो कि सदा
मैं जो कुछ भी, पर 'मैं' हूँ;
बस इसीलिए सोचा करता
कितना अच्छा होता सचमुच
मेरे अपने ये गीत मुझी तक जब रहते;
मेरे जीवन में शेष प्रश्न रह जाता तब—
—मैं कौन ?

काव्य और केसर के देश में स्पंदवाद

श्री रामगोपालाचार्य

संस्कृत-साहित्य में कश्मीर को काव्य और केसर का देश माना गया है। काव्य और केसर के नाम पर ही इस देश का नाम कश्मीर पड़ा। इसकी नैसर्गिक सुषमाओं ने संसार के बड़े-बड़े दिग्गज कलाकारों को भी घुटने टेकने के लिए विवश कर दिया है। इसी कश्मीर की आभामयी वसुंधरा को देखकर किसी कवि ने कहा था कि यदि कहीं पृथ्वीतल पर स्वर्ग है तो यही है।

गर फिरदौस बर रुए जमीनस्त,
हमीनस्तो, हमीनस्तो, हमीनस्त।

जहाँ कश्मीर अपने अनुपम सौंदर्य के लिए विश्व-विख्यात है वहाँ उसका साहित्यिक रंगमंच पर भी विशेष स्थान है। यह वही स्वर्णगर्भा भूमि है जिसने साहित्याचार्य मम्मट और अभिनव गुप्त, वैयाकरण-शिरोमणि कैयट और चंद्रगोमी, महाकवि कल्हण, बिल्लण, क्षेमेंद्र और भारवि-जैसे जगत्प्रसिद्ध महापुरुषों को जन्म दिया। यहीं पर विष्णुशर्मा ने विश्व-कथा-कोष के अमर ग्रंथ 'पंचतंत्र' की रचना की।[1] आज भी यहाँ के भवनों के भग्नावशेष बतला रहे हैं कि पांडवों ने यहाँ पर एकांत-वास किया था। तभी तो 'सरस्वतीरहस्योपनिषद्' में ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और कला की प्रेरिका शक्ति सरस्वती को कश्मीर-निवासिनी बताया गया है।

यहाँ पर हम केवल 'प्रत्यभिज्ञावाद अथवा स्पंदवाद' के विकास और इतिहास का ही संक्षिप्त विवेचन करेंगे। स्पंदवाद कश्मीर के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह शैवधर्म और दर्शन के अंतर्गत कश्मीर में विकसित हुआ। शैवधर्म के आदि प्रवर्तक भगवान शंकर हैं।

इतिहासकारों ने शिव को अनार्य-देवता माना है। उनका मत है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ही भारत की आदिम जातियों में शिव-पूजा प्रचलित थी। वे उदाहरण-स्वरूप मोहन-जोदड़ो की खुदाई से प्राप्त अनेक चिह्न रखते हैं। दूसरे, शिव के क्रिया-कलापों का वैदिक सभ्यता से कोई मेल भी नहीं है। तीसरे, वेदों में कहीं भी शिव का वर्णन नहीं मिलता। कुछ इतिहासज्ञ शिव को आर्य-देवता मानते हैं। उनका आधार वेदों में वर्णित रुद्र है। ऋग्वेद (प्र० म० ११४, द्वि० म० ३३ सू० स० म० ४६ सू०) में रुद्र देवता का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद का 'रुद्राध्याय' तो प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद (११ का० २ सू०) में रुद्रदेव की स्तुति की गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी रुद्रदेव के चक्कर में फँसकर खूब टक्करें खाई हैं। डा० वेबर रुद्र को तूफान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रांत के मत में वह गरमी के देवता हैं और नक्षत्र-विशेष से संबंध रखते हैं। श्री कीथ महाशय ने 'रिलीजन ऐंड फिलासफी ऑफ वेदाज' नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ में इन मतों पर संक्षिप्त विवेचन किया है। शिव आर्य-देवता हैं अथवा अनार्य? इस समस्या को लेकर प्राचीन आचार्यों में भी खूब मतभेद था। ब्रह्मसूत्र तर्कपाद (२।२।३७) ने शैव धर्म को वेद-बाह्य माना है। अप्पय दीक्षित ने शिवार्क-मणिदीपिका (२।१।२८) में वैदिक और अवैदिक दोनों माना है। श्रीकंठाचार्य विशद विश्लेषण के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे कि शैवधर्म वैदिक है।

शैवधर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। मोहन-जोदड़ो की खुदाई में योगी शंकर की एक मूर्त्ति मिली है। प्रचार की दृष्टि से भी इसका क्षेत्र अति विस्तृत है। लगभग समस्त एशिया में शिव-पूजा के चिह्न पाए जाते हैं। बहुत-से यूरोपियन देशों में भी शिव-मंदिरों के भग्नावशेष मिले हैं। कारिंथ नगर में पार्वती का मंदिर है। हेड्रोपालिस में ३०० फुट ऊँचा शिवलिंग है। ब्राजिल में अनेक शिवलिंग और मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बाबीलन में १२०० फुट ऊँचा शिवलिंग है। कहा जाता है कि अद्वैत-वादी ब्राह्मण सदाशिवेंद्र ने यहाँ पर भी कुछ दिनों तक

१—अधिकतर विद्वानों के मत में 'पंचतंत्र' का निर्माण-स्थान कश्मीर नहीं है; किंतु 'विद्यार्णव'-नामक ग्रंथ ने इस मत की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। इसमें विष्णु शर्मा का वर्णन है। यह बृहत्काय अमुद्रित ग्रंथ कश्मीर में मौजूद है।

एकांतवास किया था। श्री सदाशिवेंद्र बड़े पर्यटनशील और उद्भट दार्शनिक थे। वह अद्वैतवाद का झंडा फहराते हुए टर्की तक पहुँचे। नेसर के समीप एक आश्रम में भारत के इस सपूत का देहावसान हुआ। आज भी इनकी समाधि पर फूल चढ़ाने के लिए दूर-दूर से यात्री आते हैं। मक्का शरीफ में 'मकेश्वर' नामक शिवलिंग है। वहाँ के जम-जम नामक कुएँ में भी एक शिवलिंग है। इसपर खजूर की पत्तियाँ चढ़ाई जाती हैं। भारत के केदारनाथ, सोमनाथ, विश्वनाथ, रामेश्वरम् आदि मंदिर बहुत प्रसिद्ध हैं। नेपाल क पशुपतिनाथ का मंदिर कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

आधुनिक काल में लिंगपूजा घृणित समझी जाती ह। किंतु प्राचीन काल में लगभग समस्त संसार में यह प्रचलित थी। बहुत-से देशों में आज भी किसी-न-किसी रूप में मौजूद है। भारतीय लिंगपूजा के विषय में वायुपुराण में एक कथा आती है। उसमें लिखा है कि ब्रह्मा और विष्णु में छोटे और बड़े के प्रश्न को लेकर झगड़ा पैदा हो गया था। इन दोनों के मध्य में लिंग पैदा हुआ। इसी लिंग में से शंकर प्रकट हुए। तभी से उनको गिरिराज भी कहते हैं। और, लिंगपूजा का भी आविर्भाव तभी से हुआ। ब्रह्मपुराण में लिखा है—नमः पर्वतलिंगाय पर्वतेशाय वै नमः। ऋग्वेद (७।२१।५, १०।१०।९९) में भी दो जगह 'शिश्नदेवाः' शब्द आया है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका संबंध भी लिंगपूजा से बतलाया है। हिंद जेनोग्राफी, वॉलुम II. के अनुसार मद्रास के गोडीमल्लम् का शिवलिंग संभवतः हिंदू-तक्षण-कला का सबसे पुराना नमूना है।

शंकर के विभिन्न रूपों को लेकर विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार की विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ। वामनपुराण (६।८६।९१) के अनुसार शैवों के चार संप्रदाय हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। 'कालदमन' को भास्कर ने 'काठकसिद्धांती', यामुनाचार्य ने 'कालामुख', रत्नप्रभा और भामती ने 'कारुणिक सिद्धांती' के नाम से पुकारा है। (आगमप्रामाण्य, पृ० ४८-४९)। आजकल यामुनाचार्य द्वारा निर्धारित किया हुआ नाम ही बहुत प्रचलित है। यह यामुनाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी यामुनाचार्य से भिन्न जान पड़ते हैं।

उपर्युक्त चारों संप्रदायों के भी अनेक अवांतर भेद हो गए जो समय-समय पर विकसित होकर नष्ट-भ्रष्ट होते रहे हैं। लिंगपुराण (२४-१३१) से अवांतर भेदों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शैव साहित्य को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं।

स्पंदवाद का आविर्भाव और विकास

स्पंदवाद का आविर्भाव ५ वीं और ६ठी शताब्दी क मध्य में कश्मीर में हुआ। इस समय कश्मीर में बौद्ध और शैवधर्मों की धारा वह रही थी। स्पंदवाद का आदि प्रवर्तक कौन था? यह एक उलझी हुई गुत्थी है। तंत्रालोक की टीका से इसपर कुछ धूमिल प्रकाश पड़ता है। तंत्रालोक की टीका के अनुसार भगवान शंकर ने पंचमुखों से उपदेश दिए जो कि शैव साहित्य के आधार हैं। भगवान ने स्वतः ही शैवागमों की द्वैतवादी व्याख्या की और अद्वैतवाद के प्रचार के लिए 'स्पंदवाद' को जन्म दिया। प्रचार का कार्य महर्षि दुर्वासा को सौंपा गया। महर्षि ने आमर्दक, श्रीनाथ और त्र्यंबक नामक तीन मानस पुत्रों को उत्पन्न किया और प्रत्येक को क्रमशः द्वैतवाद, द्वैताद्वैत और अद्वैतवाद का उपदेश दिया। इन तीनों ने महर्षि दुर्वासा के उपदेशों का प्रचार किया। अतः 'स्पंदवाद' के आदि प्रवर्त्तक त्र्यंबक थे। इसलिए इसे 'त्र्यंबक-दर्शन' के नाम से भी पुकारते हैं।

कुछ भी हो, यह बात तो निश्चित है ही कि प्रत्यभिज्ञावाद का अभ्युदय ५वीं और ६ठी शताब्दी के मध्य में हुआ। प्रचार की दृष्टि से लगभग ८वीं शताब्दी तक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। किंतु इस दीर्घ समय के दौरान में स्पंदवादी आचार्यों ने निरंतर अभ्यास और चिंतन द्वारा अपने सिद्धांतों का वह सुदृढ़ गढ़ तैयार कर लिया था कि विरोधियों को सिर उठाने का अवसर ही न मिल सका। इसी दुर्गम दार्शनिक पृष्ठभूमि पर महान् स्पंदवादी आचार्य वसुगुप्त (लगभग ८वीं सदी) अवतरित हुए। यह स्पंदवाद के उद्धारक और प्रचारक माने जाते हैं। इस बात की पुष्टि आचार्य क्षेमराज (११ वीं सदी के प्रारंभ) क 'शिवसूत्र-विमर्षिणी' नामक ग्रंथ से पूर्णरूप में हो जाती है। आचार्य ने ग्रंथ के प्रारंभ में लिखा है कि महादेव-गिरि पर एक विशाल शिलाखंड था। शिलाखंड पर ७७ शिवसूत्र लिखे हुए थे। एक दिन वसुगुप्त को स्वप्न हुआ जिसमें स्वयं भगवान श्रीकंठ ने आकर वसुगुप्त को आदेश दिया कि अमुक-अमुक शिला पर अंकित शिवसूत्रों का उद्धार तथा प्रचार करो। यह शिला आज भी 'शिवपल्' के नाम से विख्यात हैं। ये ७७ सूत्र ही प्रत्यभिज्ञावाद के आधार-स्तंभ हैं।

आचार्य वसुगुप्त के समय तक स्पंदवाद की एक ही दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित हो रही थी। इसके पश्चात् उसमें कई अवांतर भेदों का आविर्भाव हुआ। स्पंदवादी आचार्यों में फूट पड़ गई और वे एक दूसरे पर दार्शनिक प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करन लगे। फलस्वरूप प्रचार की गति शिथिल पड़ गई और विरोधी मत जोर पकड़ने लगे। ठीक इसी संघर्ष के समय में एक विलक्षण प्रतिभा ने स्पंदवादी जगत् में पदार्पण किया। इस अलौकिक प्रतिभा का नाम था—उत्पलाचार्य (९०० ई०) उत्पलाचार्य ने अवांतर झंझटों से निपटकर विरोधियों को बड़े-बड़े युक्तिपूर्ण और मुँहतोड़ उत्तर दिए तथा अपने मत का इस ढंग से मंडन किया कि विरोधियों को सदैव क लिए ही चुप हो जाना पड़ा। इसके पश्चात् अभिनवगुप्त (१० वीं सदी उत्तरार्द्ध)-जैसे प्रकांड मनीषियों ने स्पंदवाद को अमरत्व प्रदान किया। क्षेमराज (११ वीं सदी पूर्वार्द्ध) के समय तक इस दर्शन ने प्रगति की उच्चतम शिखा को पकड़ लिया था। क्षेमराज के पश्चात् स्पंदवाद में बहुत-कुछ शिथिलता आ गई। किंतु फिर भी मुस्लिम काल के अंत तक ग्रंथों का निर्माण होता ही रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस दर्शन ने अपने कार्य-काल में अनेक चढ़ाव-उतार देखे। विरोधियों से काफी टक्करें लीं। किंतु इसकी तेज रफ्तार के सामने कोई टिक न सका। इसका एकमात्र श्रेय उन आचार्यों को है, जिन्होंने नीरव स्थानों में अपने जीवन की बाजी लगा-लगाकर अनुसंधान किए हैं।

स्पंदवाद के मूल सिद्धांत

स्पंद शब्द का अर्थ है—गति। यद्यपि ईश्वर निर्विकार और निर्विकल्प है तथापि उसमें शक्ति का स्पंदन है। अर्थात् परमेश्वर की सर्वतोमुखी ज्ञान-क्रिया ही 'स्पंद' है। ज्ञान शब्द का अर्थ है—प्रकाश। प्रकाश स्वतः-सिद्ध है? क्रिया शब्द का पारमार्थिक अर्थ है—स्वतः निर्माण।

प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है—प्रतिभाभिमुख ज्ञान। जब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर आत्मा के सम्मुख प्रकट होता है तब समस्त साधनाएँ समाप्त हो जाती हैं और एक नवीन ज्ञान का अभ्युदय होता है जिसके द्वारा साधक अपने में और ईश्वर में अंतर न समझकर एकता का अनुभव करने लगता है।

महेश्वर की स्वाभाविक शक्ति का नाम ही प्रकृति है। प्रकृति के कण-कण में ईश्वर की झलक है। स्वात्मभूता प्रकृति में सर्वत्र नियमबद्धता है। महेश्वर की इच्छा से जगत् का निर्माण हुआ। वह जगत् के उपादान कारण भी हैं और निमित्त कारण भी हैं। जीव चेतन, किंतु अनीश्वर है। वह मोहवश संसारचक्र में घूमता है। परंतु जब वह महेश्वर-स्वरूप हो जाता है तब भव-बंधनों को तोड़कर स्थायी शांति पा जाता है। इसीका नाम मोक्ष है। महेश्वर-स्वरूप होने के लिए शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है।

स्पंदवाद का प्रयोजन प्रत्येक व्यक्ति को महेश्वर बना देना है। स्पंदवादियों के मत में कोई भी इस ज्ञान का अधिकारी हो सकता है, किंतु, शर्त यह है कि वह निर्धारित किए हुए मार्गों का अनुसरण करे। प्रत्यभिज्ञावादियों ने महेश्वर-स्वरूप होने के लिए बड़े-बड़े यज्ञ-हवनों अथवा अनुपम कष्ट-साध्य यौगिक क्रियाओं का विधान नहीं किया। उन्होंने तो स्पष्ट घोषणा की है कि शास्त्रों के अध्ययन करने से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से ईश्वर। बस यही 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा मोक्ष है।

स्पंदवादी साहित्य

स्पंदवाद का साहित्य बड़ा विशाल है। यह अभी तक अप्रकाशित ही है। कश्मीर-संस्कृत-ग्रंथमाला ने इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया है। यहाँ पर संपूर्ण साहित्य का विवरण देना तो असंभव ही है। अतः कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और लेखकों का उद्‌घाटन कर देना ही पर्याप्त होगा।

(१) आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के लगभग) ने 'स्पंदकारिका'-नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। इसमें ५२ कारिकाएँ हैं। वसुगुप्त ने इन कारिकाओं द्वारा शिवसूत्रों का बड़ा विशद विश्लेषण किया है।

(२) आचार्य कल्लट (९ वीं सदी का उत्तरार्द्ध) ने स्पंदकारिका की वृत्ति 'स्पंदसर्वस्व' नाम से लिखी। यही इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इन्होंने इस वृत्ति में आचार्य वसुगुप्त को अपना गुरु लिखा है। उत्पलाचार्य ने भी कल्लट को वसुगुप्त का शिष्य माना है। 'स्पंदसर्वस्व' ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सिद्धनाथ, योगिनाथ आदि कई पूर्ववर्ती आचार्यों का विवरण मिलता है। श्री कल्लट ने अपनी वृत्ति में सिद्धनाथ द्वारा लिखित 'अभेदार्थकारिका'-नामक ग्रंथ

से कई वाक्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किए हैं। इससे मालूम पड़ता है कि सिद्धनाथ आदि ने वसुगुप्त से पहले अवश्य ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण किया था।

(३) आचार्य सोमानंद द्वारा लिखित 'शिवदृष्टि' और 'परात्रिंशिकाविवृति'-नामक दोनों ग्रंथ ऐतिहासिक, धार्मिक और दार्शनिक तीनों ही दृष्टियों से अपना महत्त्व रखते हैं। सोमानंद न इन ग्रंथों के द्वारा शैवधर्म की 'सार्वभौमिक' व्याख्या की है। आचार्य सोमानंद स्वतंत्र प्रकृति के विचारक थे। उन्होंने परंपरागत सिद्धांतों का अनुकरण न करके तर्क-बुद्धि से काम लिया है। उनके और अन्य आचार्यों के सिद्धांतों में मौलिक अंतर है।

(४) उत्पलाचार्य (९ वीं सदी) सोमानंद के शिष्य थे। इन्होंने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'-नामक महान् ग्रंथ लिखकर स्पंदवाद को स्थायी जीवन प्रदान किया। इसी ग्रंथ के आधार पर इस दर्शन का नाम 'प्रत्यभिज्ञावाद' पड़ा। आचार्य का 'शिवस्तोत्रावली' भक्तिरस का अनुपम काव्य है।

(५) अभिनवगुप्ताचार्य (१० वीं सदी का उत्तरार्द्ध) महत्तम अलौकिक विभूति थे। उन्होंने ध्वन्यालोक-लोचन और अभिनवभारती-नामक अमूल्य ग्रंथों का निर्माण कर सदैव के लिए साहित्य-शास्त्रियों का मार्ग सुलभ बना दिया है। आचार्य ने स्पंदवाद के क्षेत्र में तंत्रालोक, तंत्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, परात्रिंशिकाविवृति, परमार्थसार आदि अमर ग्रंथों का निर्माण किया।

अभिनवगुप्त ने साहित्य और दर्शन का सुंदर समन्वय किया है। आचार्य के गीताभाष्य के अनुसार वररुचि, कात्यायन, स्थिरबुद्धि, सौचुक और भूतिराज-जैसे प्रकांड मनीषी उनके पूर्वज थे। आचार्य ने शिव से अपनी अभिन्नता बतलाते हुए गीताभाष्य में लिखा है—

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः।
तदुभययथात्मरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे ॥

इस गीताभाष्य का नाम 'गीतार्थ-संग्रह' है।

क्षेमराज (११ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) ने अपने गुरु अभिनवगुप्त का नाम सार्थक कर दिया। इनके 'शिवसूत्र-विमर्शिणी', प्रत्यभिज्ञाहृदय और स्पंदसंदोह-नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। तंत्रों की उद्योत टीका और शिवस्तोत्रावली की टीका भी माननीय हैं।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त भास्कर, रामकंठ, जयरथ, गोरक्ष, वरदराज आदि आचार्यों की टीकाएँ, वार्तिक और स्वतंत्र ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। उत्पल की 'स्पंदप्रदीपिका' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने बहुत-से ग्रंथों की सृष्टि की थी।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि इस मत का विकास गुरु-शिष्य-परंपरा के अनुसार हुआ। अभी तक किसी इतिहासकार ने इस संप्रदाय की प्रामाणिक खोज नहीं की है।



सौदामिनी

श्री उदयशंकर भट्ट

पात्र-परिचय

पाशुपत	सोमनाथ के मंदिर और शैवधर्म क गुरु
सुदेव	प्रभास का नृपति
विजयार्क	श्रवण का नरेश
जयार्क	श्रवण-नरेश का छोटा भाई
सौदामिनी	श्रावण-नरेश की कन्या
सुनयना	सौदामिनी की सखी
नंदिनी	सुदेव की पत्नी

शेष—नौकर-चाकर, दास-दासियाँ

सोमनाथ-मंदिर का मध्यकालीन चित्र

[महल के एक कोने में सौदामिनी और सुनयना बैठी हैं। महल के नीचे सामने समुद्र का गर्जन और नगर का कोलाहल सुनाई दे रहा है। नगाड़े, घंटे, घड़ियाल की ध्वनि आ रही है। सौदामिनी १६-२० वर्ष की युवती और उसी उम्र की उसकी सखी सुनयना अपने विचारों में गुमसुम है। संध्या का समय है।]

सौदामिनी—(एकाएक) यह कैसा कोलाहल है सुनयना ? जैसे सारा नगर फटा पड़ रहा हो।

सुनयना—कोलाहल दो ही तरह फूटता है--खुशी से या रंज से। यह तो पहली तरह का लगता है।

सौदामिनी—उत्सव मनाया जा रहा है ?

सुनयना—विजयोत्सव। हमारी हार का उत्सव सखी!

सौदामिनी—(घूमकर तेजी से) क्या मतलब ?

सुनयना—क्या यह भी बताना पड़ेगा। शायद तुम बहुत भोली हो।

सौदामिनी—ओह !

सुनयना—पतझड़ की मृत्यु पर वसंत का उत्सव हो रहा है। तुम्हारे पिता महाराज विजयार्क के पराजित होने पर राजा ने प्रभास में उल्लास-आनंद मनाने की आज्ञा दी है।

सौदामिनो—तूने कैसे जाना ?

सुनयना—प्रहरी ने बताया। उसने एक बात और भी कही है...

सौदामिनी—सब कह डाल।

सुनयना—बहुत कठोर है।

सौदामिनी—मेरा हृदय पत्थर हो चुका है।

सुनयना—कल सायंकाल तक यदि महाराज—तुम्हारे पिता ने अधीनता स्वीकार न की तो......

सौदामिनी—(चौंककर) तो क्या उनका वध किया जायगा। (चिल्लाकर) वध कर दिया जायगा—केवल इसलिए कि प्रभास के राजा सुदेव की अधीनता उन्होंने नहीं मानी, वे उसके अधीन नहीं होना चाहते ?

सुनयना—हमलोग भी तो बंदी हैं राजकुमारी!

सौदामिनी—मैं बंदी नहीं रह सकती, गाँठें खुलेंगी......मुझे......मुझे—(भीतर-ही-भीतर विवशता, घुटन का अनुभव करती है।)

सुनयना—(गंभीरता से) शायद राजा होना बहुत बड़ा अभिशाप है। बादल तो सूरज को ही ढँकते हैं न!

सौदामिनी—समुद्र अब भी गरज रहा है। उसकी लहरें अब भी प्रभास के तटों से टकरा रही हैं। नहीं, इससे पहले कि पिता का वध हो (चिल्लाकर)—मैं यह नहीं देख सकती, नहीं सुन सकती। मुझे......मुझे......

सुनयना—सुना है, तुम्हें उस स्थान पर ले जाया जायगा जहाँ उनका ...

सौदामिनी—बस कर सुनयना, बस कर।

[पदचाप सुनाई देता है।]

कोई आ रहा है। कौन होगा...

[सुदेव की पत्नी नंदिनी का कुछ सहायिकाओं के साथ प्रवेश]

सखी १—महारानी, यहीं हैं वे दोनों।

सखी २—सागर की लहरों की तरह जिनपर भाग्य के थपेड़े लग रहे हैं।

नंदिनी—हूँ। (व्यंग्य से) कहो कैसा लग रहा है यहाँ ?

[सौदामिनी पीठ फेरकर खड़ी हो जाती है।]

अब भी इतना गर्व। रस्सी जल जाने पर भी ऐंठन नहीं गई, पीठ फेरे खड़ी है। इधर देख...

सखी १—गाँव की है न !

सखी २—लट्ठ-गँवार ! अरी देखती नहीं है, महारानी हैं !

नंदिनी—भाग्य के आकाश में दुर्दिन की तरह इन दोनों का जन्म हुआ है।

सुनयना—निश्चय ही महारानी, पर सौभाग्य भी किसी की बपौती नहीं है। जो फूल खिलता है, वह नहीं जानता कि वह माली के द्वारा तोड़े जाने के लिए ही खिल रहा है।

नंदिनी—(व्यंग्य से) शायद तुम्हें मालूम नहीं था कि इस राजमार्ग के अंत में एक बीहड़ सघन जंगल भी है ?

सौदामिनी—उसमें मनुष्य का रुधिर पीनेवाले बर्बर सिंह रहते हैं जिनकी दाढ़ों में खून लग चुका है।

नंदिनी—आहार सदा खाए जाने के लिए ही बनाया गया है।

सौदामिनी—किंतु मृगया तो सिंह की भी होती है न।

नंदिनी—जो भी हो, तुम्हारा भाग्य मेरी मुट्ठी में है; जानती हो ?

सुनयना—स्वाति नक्षत्र में आकाश की बूँद सीपी के खुले मुख में गिरकर मोती बन जाती है और समुद्र में खारा पानी महारानी !

नंदिनी—(उत्तेजित होकर) तो मैं खारा पानी हूँ ! क्यों, (क्रोध में भरकर) तुम दोनों ने भी अपने पिता की तरह मरने की ठानी है। अच्छी बात है, वही होगा। चलो।

सखी-१—देखो, कितनी ढीठ है यह। महारानी के सामने भी बोलती जाती है।

सुनयना—यदि मरना ही है तो कौन रोक सकता है।

नंदिनी—(लौटकर) मैं रोक सकती हूँ। यदि तेरी सखी मेरी दासी होना स्वीकर कर ले।

सुनयना—सूर्य की किरणों को पिटारी में बंद करके नहीं रखा जा सकता महारानी !

सखी १—सूर्य की किरणों को तो देखो।

सखी २—मरने के पहले चींटी के पंख निकल आते हैं।

नंदिनी—चाहती थी, यह फूल इतनी जल्दी न मुरझाता। पर जब तुम दोनों को मरना ही है...। सुनो, कान खोलकर सुन लो, कल सायंकाल तुम्हारे पिता का वध किया जायगा। उसके बाद तुम्हारा। (सखियों से) चलो, उत्सव को विलंब हो रहा है।

सखी १—हाँ चलिए। भगवान की आरती का समय हो गया है।

[जाती हैं।]

सौदामिनी—(सामने होकर) सुनो महारानी, कोई भी बड़ा नहीं है और न कोई छोटा। यह अवसर की बात है कि तुम......

नंदिनी—(लौटकर) अवसर ही विजयार्क की कन्या को मेरी दासी बनाएगा।

सौदामिनी—कल को आज तक किसी ने नहीं जाना है। हो सकता है, इसका......

नंदिनी—जो आज को ठीक-ठीक जानता है वही कल को भी जानता है, सौदामिनी ! तेरे पिता का वध निश्चित है और तेरा भी (लौटने लगती है)।

सौदामिनी—दर्प की आँखें यथार्थ को ढँक लेती हैं। अभिमान में मनुष्य भी भुनगा दिखाई देने लगता है नंदिनी !

सखी १—महारानी का नाम !

सखी २—गँवारिन !

नंदिनी—(दाँत पीसती हुई सहायिका के हाथ से बेंत छीनकर साड़-साड़ सुनयना और सौदामिनी को पीटती है।) ले, ले (चिल्लाकर) और ले, और ले......। कल का दिन दूर नहीं है। केवल चार प्रहर की बात है।

[जाती हैं। सौदामिनी-सुनयना पिटने के बाद गुम-सुम]

सौदामिनी—(क्रोध की आग फेंकती हुई पीछे देखती रहती है) मानिनी !

सुनयना—मान अधिकार के मद से फूटता है। इस चुड़ैल का इतना साहस ! मद का विष मनुष्य को पागल बना देता है।

सौदामिनी—एक बार तो जी में आया··· (क्रोध का घूँट पीकर)

सुनयना—(आँखों में आँसू भरकर) भाग्य की बात है।

सौदामिनी—रोती क्यों है ? (उसी तरफ देखती रहती है।)

सुनयना – (सौदामिनी से चिपटकर रोती हुई) यह भी देखना बदा था !

सौदामिनी—(आह भरकर) न जाने, क्या-क्या देखना पड़ेगा सखी। (फिर स्वस्थ होकर) पराजित को सभी-कुछ सहना होता है। किंतु साहस खोने की आवश्यकता नहीं है। मुझे लगता है, जैसे यह मेरे लिए कुछ करने की एक प्रेरणा है। मैं करूँगी। देखूँगी कि क्या होता है ? (टहलने लगती है) देखूँगी···मैं बंदी नहीं रह सकती। नहीं रह सकती। चाहती हैं, मैं उसकी दासी हो जाऊँ।

सुनयना—नहीं।

सौदामिनी—(चुप)······

सुनयना—वह तुमसे डरती भी है।

सौदामिनी—(लौटकर) मुझसे क्यों, फिर कोई आ रहा है, कौन होगा ? मेरे भविष्य का निर्माण हो रहा है। प्रत्येक नई घड़ी नया संदेशा ला रही है।

सुनयना—तुम्हारे सौंदर्य से डरती है। अरे, प्रहरी है ! (बूढ़ी स्त्री लकड़ी लिए आती है।)

स्त्री—(लकड़ी जमीन पर मारकर) ठीक, सब ठीक है। ऐ, क्या सोच रही हो ?

सुनयना—कुछ भी नहीं, क्या सोचते !

स्त्री—आज भगवान सोमनाथ के मंदिर में उत्सव मनाया जा रहा है।

सुनयना—क्यों ?

स्त्री—(अट्टहास करके) अरे, इतना भी नहीं जानतीं। श्रवण द्वीप के विजय के उपलक्ष्य में आज भगवान के मंदिर में नाच होगा, गाना होगा। पिछले कई दिनों से भगवान का रुद्राभिषेक हो रहा है। आज उसका अंतिम दिन है।

सुनयना—अच्छा।

स्त्री—महाराज, महारानी भी वहीं गए हैं। (घंटे, घड़ियाल, नगाड़े के साथ 'जय सोमनाथ भगवान ! जय-जय महादेव ! हर-हर महादेव !' की आवाजें तेज होती हैं।) लो, पूजा होने लगी। अब स्तुति होगी, फिर नाच।

सुनयना—कौन नाचेगा ?

स्त्री—देव-दासियाँ।

सुनयना—वे कौन हैं ?

स्त्री—मंदिर में कुछ ऐसी कन्याएँ हैं जो नित्य सायंकाल भगवान के सामने नाचती हैं। उनका यही काम है।

सुनयना—और भी कोई नाचता है ?

स्त्री—भक्ति में भरकर सभी नाचते हैं। सभी कीर्तन करते हैं। तुम्हारे श्रवण द्वीप में मंदिर नहीं हैं ? हाँ, अब तुम्हारा उसमें क्या है ? वह तो अब महाराज का है। कल सायंकाल के बाद—विजयार्क के वध के बाद पूरी तरह वह महाराज का हो जायगा।

सौदामिनी (घूमकर) चुप रहो।

स्त्री—(हँसकर) बुरा लग रहा है। बुरा तो लगेगा ही। बुरा लगने की बात ही है। क्या करें बिचारी ? (हँसकर) हा-हा-हा, यह भी खूब है ! हमसे कहती है, चुप रहो। क्यों चुप रहें ? (तेजी से) भला हमारे चुप रहने से क्या होता है ! भाग में जो कुछ लिखाकर लाई हो वह तो भुगतना ही पड़ेगा बेटी !

[लकड़ी टेककर घूमती है, फिर रुककर]

सुनो, यह सब भगवान की माया है। जो वह करते हैं वही होता है। महाराज के ऊपर देवता प्रसन्न हैं। जो चाहते हैं, वह हो जाता है।

सुनयना—हमने कौन-सा भगवान् का अपराध किया है ?

स्त्री—अपराध ? कुछ अपराध किया ही होगा। तभी तो दंड भुगत रही हो राजकुमारी होते हुए भी, नहीं तो कहीं महारानी बनतीं। इतनी सुंदर, जैसे हीरे की कनी। ऐसी तो एक भी स्त्री सारे प्रभास में दीया लेकर ढूँढ़े भी न मिले। क्या नाम है 'सौदामिनी ?'

सौदामिनी—तू क्यों बोलती है सुनयना।

स्त्री—लो और पूछो, जैसे हम कोई पागल हैं। 'तू क्यों बोलती है सुनयना।' मत बोल, जा भाड़ में। हमें क्या ? हमने तो सोचा, लाओ, दुखिया है विचारी,

हाल-चाल ही पूछ लें। मत बोलो। हमें तो महारानी की आज्ञा थी कि इन्हें लोहे की जंजीरों में बाँधकर रखो। हमने ही प्रार्थना की, बाँधने की क्या जरूरत है। कोई भाग थोड़े ही जायँगी।

[घंटे-घड़ियालों की आवाज और भी तेज होती है।]

अब स्तुति होगी। अब चलें। द्वार बंद कर दें। मरो...पड़ो यहीं।

[जाने लगती है।]

सुनयना—(पुकारकर)—सुनो, सुनो तो। बुरा मान गई। क्या बताएँ। तुम जानती हो, कितना दुख है राज-कुमारी को। बिचारी के पिता मारे जा रहे हैं। राज-पाट सब छूट गया। आज तुम्हारी बंदी हैं। कल शायद इन्हें भी......

स्त्री—(लौटकर) हम क्यों बुरा मानेंगी। कोई मरे, कोई जिए। हम तो यहाँ रक्षा के लिए हैं। कोई बंदी यहाँ आता है, उसपर पहरा देती हैं।

सुनयना—नहीं, नहीं, हमारा तो भाग फूटा है ही। फिर कोई हम पर क्यों क्रोध करे। न जाने कल क्या हो? थोड़ी-सी साँसें हैं। फिर कल यह फूल-सा शरीर न जाने कहाँ होगा? (आँसू भर जाते हैं) जिसकी कि मुसकान पाने को बड़े-बड़े तरसते थे, आज वह...

स्त्री (लौटकर)—अरे, रोती क्यों हो? रोने से क्या होता है। अब तो जो होना होगा, होगा ही। (आह भर-कर) कितनी दुखिया है बिचारी। ओह! हमारा भी कितना बुरा काम है। हमीं इस बंदीघर पर पहरा देती हैं। किसी का भी तो दुख नहीं बटा सकतीं। भगवान् से प्रार्थना करो। वह चाहे तो शूली से भी मनुष्य बच सकता है।

सुनयना—तुम ठीक कहती हो मा। पर भगवान् के दर्शन कैसे हों। कैसे उनसे प्रार्थना करें।

स्त्री—यहीं से प्रार्थना करो और क्या? वैसे तो... नहीं, नहीं।

सुनयना—(उत्सुक होकर) क्या कोई उपाय उनके दर्शन, प्रार्थना करने का नहीं है? बड़ी साध थी राजकुमारी की। बड़ी-बड़ी दूर से लोग उनके दर्शनों को आते हैं। चाहती थीं, मरने से पहले एक बार सोमनाथ भगवान् के दर्शन करते। सुना है, जो अभिलाषा लेकर वहाँ जाता है वह पूरी होती है।

स्त्री—सो तो है ही। मेरा ही पुत्र मृत्यु के मुख से बचा है। साँप ने काट लिया था, मैं उसे ले गई और मंदिर के सामने जाकर पटक दिया। रोने लगी। रोते-रोते प्रार्थना करती जाती थी। मंदिर के स्वामी पाशुपत महा-राज आ गए। जैसे साक्षात् शिव ही आ गए हों। आते ही बोले—क्या है? मैंने रोते हुए पुत्र की तरफ संकेत किया—साँप ने काटा है। तत्काल एक औषध मंगाकर कहा—घोंटकर पिला दे। ठीक हो जायगा। थोड़ी देर में विष उतर गया। हजारों के कष्ट वहाँ दूर होते हैं।

सुनयना—भगवान् सोमनाथ का प्रताप ही ऐसा है।

स्त्री—तुम्हें देखकर बड़ा दुख हो रहा है, पर मैं क्या कर सकती हूँ बेटी!

सुनयना—क्या हम एक बार भगवान् के दर्शन नहीं कर सकते। मरने से पहले एक बार यदि ऐसा हो सकता मा?

स्त्री—महारानी को तुमने क्रोधित कर दिया। नहीं तो उसी गुहा-गृह से वे तुम्हें ले जा सकती थीं।

सुनयना—'गुहागृह?'

स्त्री—हाँ, महलों से एक मार्ग भीतर-ही-भीतर भगवान् सोमनाथ के मंदिर को जाता है, ठीक गर्भगृह तक! महारानी-महाराज प्रायः उसी मार्ग से सोमनाथ के दर्शन करने जाते हैं।

सुनयना—यदि तुम्हारी कृपा हो जाय तो हम दोनों भी मरने से पहले एक बार उनके दर्शन कर लें।

स्त्री—(चौंककर) मेरी कृपा! शिव-शिव, मैं क्या कर सकती हूँ। (रुककर) वैसे तो वह गुहा इसके बाहर ही है। पर बड़ा कड़ा पहरा लगा है बेटी। चलें। सो जाओ, जाओ, रात हो रही है। फिर भी किसी बात की आवश्यकता हो तो मुझसे कहना। मुझसे तुम्हारा दुख नहीं देखा जाता। पर क्या करूँ? (चली जाती है।)

सुनयना—(उदास मुद्रा में) अब कोई उपाय नहीं है सखी। पिता का वध निश्चित है। वे इस राजा के सामने आत्म-समर्पण नहीं करेंगे। मैं उनका स्वभाव जानती हूँ। क्षत्रिय केवल एक बार ही मरता है।

सौदामिनी—आत्म-समर्पण का अर्थ है राजा का कर-दाता बनना और मुझे राजा सुदेव की दासी बनना। पिता की मृत्यु के बाद मैं भी जीऊँगी नहीं, सुनयना।

सुनयना—किंतु एक समय तो सुदेव तुम्हारी दृष्टि में बस गए थे राजकुमारी !

सौदामिनी—आज मैं उससे घृणा करती हूँ। वह मेरे पिता का घातक है, मेरे दुर्भाग्य का विधाता। मुझे स्मरण है, जब दो वर्ष पूर्व मैं अपनी ग्राहिणी नौका में जल-विहार कर रही थी और एकाएक लहरें तेज हो उठीं। प्रचंड पवन के झोंकों से हमारी ग्राहिणी डगमगाने लगी। मुझे याद आ रहा है, उस समय……

× × ×

[पर्दे पर अँधेरा छा जाना। तेज हवा के झोंके। लहरों का तेजी से उठना। समुद्र का गर्जन बढ़ना। पालों की फड़-फड़ की आवाज। एक बड़ी मछली का चिल्लाकर नाव की ओर दौड़ना। और, लंबे बर्छे और भालों को सँभालकर मल्लाहों का चिल्लाते हुए प्रहार करना। मारो-मारो, मुँह पर मारो, तू ढाल सँभाल। तू डाँड़ चला। दौड़, तेजी से नाव को दौड़ा। पूर्व की ओर, जल्दी कर भानू, भीमा, मार और मार। शोरगुल, मछली का चिल्लाना। हवा का तेज होना। लहरों की छप-छप।]

१ नाव डगमगा रही है।

२ लहरें ग्राहिणी में भीतर भर रही हैं। पानी··· पानी···पानी भर रहा है।

३ मछली भाग गई। तूँबे बाँध लो। सर्पिणी नौका समुद्र में फेंक दो। चिल्लाने-चीखने की आवाज। घबराओ मत। राजकुमारी और महारानी को नौका में बैठा दो। बैठिए-बैठिए। जल्दी करो। अरे, पाल छोड़, डाँड़ लेकर छोटी नौका में कूद पड़। मछली मर गई। भाग गई। (छप-छप की आवाज) क्या हुआ ?

[सौदामिनी का चिल्लाना—]

मा ! मा !!

१ दौड़िए-दौड़िए-दौड़िए। आप भी बह जायँगी। मछली है, बड़ी मछली। छोड़ दीजिए, सौदामिनी, छोड़ दो। अपने को बचाओ। जल भर रहा है इस नाव में। कूद पड़िए, कूदिए। नाव डूबी जा रही है। (गुडुप-गुडुप)।

सौदामिनी—हाय मा। (रोती है) मा को मछली खींच ले गई।

भीमा—रोने का समय नहीं। धीरज धरो। साहस से काम लो बेटी। लहरें फिर भी बढ़ रही हैं। भगवान सोमनाथ ने चाहा तो पहुँच जायँगे।

सौदामिनी—वह बड़ा जल-पोत आ रहा है। उसे, उसे बुलाओ भीमा। पर क्या हमारा है वह……

भीमा—(फूली हुई साँस से) उसने हमें देख लिया है। वह इसी ओर आ रहा। डरो मत बेटी। मैं प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। वैसे तुम भी तैरना जानती हो। समुद्र की बेटी हो न ! (लहरों का तेजी से बढ़ना)

सौदामिनी—सर्पिणी नौका कितनी दूर चल सकेगी भीमा। लहरें इस निर्बल नौका के टुकड़े-टुकड़े किए दे रही हैं। हाय मा……

भीमा—साहस मत हारो बेटी। सर्पिणी डूब जाय तो तैरने लगना। तुंबिका बाँध लो कसकर।

सौदामिनी—मैं तैयार हूँ भीमा। सर्पिणी में जल··· जल भर रहा। जल भर रहा है। डूबी-डूबी।

भीमा—(फूली साँस से) कोई बात नहीं। को···ई बात नहीं। तैरो-तैरो···

सौदामिनी—(पानी में छप-छप करती है) चलो-चलो। चलो···बढ़ो···

[दूर से आवाजें—जल्दी करो, जल्दी करो, दोनों डूब रहे हैं। स्त्री है, एक पुरुष भी। जल्दी करो, वे बह रहे हैं। अब केवल स्त्री के केश दिखाई दे रहे हैं। पकड़ो, पकड़ लो। (कुछ क्षण चुप्पी) यह है। कोई स्त्री है।]

सुदेव—(पद-चाप) कोई स्त्री है। देखो, साँस है; मर तो नहीं गई ? लहरों के कारण मूर्च्छित हो गई है।

१ मल्लाह—बच जायगी। आज रात··अभी इसके भीतर का जल निकालता हूँ। बच जायगी। उल्टा करो। (पानी की आवाज) ठीक है।

सुदेव - दूसरा क्या हुआ ?

२ मल्लाह—वह ठीक है। वह तो नाविक है महाराज। वह मर नहीं सकता। यह नाविक-कन्या नहीं है, इसीलिए लहरों के थपेड़े नहीं सह सकी। हमलोग ठीक समय पर पहुँच गए। नहीं तो, नहीं तो·····

सुदेव—कौन है ?

१ मल्लाह—श्रवण द्वीप की दिखाई देती है।

सुदेव—अभी चेतना नहीं आई ?

१ मल्लाह—कुछ समय लगेगा। संध्या हो रही है। कृष्ण पक्ष की रात है। यहाँ हम प्रभास से दूर आ गए हैं महाराज।

सुदेव—हाँ, हाँ, लौट चलो। मैं भगवान की शयनारती से पूर्व पहुँच जाना चाहता हूँ। वह कन्या ठीक हुई।

२ मल्लाह—जो आज्ञा। (लहरों की छप-छप।)

सौदामिनी—(घबराकर) मैं कहाँ हूँ। तुम लोग....

सुदेव—डरो मत, तुम सुरक्षित हो सुंदरी।

सौदामिनी—भीमा, भीमा, भीमा कहाँ है?

१ मल्लाह—भीमा बच गया है। तुम महाराज की छत्रच्छाया में हो बेटी।

सौदामिनी—कौन महाराज?

सुदेव—मेरा नाम सुदेव है सुंदरी। मैं प्रभास का राजा हूँ।

सौदामिनी—(महाराज सुदेव!) आँखें खोलकर उनको देखती रहती है।

सुदेव—घबराओ मत। तुम स्वस्थ हो जाओगी सुंदरी। विधाता भी बड़ा मौजी है। (धीरे से) न जाने कहाँ क्या दे दे। कुछ नहीं जाना जा सकता।

सौदा०—(आँखें बंद करके) भीमा, भीमा!

सुदेव—(मल्लाह से) देखो, भीमा को बुलाओ। (सौदामिनी से) मुझसे कहो सुंदरी, मैं तुम्हारी आज्ञा पालन करने को प्रस्तुत हूँ।

सौदामिनी—(रोकर) मेरी मा राजमाता!

सुदेव—क्या हुआ तुम्हारी मा को—राजमाता को?

सौदा०—मुझे डर लग रहा है। मुझे भय लग रहा है। जैसे वह मछली......

नाविक—(आकर) मछली इस कन्या की मा को पकड़कर ले गई महाराज।

सुदेव—यह कौन है?

नाविक—विजयार्क की पुत्री। भीमा, ठीक हो रही है। मैं देखूँ?

सुदेव—श्रवण के विजयार्क की पुत्री! ओह, तभी-तभी। हाँ जाओ। बहुत दिनों से सुन रखा था। आज...। कितना रूप......

सौदामिनी—(उठकर बैठ जाती है।) कितना भयंकर दृश्य था...मेरा हृदय अभी तक काँप रहा है।

सुदेव—भय की मुद्रा में भी कितना आकर्षण है! आज मेरी आँखें धन्य हुईं। तुम्हारा क्या नाम है सुंदरी?

सौ०—सौदामिनी।

सुदेव—सौदामिनी। यथार्थ नाम है। मेरे अंग-अंग में उसका प्रवाह दौड़ने लगा है।

सौ०—(सुदेव को देखकर नीची निगाह कर लेती है।) मुझे श्रवण पहुँचा दो।

सुदेव—अवश्य। देखो, श्रवण पहुँचा दो। हम दूसरी नौका पर जायँगे।

१ मल्लाह—महाराज, वह नौका निर्बल है, कमजोर है और समुद्र में तूफान आ रहा है।

सुदेव—आज्ञा पालन हो। यह इसी नौका में जायगी। जाओ सुंदरी, हमारी नौका तुम्हें श्रवण तक पहुँचा देगी। जाओ।

[घोर अंधकार। पुनः रंगमंच का पूर्वरूप]

× × ×

सौदामिनी—वह समय जैसे मेरी आँखों की छाया बन गया है। महाराज सुदेव की वह आकृति आज भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित है।

सुनयना—तो कहो, उन्होंने तुम्हें निष्काम जीवन-दान किया।

सौदामिनी—अपनी आकृति मेरे मन में अंकित करके, आज सोचती हूँ, मनुष्य उतना निर्दय भी हो सकता है?

सुनयना—उन्होंने तुम्हें नहीं पहचाना।

सौदामिनी—उन्होंने मुझे जीवन में प्रथम बार सुंदरी कहकर पुकारा, मैं उनकी छवि देखकर विस्मृत-सी हो गई, बहुत देर तक मैं सोचती रही, कितना अच्छा होता कि वे मुझे देखते रहते और मैं......

सुनयना—अब कोई उपाय नहीं है?

सौदामिनी—मैं जीवन से हारना नहीं जानती सुनयना। मुझे विश्वास है, हमें यहाँ से निकलना होगा।

सुनयना (साँस लेकर) यदि ऐसा हो सके सखी।

[प्रहरी का प्रवेश]

स्त्री—जाग रही हो, बड़ा बुरा समाचार है।

सुनयना-सौदामिनी (घबराकर दोनों)—क्या...?

स्त्री—क्या कहूँ।

सुनयना—(पास जाकर) कहो, क्या बात है मा?

स्त्री—तुम मुझे मा मत कहो। मैं तुम्हारी मा नहीं हूँ। मैं तुम्हारा कोई भला नहीं कर सकती। (भरे हुए

गले से) कितनी बुरी बात है। महारानी तुम्हें दासी बनाना चाहती हैं, यदि तुम दासी बनाना पसंद नहीं करोगी तो तुम्हें मंदिर की देव-दासी बना दिया जायगा। या फिर···

सुनयना—यां फिर·····?

स्त्री—तुम्हारा वध। तुम अवश्य लौटकर नहीं जा सकतीं।

सौ०—मुझे मर जाना स्वीकार है, पर दासी मैं नहीं बनूँगी।

स्त्री—भगवान सोमनाथ तुम्हारी सहायता करें। उन्हीं की प्रार्थना करो।

सुनयना—सुनो मा, क्या हम एक बार भगवान का दर्शन कर सकती हैं?

स्त्री—नहीं, कोई उपाय नहीं है।

सुनयना—उस गुहा-गृह से मा, तुम्हीं हमारा उद्धार कर सकती हो।

स्त्री—मैं मारी जाऊँगी········

सुनयना—हम दर्शन करके तुरंत लौट आयेंगी, तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।

स्त्री—मैं अबला स्त्री हूँ। (रुककर) अच्छा, जल्दी लौटना, कोई देखे नहीं।

दृश्य-परिवर्तन

[पाशुपत के बैठने का स्थान। रात्रि का द्वितीय प्रहर। व्याघ्र और मृग-चर्म का पादपीठ]

सुदेव—यहाँ तो कोई नहीं है भासुर, क्या गुरुदेव सोने चले गए?

भासुर—स्वामी रात्रि में नहीं सोते देव, देखूँ क्या?

सुदेव—हाँ, उनसे एक आवश्यक परामर्श करना है।

भासुर—(इधर-उधर घूमकर) स्वामी पधार रहे हैं। (खड़ाऊँ की आवाज)

सुदेव—महात्मा आ रहे हैं। प्रणाम करता हूँ गुरुदेव।

पाशुपत—नमः शिवाय, नमः शिवाय।

सुदेव—गुरुदेव, मेरे मन में बड़ा संघर्ष हो रहा है। (रुककर) विजयार्क······

पाशुपत—विजयार्क ही संघर्ष का कारण है।

सुदेव—हाँ, गुरुवर।

पाशुपत—उसको दंड दिया जा रहा है।

सुदेव—(चुप)

पाशुपत—वह शिवभक्त है वत्स!

सुदेव—(चुप)

पाशुपत—तुम्हारी तरह शिवभक्त। जय और पराजय क्षणिक हैं राजन्।

सुदेव—राज्य की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है।

पाशुपत—(हँसकर) आवश्यक है, वह कहाँ है?

सुदेव—बंदीगृह में।

पाशुपत—कारागार में?

भासुर—वह उद्धत है, उसने प्रभासपति का अपमान किया है, उसने राजाज्ञा का तिरस्कार किया है।

पाशुपत—वह वीर है।

सुदेव—(उत्तेजित होकर) गुरुदेव!

पाशुपत—मैं जानता हूँ, वह उद्धत है, किंतु वह वीर है। उसके द्वारा भगवान सोमनाथ के देवल का कार्य संपन्न होगा।

सुदेव—मैंने उसके वध की आज्ञा दे दी है। कल सायंकाल उसका वध किया जायगा।

पाशुपत—हूँ!

सुदेव—मैं ज्योतिर्लिंग भगवान सोमनाथ की प्रतिष्ठा के लिए···

पाशुपत—तुम एक निमित्त हो सुदेव, भगवन् स्वयं अपना कार्य करते हैं। मनुष्य कितना लघु, कितना तुच्छ! यह विश्व उनकी लीलामात्र है। हम निरीह प्राणी······

सुदेव—मेरी कामना है, आस-पास के देशों को पराजित करके शैव साम्राज्य की स्थापना करूँ।

पाशुपत—उसमें तुम्हारे दर्प-लालसा की अग्नि छिपी है।

सुदेव—वह अग्नि भगवान् की महिमा का प्रदीप होगी। विजयार्क का वध···

पाशुपत—नहीं होगा।

सुदेव—(चिल्लाकर) गुरुदेव!

पाशुपत—विजयार्क भगवान् का सेवक है।

सुदेव—वह विद्रोही है। (काँपने लगता है)

पाशुपत—क्रोध मत करो सुदेव। भविष्य तुम्हारे हाथ में नहीं है। उसका संचालन और कोई करता है।

सुदेव—यदि वह मेरी अधीनता स्वीकार करे···

पाशुपत—तुम भ्रम में हो, तुम भी किसी के अधीन हो?

सुदेव—मैं अपना स्वामी स्वयं हूँ, भगवान ने मुझे अवसर दिया है कि शैव-साम्राज्य की स्थापना करूँ।

पाशुपत—(खिलखिलाकर हँसते हुए ऊपर दीवार में देखने लगते हैं।)

सुदेव—क्या देख रहे हैं गुरुवर, ओह! छिपकली कितनी अधीरता से दीवार पर घूम रही है!

पाशुपत—देखो।

सुदेव—देख रहा हूँ गुरुदेव।

पाशुपत—अभी एक नर छिपकली आनेवाली है, उसी के लिए यह अधीर है।

सुदेव—कहाँ से? (आश्चर्य में भरकर।)

पाशुपत—पुष्पोपहारों के साथ सुदूर प्रांत से भगवान के लिए कमलों का उपहार आ रहा है।

सुदेव—गुरुदेव आप···

(एक आवाज—जय हो गुरुदेव!)

पाशुपत—नमः शिवाय, नमः शिवाय। भासुर, देखो, कौन है?

भासुर—गुरुदेव। (बाहर जाता है।)

पाशुपत—मनुष्य कितना तुच्छ है सुदेव, वह बहुत-कुछ जानना चाहता है, करना चाहता है; पर कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं कर सकता।

भासुर—(टोकरी लिए आते हुए) गुरुदेव, वल्लभीपुर के महाराज ने निर्मल नील कमलों की यह टोकरी भगवान् पर चढ़ाने के लिए भेजी है।

पाशुपत—वल्लभीपुर के महाराज ने! यहाँ रख दो। खोलकर पुष्प अर्चनागृह में ले जाओ। (भासुर खोलता है)

भासुर—(चौंककर) छिपकली नील कमल में!

सुदेव—(चौंककर) छिपकली?

पाशुपत—(हँसकर) यही नर छिपकली है, जिसके लिए दीवार की छिपकली अधीर थी, किंतु अभी और शेष है···

सुदेव—क्या गुरुदेव?

पाशुपत—बहुत दिनों का भूखा भगवान् का नाग इनकी प्रतीक्षा कर रहा है।

सुदेव—कहाँ?

पाशुपत—वह नीचे कोने में। वह ऊपर को लपका और ये दोनों···

सुदेव—गुरुदेव!

पाशुपत—मनुष्य कुछ नहीं जानता राजन!

सुदेव—अपराध क्षमा हो।

पाशुपत—वत्स, नम्र होने पर ही लहलहाते वृक्ष अच्छे लगते हैं।

सुदेव—किंतु राजनीति में दया निर्बलता का दूसरा नाम है। भाग्य पर विश्वास निष्क्रियता है। धर्म राजा की सीमा का बंधन है जिसमें उसका पराक्रम अपने भीतर की दीनता के संघर्ष में जल जाता है गुरुदेव।

पाशुपत—किंतु मनुष्य राजा से भी बड़ा है सुदेव। देवता होने के लिए मनुष्य बनना आवश्यक है।

सुदेव—मैं त्रिकालज्ञ नहीं होना चाहता। भगवान् ने जो काम मुझे सौंपा है, वही पूरा करना चाहता हूँ, विजयार्क का वध—साम्राज्य का विस्तार।

पाशुपत—(हँसकर) तुम स्वतंत्र हो।

सुदेव—उद्दंड विजयार्क के वध द्वारा ही श्रवण की प्रजा सुखी रह सकेगी। भगवान् की प्रतिष्ठा के लिए प्रभास का सूर्य चमकना ही चाहिए।

[एक व्यक्ति हड़बड़ाता हुआ आता है।]

भासुर—गुरुदेव, गुरुदेव, रक्षा करो।

सुदेव—(चौंककर) क्या हुआ भासुर?

भासुर—श्रवण की प्रजा विद्रोही हो उठी, उसने हमारे सब सैनिकों को मारकर भगा दिया।

सुदेव—कैसे? (खड़े होकर)

भासुर—विजयार्क के छोटे भाई जयार्क ने सैन्य-संगठन करके कल रात अचानक द्वीप पर आक्रमण कर दिया। सारे वीर पुरुष मार दिए। कुछ भाग गए, शेष बंदी कर लिए गए। वही सेना बड़े दल-बल के साथ प्रभास की ओर आ रही है।

सुदेव—इतना सब हो गया, और······और मुझे समाचार भी नहीं मिला।

[दूसरे व्यक्ति का प्रवेश।]

व्यक्ति—महाराज, श्रवण की सेना ने जलयानों से प्रभास के तटों को घेर लिया है।

सुदेव—मुझे आज्ञा दीजिए। (युद्ध का कोलाहल बढ़ता है।)

पाशुपत—नमः शिवाय, नमः शिवाय, जाओ वत्स। [सुदेव तथा भासुर जाते हैं।] (खड़े होकर) मनुष्य कितना लघु प्राणी है और उसका दर्प कितना बड़ा है, कदाचित् वह अपने दर्प के शिखर को दबा सकता! (युद्ध के नगाड़े बजते हैं, वीरों की सनसनाहट, भाले चलने की आवाजें। युद्ध का कोलाहल बढ़ता है, बढ़ता ही

रहता है।] (हँसकर) शैव साम्राज्य का विस्तार, अपनी दबी हुई लालसा का विस्तार ! नमः शिवाय, नमः शिवाय।

[पाशुपत खड़ाऊँ पहने घूमते हैं।]

पाशुपत—(घूमते हुए) मनुष्य के अभिमान का इतनी जल्दी उत्तर मिलना था, इतना शीघ्र। कदाचित् जो कुछ उसके हाथ में नहीं है उसे भी वह पा लेना चाहता है। (हँसकर) हा-हा-हा-हा ! तुम्हारी माया देव, सब तुम्हारी ही माया है।

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने ।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे ।।
सत्सत्त्वेन भावानां युक्त्या या द्वितयी स्थितिः ।
तामुल्लंघ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ।।
आसन्नाय सुदूराय गुप्ताय प्रकटात्मने ।
सुलभायातिदुर्गाय नमश्चित्राय शम्भवे ।।

जय शंभो ! नमः शिवाय, नमः शिवाय ! इस स्तंभ-दीप के समान तुम्हारे ज्योतिलिंग का प्रकाश विश्व-ब्रह्मांड में व्याप्त है देवाधिदेव। अरे, तुम !

१—गुरुदेव मैं तो अभी-अभी आया, आज बड़ी विलक्षण बात हुई।

पाशुपत—(जैसे सब जानते हैं) क्या हुआ ?

१—ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, कभी नहीं देखा था—विचित्र, परम विचित्र !

पाशुपत—(हँसकर) भगवान् के निकट असंभव ? विचित्र कुछ भी नहीं है, फिर भी कहो न।

भक्त—मैं मंदिर के गर्भ में निशीथ-पूजन के लिए घुसा तो क्या देखता हूँ ''क्या देखता हूँ कि दो किन्नरियाँ भक्ति-मग्न होकर नृत्य कर रही हैं।

पाशुपत—असंभव कुछ भी नहीं है वत्स।

भक्त—नहीं महाराज, पिछले बारह वर्ष से मैं लगातार निशीथ-पूजन करता आ रहा हूँ। रात्रि में मेरे या भगवान् के अतिरिक्त मंदिर में कभी कोई नहीं रहता। किंतु आज तो वे देवियाँ, हमारी देव-दासियाँ नहीं, कोई और ही थीं। उनमें से एक का रूप बिजली की तरह प्रकाशमान, उषा की तरह स्निग्ध था। मुझे लग रहा है, जैसे वह कल्पना थी, वह एक स्वप्न था।

पाशुपत—यह सृष्टि के बारह ज्योतिर्लिंगों में प्रसिद्ध और प्रमुख ज्योतिर्लिंग है वत्स ! यहाँ पर स्वर्ग के देवता और गंधर्व, अप्सराएँ और किन्नरियाँ भी देव-दर्शन के लिए आते हैं। हो सकता है, वे ही हों।

भक्त—(सोचता हुआ) हो सकता है गुरुदेव। किंतु वे अप्सराएँ नहीं थीं, इतना निश्चित है। आकृति उनकी मानुषी ही थी ! फिर भी जब भक्ति से गद्गद होकर वे प्रार्थना करने लगीं तब उनकी वाणी मानुषी ही थी, इसी देश की बोली। भावाकृति स्त्रियों की, निश्छलता कन्याओं की।

पाशुपत—हूँ !

भक्त—इतना सुंदर नृत्य, इतनी पुलकित कर देने-वाली प्रार्थना, साक्षात् लक्ष्मी के समान मुखच्छवि ! तभी से मैं विस्मित हूँ। आप त्रिकालज्ञ हैं भगवन् !

पाशुपत—मैं कुछ भी नहीं हूँ वत्स, मैं देव का एक तुच्छातितुच्छ दास हूँ। तुम ठीक कहते हो, वे अप्सराएँ नहीं, भूमि-कन्याएँ ही हैं, दुख की मारी, राज्य-भ्रष्ट और अत्याचार-पीड़ित श्रवण द्वीप की कन्याएँ।

भक्त—हाँ गुरुवर, प्रार्थना करते एकदम न जाने कैसा कोलाहल हुआ तो एक बोली—देवाधिदेव, हमारा उद्धार करो, हमारी रक्षा करो। उसी समय दूसरी ने कहा—भगवान् ने तुम्हारी प्रार्थना सुन ली है। सुनो, श्रवण से प्रभास पर आक्रमण के लिए सेनाएँ आ गई हैं। यह उन्हीं का गर्जन है। वे एकदम अंतर्धान हो गईं। मैं यह सब कुछ भी नहीं समझ पाया। तभी से मैं चिंतित हूँ, विस्मित हूँ, चकित हूँ। आज पूजन में भी मन नहीं लगा। मैंने सोचा—यह सब आपसे निवेदन करूँ।

पाशुपत—मनुष्य कुछ सोचता है, विधाता कुछ और। इसमें भी मुझे कल्याण दिखाई देता है।

भक्त—आपकी वाणी सत्य हो भगवन् ! हमारे महाराज महान् और सोमनाथ भगवान् के उपासक हैं।

पाशुपत—मनुष्य कितना दुर्बल प्राणी है !

(नेपथ्य में)

[कोलाहल बढ़ता है, युद्ध का गर्जन, चिल्लाहट, ललकारें सुनाई देती हैं, चीत्कार-कोलाहल से आकाश गूंज उठता है। 'मारो, काटो, बढ़े चलो, बढ़ो, यही समय है' की भयंकर ध्वनि बढ़ती जाती है। दरवाजों के टूटने, खुलने, लोगों के भागने, गिरने, उठने के स्वर सुनाई देते हैं। कुछ देर तक यही होता रहता है। उसी समय एक स्त्री का ऊँचा स्वर सुनाई देता है।]

स्त्री—सैनिको, यह युद्ध केवल प्रभास के नृपति सुदेव से है, प्रभास के नागरिकों, ब्राह्मणों, युवकों और

स्त्रियों से कुछ भी न कहा जाय। नगर में किसी को भी कष्ट न दिया जाय। किसी के साथ दुर्व्यवहार न हो। किसी को भी पीड़ा न पहुँचाई जाय। हमारा युद्ध केवल सुदेव से है, केवल सुदेव से। सावधान, किसी को कष्ट न हो!

कुछ आवाजें—अवश्य, अवश्य। हम अपने महाराज विजयार्क का बदला सुदेव से लेंगे। सुदेव ने हमारे द्वीप को विध्वस्त किया है, सुदेव बंदी है, कल सूर्योदय के साथ इसका निर्णय होगा।

भक्त—कदाचित् यही स्त्री थी। ऐसा ही उसका स्वर था गुरुदेव!

पाशुपत—जाओ, आज तुमसे पूजन न हो सकेगा। जाओ भक्त, जाओ।

भक्त—जो आज्ञा गुरुदेव!

(चले जाते हैं।)

[बंदी सुदेव और सौदामिनी। रात्रि का समय। समुद्र का गर्जन दूर से सुनाई दे रहा है। नगर में कोलाहल की ध्वनि]

सुदेव—(गर्व से) मुझे यहाँ क्यों लाया गया है। बंदीगृह दूर नहीं है।

सौदामिनी—अबला का पराक्रम दिखाने के लिए, जिसे आपने बंदी किया था।

सुदेव—यह मेरे दुर्भाग्य का पराक्रम है, तुम्हारा नहीं।

सौदामिनी—अपने गर्व की पराजय नहीं मानते?

सुदेव—गर्व पराजित होना नहीं जानता। यदि वह अंतःस्थ हो, वास्तविक हो।

सौदामिनी—आपको स्मरण है, आपने एक बार मेरे प्राणों की रक्षा की थी।

सुदेव—ऐसी छोटी बातें याद रखने का मेरा स्वभाव नहीं है।

सौदामिनी—अभिमान की गति सदा ऊपर से नीचे को होती रहती है जबकि नम्रता नीचे से ऊपर को जाती है महाराज!

सुदेव—तुम महाराज कहकर मेरा अपमान मत करो। मुझे बंदी-गृह में डाल दो, मेरे वध की आज्ञा दो। बस!

सौदामिनी—उसका निर्णय पिता करेंगे।

सुदेव—तो तुमने मुझे क्यों रोक रखा है?

सौदामिनी—क्यों, आप केवल राजा ही हैं, मनुष्य नहीं?

सुदेव—मनुष्य से ऊपर।

सौदामिनी—यानी उसे तिलांजलि देकर।

सुदेव—तुम क्या कहना चाहती हो, मैं नहीं जानता। मुझे मालूम है, तुम्हारे पिता विजयी होकर मेरा वध करेंगे। मुझे इसका कोई दुख नहीं है।

सौदामिनी—महाराज सुदेव, मैं केवल सैनिक सौदामिनी नहीं हूँ। मैं स्त्री हूँ।

सुदेव—किंतु मैं जो हूँ, वही रहकर मरना चाहता हूँ।

सौदामिनी—आपको याद है वह दिन…

सुदेव—उस दिन को बीते बहुत समय हो गया। वह सब व्यर्थ है। उसको याद करने से कोई लाभ नहीं।

सौदामिनी—किंतु मैं राजा को भी मनुष्य मानती हूँ। उसके भी हृदय होता है। वह भी मनुष्यता का सच्चा उपासक होता है। उसका बल निर्बल की रक्षा के लिए है, दूसरों को पीड़ा देने के लिए नहीं। यदि आपके श्रवण से अच्छे संबंध होते तो…… (नगर में कोलाहल सुनाई देता है।)

सुदेव—मालूम होता है, मेरी प्रजा पर अत्याचार हो रहे हैं, पर आज मैं बंदी हूँ तुम्हारा। (सोचता है।)

सौदामिनी—क्या सोच रहे मैं महाराज?

सुदेव—वह जिससे अब कोई लाभ नहीं है।

सौदामिनी—(हँसकर) लाभ न होने पर भी सोच रहे हैं। मैं जानती हूँ, बुराई मनुष्य का स्वभाव नहीं है। वह कृत्रिम है महाराज!

सुदेव—जैसे आज मैं कृत्रिम महाराज हो गया हूँ। जैसे सब स्वप्न हो गया है। तुम सच कहती हो, गर्व अपने परिणाम में ऊपर से नीचे को चलता है। आज मेरी प्रजा दुखी है। सब ध्वंस हो गया है। मेरी आकांक्षा के महल की नींव हिल गई।

सौदामिनी—इसका कारण शायद दूर नहीं है।

सुदेव—मेरा अपमान मत करो सौदामिनी! मेरे हृदय में द्वंद्व हो रहा है।

सौदामिनी—(ताली बजाकर) महाराज को बंदीगृह में ले जाओ सैनिक, कल इनका निर्णय होगा। ले जाओ। जाइए।

सैनिक—जो आज्ञा। चलिए। (सुदेव जाते-जाते रुक जाता है।)

सौदामिनी—फिर भी क्या सोच रहे हैं?

सुदेव—सोच रहा हूँ, मनुष्य का अंत क्या इतना अस्थिर है। तुम तो नारी हो।

सौदामिनी—यह आपके उपयुक्त नहीं है। अभिमान की नींव पर लालसा, महत्त्वाकांक्षा का स्वप्न-महल खड़ा करने के प्रयत्न में जो हृदय की भूख का तिरस्कार कर देता है उसके मुख से पुरुष और नारी का नाम सुनकर हँसी आती है। लगता है, जैसे यह उसका अपना रूप नहीं है।

सुदेव—मद यदि चढ़ता है तो उतरता भी है। वही मैं आज अनुभव कर रहा हूँ अपने में।

सौदामिनी—तो आज आपकी आँखें खुली हैं? मेरा सौभाग्य है।

सुदेव—और मेरा दुर्भाग्य!

सौदामिनी—रह-रहकर जैसे आपको कोई टीस उठती है।

सुदेव—रह-रहकर जैसे कोई मुझे तमाचे मारकर गिरा रहा है। यह ठीक ही हुआ कि मरने से पूर्व मैं अपनी वास्तविकता को जान सका।

सौदामिनी—मैं आपको छोड़ सकती हूँ। जाइए··· भाग जाइए।

सुदेव—सुदेव ने सब-कुछ सीखा है, पर कायरता नहीं सीखी।

सौदामिनी—तो मैं आपके सामने निरस्त्र खड़ी हूँ। मुझसे बदला लीजिए।

सुदेव—देखता हूँ, तुम्हारी स्वाभाविक आँखों का आघात भी कम घातक नहीं है सौदामिनी!

सौदामिनी—(आह भरकर) इन शस्त्रों का अंत मधुरता, आकर्षण में समाप्त होता है महाराज!

सुदेव—किंतु अब ·······

[जयार्क का प्रवेश]

जयार्क—सुदेव, सुदेव यहाँ! (सैनिकों से) चलो, इसे बंदी करो, बंदी करो। (सैनिकों के धक्के के साथ सुदेव चला जाता है। सौदामिनी मूक खड़ी देखती रहती है। उसकी आँखों से आँसू टपकने लगते हैं।)

[नगर का राजपथ। राजमार्ग में बहुत लोगों की उपस्थिति के स्वर। दूर पर घंटे, घड़ियाल, नगाड़े और स्तुति के स्वर सुन पड़ते हैं—धीरे-धीरे बंद होते हैं। एक ओर से सुनयना और दूसरी ओर से सौदामिनी आती है।]

सुनयना—मैं तुम्हें ही खोजती फिर रही हूँ सौदामिनी, कहाँ थी अबतक? रात के दूसरे प्रहर से तुम्हारा कुछ भी पता नहीं लग रहा है।

सौदामिनी—हाँ सुनयना, प्रभास पर आक्रमण के बाद से लगातार मुझे घूमना पड़ रहा है। मैंने सब खास-खास जगहों पर सैनिकों का पहरा बैठा दिया है। दुर्ग के प्राचीर, बड़े-बड़े द्वार, सैनिक अड्डे—सभी जगह हमारी सेनाएँ नियुक्त हैं। राजा सुदेव की सेना बंदी कर ली गई है।

सुनयना—तुम्हारा ही काम था कि प्रभास पर श्रवण का झंडा लहराने लगा। भला, महाराज कहाँ हैं?

सौदामिनी—(उसी धुन में) घायलों की चिकित्सा का प्रबंध कर दिया गया है। जो लोग मारे गए उनके शवों की व्यवस्था कर दी है। (अपनी धुन में) अभी··· हाँ, अभी।

सुनयना—महाराज कहाँ हैं—तुम्हारे पिता? क्या उन्हें बंदीगृह से छुड़ा लिया गया है?

सौदामिनी—सुदेव बहुत चतुर राजा हैं। यह हार-जीत भी समुद्र की लहरों की तरह है जो हवा के साथ बदलती रहती है। एक बार तो हम हार ही चले थे कि मैंने उस अँधेरे में सधे हुए सैनिकों को उत्साहित किया और एक भयंकर धावा बोल दिया। उसीमें सुदेव के हाथ-पैर फूल गए। इसी बीच मैंने उन्हें बंदी कर लिया। सैनिक बिखरकर भाग गए।

सुनयना—तो तुम युद्धभूमि में भी गई थीं! तुम्हारा यह रूप बिल्कुल नया है सौदामिनी! महाराज कहाँ हैं?

सौदामिनी—बहुत दिनों बाद शस्त्र उठाए। बहुत दिनों बाद लड़ना पड़ा अनचाहे भी। (हँसकर) पिता बंदीगृह में ऊँघ रहे थे। मैंने उन्हें जगाया तो घबराकर बोले—क्या सायंकाल की बजाय प्रातःकाल ही मेरा वध होगा? कुछ बात नहीं, मरने से मैं नहीं डरता, चलो। जब मैंने कहा कि प्रभास पर श्रवण का अधिकार हो गया है, इसके साथ ही सारी स्थिति समझाई तो प्रसन्नता से उनका मुख खिल उठा। फिर वे एकदम चुप हो गए। धीरे-धीरे उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे; जैसे भगवान सोमनाथ की प्रार्थना से विभोर हो उठे हों। बोले वे कुछ भी नहीं। इसी समय सुदेव को पिता के स्थान पर बंदी बनाकर हम लौट आए।

सुनयना—सुदेव उसी जगह बंदी हुए! तुमने उन्हें देखा·····

सौदामिनी—सुदेव मुझे देखते ही विस्मित हो गए। उनके मुख से निकल गया—अरे, क्या तुम्हीं थीं वहाँ?

फिर वे चुप हो गए; जैसे आश्चर्य में डूब गए हों। बोले— मुझे बंदी कर लो सौदामिनी, पहले ही प्राण...। इसके बाद काका जयार्क ने उन्हें बंदीगृह में डाल दिया और बाहर से द्वार बंद कर दिए। उन्हें भीतर धकेल दिया सुनयना, जैसे पशु को बाड़े में बंद कर दिया जाता है।

सुनयना—और तुम देखती रहीं...

सौदामिनी—हाँ, पर ..

सुनयना—पर क्या, तुम्हें अच्छा नहीं लगा ?

सौदामिनी—(चुप।)

सुनयना—बोलो सखी !

सौदामिनी—क्या बोलूँ, क्या कहूँ ? (आह भरती है।)

सुनयना—यदि तुम चाहो तो ..

सौदामिनी—(उत्तेजित होकर) मैं कुछ नहीं चाहती, मैं कुछ नहीं समझती। न जाने, मुझे कैसा लग रहा है। (सुनयना से लिपटकर) मुझे कुछ नहीं सूझता सुनयना। तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ?

सुनयना—मैं जानती हूँ। मैं जानती हूँ; पर अब क्या हो सकता है। पिता विजयार्क......

सौदामिनी—पिताजी तभी से गुम-सुम हैं। वे मुक्त होने के बाद सीधे सोमनाथ के मंदिर में चले गए। तब से वहीं हैं। मैं उन्हें गुरुदेव के पास छोड़ आई हूँ।

सुनयना—गुरुदेव के पास, जयार्क ?

सौदामिनी—वे भी उन्हीं के पास हैं। उनका कहना है कि जिस स्थान पर सुदेव आपका वध करना चाहता था, उसी स्थान पर, उसी समय सुदेव को फाँसी पर चढ़ाया जाय।

सुनयना—फिर ?

सौदामिनी—तभी से मैं पागल-सी हो गई हूँ।

सुनयना—नंदिनी ?

सौदामिनी—नंदिनी उसी जगह बंदी है जहाँ हमलोग बंदी किए गए थे। अब वह चुप है। मुझे देखते ही उसने पीठ फेर ली।

सुनयना—तो तुमने कुछ कहा ?

सौदामिनी—क्या कहती ? क्या उसपर व्यंग कसती, उसे ताना देती, उसे गाली देती ? नहीं, यह मेरा काम नहीं है। मुझे उसपर तरस आ रहा था।

सुनयना—लगता है, प्रभास पर महाराज विजयार्क सुका राज्य हो जायगा। और देव...

सौदामिनी—(तेजी से) सुनयना, काश कोई मेरे मन की बात समझ सकता ! राजनीति ने प्रेम को दबा लिया है। शायद इसे आँखें नहीं होतीं।

सुनयना—इसके मन भी नहीं होता। यह निर्दय है, निर्जीव।

सौदामिनी—क्या कोई उपाय नहीं है ?

सुनयना—यह दो देशों की शत्रुता का प्रश्न है। दो राज्यों के वैर का बदला है। दो राजाओं की आकांक्षा, लालसा, वैभव की लड़ाई है। देखें, कौन जीतता है ?

सौदामिनी—(फीकी हँसी हँसकर) राजनीति की रानी या मैं। आज बहुत दुखी हूँ। जीतकर भी भीतर-ही-भीतर जैसे हार रही हूँ सुनयना।

सुनयना—महाराज को यह मालूम है कि राजा सुदेव ने तुम्हारे प्राण बचाए हैं।

सौदामिनी—जाने, उन्हें मालूम है या नहीं ? जाने सखी, क्या होगा ?

सुनयना—धीरज धरो। गुरुदेव तुम्हारी सहायता करेंगे। वे त्रिकालज्ञ हैं। मैं जाती हूँ, उन्हीं के पास जाती हूँ।

सौदामिनी—सुनो, हमारे सैनिकों का जय-घोष सुनाई दे रहा है। शायद राजा का निर्णय होगा। मैं जाती हूँ, पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

दृश्य-परिवर्तन

जयार्क—यही वह स्थान है। सुदेव को दंड देने का समय हो रहा है। महाराज विजयार्क अभी नहीं आए।

सैनिक—जयार्क, महाराज विजयार्क भगवान् के दर्शन करने गए हैं। आते ही होंगे। पूजन शायद समाप्त हो रहा है।

जयार्क—सुदेव को यहाँ ले आओ, जिससे उसके आने और भाई विजयार्क को निर्णय करने में विलंब न हो। अपराधी को उस समय उपस्थित रहना चाहिए।

सैनिक—बंदी उपस्थित है, वह अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है।

[कोलाहल, आगए आगए, जय हो ! विजयार्क की जय हो ! श्रवण-नरेश की जय हो !]

(विजयार्क का प्रवेश)

विजयार्क—(कड़कती हुई आवाज में) भाइयो, यह भाग्य का खेल है कि प्रभास के राजा सुदेव के हाथों आज मेरा यहाँ वध किया जा रहा था, (रुककर) किंतु दैव का विधान कि मारनेवालों के भाग्य का निर्णय मरनेवालों के हाथ में आ गया। जो विजयार्क कल तक प्रभास की अँधेरी कोठरी में पड़ा अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था, आज सुदेव उस कोठरी में बंद कर दिए गए।

आवाजें—सुदेव अत्याचारी है।

विजयार्क—हाँ, सुदेव अत्याचारी हैं। उन्होंने श्रवण-द्वीप की निरीह प्रजा पर बिना कारण अत्याचार किया। और, केवल अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए श्रवण पर आक्रमण किया, मुझे बंदी कर लिया, मेरी कन्या का अपहरण किया, आज मेरे वध का दिन था।

आवाजें—जी, सुदेव का वध होना चाहिए। वह पापी है, वह दंड के योग्य है।

विजयार्क—हाँ, वह पापी हैं। उन्होंने निरीह प्राणियों की केवल अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए हत्या की। इस युद्ध में सहस्रों प्राणी मारे गए। मैं उनको दंड दूँगा। वह पापी हैं, वह हत्यारे हैं, राजा का काम न्याय करना है, उन्होंने अन्याय किया है, वह राजा नहीं हैं। बोलो सुदेव, तुम्हें कुछ कहना है?

सुदेव—मैं कुछ नहीं कहना चाहता, पर मैं इतना कहना चाहता हूँ कि जो मैंने किया वही सभी राजा लोग करते हैं। असंतोषी ब्राह्मण मारे जाते हैं और संतोषी राजा।

विजयार्क—ठीक है, इसका अर्थ यह है कि संसार के लोगों को कभी सुख की नींद न सोने दिया जाय। संसार में सदा हत्याकांड मचता रहे। मनुष्य सदा एक दूसरे के गले काटता रहे। भगवान् के निर्मित इन प्राणियों का निरंतर संहार होता रहे, क्यों?

सुदेव—मुझे कुछ भी नहीं कहना है, जो कुछ तुम्हें दंड देना हो, दो।

विजयार्क—मैं अवश्य दंड दूँगा। और किसी को कुछ कहना है।

१ आवाज—सुदेव अपराधी है।

२ आवाज—वह शांति-विध्वंसक है।

३ आवाज—उसने गुरुदेव पाशुपत की आज्ञा का तिरस्कार किया है।

१ आवाज—वह दंड-योग्य है।

२—वह वध के योग्य है, उसका वध होना चाहिए।

३—हाँ, हाँ।

१—अवश्य, अवश्य।

२—अवश्य, अवश्य।

३—देर न कीजिए।

[ठहरो-ठहरो, मुझे भी कुछ कहना है—कहती हुई एक स्त्री बढ़ जाती है।]

स्त्री—हटो हटो।

विजयार्क—तुम कौन हो?

स्त्री—मैं महाराज सुदेव की पत्नी हूँ, मेरा वध करो, मुझे दंड दो।

सुदेव—(कड़ककर) तुम्हें किसने बुलाया महारानी! तुम जाओ।

स्त्री—नहीं, मैं आपसे पहले मरूँगी।

सुदेव—नहीं, नहीं, तुम जाओ, अपने पिता के घर चली जाओ, मैं ही दंड भोगूँगा, मुझे मरने दो, जाओ, नंदिनी।

नंदिनी—आपसे पहले मेरा अधिकार है, पहले मैं मरूँगी।

विजयार्क—मैं दोनों को दंड दूँगा। तुमने (नंदिनी से) सौदामिनी और उसकी सखी को पीटा था, उसे अपमानित किया था।

[घृणा-विद्रोह के भाव उभरते हैं। काना-फूसी होती है—नहीं-नहीं]

१—(धीरे से) फिर भी एक स्त्री को दंड बुरी बात है।

२—अभिमानिनी है।

विजयार्क—(कड़ककर) चुप रहो, जो पति का अनुगमन करना चाहती है, उसे अधिकार है, उसे कोई नहीं रोक सकता। मैं प्रभास के नृपति सुदेव को दंड दता हूँ··· और किसी को कुछ कहना है?

[चुप्पी]

मालूम होता है, किसी को भी सुदेव को दंड देने में आपत्ति नहीं है। जयार्क, तुम्हें कुछ कहना है, क्योंकि तुमने ही हमारे प्राण बचाए हैं।

जयार्क—मैं भी सुदेव को दंड देने के पक्ष में हूँ।

विजयार्क—मैं दंड दूँगा, क्योंकि मैं इस समय न्याय के सिंहासन पर हूँ। भगवान् ने मुझे अवसर दिया है न्याय

करने का। मैं न्याय करूँगा, किंतु महाराज सुदेव, क्या आप कह सकते हैं कि हमने कभी आपका अहित किया? फिर आपने क्यों इस छोटे-से द्वीप पर जहाँ के लोग प्राचीन काल से सुख-शांति से रहते आ रहे थे, आक्रमण किया। आपके साथ हमारा सदा से सद्भाव बना चला आ रहा था, मैं एक बार आपको दंड देने से पूर्व सफाई देने के लिए कहूँगा, क्योंकि इस समय मैं न्याय-सिंहासन पर हूँ।

सुदेव—मैं साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था, साम्राज्य-विस्तार के लिए जो और नृपति करते आ रहे हैं, वही मैंने किया।

विजयार्क—दूसरों के रुधिर पर, निरीह प्राणियों की हत्या करके, साम्राज्य-विस्तार करना चाहते थे आप, शांति-भंग करके दूसरों का राज्य छीनकर साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे आप! मैं पूछता हूँ, राजा रक्षक है या भक्षक?

सुदेव—रक्षक और भक्षक दोनों। वह अपनी प्रजा की रक्षा करता है और शत्रु की प्रजा का विनाश। किंतु... किंतु मेरा विचार बदल रहा है, साम्राज्य-लिप्सा राजा का गर्व है, व्यर्थ का गर्व। मैंने गुरुदेव का कहा न माना और श्रवण पर आक्रमण किया। मैंने समझा, साम्राज्य के नाम पर मुझे अपनी लालसा पूरी करने का अवसर मिलेगा।

विजयार्क—(हँसकर) वह अवसर नहीं मिला। हम भी शिवोपासक हैं सुदेव! क्या शिव-भक्तों की हत्या करके आप साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे?

सुदेव—(चुप)

विजयार्क—मनुष्य बड़ा निर्बल प्राणी है, कभी-कभी अच्छे व्यक्ति भी बुरा काम करने लगते हैं। उस समय उनके मन की निर्बलता उनपर छा जाती है। सुदेव, उसी प्रकार के अपराधी हैं। मैं उनको दंड दूँ या मृत्युदंड?

सौदामिनी—महाराज!

विजयार्क—हाँ, कहो सौदामिनी, तुम्हें क्या कहना है?

सौदामिनी—महाराज आप राजा होने की अपेक्षा पिता भी हैं, यही मैं कहना चाहती हूँ।

विजयार्क—(सोचते हुए) मैं पिता भी हूँ। मैं पिता भी हूँ, किंतु मैं इस समय न्याय-सिंहासन पर हूँ। कलतक दंड-व्यवस्था सुदेव के हाथ में थी। इन्होंने मेरे वध करने की आज्ञा दी थी। किंतु पश्चात्ताप सबसे बड़ा दंड है। मैं तुम्हें निरंतर पश्चात्ताप करने का दंड देता हूँ। तुमने मेरी इस कन्या के एक बार प्राण बचाए थे। नहीं-नहीं, श्रवण की एक प्रजा के—यह भी मुझे मालूम है। (उठकर) इसीलिए यह कन्या—श्रवण की प्रजा और विजयार्क की पुत्री को मैं तुम्हें सौंपता हूँ। सौदामिनी मेरे हृदय का आलोक है, उसे मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ। सुदेव, लो, इसे ग्रहण करो। (कन्या का हाथ पकड़कर सुदेव के हाथ में देता है।) इसे ग्रहण करो नंदिनी, तुम्हें इतना ही दंड देता हूँ कि तुम इसे अपनी छोटी बहन मानो। साम्राज्य की लिप्सा राजा के लिए एक पाप है। इसमें असंख्य प्राणियों की हत्या होती है, फिर भी यह स्थिर नहीं रह पाता। तुम आजीवन साम्राज्य की बुराई पर विचार करते रहो, यही तुम्हारा दंड है—तुम्हारी बुराइयों का दंड। तुम्हारे दंड की प्रेरणा का स्रोत यह सौदामिनी है। इसे ग्रहण करो सुदेव!

सुदेव—तुम इतने महान हो विजयार्क!

नन्दिनी—पिता विजयार्क!

[पाशुपत का प्रवेश]

पाशुपत—सुदेव, देखा शिवभक्त विजयार्क को।

विजयार्क—आइए गुरुदेव! प्रणाम करता हूँ। आपने मेरा निर्णय सुना?

पाशुपत—मैं तुम्हें बधाई देता हूँ वत्स! नमः शिवाय, नमः शिवाय।

विजयार्क—जयार्क भाई, आज से श्रवण द्वीप के अधिकारी तुम हो।

जयार्क—महाराज!

विजयार्क—नहीं, तुम ही श्रवण के राजा हो। गुरुदेव, मुझे दीक्षा दीजिए। मैं संन्यास लेना चाहता हूँ।

पाशुपत—आओ वत्स, यही जीवन का परम साध्य है। नमः शिवाय, नमः शिवाय। सोमनाथ भगवान् का यही आदेश है। चलो, वत्से, पति की अनुगामिनी बनो।

सुदेव—राजा का यह भी एक रूप है। यह मैंने आज ही जाना।

पाशुपत - राजा होने से पूर्व प्राणी मनुष्य है, जिसमें अनंत गुणों का भंडार है। मनुष्य बनो सुदेव।

सुदेव—सौदामिनी, आओ, पिता विजयार्क और गुरुदेव को प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लें।

निराला की कविता

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, शास्त्राचार्य

[गतांक का शेषांश]

'परिमल' में कसाव के साथ-साथ खुलाव भी था। हर रंग के डोरे उसके ताने-बाने में थे, फिर भी 'चदरिया' झीनी-झीनी बीनी गई थी। और 'गीतिका' मे रंग उभरा-गहराया, बुनाई घनी-गाढ़ी, फिर भी जैसे ढाके का साठ गज मलमल कि क्वाँरी लुनाई छिपाए न छिपे। 'अनामिका' में परिमल और गीतिका के वस्तु-विस्तार तथा रचना-कौशल का मिश्र विकास दिखता है। 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' से बहुत पहले रचित होकर भी बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, अतः 'अनामिका' की महा-काव्य-सी गहन कतिपय कविताओं में ही उसकी शैली और जीवन के आवेग की छिटफुट छाप देखी जानी चाहिए।

इस प्रकार निराला की कविता की सुनहली तरुनाई 'परिमल' से 'तुलसीदास' तक रूप-रस-गंध की पर्तों पर पर्तें बिछाती गई। 'अणिमा' में पहली बार उसे वह आभरण उतारते देखा गया, परिमल के वनफूलों के श्रृंगार को पतझड़ के अल्हड़ झोंके की तरह तोड़कर गीतिका-गायन-काल से ही जिसे ससंभ्रम धारण कर रखा था। 'परिमल' यदि निराला का एकमात्र धरातल होता तो 'अणिमा' उसीकी प्राकृतिकता कहलाती।

अणिमा के गीत उज्ज्वल जल-भरे वादल-से इकहरे कजरारे हैं। ऐसे कि किसी जलपरी की छिँगुनी से छू जाने पर भी अनास्वादित रस बरस पड़े। व्यावहारिक घरेलूपन लिए चार बरस की बिटिया की,—आँसुओं से डलबल-आँखों-सी सरल-सजल भाषा; स्वर-सौंदर्य से अतिशय श्रुति-मधुर गीत 'अणिमा' की वहिरङ्ग विशेषता है। इसमें 'तुमसे चल तुममें ही पहुँचे, जितने रस आनंद रहें'—ऐसी उपलब्धि है; 'तुम्हें सुनाने को मैंने भी नहीं कहीं कम गाने गाए'—जैसी दृप्त तृप्ति है। 'जानता हूँ, नदी-झरने, जो मुझे थे पार करने, कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला' की भाँति अखंड आत्म-विश्वास है; 'द्रुम-दल-शोभी फुल्ल नयन ये, जीवन के मधु-गंध-चयन ये' के समान स्वस्थ-संतुलित श्रृंगार है; 'हरे तन-मन प्रीति-पावन, मधुर हो मुख मनोभावन, सहज चितवन पर तरंगित हो तुम्हारी किरण तरुणा' के तुल्य आर्द्र करुणा है और 'दूर हो अभिमान संशय, वर्ण-आश्रम-गत महाभय, जातिजीवन हो निरामय वह सदाशयता प्रखर दे'—ऐसी जातीय सदाशयता है।

आलोचकों को शिकायत है कि अणिमा में निराला का मौसम सम पर है; प्रतिभा का फेनोज्ज्वल ज्वार उतार पर है—वह रैदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रति भी प्रणत हो उठे हैं। सचमुच ही बिजली की कड़क और बादलों की तड़क-भड़क से क्वाँर की मादनी चाँदनी में नहाए आकाश की छवि और होती है; धुएँ के भभाकों में खोई लपटों से दहकते अंगारे दूसरी तरह के होते हैं; आमूल मुकुलिता माधवी की बेल से पदतल पर बिछे फूलोंवाले हरसिंगार के झाड़ में अंतर होता है। सचमुच ही 'अणिमा' से निराला की कविता नए मोड़ लेती है।

नए मोड़ लेती है—'जैसे युगांत' से पंत की कविता। इसमें अतीत का सिंहावलोकन है, वर्तमान की धुंध और भविष्य का प्रकाश भी। अपनी आवृत्ति भी निराला ने नहीं की, अतः युग-संधि के रंध्र से छनकर आनेवाली किरणों को सँजो सकने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी है। यहाँ से हिंदी कविता को नई भाषा, नई शैली मिली है—

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है।
लोण है, महफिल है,
नग्मे हैं, साज है, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

प्रकृति-चित्रण में ऐसा यथार्थ—

भरा हुआ तालाब
खेलती हैं मछलियाँ

पानी की सतह पर
पूँछ पटकती हुई।

× × ×

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे, नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई;
गहरे अँधेरे का डेरा था।

निराला की कविता में ही नहीं, हिंदी-कविता में पहली बार प्राप्त हुआ। आगे चलकर ग्राम्या में पंत ने 'वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' लिखा, पर यह निरलंकारता अपने में अप्रतिम रही। यों तो कब न निराला ने नए-नए बीज बोए, पर परती पड़ी जमीन के गोड़ते, खाद देते जाने के सबब अब पौधे उग-उगकर लहराने को मचलने लगे थे। देव-दुर्लभ मानवता रक्त-मज्जावाले आदमी की सूरत में ढल चली थी; हृदय के अमृत में आँसू, पसीने और खून की सर्दी-गर्मी भी घुलने लगी थी। और निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'बेला' और 'नए पत्ते' में धरातल बदल दिया। नई जिंदगी के पाँव के नीचे की जमीन टटोलते और अपनी नई कविता के लिए नए प्रतीक और प्रतिमान गढ़ते हुए निराला ने यह गुर पा लिया था—

स्वार्थ के अवगुंठनों से हुआ है लुंठन हमारा।

× × ×

जमींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं;
जग के मूर्त पिशाच—धूर्तगण गनी हुए हैं।

× × ×

खुला भेद, विजयी कहाए हुए जो,
लहू दूसरे का पिए जा रहे हैं!

हर सैरगाह में आदमी के खून के फव्वारे आकाश-गंगा-संगम के लिए जैसे अविच्छिन्न ऊर्ध्वमुख हो रहे थे; धुंधलका रक्ताक्त धरती का काले रंग का बुर्का हो रहा था, जिसके भीतर से करुण-कातर नयन मटमैली बूँदें उगल रहे थे और निराला नई कविता सिरज रहे थे—

विशेषता के गले नीच की छुरी जो चली
गुलाब जैसा खिला रक्तिमाभ शान हुई।

× × ×

सफाई कट गई हैं चाँद की भी
जही के उसने जो जोबन टटोले
गई पत देवता—पति की, कि उसने
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले।

× × ×

जमाने की रफ्तार में कैसा तूफाँ
मरे जा रहे हैं, जिए जा रहे हैं।

× × ×

जिन्होंने ठोकरें खाईं गरीबी में पड़े उनके
हजारों—हा हजारों हाथ के उठते समर देखे।
गगन की ताकतें सोईं, जहाँ की हसरतें रोईं
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे में अगर देखे।

निराला की विविध वृत्तियों का मोटे तौर पर वर्गीकरण करना हो तो पहले हम उन्हें दो वर्गों में बाँट लें—आत्मनिष्ठ वृत्तियाँ और समाज-निष्ठ वृत्तियाँ। उनकी काव्य-साधना में यह द्विविधता प्रारंभ से ही प्राप्त होती है। परिमल की दीन, भिक्षुक, विधवा, बादल आदि कविताएँ जैसी हैं वैसी गीतिका में भी हैं; अनामिका, तुलसीदास और अणिमा में भी। इसी प्रकार 'बेला' और 'नए पत्ते' में भी उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति नहीं छूटी है। यह रहस्य-दर्शन और समाज-चेतना कवि के एक ही उत्स की दो धाराएँ हैं। वह उत्स है मानवता से अपार प्यार। वह मानवता के उन्नयन के लिए ही भूमि और आकाश—दोनों का सहारा लेता है। यह सच है कि १९१६ से '४० तक की रचनाओं में आत्मनिष्ठ वृत्तियों की प्रमुखता रही है और '४० से अबतक की रचनाओं में सामाजिक प्रवृत्तियों की। किंतु उन्होंने पंचवर्षीय अथवा पंत्रसूत्रीय योजना बनाकर ऐसी विभक्त वृत्तियाँ कदापि व्यक्त नहीं की हैं। यह उनकी सहज वृत्ति-व्यक्ति है। युद्ध की पृष्ठभूमि में कहा जाय तो यह कहना होगा कि प्रथम महायुद्ध ने उन्हें दार्शनिक दृष्टि दी थी और द्वितीय ने सामाजिक दृष्टिकोण। यह अंतर्विरोध नहीं, वृत्ति-समुच्चय है। मानवता को केंद्रित कर जड़-चेतन वादों का कंठाश्लेष है।

पराजय और पलायन के चिह्न निराला में नहीं हैं, इसका कारण उनका अपने ऊपर अखंड विश्वास, फिर जनता की शक्तियों पर अटूट आस्था है। परिस्थितियों से घबराकर भागो नहीं, उनका डटकर (शरीर और आत्मा दोनों से) मुकाबला करो, निराला की कविता में यह भाव सर्वत्र व्याप्त है—

खींचे बगैर नभ से झरता नहीं शिशिर-कण;
तेल, आँच जब न खाया निकला कब आँवले से ?

× × ×

आँख से आँख मिलाओ, उनका डर छोड़ो !

× × ×

राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जबतक न कर
चन मत ले, गैर को बरबाद तू जबतक न कर।

'पास ही रे हीरे की खान' आदि दार्शनिक गीत भी ऐसे ही हैं। इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग का युद्ध-चित्र प्रस्तुत करते हुए निराला ने जहाँ भौतिकवाद के अमंगल स्वरूप पर प्रकाश डाला है[1] वहाँ भी उनका दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी नहीं है अन्यथा 'रोक रहजन को प्रगति का, फेर दे, बाधक जो है, दरबदर भटका उसे, मर्याद तू जबतक न कर' वह क्यों लिखते ? इसलिए यहाँ श्री विश्वंभरनाथ उपाध्याय के शब्दों को दुहराना आवश्यक है, इनसे आपाततः परस्पर-विरोधी प्रतीत होने-वाले निराला के अनेक स्तरों का सामंजस्य संकेतित होता है—'निरालाजी पर विवेकानंदजी द्वारा लिए वेदांत के उपनिषद् आधार का प्रभाव अधिक है, शंकर का कम, क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञान के लिए उतना नहीं है जितना समाज के लिए है; शंकर में निरपेक्षतावाद अधिक है जबकि निराला में ज्ञान की सापेक्षता अधिक पाई जाती है। शाश्वत ब्रह्म-आत्मा की अनुभूति अस्थिर मायामय जगत् के विरुद्ध नहीं पड़ती है और जब मानवता की मुक्ति का अंतर्नाद कवि में प्रबल हो जाता है तो वह अपने सबसे बड़े प्रलोभन —अपवर्ग और अधिवास को भी छोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, यद्यपि उसका विश्वास यही है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य नदी के समान उसी चेतना-सागर में मिल जाना है ताकि पुनः इन बंधनों में न पड़ना पड़े।

१. आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने-जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष्य में मानव के, जल, स्थल, अंबर
रेल-तार-बिजली, जहाज, नभयानों में भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्ग-गण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।
—अणिमा : भगवान बुद्ध के प्रति

अर्थात् कवि जन्म-मरण के बंधनों से मिलनेवाली मुक्ति को टाल सकता है; किंतु जन-जीवन की विषमता, पीड़ा, दुःख, दीनता को सहन नहीं कर सकता।

इसीलिए निराला अद्वैतवादी भी हैं, द्वैतवादी भी; भक्त भी और ज्ञानी भी; पुनरुत्थानवादी भी और क्रांति-कारी भी, लौह-प्रहार तथा ललकार भी और आत्म-पर-मात्म-मिलन की मधुर झंकार भी। वह वैयक्तिक अनु-भूतियों के स्वर्ग में विचरनेवाला मुक्त विहग भी है और पतनोन्मुख रूढ़िप्रिय संस्कृति की विहग-बालिक के लिए भयंकर बाज भी; उसमें लौकिक प्रेम की ललक भी है और आध्यात्मिक भूमि पर अनुभूत आत्मपुलक भी; निराला विरोधों का स्वयं सामंजस्य और सामंजस्यों का विरोध है। अतः अंतर्विरोधों को देखकर जो समझते हैं कि निराला किसी एक विचार-दर्शन का कवि नहीं—एक निश्चित विचार-सरणि का स्रष्टा नहीं, वे सोचने से इन्कार करते हैं।'

काल-क्रम से 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन 'अणिमा' से पहले हुआ था। आजतक की निराला की काव्य-साधना को यदि दो भागों में विभक्त करें तो 'जुही की कली' से प्रथम भाग का प्रारंभ माना जायगा और 'कुकुरमुत्ता' से द्वितीय भाग का। इस समय तक भाषा और भाव के क्षेत्र में विश्व-साहित्य में नई-नई उत्क्रान्तियाँ होने लगी थीं, प्रबुद्ध निराला का काव्य भला कैसे अछूता रह जाता ? प्राचीन संस्कारों की दीवारें ढहकर 'कुकुरमुत्ता' में समतल बन गई हैं। वेला और नए पत्ते में कवि का जो जनवादी रूप प्रकट हुआ है, उसे आँकने के लिए 'कुकुरमुत्ता' को परिपाटी की पाटी धो-पोंछकर साफ करनी पड़ी है। 'कुकुर-मुत्ता' असंस्कृत सामान्य का प्रतीक है जो अपने चारों ओर के स्वाभाविक प्राकृत वातावरण से बल लेकर विकास को प्राप्त होता है। कुकुरमुत्ते की कलम नहीं लगाई जाती, वह उगाया नहीं जाता। इसी तरह सामान्य मानवता स्वतः विकसित चीज है। वह नकद है, उधार नहीं।[1]

'कुकुरमुत्ता को निरालाजी ने दीन-हीन-शोषित जनता का प्रतीक माना है और गुलाब को शोषक अभि-जातवर्ग का। इस रूपक में परंपरागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्दचित्र आदि सब विलीन हो गए हैं और

१—डा० भटनागर

एक नई कला का जन्म हुआ है। यह कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है, उसमें रूप, गंध, रस आदि की कमी है, वह भावों की सुकुमारता में नहीं गुदगुदाती, पाठकों को सोचने के लिए विवश करती है। 'कुकुरमुत्ता' के समान ही उसकी एक सामाजिक उपादेयता है।'[२]

'कुकुरमुत्ता' के व्यंग्य के व्याख्याकारों में ऐकमत्य नहीं है। एक विविधता मैंने भी जोड़ दी है। मैंने 'मित्र के प्रति' कविता का ही दूसरा रूप 'कुकुरमुत्ता' को बताया है। तदनुसार 'कुकुरमुत्ता' स्वयं कवि का प्रतीक सिद्ध होता है। 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक हिंदी की, एक ऐतिहासिक (मूल्य रखनेवाली) कविता है।

'बेला' के आधे गीत गीतिका की शैली और कोटि के हैं। अवश्य इनमें गीतिका का रस नहीं है। रहस्यानुभूति अधिक दुरूह हो गई है—जिसका अर्थ यह है कि कवि की मानसिक ग्रंथियाँ क्रमशः जटिल होती गई हैं; किंतु शेष आधे गीतों (गजलों) में, इसके विपरीत, प्रांजलता अधिक है जब भी ये नई गढ़न की चीजें हैं—व्यंगों की चुभन, अभिव्यक्तियों का नुकीलापन, अलग-अलग बहरों की गजलों में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग, सब-कुछ नवीनता लिए हुए।

वेला में परिमार्जना दिखती है, कुकुरमुत्ता का अनगढ़पन यहाँ नहीं। निराला के सफलतम गीतों में से कुछेक—

रूप की धारा के उस पार कभी धँसने भी दोगे मुझे ?

× × ×

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में आते हो, जाते हो !

× × ×

हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन।

—'वेला' की ही देन हैं। ऐसे हीं सन् '४२ की जनता की कुंठाओं का चित्रण कजली और लोकगीतों की तर्ज से अत्यधिक प्रभावोत्पादक हुआ है। वस्तु-विस्तार के साथ नई शैली की स्वस्थ चित्ररेखा 'वेला' में मिलती है। यह कहना तो पिष्टपेषण ही होगा कि नई कविता के लिए नई राह निकाले बिना निराला का कोई काव्य-संग्रह नहीं निकला फिर यह 'वेला' तो युग-संधि-वेला की प्रतिनिधि रचना है।

'नए पत्ते' में 'कुकुरमुत्ता' के '४२ वाले संस्करण की सारी रचनाएँ आ गई हैं, जिनमें 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्स' आदि रचनाएँ उत्कृष्ट व्यंग्य-विनोद के लिए सुप्रसिद्ध हैं। 'देवी सरस्वती' संग्रह की एक विशिष्ट कला-कृति है। 'कैलास में शरत्' अवचेतन मन की अद्भुत देन है। 'स्फटिक-शिला' अपने 'चरम विंदु' के लिए चर्चा में आई है, किंतु भावना की उठान और आकस्मिक मोड़ के कारण वह रस और मनोविज्ञान की द्वंद्वात्मक भूमि पर खड़ी अकेली कला-कृति है। शेष रचनाएँ जनवादी काव्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अध्यात्मवाद और समाजवाद के समन्वय की दिशा में 'अर्चना' निराला का नूतन अभियान है। यहाँ व्यक्ति और अभिव्यक्ति, आदर्श और यथार्थ, वस्तु और रहस्य का सहज मिलन हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के साँचे में ढला हुआ मिलन नहीं, पुस्तकीय ज्ञान के मकड़ी-जाल से ढँका हुआ मिलन नहीं, मानवता के विराट और व्यापक विकास के क्रम में जीवनानुभूतियों का बंधु-भाव से मिलन। ऐसा लहर का लहर से संबंध-बंधन अनुभूतिप्रवण जीवन की अगाधता का निदर्शन है।

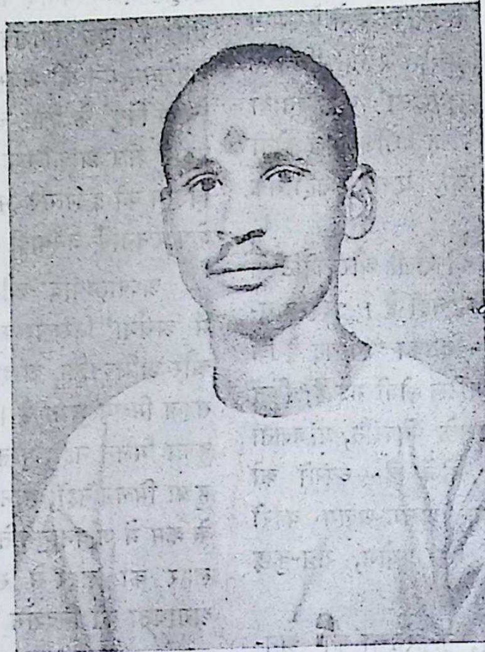
एक महाकाव्य को नाना चरित्रों के माध्यम से महाकवि अपनी भावना-तरंगों का चेतना-समुद्र बनाता है। शताब्दियों की परंपरा से पाठक वैसे समस्त भावावेगों का एकायन करता आ रहा है। मूर्त्त पात्रों का माध्यम वहाँ एक बार भी अंतर्विरोध की शंका नहीं उत्पन्न करता। क्योंकि शंका से भी पहले वहाँ समाधान मिलता आ रहा है। इलियड और आडेसी, रामायण और महाभारत—सबमें अनुस्यूति है, तारतम्य है, केवल निराला के गीतों में—परिमल से अर्चना तक के स्वरों के संगीतात्मक आरोह-अवरोह की संगति समझ में नहीं आती; इसका कारण गीतिकवि के पात्रस्थानीय बहुविध भावों से परंपरित परिचय का अभाव नहीं तो और क्या हो सकता है?

व्यष्टि निराला लघु-लघु गीतों की समष्टि नहीं, जीवन की संपूर्णता की अनुभूति के रस-भावों से भरा महाभारत-सा महाकाव्य है।

२—प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त

विंध्य-प्रदेश की राजधानी—रीवा

श्री रामसागर शास्त्री



रीवा विंध्य-प्रदेश की राजधानी है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि विंध्य-प्रदेश बघेलखंड एवं बुंदेलखंड की छोटी-बड़ी ३५ रियासतों का एक संघ है। इसकी आबादी करीब ३६ लाख, क्षेत्रफल २२८६७ वर्ग-मील और आय लगभग ३ करोड़ है। उपर्युक्त ३५ रियासतों में सबसे बड़ी रीवा रियासत ही थी अर्थात् ३४ रियासतों के बराबर थी। उसी बड़ी रियासत की राजधानी होने का गौरव १७ वीं शताब्दी के आरंभ से रीवा को प्राप्त हुआ था और आज प्रजातंत्रीय शासनकाल में भी वही गौरवपूर्ण स्थान मिला हुआ है।

प्राचीन नामावली

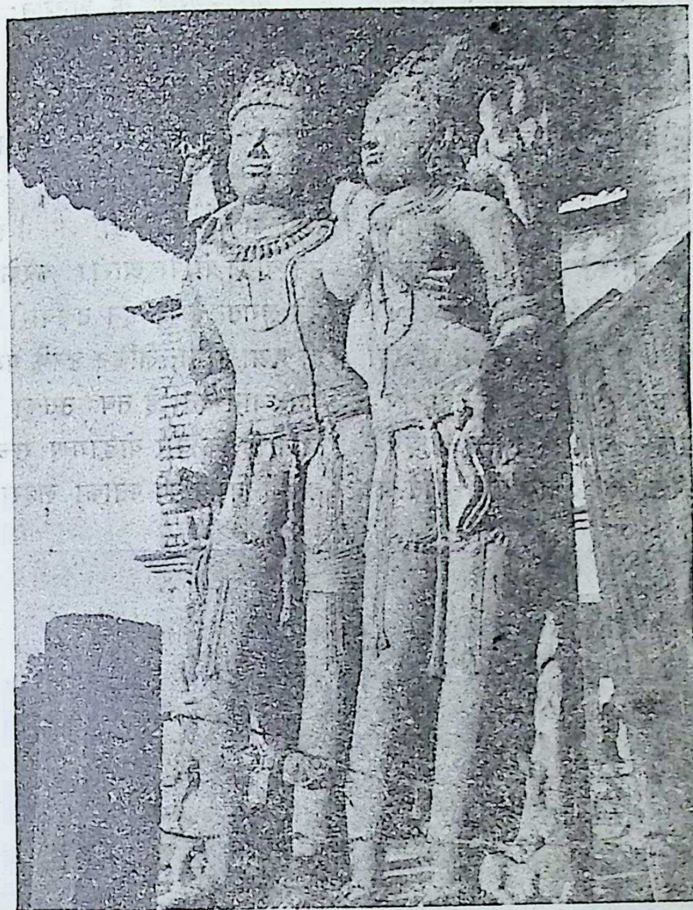
रीवा रियासत 'बघेलखंड' के नाम से भी संबोधित होती है। इसका अलग इतिहास है। यह भू-भाग तेरहवीं शताब्दी से बघेलों द्वारा शासित होने लगा और निरंतर गणराज्य बनने तक होता रहा। मुगल इतिहासकारों ने बघेलखंड का कहीं उल्लेख नहीं किया है, बल्कि बघेल राजाओं को 'भटा' या 'पन्ना-नरेश' करके लिखा है। इस संबंध में 'रीवा-राज्य-दर्पण' के विद्वान लेखक श्री जातन सिंह ने लिखा है—'पारसी अक्षरों में पन्ना और भटा प्रायः एक ही प्रकार लिखे जाते हैं। अतएव संभव है कि पारसी अक्षरों के लेख-दोष से ही 'भटा' शब्द बिगड़कर 'पन्ना' बन गया हो!' यद्यपि प्राचीन काल में वर्तमान पन्ना का बहुत-सा भाग बघेलों के शासन में था, फिर भी यह भू-भाग 'भटा-प्रदेश' क्यों कहलाता था, इसके प्रमाण में अभी तक कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। किंतु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रतापी नरेश वीरसिंह तथा महाराज रामचंद्र की दानवीरता, उदारता, साहित्य, संगीत और कला की सेवा से ही बघेलों की ख्याति बढ़ी और उनके द्वारा शासित प्रदेश बघेलखंड के नाम से संबोधित होने लगा।

'रीवा' नाम पड़ने के संबंध में पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त और कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिले हैं। भारतवर्ष की महान पुण्यतम नदियों में विंध्य-भूमि से निकलनेवाली नर्मदा की भी गणना है और उसके अनेक नामों में से एक 'रेवा' भी नाम है। रीवा नामकरण विद्वानों ने 'रेवा' से ही माना है। स्कंदपुराण में इस प्रदेश का 'रेवाखंड' नाम से विस्तृत वर्णन किया गया है। अतएव इस प्रदेश की राजधानी को 'रेवा' की राजधानी कहा गया जो क्रमशः बिगड़ते-बिगड़ते 'रीवा' हो गया। ग्रामीण अपढ़ जनता आज भी 'रीवा' न कहकर 'रीमा' कहती है। अतः 'रेवा' से 'रीवा' हो जाना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी असंभव नहीं। तात्पर्य यह कि इस प्रदेश की राजधानी का नामकरण पुण्यसलिला नर्मदा से ही संबद्ध है और 'रेवा' शब्द ही अपभ्रंश रूप में 'रीवा' हो गया है।

बघेल शासकों का संक्षिप्त विवरण

बघेल सोलंकी अर्थात् चालुक्य वंश के क्षत्रिय हैं। इनकी उत्पत्ति की कथा बड़ी ही रोचक है। बघेलों के कथनानुसार वीर धवल का पुत्र व्याघ्रदेव सन् १२३८ के आस-पास गुजरात से उत्तर भारत की यात्रा करने आया

और उसने ही कलिंजर के पूर्वोत्तर १८ मील की दूरी पर 'मड़फा' दुर्ग पर अधिकार कर लिया। वर्तमान प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के अनुसार यह निर्विवाद है कि महाराज व्याघ्रदेव ने गुजरात से आकर सबसे पहले 'मड़फा' दुर्ग पर अधिकार किया था। यहीं से बघेल शासकों का इस प्रदेश में शासन-सूत्र आरंभ होता है। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक अर्थात् सवा तीन सौ वर्ष तक बघेलों ने बघेलखंड के प्रसिद्ध एवं प्राचीन दुर्ग बांधवगढ़ पर शासन किया। आरंभिक १३ शासकों के नाम तो मिलते हैं, किंतु अन्य विवरण नहीं मिलता। शेष राजाओं में महाराज वीरसिंह और महाराज रामचंद्र बड़े ही यशस्वी नरेश हुए हैं। महाराज वीरसिंह बड़े उदार तथा धार्मिक प्रवृत्ति के शासक थे। उन्होंने सतना से उत्तर करीब ११ मील की दूरी पर प्रसिद्ध गैवीनाथ का मंदिर, सुरम्य सरोवर तथा विशाल बाग तैयार कराया था जिसके स्मृति-चिह्न आज भी विद्यमान हैं। और महाराज वीरसिंह के नाम पर विरसिंहपुर नामक बाजार भी बस गया है। महाराज रामचंद्र साहित्य, संगीत और कला के उपासक थे। उन्होंने रहीम के एक दोहे पर एक लाख रुपया दिया था और रास्ता चलते गायकाचार्य तानसेन को बुलाकर राज-संमान भी दिया था। इस प्रकार न जाने कितने कलाकारों ने महाराज रामचंद्र के शासन-काल में संमान पाया।



आश्चर्य-गृह के सामने स्थित हर-गौरी

बघेलवंश के २२ वें राजा विक्रमादित्य की अल्पायु में ही उनके पिता का देहांत हो गया। इस कारण दरबारी सरदारों एवं राजपूतों में आपसी झगड़े होने लगे। फलस्वरूप बांधवगढ़ बघेलों से छूट गया। इससे जनता को बड़ा धक्का लगा जो निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है।

'बांधौ छूट बघैली, देश भया तुरकान।
बिटिया ह्वै कै जन्मते, तुम हे जमुनी भान।।

अर्थात् बांधवगढ़ का किला छूट गया, देश पर मुसलमानों का शासन हो गया। हे जमुनी भान (सरदारों का नायक), तुममें यदि किला की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं थी तो लड़की होते! सन् १५६६ से १६०२ तक (४ वर्ष) बांधवगढ़ का प्रबंध दिल्लीश्वर के हाथ में रहा। इसके बाद राजा विक्रमादित्य को उनका पूरा राज्य लौटा दिया गया। उपर्युक्त '४ वर्ष की अवधि में राजा विक्रमादित्य को भी दिल्ली में ही रहना पड़ा। इसके बाद वे बांधवगढ़ नहीं गए और रीवा आकर नए किले का श्रीगणेश किया। १६१८ ई० तक रीवा के किले का निर्माण हो गया।

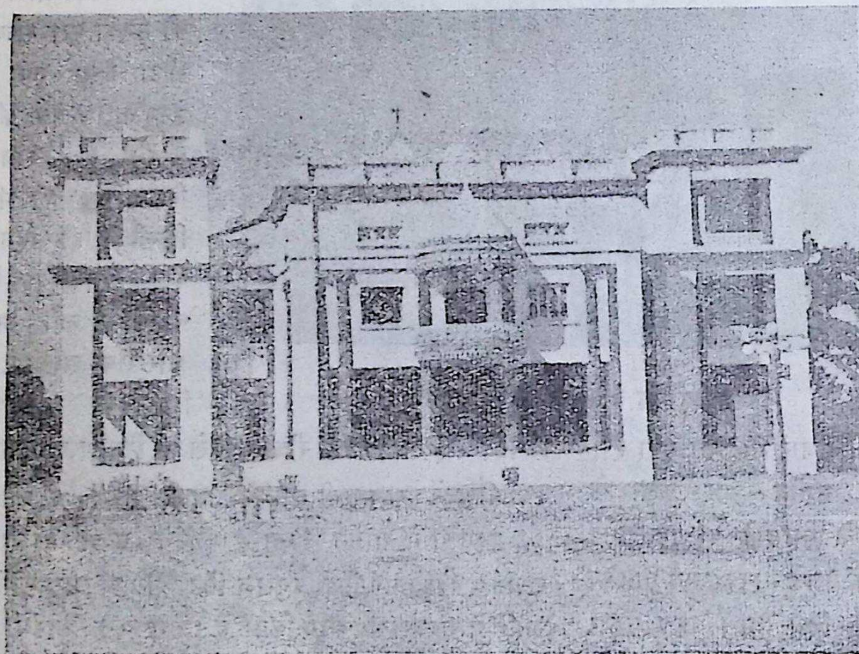
रीवा में राजधानी स्थापित होने से लेकर आजतक १३ शासकों ने शासन किया है जिनमें सर्वश्री महाराज जयसिंह, विश्वनाथ सिंह, रघुराज सिंह और व्यंकटरमणसिंह आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उपर्युक्त आरंभ के तीनों नरेशों ने हिंदी-साहित्य की बड़ी सेवा की है। इनके लगभग १०० ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं।

रीवा नगर के दर्शनीय स्थानों का विवरण इस प्रकार है—

आश्चर्यगृह—वेंकट-विद्या-सदन

पुराने लारी-स्टैंड से नगर की ओर प्रवेश करते हैं। करीब सौ कदम पर बाईं ओर हर-गौरी की दीर्घकाय मूर्त्तियों के दर्शन होते हैं। ठीक उसके पीछे वेंकट-विद्या-सदन है। ऊपर पुस्तकालय है और नीचे आश्चर्य-गृह। बरामदे में भी बड़ी-बड़ी प्राचीन मूर्तियाँ रखी हुई हैं। साथ ही ८-८ फीट लंबी शिलाओं पर अंकित प्राचीन लिपियों के दर्शन होते हैं। सामान्य व्यक्ति सैकड़ों वर्ष पूर्व की लिपियों पर कोई ध्यान न देकर तुरंत आश्चर्य-गृह में प्रवेश कर जाता है; किंतु पुरातत्त्व के विशेषज्ञ प्रत्येक शिला पर अंकित लेखों को पढ़कर एवं आवश्यक बातें नोट कर लेने के बाद ही आगे बढ़ता है। सर्वप्रथम मुझे आश्चर्यगृह में प्रवेश करने का अवसर पुरातत्त्व के विद्वान लेखक श्री मुनिकांतिसागरजी के साथ सन् १९५१ में प्राप्त हुआ। यद्यपि सन् ४७ से ही मैं रीवा में रह रहा था और जब-तब आश्चर्य-गृह की प्रशंसा भी सुनता रहा। श्री मुनिकांतिसागरजी लगातार चार दिनों तक आश्चर्य-गृह में गए और उसमें रखी हुई एक-एक मूर्ति का निरीक्षण किया। उन्होंने अपने 'खँड़हरों का वैभव' ग्रंथ में लिखा है—'उपर्युक्त सदन साधारणतः पुरातन अवशेषों का केंद्र बन गया है। इसमें कई ताम्रपत्र, शिलोत्कीर्णित लेख, प्राचीन मूर्तियाँ, कुछ हस्तलिखित ग्रंथ एवं शस्त्रास्त्रों का अच्छा संग्रह है। जैन मूर्तियों की संख्या भी पर्याप्त है।' निःसंदेह पुरातत्त्व की जितनी सामग्री इस छोटे-से आश्चर्यगृह में संगृहीत हैं उतनी बड़े-बड़े आश्चर्यगृहों में भी शायद न मिल सकेंगी।

आश्चर्यगृह के अंतर्गत पुरातत्त्व के अतिरिक्त रीवा के भूतपूर्व नरेशों के अस्त्र-शस्त्र भी संगृहीत हैं। महाराज विश्वनाथसिंहजी की तलवार जिसे वे स्वयं चलाते थे, देखकर दंग रह जाना स्वाभाविक है। उसका वजन निश्चय ही कई सेर होगा। आज के सामान्य व्यक्ति के लिए तो वह भार-सी लगती है। अपनी निर्बलता का उन योद्धाओं पर आरोप करके जब दर्शक सोचता है तब उसे लगता है कि इन तलवारों का निर्माण केवल दर्शनार्थ ही हुआ होगा; लेकिन उनके पराक्रम एवं साहस की ओर जब ध्यान देता है तब उसका विश्वास दृढ़ से दृढ़तर हो जाता है कि वीर योद्धागण सचमुच इन शस्त्रास्त्रों द्वारा अपनी विजय की पताका लहराते रहे होंगे।

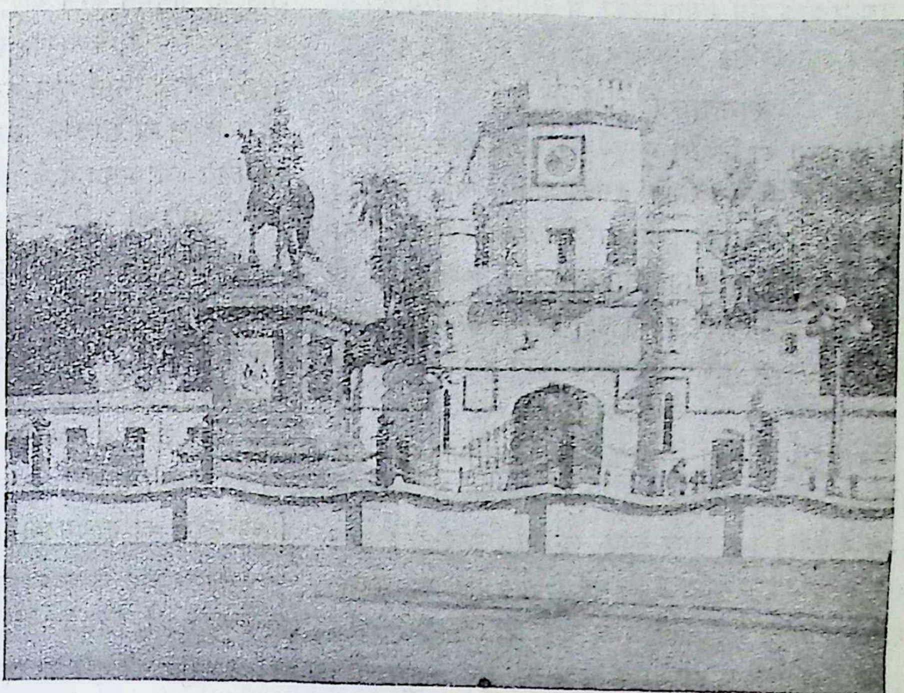

विधान-सभा-भवन

आश्चर्यगृह में अपनी विशेषताएँ लिए हुए कुछ शीशे भी हैं जिनमें दर्शक अपना प्रतिबिंब देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। किसी में लंबी, किसी में चौड़ी और किसी में गोल छाया दिखाई देती है। आश्चर्य-गृह के अंतर्गत ऐसे शीशे हैं जो दर्शकों को हँसाये बिना नहीं रहते। चाहे जिस प्रकृति का व्यक्ति हो, लेकिन शीशे की विचित्रता में दंग रह जाता है। सामान्यतया छोटे-से अजायबघर में इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री

के संगृहीत होने की कमी आशा नहीं की जा सकती।

बैजू की धर्मशाला

अजायबघर से पूर्व रीवा-निवासी प्रसिद्ध सेठ रामसहाय बैजनाथप्रसाद की बनवाई हुई एक बड़ी धर्मशाला है जिसमें लगभग १०० कमरे हैं। अगल-बगल दो शिवमंदिर हैं। ईशान कोण में हाते के अंदर ही एक बड़ा कुआँ है। इस धर्मशाला-जैसी मजबूत एवं सुंदर धर्मशाला प्रदेश में तो नहीं ही है, साथ ही समीपवर्त्ती प्रदेशों में भी, कम-से-कम लेखक के जानते, नहीं है। राजकीय भवनों के अतिरिक्त व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक इमारतों में बैजू की धर्मशाला सर्वोत्कृष्ट है।



सचिवालय का प्रवेश-द्वार तथा रीवा-नरेश महाराज वेंकटरमण सिंह का स्टैचू

मेमोरियल हॉल—विधानसभा-भवन

धर्मशाले से दो फर्लांग की दूरी पर उजैनिन महारानी साहिबा मेमोरियल हॉल है। इसका निर्माण भूतपूर्व स्वर्गीय रीवा-नरेश महाराज गुलाब सिंह ने अपनी उजैनिन मा साहिबा के नाम पर सन् १९३८ में कराया था। उस समय राज-दरबार के लिए कोई बड़ा भवन नहीं था। इसलिए दशहरा-दरबार में बड़ी असुविधा होती थी। रीवा के समस्त सरदार एक साथ एक भवन में नहीं बैठ सकते थे; क्योंकि रीवा राज्य के समस्त पवाईदार अपने पयादों के साथ दशहरा के दरबार में सम्मिलित होते थे और राजा को नजर न्योछावर (भेंटस्वरूप रुपये) करते थे। सबसे पहले इस भवन में सिनेमा के कई खेल हुए। इसके बाद दशहरे के समय केवल दो दिन राज-दरबार होता था और बाकी दिनों में बंद रहता था। जब कभी कोई सार्वजनिक उत्सव-समारोह हो तो राजकीय आज्ञा से आम जनता को भी यह भव्य भवन मिल जाता था। मध्य के हॉल को छोड़कर अगल-बगल के कमरों में कुछ दिनों के लिए खाद्य एवं वस्तु-वितरण-विभाग का आफिस था। विंध्यप्रदेश बनने पर राजप्रमुख एवं समस्त नरेश ने इसी भवन में शपथ-ग्रहण किया था। इस समय राज्य की विधानसभा इसी भवन में बैठती है। अगल-बगल के कमरों में उसीका कार्यालय है। परिधि की दीवालों पर झूमती हुई लताएँ बड़ी आकर्षक लगती हैं। इस भवन के मध्य का हॉल १०० फीट लंबा और ६० फीट चौड़ा है। इस लंबाई-चौड़ाई के बीच खंभे नहीं हैं।

स्टैचू तथा चौहट्टा

विधानसभा के सामने पूर्व की ओर पद्मधर पार्क तथा गंगावाटिका है और इन दोनों के मध्य में रामबाग (छोटी कोठी) के मुख्य द्वार पर दक्षिणाभिमुख चलते हुए घोड़े पर भूतपूर्व महाराजा वीर वेंकटरमण सिंह की अष्टधातु की प्रतिमा है। मूर्ति-निर्माता ने इतनी सजीव भाव-भंगिमाएँ चित्रित की हैं कि देख-देखकर ऐसा लगता है, मानों, घोड़ा अभी भागना चाहता है। महाराजा के अनेक भक्त दूर-दूर से आकर प्रतिदिन दर्शन करते हैं। प्रत्येक शनिवार को सायंकाल फूल-माला पहनाई जाती है और गंगावाटिका में राजकीय बैंड-मंडली एक घंटे तक बाजा बजाती है। साथ ही सायंकाल में रेडियो

पर पद्मधर-पार्क एवं गंगावाटिका में स्थानीय संस्थाओं के सामान्य तथा विशिष्ट अधिवेशन भी होते रहते हैं।

रामबाग (छोटी कोटी)

रामबाग का निर्माण भूतपूर्व महाराजा वेंकटरमण सिंह ने कराया था। उस समय इसकी शोभा अद्वितीय थी। चारों ओर पहरा रहता था। सहसा कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। सिर पर साफा होना आवश्यक था; बिना साफा के कोई भी कोठी के अंदर प्रवश नहीं पा सकता था। आज भी मुख्य द्वार पर पुलिस का पहरा रहता है।

वेंकट-भवन

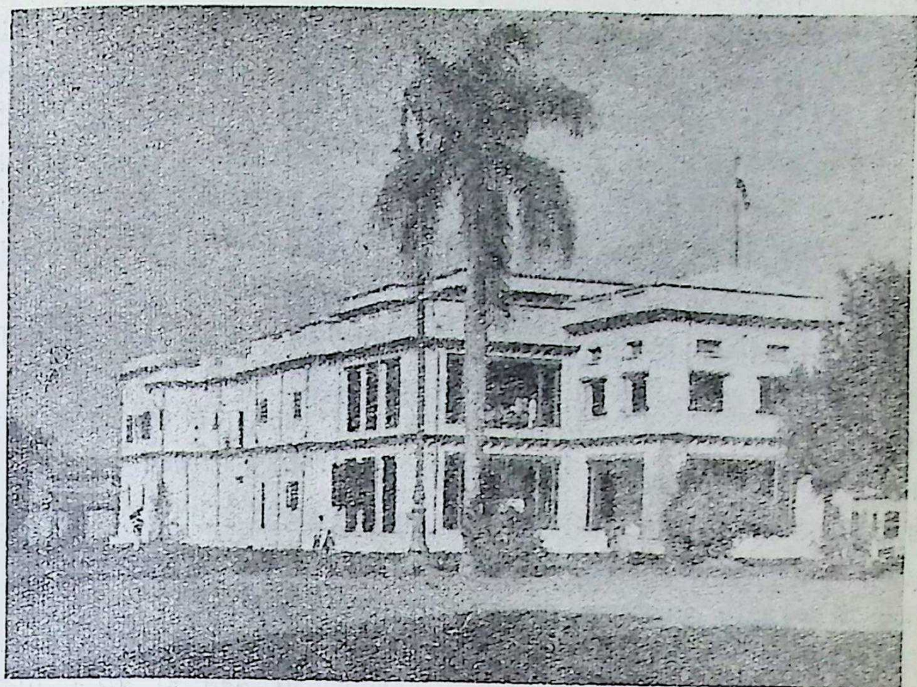
रामबाग के मध्य में बना हुआ वेंकट-भवन रवा-नगर की इमारतों में सर्वोत्कृष्ट है। इसके निर्माण में सस्ती के समय में करीब ३३ लाख रुपए लगे थे। ऊपर-नीचे बरामदों के अतिरिक्त आठ बड़े कमरे हैं और बीच में गोलाकार बड़ा मंडप है। उसके ठीक नीचे, कुर्सी से करीब पाँच फुट गहराई लिए हुए एक कुंड-सा बना हुआ है। उसके मध्य में करीब १० फुट की लंबाई-चौड़ाई में एक चबूतरा है। दक्षिण के कमरे से चबूतरे तक जाने को पुल बना हुआ है। गर्मी के दिनों में कुंड में पानी भर दिया जाता था और चबूतरे पर बैठकर महाराजा वेंकटरमण सिंह शीत का अनुभव करते थे। ऊपर मंडप में राजदरबार होता था। यहीं कवि, कलाकार अपनी प्रतिभा का परिचय देते थे और राजसंमान प्राप्त कर अपने को धन्य मानते थे। प्रदेश के मुख्य शासक अर्थात् उपराज्यपाल महोदय का कार्यालय इसी भवन में है। समय-समय पर प्रतिष्ठित नेताओं एवं विद्वानों को इसी भव्य भवन में ठहराया जाता है। वेंकट-भवन की बनावट बहुत ही सुंदर है। उसके रंग-बिरंगे बेल-बूटे शीशे के बनाए गए हैं। पलास्तर इतनी चिकनी लगी है कि उसमें शीशे के समान मुख देखा जा सकता है। जहाँ-तहाँ जो मरम्मत हुई है वह स्पष्ट मालूम हो जाती है, क्योंकि पूर्व-जैसी चिकनाहट मरम्मत की हुई जगहों में नहीं आ सकी है। वस्तुतः वेंकट-भवन विंध्य-प्रदेश का ताजमहल है।

वेंकट-भवन के अग्निकोण में करीब १०० फुट की दूरी पर गोलाघर है जिसके नीचे पानी भरा रहता है। गोलाघर से १०० फुट की दूरी पर एक बावली है। गोलाघर और बावली के बीच आन-जाने के लिए नीचे-ही-नीचे मार्ग बना हुआ है। बीच-बीच में रोशनदान बने हुए हैं। वेंकट-भवन की दक्षिण दिशा में एक छोटा-सा पोखरा है जिसमें पहले सदा पानी भरा रहता था; किंतु अब फाल्गुन के बाद यह सूख जाता ह। ऊपर से पानी भरने का वर्तमान समय में कोई प्रबंध नहीं है। पानी भरा होने पर यह पोखरा बहुत ही अच्छा लगता है।



वेंकट-भवन के पूर्व की ओर एक और गोलाघर नाम की बड़ी इमारत है जिसमें पुलिस, रेवेन्यू बोर्ड तथा सूचना एवं सुधार आदि कई विभाग के कार्यालय हैं। इसके ठीक उत्तर सचिवालय है जिसे छोटी कोठी के नाम से संबोधित किया जाता है। इसमें सचिवालय के विभिन्न विभागों के

कार्यालय हैं। साथ ही मंत्रियों का कार्यालय भी इसी इमारत में है। पूर्व में हाईकोर्ट है। अगल-बगल और भी विभिन्न विभागों के कार्यालय हैं।



सचिवालय

स्वागत-भवन

कोठी के ठीक अग्नि-कोण में स्वागत-भवन है। इसमें राज्य के मेहमान ठहराए जाते हैं। विधान-सभा के सदस्यों के ठहरने का प्रबंध भी उसी भवन में है। राज्य के मेहमानों के अतिरिक्त कोई भी धनी-मानी, सेठ-साहूकार ठहर सकते हैं। धर्मशाले के बाद ठहरने के लिए यही भवन सबसे उत्तम है। भोजनादि की व्यवस्था अनुकूल रहती है।

किला

स्टैचू (चौहट्टा) से ठीक दक्षिण करीब एक मील की दूरी पर एक प्रसिद्ध किला है। सर्वप्रथम मछरिहा फाटक पड़ता है जिसके ऊपर दो मछलियों के चित्र बने हैं। तीन-चार मकानों के बाद वेंकट-संस्कृत-कालेज है जिसमें व्याकरण, साहित्य, न्याय, ज्योतिष तथा वेदों की पढ़ाई होती है। करीब दो फर्लांग आगे बढ़ने पर किले में प्रवेश का द्वार मिलता है जिसमें पुलिस सिपाहियों का सदा पहरा रहता है। आज भी कोई आदमी बिना टोपी, साफा या सिर पर रूमाल रखे, खुले सिर इस द्वार के अंदर प्रवेश नहीं कर सकता। ऊँचे द्वार के अगल-बगल दो तोपें लगी हुई हैं। ऊपर ड्योढ़ी पर प्रतिदिन प्रातःकाल महाराजा को जगाने के लिए शहनाई बजाई जाती है। सामने सरस्वती-भंडार है—अनेक हस्तलिखित एवं मुद्रित पुस्तकों का अपूर्व संग्रह। संबद्ध अधिकारियों की आज्ञा से जिज्ञासु सरस्वती-भंडार में बैठकर लाभ उठा सकते हैं। भंडार के बाहर पुस्तकें ले जाने की अनुमति किसी प्रकार नहीं दी जा सकती; क्योंकि बहुत-से ऐसे ग्रंथ हैं जो अप्राप्य हैं, कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकते। इसलिए वर्तमान महाराजा की ओर से आज्ञा है कि कोई भी ग्रंथ, किसी भी दशा में, भंडार के बाहर नहीं ले जाया जा सकता; किंतु भंडार में आसानी से देखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार उसकी प्रतिलिपि भी की जा सकती है।

इसके ऊपर लहराता हुआ केशरिया ध्वज रीवा की कीर्ति का स्मरण करा रहा है। रीवा रियासत के राजचिह्न में लड़ते हुए दो सिंहों के चित्र हैं जिसके नीचे लिखा हुआ है—'मृगेन्द्रप्रतिद्वन्द्वितामा प्रयात' अर्थात् सिंह का प्रतिद्वंद्वी मत बनो।

राघवमहल

इस महल का निर्माण यशस्वी नरेश महाराज रघुराज सिंह ने कराया था। उन्होंने राघवमहल-नामक दो भवनों का निर्माण कराया है। एक रीवा किले के अंतर्गत और दूसरा गोविंदगढ़ सरोवर के किनारे। दोनों विंध्य-प्रदेश के भव्य भवनों में से हैं। किले के राघवमहल में राज्य का सिंहासन है जिसे 'बांधवगद्दी' के नाम से संबोधित किया जाता है। रीवा-नरेशों का राज्याभिषेक इसी भवन में होता है। दशहरे के दिन यह महल सभी के दर्शनार्थ खुला रहता है। अन्य दिनों में अधिकारी की अनुमति से देखा जा

सकता है। बघेलखंड के निवासी जो जगन्नाथपुरी की यात्रा करते हैं, वे लौटकर रीवा-नरेश और बांधवगद्दी का भी दर्शन अवश्य करते हैं। उनका कहना है कि जबतक बांधवगद्दी का दर्शन नहीं किया जाता तबतक जगन्नाथपुरी-यात्रा का फल नहीं मिलता। ऐसे यात्रियों को गद्दी की पूजा के लिए तुरत अनुमति मिल जाती है। वे नारियल, बताशे और पुरी से लाये हुए पट, बेंत एवं दक्षिणा भी चढ़ाते हैं।

किले के विविध मंदिर

किले के अंतर्गत राजाधिराज, महामृत्युंजय तथा जगन्नाथजी आदि अनेक देवताओं के मंदिर बने हुए हैं जिनमें अधिकांश महाराज रघुराजसिंहजूदेव के ही बनवाए हुए हैं। सैकड़ों दर्शनार्थी प्रतिदिन दर्शन करने जाते हैं। भगवान मृत्युंजय की मान-मनौती कर भक्तगण अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। मृत्युंजय की दक्षिण दिशा में स्थूलकाय उतराभिमुख गणेशजी की प्रतिमा स्थित है। कहा जाता है कि उसके दर्शन करते ही संपूर्ण बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

बीहर-बिछिया-संगम

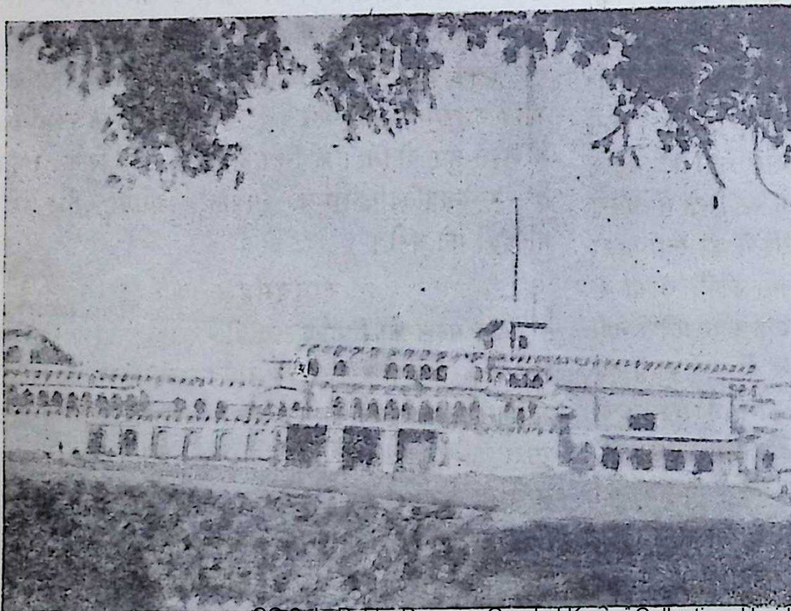
किले के ठीक पीछे बीहर-बिछिया का संगम है। पूर्व की ओर से बिछिया नदी आई है और दक्षिण की ओर सें बीहर। बरसात के दिनों में किले की दीवाल से टकराकर पानी आगे बढ़ता है। संगम से लगा हुआ कुठिलिया जंगल है। जिस स्थान में रीवा नगर बसा हुआ है वहाँ पहले घोर जंगल था जो वस्ती की वृद्धि के साथ-साथ नष्ट कर दिया गया; लेकिन बाद में कुठिलिया का जंगल विशेष तौर से तैयार कराया गया है। संगम से लगा होने के कारण किले के पास प्राकृतिक शोभा दर्शनीय हो जाती है। बरसात के दिनों में संगम का दृश्य बहुत ही मनोहर रहता है।

पुतरिहा दरवाजा

किले के पूर्वीय द्वार को पुतरिहा दरवाजा कहते हैं, जो पुरातत्त्व की दृष्टि से विंध्य-प्रदेश के लिए ही नहीं, अपितु भारतवर्ष के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। 'गोरगो' के टूटे-फूटे पत्थरों को जोड़-तोड़कर इसका निर्माण कराया गया है। तोरण में बैठी हुई प्रतिमाओं की विविध भाव-भंगिमाएँ देखकर दर्शक उन कुशल कलाकारों के अद्भुत कर्तृत्व पर बलिहार हो जाता है। सचमुच कठोर पत्थरों पर बहुत ही बारीक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई हैं। इस दरवाजा के दर्शनार्थ दूर-दूर से भी लोग आते हैं और कलाकृति का दर्शन कर अपने को धन्य मानते हैं।

चरणामृती मंदिर (नया जगन्नाथ)

इस मंदिर का निर्माण महाराज वीर वेंकटरमण सिंह ने दरबारी सरदारों के विशेष आग्रह पर कराया था। यद्यपि महाराज वेंकटरमण सिंह बड़े भक्त थे तथापि उनका कहना था कि बाप-दादों के बनवाए हुए मंदिरों की उचित व्यवस्था चलती रहे तो नवीन मंदिर बनवाने से कम महत्त्व नहीं होता। इसीलिए नवीन मंदिर के निर्माण की ओर कम ध्यान देकर उनके प्रबंध की ओर वे अधिक सतर्क रहते थे। इस मंदिर में प्रत्येक एकादशी को रीवा राज्य की संपूर्ण फौज (१० हजार) भगवान का चरणामृत लेने के लिए उपस्थित होती थी। पूरा चौगान भर जाता था। कई घड़े चरणामृत लगता



राघवमहल (किला)

था। दसों पुजारी लगकर चरणामृत बाँटते थे।

लक्ष्मण-बाग

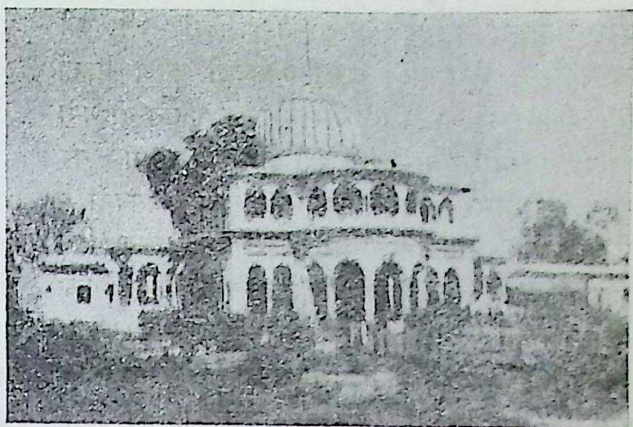
यह रीवा राज्य का गुरु-घराना है, साथ ही राज्य-निवासी जनता का भी। रीवा-नरेशों का जब राज्याभिषेक होता है तब उसी स्थान के महंत करते हैं। भारतवर्ष के वैष्णव मठों में से यह एक है। लक्ष्मणजी, जगन्नाथजी, श्रीनिवास, बाँकेविहारी, बदरीनारायण, लक्ष्मीनारायण आदि के अनेक मंदिर बने हुए हैं। बाग के मध्य में नदी के किनारे यह स्थान स्थित है। इसलिए इसकी शोभा और भी बढ़ गई है।

रानी-तालाब

इस तालाब का निर्माण विक्रम-संवत् १६६० के आस-पास रीवा-नरेश महाराज भाव सिंह की महारानी ने कराया था। यह रीवा किले से पूर्व, नगर के मध्य में स्थित है और अपनी उत्ताल तरंगों से नागरिकों को प्रसन्न करता रहता है। तालाब में खिले हुए कमल बहुत ही सुंदर लगते हैं। शरत् की चाँदनी रात में इस तालाब की शोभा अवर्णनीय हो जाती है।

रानी-तालाब के चारों ओर मंदिर बने हुए हैं। उनमें से पश्चिम भीटे में स्थित कालिका देवी का मंदिर विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह बरगद वृक्ष से परिवेष्टित है, सामने पक्का घाट है। यहाँ नर-नारियों के लिए अलग-अलग घाट बने हुए हैं। देवीजी के मंदिर का पूरा प्रबंध विंध्य-प्रदेश-सरकार द्वारा होता है। मंदिर अभी हाल का बना हुआ है और गुंबज-विहीन अति साधारण है। प्रत्येक नवरात्र में मेला लगता है—विशेष रूप से चैत्र-नवरात्र में। प्रायः बारहों मास गानेवाले भक्तों का जमघट लगा ही रहता है। बहुत-से अपने घर से लेट-लेटकर मार्ग नापते हुए कालिका देवी के मंदिर में पहुँचते हैं और सैकड़ों प्रदक्षिणा करते हैं। मान-मनौती कर अपनी मनःकामना पूर्ण करते हैं। हरिजनों की इसपर अटूट श्रद्धा है। कहा जाता है कि स्वयं विंध्य-वासिनी देवी आकर मंदिर-स्थित मूर्ति में निवास करती हैं।

तालाब के मध्य में भी एक मंदिर खँड़हर के रूप में स्थित है। कहा जाता है कि तालाब-निर्माण के समय में ही इस मंदिर का भी निर्माण हुआ था और शंकरजी की मूर्ति की स्थापना की गई थी। किंतु आज पूजा होने की बात तो दूर रही, मंदिर भी शीघ्र धराशायी होने की प्रतीक्षा



चरणामृती मंदिर (नया जगन्नाथजी का मंदिर)

कर रहा है। मंदिर की बनावट प्राचीन ढंग पर हुई है। चारों कोनों पर भव्य कलशों का निर्माण कराया गया था, लेकिन खेद है कि अब उनमें केवल दो ही शेष रह गए हैं।

बड़े-बूढ़ों का कहना है कि वर्तमान रानी के तालाब का निर्माण किसी महाजन ने कराया था और किसी उत्सव के सिलसिले में रीवा की किसी रानी को भेंट कर दिया था। हो सकता है कि वह महाराज भावसिंह की ही महारानी रही हों। इस मंदिर की नींव देखने से ऐसा लगता है कि तालाब के निर्माण होने के पूर्व ही यह मंदिर बन चुका था।

चिरहुला

रीवा नगर से करीब दो मील की दूरी पर चिरहुला-नामक छोटा-सा गाँव है जो अब म्युनिसिपल बोर्ड के अंतर्गत हो गया है। यह स्थान जितना ही छोटा है उतना ही प्रसिद्ध है। गाँव से पूर्व लगा हुआ एक तालाब है। उसके पश्चिम के भीटे पर एक छोटी-सी धर्मशाला है। बगल में हनुमानजी का मंदिर है। मंदिर तो नए ढंग का है; किंतु प्रतिमा अवश्य प्राचीन मालूम होती है। आस-पास की हनुमानजी की मूर्तियों में इस मूर्ति की बड़ी प्रतिष्ठा है। पचासों मील से पैदल चलकर भक्तगण आकर हनुमानजी का दर्शन करते हैं और अपनी मनःकामना सिद्ध करते हैं। प्रतिदिन—विशेष कर शनिवार और मंगलवार को दर्शकों का मेला-सा लगा रहता है। आषाढ़ी पूर्णिमा को बहुत बड़ा मेला लगता है।

जेल एवं पुलिस लाइन

नगर और चिरहुला के मध्य में सन् १८८५ का बना हुआ कारागृह है जिसमें राज्य के अपराधी रखे जाते हैं

रीवा जेल की बनी हुई दरी, कालीन बहुत प्रसिद्ध हैं। महाराज वेंकटरमण सिंह के शासन-काल में जेल की व्यवस्था बहुत सुंदर थी। अच्छी-से अच्छी चीजें बनती थीं। रीवा-राज्य का 'कंपा' चोर भारत में प्रसिद्ध हो गया है। वह एक बार रीवा-जेल में बंदी होकर आया था। वह अनेक जेलों में रह चुका था, अतः सब तरह के कामों में भी निपुण था। उससे एक बार महाराज वेंकटरमण सिंह ने कहा कि यदि वेंकट-भवन के बड़े हॉल के लिए गोला कालीन तैयार कर दो तो तुम्हें जेल से मुक्त कर दिया जायगा। उसने छूटने की आशा से कठिन परिश्रम किया और गोला कालीन तैयार कर दिया। महाराजा को उसके कार्य-कौशल पर बड़ा आश्चर्य हुआ। सर्वोत्तम कालीन बनाने के उपलक्ष में उसकी सब चीजें दूनी कर दी गईं अर्थात् जितनी सहूलियतें उसे दी गई थीं, वे सब दूनी हो गईं। उसी समय से रीवा-जेल में कालीन और दरियों का बनना आरंभ हुआ। अठपहलू एवं गोल कालीन-दरी बनाना रीवा-जेल की अपनी विशेषता है।

जेल के दक्षिण और उत्तर पुलिस लाइनें हैं। एक दिन था कि समीप के मैदान में १० हजार फौज मार्च करती थी; किंतु आज उन सैनिकों के निवास में बहुत-से क्लर्क रह रहे हैं। मध्य के कुछ बैरकों में अब भी पुलिस के सिपाही रहते हैं, साथ ही प्रदेश की कुछ रिजर्व पुलिस भी।

अनाथालय

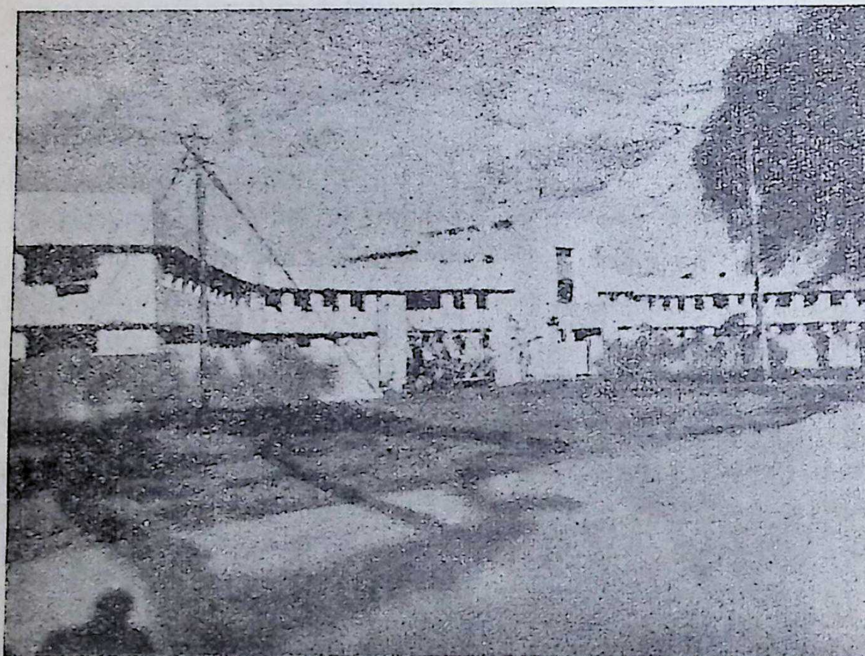
जेल के हाते से लगा हुआ पश्चिम की ओर अनाथालय है। मध्य प्रदेश में अनाथ बच्चों को शरण देने के लिए यह एकमात्र संस्था है जिसका संचालन सुयोग्य अनुभवी वयोवृद्ध श्री अर्जुन सिंह द्वारा होता है। ५००) मासिक राज्य से सहायता मिलती है। शेष प्रबंध धनी-मानी व्यक्तियों के सहयोग से होता है। साथ ही बच्चे स्वयं खाद्यान्न पैदा कर लेते हैं। अनाथालय का बैंड अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न खेल-कूद से भी बच्चे दर्शकों को मुग्ध कर कुछ पैसे पा लेते हैं।

अस्पताल

महात्मा गांधी के नाम पर बना हुआ नया अस्पताल दर्शनीय है। विभिन्न चिकित्सा-केंद्रों के अतिरिक्त २०० मरीजों को रखकर इलाज कराने का प्रबंध है। एक अपरिचित व्यक्ति तो वहाँ के सब विभागों का पता भी नहीं लगा सकता। इतनी लंबी इमारत विंध्य-प्रदेश में दूसरी नहीं है; साथ ही भारतवर्ष में भी इनी-गिनी ही है।

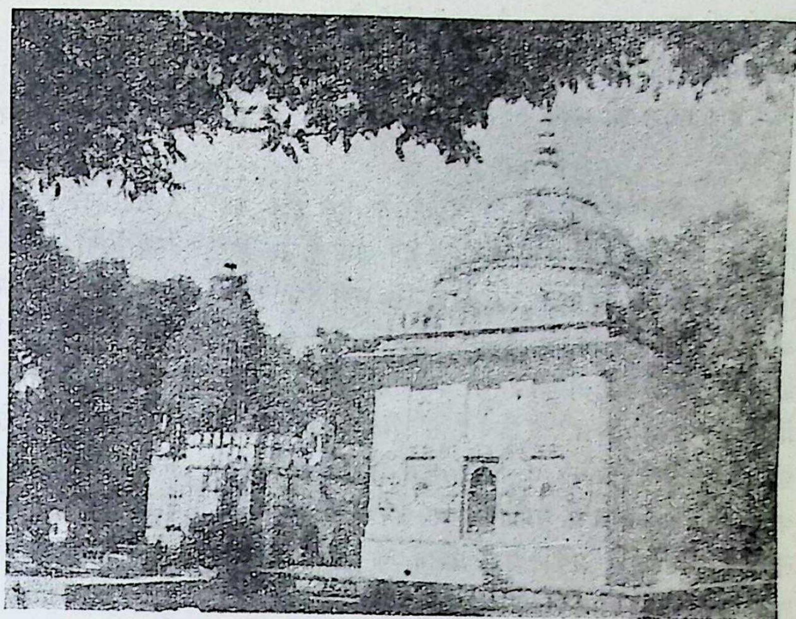
बड़ी दरगाह

यह स्थान रीवा के मुसलमानों का धार्मिक केंद्र है। इसकी स्थापना रीवा-नरेश महाराज अजीतसिंह के शासनकाल में हुई थी। उस समय दाता इमामशाह बहुत प्रसिद्ध थे। सिरमौर के पास एक छोटे-से 'देवास'-नामक गाँव में रहते थे। महाराज अजीतसिंह उनसे बहुत प्रभावित हुए और बड़ी इज्जत करने लगे। एक समय महाराजा पर विपत्ति आई, खजाने में कुछ न था। जब दाता इमामशाह को यह बात



गांधी मेमोरियल अस्पताल

मालूम हुई तब उन्होंने आशीर्वाद में १८ तोला सोना दिया। इससे उनकी और भी प्रसिद्धि बढ़ गई। दाता इमामशाह की दुआ लगती थी, जिसको जो कह देते थे, वह हो जाता था। एक बार कोई घोड़े का सौदागर घोड़े लेकर निकला और घूमते-घूमते रीवा में भी आया। उसने इमामशाह के महत्त्व को सुना तो उनकी खिदमत में हाजिर होकर कहा—'यदि घोड़े विक गए तो मैं मस्जिद बनवा दूँगा।' उनके आशीर्वाद से उसके घोड़े विक गए, अतः उसने मस्जिद बनवा दी। दाता इमामशाह बड़े ही सिद्ध फकीर थे। बड़ी दरगाह के प्रबंध के लिए अमहिया की जमीन तथा कधैली गाँव चढ़ा दिया।

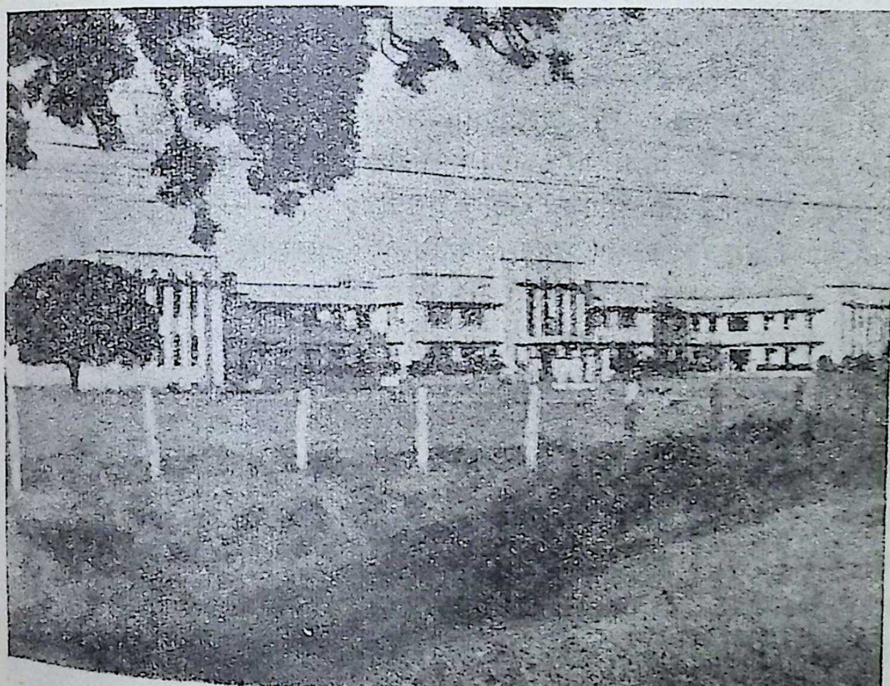


बड़ी दरगाह

फाल्गुन शुक्ल ७ को दाता इमामशाह की मृत्यु हुई थी। इसलिए प्रतिवर्ष उपर्युक्त तिथि को बड़ा मेला लगता है। हजारों मुसलमान इकट्ठे होते हैं। इस समय बड़ी दरगाह के महंत वरकतशाह हैं। दाता इमामशाह के बाद वरकतशाह तक ७ फकीर हो चुके हैं। बड़ी दरगाह के ईशान-कोण से एक नाला घूमता हुआ पश्चिम की दीवाल से टकराता आगे निकल जाता है। यह स्थान धार्मिक के साथ-साथ ऐतिहासिक भी है।

दरबार-कॉलेज

इस कॉलेज का निर्माण महाराज गुलाब सिंह ने अपने नाम पर कराया था। वे स्वयं दरबार तथा श्रीमान् शब्दों से संबोधित होते थे। उपर्युक्त दोनों शब्द महाराज के लिए ही प्रयोग में आते थे। अतएव दरबार कॉलेज के नाम से राज्य का सर्वोच्च शिक्षालय संबोधित किया गया। सौभाग्य से वर्तमान में भी वध्य-प्रदेश का मुख्य कॉलेज यही है। यहाँ हिंदी, संस्कृत, इतिहास तथा अँगरेजी आदि विविध



दरबार कॉलेज

विषयों की एम० ए० तक की पढ़ाई होती है, साथ-साथ एल० एल-बी० की भी। कॉलेज-भवन नए ढंग से बना हुआ है। प्रदेश की प्रमुख इमारतों में से एक है।

विक्रम-पुल

घोघर में बीहर नदी पर यह एकमात्र पुल है। यह विंध्य-प्रदेश में अपने ढंग का अनोखा है। लोहे के बने हुए पुल विंध्य-प्रदेश में इसको छोड़कर दूसरा नहीं है। वर्षा-काल में तो सब जगह पानी बहने लगता है; किंतु अन्य ऋतुओं में प्रपातों की शोभा दर्शनीय रहती है। रीवा में ४५० फुट से भी अधिक ऊँचाई से गिरनेवाले प्रपातों की संख्या बहुत अधिक है, किंतु कम ऊँचाई से गिरनेवाले प्रपातों में नगर के समीप घोघर का प्रपात ही सर्वोत्कृष्ट है। बहुत-से प्रकृति-प्रेमी प्रपात के नीचे बैठकर जल-धारा को अपने ऊपर आरोपित कर स्वयं शंकर बनने का खेल करते हैं।

पंचदेवियाँ

रीवा नगर में पाँच देवियों के स्थान क्रमशः इस प्रकार हैं—कालिका देवी (रानी तालाब), शारदा देवी (गर्ल्स हाइ स्कूल), जल्पा देवी (तरहटी), विंध्यवासिनी (उपरहटी) और अष्टभुजी (पंचमठा)। रीवा नगर-निवासियों के यहाँ यदि कोई उत्सव होता है तो वे उपर्युक्त स्थानों में पहुँचकर देवियों की पूजा करते हैं और मान-मनौती कर कार्य निर्विघ्न समाप्त होने की प्रार्थना करते हैं। बहुत-से देवी-भक्त प्रतिदिन दर्शन करके कृतकृत्य होते हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही रीवा नगर के कवि, लेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ आदि भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। यहाँ की संस्कृति, सभ्यता, अतिथि-सेवा, कलाकारों के संमान की परंपरा तो अद्वितीय है ही। यही कारण है कि विंध्य-प्रदेश की राजधानी होने का गौरव रीवा नगर को ही प्राप्त हुआ है।

सपने भी प्रतिकूल गए : श्री शिवनंदन शर्मा

सपने में भी आकर मुसकाना भूल गए !
रह जायेगा सपना ही क्या, सपना मन का ?
कोइलिया ने चुपके से आ, पतझर में दी जब आग लगा,
शूलों में तब कुहराम मचा, किसलय-किसलय में फाग जगा;
कलियों के घूँघट मलयज ने धीरे-धीरे जब खोल दिए,
सतरंगी तितली नाच उठी, हर ओर नया अनुराग जगा;
मुसकानों के झूलों पर आँसू झूल गए !
ढह जायेगा सपना भी क्या, सुधि के वन का ?
नभ ने अपने नीलांचल से, शबनम के मोती बिखराए,
सागर में ज्वार उठा कि काश ! चंदा तक प्यार पहुँच जाए;
लहरों के चंचल दरपन में, ऊषा ने जब झुककर झाँका,
तारों के सपने टूट गए, निशिहार बने थे जो आए;
किरणो ! मेरे आँसू भर हैं, कुछ फूल न य !
बह जायेगा यह धन भी क्या जीवनधन का ?
कूलों पर ही मरघट भी है, अंगारे बनते फूल जहाँ,
पुरवैया लूक बनी बहती, गीली रहती है धूल जहाँ;
सरिता को वक्त कहाँ, देखे, कटकर है कौन कराह रहा ?
बरबाद हुई हरियाली ही बनती रहती है कूल जहाँ !!
दुर्दिन में अपने सपने भी प्रतिकूल गए !
रह जायेगा मरघट ही क्या, तट जीवन का ?

उपन्यासकार डा० मुल्कराज आनंद

श्री श्रीकांत व्यास

विदेशों में कई ऐसे साहित्यकार हुए हैं, जिनकी प्रसिद्धि अपने देश की जनता के बजाय देश के बाहर की जनता में पहले फैली और जब बाहर के साहित्य-रसिकों ने उन लेखकों की प्रशंसा करनी आरंभ की, तब कहीं जाकर उनके देश के लोगों का ध्यान उन लेखकों की ओर आकर्षित हुआ। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार इवान तुर्गनेव इसके एक उदाहरण हैं। उनकी रचनाओं को पहले फ्रांस में, फिर इंग्लैंड और अमेरिका में, और तब कहीं जाकर उनके अपने देश रूस में संमान प्राप्त हुआ था। हमारे देश के साहित्यकारों में डा० मुल्कराज आनंद कदाचित् ऐसे पहले कलाकार हैं जिन्हें भारत की जनता उतना नहीं जानती जितना कि विदेशों की जनता जानती है। विदेशों में उनकी पुस्तकों की हजारों प्रतियाँ बिक चुकी हैं, कई यूरोपीय भाषाओं में उनके अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि उनकी सभी प्रमुख रचनाएँ अँगरेजी में लिखी गई हैं। भारत की जनता डा० आनंद की कला को परख सके और नए कलाकार-युग की बदली हुई साहित्यिक, सांस्कृतिक माँग को पूरा करने में उनसे कुछ सीख सके--इसके लिए अब यह अत्यंत आवश्यक है कि उनकी रचनाओं का हिंदी में तथा भारत की विभिन्न प्रादशिक भाषाओं में अनुवाद हो जाय।

डा० मुल्कराज आनंद हमारे उन साहित्यकारों में अग्रणी हैं जो साहित्य को जनता की--आत्म-संघर्ष-शील जनता की सेवा का साधन मानते हैं, जो यह मानते हैं कि साहित्य उत्पीड़ित मानवता की मुक्ति और उसके भविष्य के सपनों को साकार बनाने का एक साधन है। समाज-जीवन और उसकी समस्याओं से श्रेष्ठ कला ने कभी मुँह नहीं मोड़ा है। हर युग के सच्चे कलाकार ने अपने युग की आशा-आकांक्षाओं को वाणी दी है और जनता के संघर्षों में उसका साथ दिया है। डा० आनंद का भारतीय और विश्व-साहित्य में क्या स्थान है, यह तो आलोचक-गण और साहित्य-पारखी ही तय करेंगे; लेकिन इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने सदा अपनी रचनात्मक और बौद्धिक क्षमता का श्रेष्ठांश अपने देश की जनता और उसके मुक्ति-आंदोलन के लिए दिया है और आज भी दे रहे हैं। यह हमारे लिए एक संतोष की बात है।

उन्होंने हमेशा वर्तमान के प्रति सच्चे रहने का प्रयत्न किया है और इसी का परिणाम है कि हमारे प्राचीन की परंपरा में जो कुछ शुभ और ग्राह्य है उसके प्रति उनकी आस्था बराबर बढ़ती रही है और हमारे उज्ज्वल भविष्य के प्रति उनका विश्वास दृढ़ होता रहा है। उन्होंने कभी अपने साहित्य के शाश्वत या अशाश्वत मूल्य के प्रति चिंता नहीं की, बल्कि जो जिस समय की ज्वलंत समस्या और माँग थी, उसे उन्होंने कलाकार की दृष्टि से देखा है और अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है। और, यह अभिव्यक्ति इतनी सबल है कि उनकी रचनाओं को उसने एक ऐतिहासिक महत्त्व दे दिया है। एक कलाकार की सफलता का इससे बड़ा सबूत और क्या हो सकता है!

डा० आनंद का जन्म पेशावर में हुआ था। इनके पिता अपने कौटुंबिक पेशे कसेरागिरी को छोड़कर अँगरेजों की फौज में भर्त्ती हुए थे और वहीं विकास करते हुए एक छोटे अफसर भी हो गए थे। मा बिल्कुल देहात की थीं और स्वभावतः उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ में ही व्यतीत होता था। आनंद के बड़े भाई लुधियाना में जेलर हो गए थे। ऐसे कुटुंब में किसी साहित्यिक रुचि के व्यक्ति और कलाकार का पैदा होना एक आश्चर्य की बात हो सकती है, लेकिन उसी कुटुंब में बालक आनंद को उच्च कला के संस्कार भी प्राप्त हुए थे। इनके पिता फौज में काम भले ही करते थे, लेकिन उन्हें पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था। कई अच्छे लेखकों की रचनाएँ उन्होंने अपने यहाँ इकट्ठी कर रखी थीं। आनंद प्रायः उन पुस्तकों को उल्टा-पुल्टा करते थे और स्कूल के ही दिनों में उन्होंने डार्विन, स्पेंसर, थेकरे, इकबाल आदि की कई रचनाएँ पढ़ डाली थीं। चाहे उन दिनों में वे इन लेखकों की रचनाओं में बहुत-कुछ न समझ पाये हों, लेकिन इन लेखकों का

इनके संस्कार पर बहुत अच्छा असर पड़ा, और इन्हें लिखने-पढ़ने का शौक पैदा हो गया।

साहित्य के अलावा कला के संस्कार भी इनपर आरंभ से ही पड़े थे। इनके कुटुंब में कई सौ साल से सोने-चाँदी और ताँबे के बर्तनों आदि पर कारीगरी का काम भी होता आया था। कहते हैं कि अमृतसर के दरबार साहब के गुंबद पर सोने का काम आनंद के ही पुरखों द्वारा किया गया था। आनंद के पिता अपने पारिवारिक पेशे को छोड़कर फौज में काम अवश्य कर रहे थे, लेकिन अपने कुटुंब की परंपागत कला-प्रियता से बिलकुल शून्य नहीं थे। कलापूर्ण वस्तुओं का संग्रह और उनका अध्ययन तथा कला में रुचि रखनेवाले व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करने का उन्हें शौक था। उनके पास अपने समय के चित्रकारों द्वारा बनाए कई सुंदर चित्र सुरक्षित रखे हुए थे। ऐसे वातावरण के बीच युवक आनंद में भी कला के प्रति आकर्षण और रुचि उत्पन्न हो गई।

इसके अलावा आनंद पर उनके बाल्यकाल में एक चीज का और भी गहरा असर पड़ा, जिससे उनके साहित्यिक विकास में बड़ी मदद मिल सकी। इनकी मा देहात की थीं, और उन्हें सैकड़ों लोककथाएँ याद थीं, जिन्हें वे अक्सर आनंद को सुनाया करती थीं। जब आनंद अपने नाना के यहाँ गाँव में जाते तब वहाँ उनको और भी लोककथाएँ सुनने को मिलती थीं। ये लोककथाएँ ऐसी थीं जिनमें पंजाब के किसानों की भावना और कल्पना को सीधी-सादी भाषा में अभिव्यक्त किया गया था। इन कथाओं में पंजाब के हरे-भरे खेतों और खलिहानों की आत्मा गाती थी, इनमें पंजाब के स्वस्थ युवक-युवतियों के मधुर प्रेम की रंगीनी भरी रहती थी। इन लोककथाओं से आनंद के कल्पनाप्रिय और संवेदनशील मस्तिष्क पर बहुत अच्छा संस्कार पड़ा और काफी छोटी उम्र में ही उन्होंने कहानियाँ लिखनी शुरू कर दीं।

इकबाल और दूसरे प्रसिद्ध उर्दू कवियों की रचनाओं को ये बचपन से पढ़ते और अपने पिता से सुनते आए थे। इन्होंने भी सोलह वर्ष की अवस्था में उर्दू में कविताएँ लिखनी शुरू कीं। इसी बीच एक बार इन्हें 'टाइफाइड' हो गया और ये कुछ दिनों के लिए बिस्तर पर पड़ गए। बीमारी के इन दिनों में ही इन्होंने कई चीजें लिखने का विचार किया और एक लेखक के रूप में भविष्य की अपनी योजनाएँ तैयार कीं। बीमारी के दिनों में प्रायः दिल और दिमाग ज्यादा संवेदनशील हो जाते हैं। कहा जाता है कि उर्दू के श्रेष्ठ कहानीकार कृष्णचंद्र ने भी अपनी पहली कहानी बीमारी के ही दिनों में लिखी थी।

विद्यार्थी-जीवन में आनंद एक प्रतिभाशाली छात्र रहे हैं। कॉलेज के दिनों में ये कॉलेज-पत्रिका के संपादक भी थे। अमृतसर से बी० ए० कर लेने के बाद ये विशेष अध्ययन के लिए इंग्लैंड गए और वहाँ लंदन-विश्वविद्यालय में दर्शन विषय लेकर पढ़ने लगे। इन्हीं दिनों इन्हें यूरोप की नई विचारधाराओं के साथ ही भारतीय दर्शन का विशेष परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से इन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास में बड़ी मदद मिली; जीवन और जगत् को नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली और ये वैज्ञानिक विचार-प्रणाली में विश्वास करने लगे। लंदन में ही इन्हें साम्राज्यवादी और पूँजीवादी समाज-प्रणाली का आंतरिक परिचय मिला। यह इतना कटु और विषाक्त था कि उसने इन्हें जीवन भर के लिए साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का घोर विरोधी बना दिया। उन दिनों लंदन में भारतीय लोगों के साथ अछूतों-जैसा बर्ताव किया जाता था। रंगभेद का बड़ा बोल-बाला था। होटलों और चायघरों में, विद्यालयों और छात्रावासों में, प्लेटफार्म पर और रेलगाड़ियों में——सभी जगह भारतीयों को गोरे लोगों के अपमान का शिकार होना पड़ता था। लंदन में विद्याग्रहण करनेवाले भारतीय विद्यार्थियों के दिल अँगरेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ नफरत से भर उठे थे। इंग्लैंड में रहते हुए मुल्कराज आनंद के सामने साम्राज्यवाद का एक दूसरा पहलू भी साफ हो गया।। इन्होंने देखा कि इंग्लैंड के साम्राज्यवादी शासक अपने अधीन देशों की जनता के मुक्ति-संग्रामों के दमन में ही क्रूरता से काम नहीं लेते थे, वे स्वयं अपने देश की श्रमिक जनता के आंदोलनों का भी उतनी ही निर्ममता से दमन करते थे। अँगरेज पूँजीपति अपने मुनाफों को बरकरार रखने के लिए जिस तरह भारतीय जनता का शोषण करते थे, उसी तरह वे अँगरेज मजदूरों को भी बेरहमी से चूसते थे। सन् १९२६ में लंदन में हुई मजदूरों की आम हड़ताल के दिनों में आनंद ने अपनी आँखों देखा कि अँगरेज पूँजीपति अपने मुनाफे के आगे अपने देशवासी मजदूरों और विदेशी जनता में,

गोरे और काले में, किसी प्रकार का भेद नहीं करते। आनंद को समझते देर न लगी कि सवाल राष्ट्रीयता और रंग का नहीं, पूँजीवादी शोषण का है। इसी हड़ताल ने आनंद को समाजवादी विचारधारा और मजदूर-आंदोलन की ओर उन्मुख किया। अब उन्हें अपने देश की पराधीन स्थिति भी बहुत बुरी तरह से खलने लगी।

सन् १६२६ में वे पी-एच० डी० होकर भारत लौटे। उनके दिमाग में उस समय काफी संघर्ष चल रहा था। अब कला और साहित्य-संबंधी उनकी मान्यताएँ भी काफी बदल चुकी थीं, हालाँ कि अभी उन्होंने कोई निश्चित दिशा नहीं ली थी। भारत पहुँचकर किसी विश्वविद्यालय या कालेज में वे अध्यापन का कार्य कर लेने की सोच रहे थे। लेकिन जब वे भारत पहुँचे तब उन्हें बिलकुल दूसरा ही वातावरण मिला। ये वे दिन थे जब भारत में साम्राज्य-वाद-विरोधी भावना तेजी पर थी और राष्ट्र की सोई हुई आत्मा न केवल जाग गई थी, बल्कि उसने विदेशी शासकों के विरुद्ध अपनी आवाज तेज करनी शुरू कर दी थी। उन दिनों यहाँ विदेशी माल के बहिष्कार का आंदोलन जोरों से चल रहा था। यह आंदोलन आम भारतीय जनता क दिल में अँगरेज साम्राज्यवादियों के विरुद्ध उबलते हुए गुस्से का एक प्रतीक था। हर शहर के बाजारों में, सड़कों और चौरस्तों पर, गाँवों में, जहाँ देखो वहाँ विदेशी कपड़ों और अन्य वस्तुओं की होलियाँ जलाई जा रही थीं। मुल्कराज भला इस अवसर पर कैसे चूक सकते थे। वे भी पूरे जोश के साथ इस आंदोलन में कूद पड़े। अंत में लाहौर की सड़कों पर विदेशी कपड़ों की होली कराते हुए और गैर कानूनी भाषण देते हुए ये गिरफ्तार कर लिए गए और अपने अन्य साथियों के साथ ज़ेल में ठूँस दिए गए। इसके बाद मुकदमा चला और इन्हें तीन महीने की सजा हो गई।

जब ये जेल से छूटे तब इनके सामने एक और समस्या पैदा हो गई। इन्होंने काम के लिए जिस-किसी विद्यालय में कोशिश की वहीं से इन्हें इनकार मिला। भला एक साम्राज्य-विरोधी आदमी को, जो अपनी 'गैर-कानूनी' हरकतों के कारण जेल भी हो आया था, कोई विश्वविद्यालय क्यों काम देने लगा? बहुत भटकने के बाद इन्होंने तय किया कि चलो, फिर से विलायत चलें, वहीं कुछ करेंगे। इनका विचार था कि वहाँ रहते हुए भारत की आवाज को दुनिया में फैलाने का प्रयत्न कर सकेंगे।

और, कुछ दिनों बाद फिर ये यूरोप के लिए रवाना हो गए। पेरिस और लंदन में कई सालतक इन्होंने निवास किया। वहीं रहते हुए इन्होंने अपनी लगभग सभी रचनाएँ लिखीं। विदेशी पत्रों में बराबर लिखते रहने के अलावा, इन्होंने भारतीय संस्कृति और साहित्य के संबंध में कई पुस्तकें प्रकाशित कीं और एक उपन्यास भी लिखा।

इसके बाद सन् १६३० में पुनः भारत में स्वाधीनता-आंदोलन में तेजी आई और ये उसमें भाग लेने के उद्देश्य से पुनः भारत लौट आए। इन्होंने राजनीति में काफी आगे बढ़कर भाग लेना शुरू किया। इन दिनों इनका ध्यान भारतीय जन-जीवन की ओर भी तेजी से गया। इन्होंने श्रमिक जनता को उसकी सारी कुर्बानियों और निस्वार्थ सेवा के बावजूद बहुत अधिक शोषित, उत्पीड़ित और चारों ओर से अपमानित पाया। यही नहीं, इन्होंने देखा कि हर बड़ा छोटे का शोषण कर रहा है और उसका अपमान कर रहा है। मानव द्वारा मानव के शोषण की इस व्यवस्था के विरुद्ध इनका मन विद्रोह से भर उठा। इन्होंने यह भी देखा कि अपने इस विद्रोह में ये अकेले नहीं हैं। भारत के असंख्य श्रमजीवी मानव अपनी सदियों की दासता और शोषण के विरुद्ध सजग हो रहे हैं, उनके अंदर असंतोष की ज्वाला धधक रही है, जो मौका पाते ही ज्वालामुखी बनकर फूट सकती है। इसी वातावरण और पृष्ठभूमि में इन्होंने 'अछूत' (अंटेचबल) नामक अपना एक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास अपने ढंग का अकेला है। इसमें एक अछूत लड़के के जीवन के सिर्फ एक दिन का चित्रण है; लेकिन इस एक दिन के चित्रण में ही उसके जीवन का सारा निचोड़ उभर आया है—उसकी परेशानी, विवशता, शोषण की एक कभी न खतम होनेवाली लंबी शृंखला, जीवन के प्रति उसकी अपनी आशा-आकांक्षाएँ आदि सभी कुछ इतनी यथार्थता से और कलात्मक ढंग से पेश किया गया है कि पाठक का मन बरबस उस व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष से भर जाता है जो श्रमजीवी मानवता के एक बहुत बड़े अंग को अपने लौह-शिकंजे में कसे हुए है, जो मानव के मुक्त और स्वस्थ विकास को रोककर उसे एक मूक पशु के रूप में बदल देना चाहती है।

लंदन जाकर मुल्कराज ने अपने इस उपन्यास को प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया। लेकिन इस उपन्यास के लिए प्रकाशक ढूँढना भी एक समस्या हो गया। उस समय लंदन के अँगरेज प्रकाशक भारत के संबंध में ऐसी ही पुस्तकें ज्यादा प्रकाशित करते थे, जिनमें अँगरेजी पाठकों को हिंदुस्तान के ऐसे रहस्यमय देश के बारे में पढ़कर सनसनी हो, जैसे शेर का शिकार और हाथियों को पकड़ने की कहानी, साँपों के किस्से और मदारियों के अद्भुत खेल, दिव्य शक्ति-संपन्न काल्पनिक संन्यासियों के व्यंग्यात्मक चित्रण और रहस्य-मय मंदिरों की कहानियाँ, राजा-नवाबों की शान-शौकत, चटपटी बातें आदि जिन पुस्तकों में होती थीं उन्हें वे फौरन प्रकाशित करते थे और हजारों की संख्या में बेच डालते थे। या, फिर यहाँ के अधकचरे विद्वानों की, थोथे आदर्शवाद की पोथियाँ उन्हें पसंद आती थीं। भला वे ऐसी पुस्तकें क्यों प्रकाशित करने लगे, जिनमें भारतीय जनता और उसकी भावनाओं का, साम्राज्यवादियों द्वारा होनेवाले निर्मम शोषण और उत्पीड़न का तथा भारत की सही राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं का चित्रण हो! मुल्कराज का 'अछूत' भारतीय हरिजनवर्ग के जीवन की भयानकता का सच्चा चित्रण था। इस उपन्यास को उन्होंने लंदन के लगभग सभी प्रकाशकों को दिखाया, लेकिन कोई भी प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं हुआ! ये दो साल मुल्कराज को बड़ी मुश्किलों से गुजारने पड़े। धीरे-धीरे उनके पास पैसे भी खतम होते गए, यहाँ तक कि लंदन में रहने का खर्च उठाना भी कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में इन्होंने पास के एक गाँव में रहने का निश्चय किया और वहीं चले गए। इन्होंने दो वक्त खाना खाने के बजाय एक ही वक्त खाना शुरू किया। कभी-कभी दिन भर भूखे भी रह जाना पड़ा। लेकिन इन्होंने हिम्मत नहीं हारी। इस स्थिति में भी इनका लिखना बराबर जारी रहा और इन्होंने 'कुली' नामक एक नया उपन्यास तैयार कर डाला। इस उपन्यास में आनंद ने एक पंजाबी युवक का चित्र खींचा है जो गाँव से शहर में कमाई के लिए आता है, और यहाँ शहर की पूँजीवादी व्यवस्था में भयंकर शोषण का शिकार होता है।

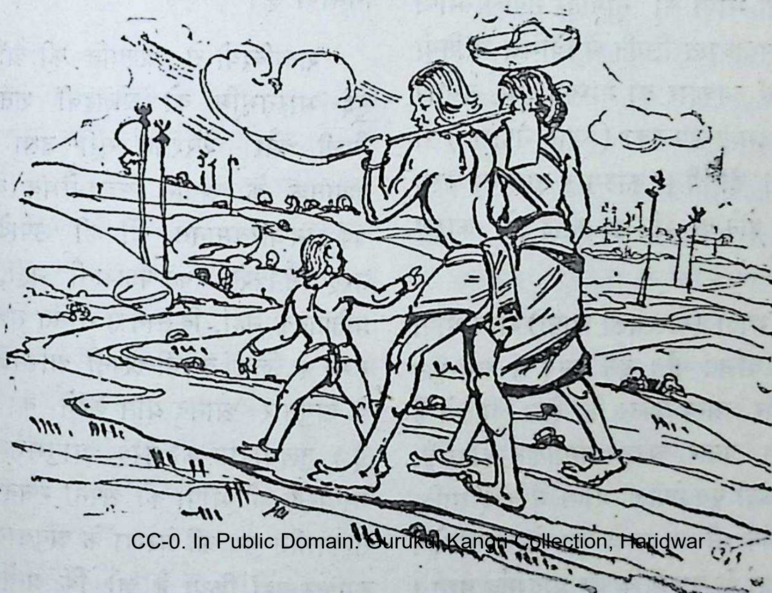
दो साल बाद लंदन के एक प्रकाशक ने 'अछूत' प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया। यह पुस्तक प्रकाशित होते ही काफी प्रसिद्ध हो गई और अँगरेजी पाठक जनता मुल्कराज को भी पहचानने लगी। इसके बाद 'कुली' के प्रकाशन ने तो मुल्कराज को पूरे यूरोप में प्रसिद्ध कर दिया। अबतक इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से एक दर्जन के लगभग उपन्यास और कहानी की पुस्तकें हैं। 'कुली' और 'अछूत' के बाद इनके तीसरे उपन्यास 'दो पत्तियाँ और एक कली' (टू लीव्स् ऐंड ए बड) में आसाम के चायबागों में काम करनेवाले मजदूरों का एक अत्यंत प्रभावशाली चित्र मिलता है। इसमें इन्होंने एक दिलचस्प और करुणाजनक कथानक के द्वारा यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार चायबागों के अँगरेज और हिंदुस्तानी जमींदार अपने दलालों को आसपास की देहातों में भेजकर और गरीब किसानों को रुपए का लालच दिखाकर अपने बागों में मजदूर के रूप में बसाते हैं और उनका शोषण करते हैं, किस प्रकार गाँव का भूमिहीन खेत-मजदूर और छोटा किसान भूख की मार से परेशान होकर एक अच्छी जिंदगी के सपने देखता हुआ इन दलालों का शिकार हो जाता है और अपने प्यारे गाँव को छोड़कर अँगरेज व्यापारियों के फार्म में बस जाता है, वहाँ जाने पर उसके परिवार को टीन से छाई एक कोठरी अपना घर बसाने के लिए मिलती है और धीरे-धीरे वहाँ क ठीकेदार भी उसे गाँव के महाजन की तरह सूद के फंदे में फाँसकर उसकी जिंदगी को दूभर कर देते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने सब-कुछ सोचने और कुछ न कर सकनेवाले अकर्मण्य बुद्धि-जीवियों और श्रमिक जनता से बौद्धिक सहानुभूति दिखानेवाले आरामतलब भद्रजनों का भी बड़ा सुंदर चित्रण किया है। 'गाँव' (दि विलेज), 'काले पानी के पार' (एक्रोस द ब्लैक वाटर्स), 'तलवार और हँसिया' (दी स्वार्ड ऐंड दी सिकल), 'नाई-मजदूर-संघ तथा अन्य कहानियाँ' (दी बारबर्स ट्रेड यूनियन ऐंड अदर स्टोरी), 'विशाल हृदय' (दी बिग हार्ट), 'एक इंसान का जन्म तथा अन्य कहानियाँ' (बर्थ आव ए मैन ऐंड अदर स्टोरीज) आदि इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें से कई रचनाओं का यूरोप की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। सोवियत रूस में इनकी रचनाओं के रूसी अनुवाद भी लोकप्रिय हैं और उनकी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। भारत के नए लेखकों में आनंद ही ऐसे हैं जो रूस में इतने अधिक पढ़े जाते हैं।

इनकी 'दो पत्तियाँ और एक कली'-जैसी दो-एक रचनाओं का हिंदी में भी अनुवाद हुआ है।

डा० आनंद के साहित्यिक निबंधों में महाकवि रवींद्रनाथ पर लिखी इनकी छोटी आलोचना-पुस्तक काफी प्रसिद्ध है। ये भारत के एक प्रमुख कला-मर्मज्ञ भी माने जाते हैं और चित्रकला-संबंधी एक प्रमुख त्रैमासिक पत्र 'मार्ग' के संपादक भी हैं। भारतीय चित्रकला और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों के संबंध में भी इन्होंने एक ग्रंथ लिखा है। फारस की चित्रकला पर भी इनकी एक पुस्तक है। भारतीय पौराणिक कहानियों और लोककथाओं पर भी इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

डाक्टर मुल्कराज आनंद एक सजग बुद्धिजीवी के रूप में बराबर सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलनों में आगे बढ़कर भाग लेते रहे हैं। लंदन में ही इन्होंने अपन अन्य प्रगतिशील विचार के साथ अखिलभारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की थी, और आज भी ये उसके प्रमुख नेताओं में माने जाते हैं। जन-आंदोलनों के प्रति इनकी कोरी बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं रहती, ये उनमें आगे बढ़कर भाग लेते हैं। विभिन्न देशों की जनता साम्राज्यवादी शासकों के विरुद्ध जो भी शानदार राष्ट्रीय आंदोलन चलाती रही है, डा० आनंद उन सबके एक प्रबल पोषक रहे हैं। स्पेन में जनरल फ्रैंकों के फासिस्ट दमनचक्र के विरुद्ध वहाँ के जनवादी जब सशस्त्र संघर्ष कर रहे थे तब डा० आनंद अपने प्राणों की परवाह किए बिना स्पेन गए थे और वहाँ की जनता को उसके मुक्ति-संघर्ष के प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति का संदेश दे रहे थे। इनकी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण अँगरेजों ने इनके भारत-आगमन और इनकी कई पुस्तकों के भारत में वितरण या प्रकाशन पर रोक लगा रखी थी। अंत में द्वितीय महायुद्ध के बाद ही ये स्वदेश लौट पाए।

नये कलाकारों और लेखकों के प्रति सदा इनका सहानुभूतिपूर्ण और मित्रवत् व्यवहार रहता है। भारत लौटने के बाद अभी ये कोई नई पुस्तक नहीं प्रकाशित कर पाए हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस बीच इन्होंने कुछ लिखा ही नहीं है। सामयिक पत्रों में प्रायः इनके लेख और कहानियाँ निकलती रहती हैं। लेकिन उनका अधिकांश समय आजकल नएे कलाकारों और लेखकों को प्रोत्साहित और शिक्षित करने में ही व्यय होता है, और यह उपन्यास लिखने से कम रचनात्मक काम नहीं है।



नेपाली साहित्य की भूमिका

श्री राजेश्वर देवकोटा

यदि नेपाल गौतम बुद्ध और सीता के पवित्र आदर्शों पर गर्व करता है तो गौतम बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु और सीता के पैतृक जनकपुर को नेपाल की संपत्ति बनाने का श्रेय नेपाल के राजा पृथ्वीनारायण शाह को है। दो सौ वर्ष पूर्व नेपाल अनेक राज्यों में विभक्त था। खास नेपाल आज की काठमांडू-उपत्यका ही माना जाता था। नेपाल की इस अव्यवस्थित स्थिति में वह नवयुवक गोरखाली राजा दिग्विजय के लिए निकला। गाँव के इस राजा ने राज्य-विस्तार की सीमा ५० मील पूर्व काठमांडू तक की। इसी बीच अँगरेजों की बढ़ती दुराशा को रोकने के लिए उसे न केवल विजय-यात्रा बंद करनी पड़ी, बल्कि उसने देशी राजाओं को संयुक्तमोर्चा बनाने के लिए आह्वान भी किया। इस राष्ट्रीय नौजवान की आकांक्षा यद्यपि उसके जीवनकाल में पूरी न हो सकी तथापि अपने उत्तराधिकारियों के लिए उसने राज्यविस्तार की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी जिसका परिणाम आज का नेपाल है।

इस राजकीय परिचय का तात्पर्य यह है कि गोरखाली राजा के साथ गोरखाली भाषा को भी नेपालव्यापी विजय मिली। इसी गोरखाली भाषा का नामांतर नेपाली-भाषा है। यद्यपि नेपाल की अस्तव्यस्त स्थिति में विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी भाषाएँ व्यवहार का माध्यम थीं तथापि साहित्य-संपन्न भाषा काठमांडू-उपत्यका (खास नेपाल) में बोली जानेवाली नेवारी ही थी। काठमांडू-उपत्यका कला और साहित्य से समृद्ध होने पर भी गृह-कलह के कारण अनुन्नत थी।

इस प्रकार नेपाली भाषा (गोरखाली भाषा) राज्य-भाषा होने पर भी साहित्य से वंचित थी। इस समय के असंस्कृत गद्य में शिलालेख और अन्य प्रकार के लेख मिलते हैं जिनसे नेपाली-भाषा का प्रसार अवश्य प्रमाणित होता है, परंतु आज से एक शताब्दी पूर्व नेपाली-भाषा में कोई साहित्यांश नहीं मिलता। ठीक सौ वर्ष पहले पूर्व गोरखाली क्षेत्र (तनहुँ) में नेपाली-भाषा के वाल्मीकि का प्रादुर्भाव हुआ। यह क्षेत्र संस्कृत के विद्वानों की निधि समझा जाता था। यद्यपि नेपाली-भाषा के आदि कवि भानुभक्त ने संस्कृत का उतना गंभीर अध्ययन नहीं किया था तथापि पंडितों के समाज में रहकर लिखने-पढ़ने की कला सीखी थी। इस समय नेपाली-भाषा में कविता करनेवालों का उपहास किया जाता था और ऐसे कवि संस्कृत-साहित्य के शत्रु माने जाते थे।

पड़ोसी देश भारत एवं नेपाल की राजकीय स्थिति अत्यंत भयावह थी। नेपाल के शासक जंग बहादुर न षड्यंत्र के द्वारा शासन में अधिकार कर लिया था। नेपाल के नामी योद्धा और ख्यातिप्राप्त प्रशासक षड्यंत्र के शिकार हो गए थे। इसी प्रकार भारत में सन् ५७ में विद्रोह की भयानक स्थिति उत्पन्न हुई थी। दोनों तरफ धन-जन की सुरक्षा खतरे में थी। इसी समय नेपाल के आदिकवि भानुभक्त ने मर्यादापुरुषोत्तम राम की गाथा (रामायण) नेपाली-जन-भाषा में गाई। इससे जनसाधारण के विचार को स्थायित्व और संतोष मिला। किसी भी समय आर्यावर्त की अस्त-व्यस्त स्थिति को रामायण ने ही निभाया है।

शताब्दियों से अशांति की आँधी में चक्कर खाती हुई भारतभूमि को सोलहवीं शताब्दी में कुछ शांति मिली और शेरशाह सूरी तथा अकबर-जैसे सफल प्रशासक के अधीन कला-वैभव का विकास हुआ तो यह रामचरितमानस की ही उपादेयता है। गीता की तरह वर्ग-विशेष का पक्षपाती नहीं, सर्वमान्य प्रभुता का प्रतिपादक नहीं, किसान से सामंत तक, मूर्ख से विद्वान् तक-सभी के लिए अपनी-अपनी आकांक्षा और आवश्यकता के अनुसार आनंद प्राप्त करने का एक ही क्षेत्र रामायण है। तुलसीदास की तरह भानुभक्त ने भी नेपाली जन-साधारण की भाषा को अपनी रचना में प्रश्रय दिया है। तत्कालीन युग की प्रेरणा के अनुसार कवि ने मूलकथा का रूपांतर नहीं किया है जो कि प्रत्येक रामायण-लेखक का

अपना-अपना वैशिष्ट्य है। कवि ने भावों को व्यक्त करने के लिए अलंकार का आश्रय नहीं लिया है। आज की परिमार्जित एवं व्याकरण-संपन्न नेपाली भाषा की दृष्टि से भानुभक्तीय रामायण की भाषा पुरानी जरूर पड़ गई है।

नेपाली साहित्य में रीतिकाल उतना पनप नहीं पाया। यहीं से नाट्य-साहित्य की भी शुरुआत होती है। नाट्य-साहित्य के प्रवर्तकों में शंभुप्रसाद सबसे अधिक आदरणीय हैं। अस्तु, प्रसंगवश नाट्य-साहित्य के विकास का भी परिचय दिया जायगा।

भानुभक्त के बाद १९२३ में नेपाली पद्य साहित्य के प्रवाह के रूप में मोतीराम निकले। ये नेपाली साहित्य के आदरणीय सेवक हैं। नेपाली साहित्य के भानु भानुभक्त की रश्मि को दिगंत तक फैलाने के साथ इन्होंने गंभीर और मनोरंजक कविताएँ भी लिखी हैं। इस कवि की कविता में सुंदर केसाथ सत्य तथा शिव का भी समावेश हुआ है। ये शृंगार-रस के प्रेमी होकर भी नैतिक कविताएँ लिखने में चूके नहीं हैं। मोतीराम से कविशिरोमणि लेखनाथ (१९४१) तक दो प्रसिद्ध शास्त्रीय कवि हुए-- संस्कृत-साहित्य के धुरंधर विद्वान् पंडित सोमनाथ और पंडित कुलचंद्र। इन्होंने यद्यपि नेपाली साहित्य की गौण सेवा की है तथापि इनकी कविताएँ संस्कृत-साहित्य की मधुरिमा से ओत-प्रोत हैं। भाव के पीछे छंद दौड़ पड़े हैं, अलंकार स्वयम् आगंतुक हैं। इन दोनों विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य के महासागर में गोता लगाकर जो रत्न प्राप्त किए वे नेपाली साहित्य को केवल लोभ दिलाकर पुनः संस्कृत-साहित्य के निधि हो गए।

साधारणतः नेपाली पद्य-साहित्य के तीन युग-प्रवर्तक कवि हुए हैं। प्रथम युग के आदिकवि भानुभक्त जितने जन-साधारण-प्रिय कवि हुए, द्वितीय युग-प्रवर्तक कवि लेखनाथ ने भी अपने रचनाकाल में ही उतनी प्रियता प्राप्त कर ली। इस समय तक भाषा सुसंस्कृत हो चुकी थी। पंडितों के लिए भी नेपाली साहित्य की सेवा अपेक्षित होती जा रही थी। कविशिरोमणि लेखनाथ को युग-प्रेरणा मिलने के समय भाषा का मार्ग भी स्वच्छ हो गया था। छंद और अलंकार-सापेक्ष भारतीय काव्य-रचना की प्राच्य परिपाटी और लय तथा ध्वनि के पदानुसारी आधुनिक पाश्चात्य कवि के प्रभाव के बीच लेखनाथ नेपाली साहित्य के लिए एक कड़ी हैं। आप मनोहर प्रकृति के पक्षपाती होने के साथ हिंदू-दर्शन के अनुयायी भी हैं। आर्थिक युग की भर्त्सना करते हुए आप सत्य और कलि का संवाद लिखते हैं। कवि ने साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी हाथ बटाया है, परंतु पद्य में ही उसको अधिक सफलता मिली। समसामयिक राष्ट्रीय कवि धरणीधर और लेखनाथ भाषा, राष्ट्रीयता और युग की दृष्टि से हिंदी के कवि मैथिलीशरण गुप्त की श्रेणी में संमिलित किए जा सकते हैं। अगल-बगल में टिमटिमाते तारों की भी कमी नहीं।

पद्य-साहित्य के विकासक्रम में बालकृष्ण राम का स्थान गौरवपूर्ण है। नाट्य-साहित्य में भी उनका स्थान सर्वोच्च है।

वर्तमान युग के प्रवर्तक लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा (वि० १९६०) सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न कवि हैं। साहित्य के हरएक क्षेत्र में वह प्रथम स्थान प्राप्त करते हैं। हिंदी-साहित्य के महान् कवि, नाटककार और लेखक जयशंकर 'प्रसाद' की तरह महाकवि देवकोटा भी 'शाकुंतल' महाकाव्य के निर्माता हैं, सफल कहानीकार हैं, उच्च कोटि के निबंध-लेखक हैं। नेपाली जनता को राष्ट्रीय नव जागरण का प्रथम पाठ देवकोटा ने ही पढ़ाया। इन्हीं की परिपाटी में राष्ट्रवादी कवियों की धारा वही। जनप्रिय नेपाली लोकगीत गानेवाले सर्वप्रथम देवकोटा ही हैं। जहाँ आपने लोकगीतों से जनसाधारण की निगाह अनुकूल बनाई है वहाँ कतिपय निबंधों से शास्त्रीय विद्वानों के लिए प्रशस्त भोजन भी परोस रखा है।

आपकी परिपाटी के पदचालकों में चार कवियों को काफी प्रतिष्ठा मिली है--केदारमान 'व्यथित', सिद्धिचरण, माधवप्रसाद धिमिरे और धर्मराज थापा। इस युग के ये उदीयमान नक्षत्र हैं। 'व्यथित' हिंदी की कवयित्री महादेवी वर्मा से काफी प्रभावित दिखाई देते हैं। आपकी कविता में करुणा और पीड़ा के साथ राष्ट्रवादी साहस का करेंट है। सिद्धिचरण राष्ट्रीयता के साथ साहित्यिक क्षेत्र में उतरे हैं और इन दिनों रो-रोकर सामंतवाद का विरोध करते हैं। जो भी हो, साहित्यिक दृष्टि से उनकी कविता में प्रसाद एवं ओज गुण पर्याप्त हैं। माधवप्रसाद धिमिरे ललित प्रकृति क प्रेमी हैं। यद्यपि ये नौजवान कवि साहित्य की किसी नई धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करते तथापि कोमल पात्र में जो वीरता और उद्दाम साहस भरते हैं यही इनकी विशेषता है। कवि सिंह-गर्जन के लिए अंध-अरण्य की पृष्ठभूमि

तैयार नहीं करते, बल्कि स्रोतों के कलरव में, कोकिल के कूजन में, हरित कुंज में और मनोहर वेषभूषा में इनका भावविहग विचरता है। अन्य नेपाली कवियों की तरह धिमिरे शहर के वातावरण में नहीं पले। वहाँ पले, जहाँ पर्वतशृंग से छूटती नद-धाराएँ आकाशमार्ग से समतल में टूटती हैं, ऐसी कंदरा में जहाँ हिमालय के द्वारा ही सूर्य की रोशनी प्रतिबिंबित होती है, उस क्षेत्र में जहाँ कभी हिमालय की विजय होती है तो कभी हरित पहाड़ियों की। इस प्रकार कवि प्रकृति का भक्त नहीं, प्रकृति का प्रेमी है।

गायक कवि धर्मराज थापा नेपाली जनगीत के अवतार हैं। जनगीत के गायक थापा प्रत्येक नेपाली से परिचित हैं। उर्दू की नकल पर नेपाली जनगीत-लेखन की परंपरा तो नेपाली साहित्य की पुरानी प्रथा है, परंतु नेपाली पहाड़ियों की आत्मा से बोलनेवाला जनगीत लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा ने लिखा और उनके सफल उत्तराधिकारी थापा हैं। थापा की राष्ट्रीयता की आड़ में कहीं-कहीं उग्रवाद भी चमकता है।

भीमदर्शन और कुलमणि देवकोटा-जैसे नए उदीयमान कवि नेपाली साहित्य-क्षेत्र में आज उतरे हैं। परंतु इन लोगों की नई दिशा का कोई स्पष्ट पदचिह्न नहीं है।

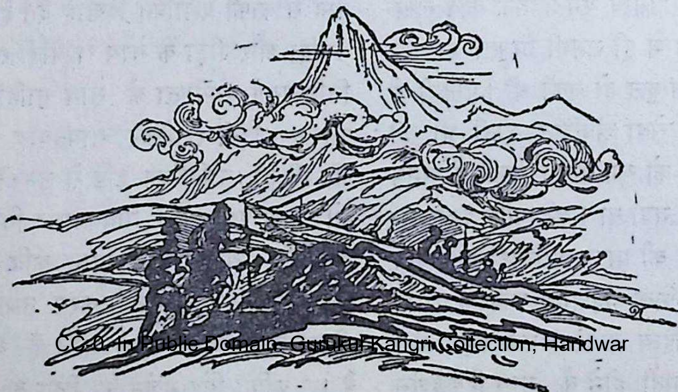
नेपाली में पद्य-साहित्य का जितना विकास हुआ उतना गद्य-साहित्य का नहीं। गद्य-साहित्य में कथा-साहित्य काफी विकसित हुआ है। कथाकारों में नई प्रवृत्ति केवल विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला में है। अन्य कथाकारों का क्षेत्र समान है। कोइराला एकतंत्रीय सामंती व्यवस्था के विरोधी हैं, रोमांसप्रिय हैं, मनोविज्ञान के पंडित हैं। सामाजिक कथाकारों में पुष्कर शमशेर, बालकृष्ण शमशेर, पूर्णप्रसाद द्विवेदी, पूर्ण दास और हास्यात्मक कथाकारों में केशवराज पिंडाली, कृष्णप्रसाद चापागाईं आदि विशिष्ट हैं। अस्तु, कथा-साहित्य केवल गत पचीस वर्षों की देन है।

उपन्यास में रुद्रराज पांडेय सामाजिक रीतियों की कुत्सित समस्या पर और लैनसिंह बांगदेल नई टेक्निक के साथ देश की कुत्सित व्यवस्था पर आगे बढ़े हैं।

यद्यपि सर्वतोमुखी प्रतिभा-संपन्न लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा ने निबंध में पहली सीट रिजर्व करा ली है तथापि उन्होंने ख्यातिप्राप्त हृदयचंद्र सिंह को साथ लिया है।

नाट्य-साहित्य का अभ्युदय शंभुप्रसाद की 'रत्नावली नाटिका' के साथ होता है; परंतु शंभुप्रसाद से लेकर बालकृष्ण शमशेरतक—२०-२५ वर्ष के दौरान में—कोई नाटक नहीं लिखा गया। शमशेर ने आधे दर्जन नाटक लिखे हैं। नाटक लिखने के साथ शमशेर कुशल अभिनेता हैं, चित्रकला के ख्यातिप्राप्त पंडित हैं। आपके नाटकों में अँगरेजी साहित्यकार शेक्सपीयर का प्रशस्त प्रभाव देखा जाता है। आपके पात्र स्वगत भाषण और वार्तालाप अनुष्टुप् छंदों में करते हैं। शमशेर शासक-परिवार के होने के कारण जनभावना और युग प्रेरणा पर ध्यान नहीं देते, फिर भी कुत्सित व्यवस्था को मजबूत करने का असफल प्रयास नहीं करते। नैतिक प्रेम और हिंदू-दर्शन इनके पात्रों का संबल है।

दूसरे नाटककार भीमनिधि तिवारी सरलता और सामाजिक समस्या के लेखक हैं। अन्य कतिपय लेखकों की कृतियाँ भी नेपाल-साहित्य के भंडार में हैं जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं हो सका।



कुरबानी

श्री जहूरबख्श

जब हम स्कूल से छुट्टी पाकर घर आए तब देखते क्या हैं कि आँगन में अच्छा-खासा काला बकरा बँधा है और बेगम साहबा उसे बड़ी मुहब्बत से हरी-हरी दूब खिला रही हैं। बस, उनसे पूछ ही तो बैठे–'यह क्या बला है ?'

बेगम साहबा आँखें तरेरकर बोलीं—'यह बला है ?'

'अच्छा-अच्छा, बला न सही—बकरा सही; मगर यह आया कहाँ से ?'

'बाजार से !'

'कौन लाया ?'

'भाई अब्दुल गफ्फार !'

'किस मतलब से ?'

बेगम साहबा के होठों पर मुसकान फूट निकली और वह ताना-सा देती हुई बोलीं—'बड़े भोले हैं आप! इतना भी नहीं जानते कि कल बकरीद है।'

'इतना तो जानते हैं कि कल बकरीद है; मगर इस बकरे की जरूरत ?'

'कुरबानी नहीं करेंगे ?'

'क्या बगैर कुरबानी किए बकरीद नहीं हो सकती ?'

'हो क्यों नहीं सकती। मगर कुरबानी तो मजहबी फर्ज है और सभी मुसलमान शौक से उसकी अदाई करते हैं। फिर आप क्यों उसका नाम सुनते ही नाम-भौं सिकोड़ने लगते हैं ? पुरा-पड़ोस की औरतें अक्सर ताना देती रहती हैं। कहती हैं कि तुम्हारे मियाँ क्या खाक पढ़े-लिखे हैं—कभी कुरबानी भी नहीं करते। मारे शर्म के मेरा तो सर नहीं उठता। इसीलिए मैंने यह बकरा मँगवा लिया है। इस बार आपको कुरबानी जरूर करनी पड़ेगी।'

हम आँखें फाड़-फाड़कर बेगम साहबा का मुँह ताकते रह गए। जिसने न कभी बंदूक उठाई, न कभी छुरी चलाई, न कभी नन्ही-सी चिड़िया मारी, न कभी छोटी-सी मुर्गी जिबह की; भला वह एकदम इतने बड़े बकरे के खून से अपने हाथ रँगने के लिए कैसे तैयार हो जाता ? हमें ऐसा मालूम हुआ, जैसे हमारा दिल भीतर-ही-भीतर धड़क रहा है और अब जिस्म पसीने से नहाया ही चाहता

है। मगर बात बेगम साहब की है रखनी पड़ेगी, एक बार नहीं, हजार बार। इसलिए हमने चटपट हिम्मत पर कंट्रोल किया और जवाब दिया—'पुरा-पड़ोस की औरतें क्या कहेंगी। कुरबानी तो हम रोज-रोज किया करें; मगर यही सोच-सोचकर रह जाते हैं कि यह कोई जरूरी काम थोड़े ही है।'

बेगम साहबा तिनगकर बोलीं—'बातें न बनाइए! मैं खूब जानती हूँ कि आप अव्वल दर्जे के बुजदिल हैं—कुरबानी का नाम सुनते ही काँप उठते हैं। तौबा, ऐसा भी मर्द किस काम का, जो एक मामूली-सा बकरा जिबह करते डरे।'

'लाहौल विला कूवत ! हम बुजदिल हैं ? यह किसने कहा आपसे कि हम बुजदिल हैं ? अजी, बकरा तो बकरा; कहिए, तो हम हाथी जिबह कर डालें !'

'हाथी जिबह कर डालेंगे आप ? रहने भी दीजिए यह दिलेरी—यह बहादुरी ! सवेरे ही देख लूँगी कि आप कितने पानी में हैं—किस तरह बकरा जिबह करते हैं ?'

हमारी बेगम साहबा और हमारा ही मजाक उड़ाएँ ! जिस्म में जैसे आग भड़क उठी। दिल में आया कि अभी एक छुरी उठाएँ और तमाम दुनिया के बकरे जिबह कर डालें। मगर हमने सब्र से काम लिया, सोचा—'वल्लाह ! कहीं ऐसा कर भी न बैठना, वरना बेगम साहबा की वकीलोंवाली चाल तो कामयाब रहेगी ही, बकरों की दुनिया भी उजड़ जायगी। यह तो हमपर इस गरज से पानी चढ़ा रही हैं कि हम जोश में आ जायँ और सवेरे दन से बकरा काटकर रख दें !' बस, हम बेगम साहबा के ताने-तिशने कानों पर उड़ाते हुए, इन बातों को टालने के लिए खुद भी वहाँ से टल गए और मन-ही-मन बोले—'फिक्र करने की क्या जरूरत ! अभी तो बहुत वक्त है—सारी रात पड़ी है। जब सवेरा होगा, तब देखा जायगा। मौला मुश्किल-कुशा अली का रहम हुआ, तो ठिकाने पर पहुँचने का कोई-न-कोई रास्ता सूझ ही जायगा।'

अजीव उलझन में जागते-ही-जागते बीती। अगर कभी आँख झँपी भी, तो भयानक-से-भयानक ख्वाबों की दुनिया में भटकते रहे। एक बार देखते क्या हैं कि एक बड़ा भारी सुनसान जंगल है, जहाँ न आदमी है न आदमजाद; फकत हम हैं और हमारा खुदा है। इतने में एक तरफ से एक बकरा हमारी तरफ आता दिखाई दिया, और बकरा भी कैसा? एकदम हाथी-जैसा! मारे खौफ के हम जो काँपे, तो सर पर पैर रखकर भाग निकले। मगर बकरे ने झपटकर हमें पकड़ लिया और बजाय 'में-में' करने के खालिस आदमी की बोली में कहा—'अबे, भागता है! मगर भागकर जायगा कहाँ? क्या तुझे इतना भी नहीं मालूम कि अब तू बकरों की दुनिया में है? आज हमारे यहाँ इंसानी ईद है। बस, हम तेरी कुरबानी करेंगे, सवाब कमाएँगे और मजे से कबाब भी उड़ाएँगे!'

या अल्लाह, यह क्या कह रहा है। हमारा खून खुश्क हो गया और हम लगे हाथ जोड़ने, बेंत की तरह थरथराने और बमुश्किल हकला-हकलाकर गिड़गिड़ाने—'कैसी बातें करते हैं हुजूर बकरे साहब! हम तो आपके गुलाम हैं, जो शौक में आए, खुशी से कीजिए। लेकिन आप अशरफुल मखलूकात हैं। इसलिए हम इतनी अर्ज जरूर करेंगे कि अगर आप हमारी जान बख्श दें, तो आपको कुरबानी से ज्यादह सवाब हासिल होगा और हम जिंदगी-भर आपके गुलाम बने रहेंगे।'

बकरे ने अपनी लंबी दाढ़ी हिलाई और पान की पीक थूकते-थूकते कहा—'अबे रहने भी दे यह होशियारी। हम तेरी जान बख्श दें, गोया अपना मजहबी फर्ज भाड़ में झोंक दें! बस, चुपचाप हमारे साथ चला चल; हम तुझे अभी जन्नत रवाना कर दें।'

हम बराबर थरथरा रहे थे, कुछ कहना भी चाहते थे, मगर मुँह से आवाज निकलती, तब न! इतने में वह जालिम बकरा हमें अपने मुँह में दबाकर इस तरह चल पड़ा, जिस तरह बिल्ली चूहे को लेकर भागती है। हमने उसके मुँह से छूटने के लिए बहुत-कुछ हाथ-पैर चलाए, बहुत-कुछ हाय-तोबा मचाई, मगर सब बेकार। वह जालिम हमें लिए एक ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ उसी-जैसे हजारों बकरे थे और हमारे जैसे बहुत-से आदमी खूँटों से बँधे खड़े थे। हमारे मालिक ने हमें भी खूँटे [illegible] बर्तन में पानी रख दिया। इसके बाद न जाने, वह कहाँ चला गया। हम खूँटे से बँधे हुए खड़े थे और अपने गुनाहों से तोबा कर रहे थे। कभी बाल-बच्चों की याद में बेचैन होते थे और कभी कुरबानी के ख्याल से जीते-जी मर जाते थे। मगर मौत आती थी, पर न आती थी।

क्या कहें, मौत सर पर मँडला रही थी और छुरी आँखों में नाच रही थी! बस, एक अजीब हालत थी—करीब-करीब वही, जो कुरबानी के हर बकरे पर गुजरती होगी। हमने अपने पास बँधे हुए आदमियों से बात करनी चाही, मगर उन गरीबों को भी रोने-कलपने, गिड़गिड़ाने और दुआएँ माँगने से फुर्सत कहाँ थी। फिर भी हमने कलेजा कड़ाकर एक बड़े मियाँ से पूछ ही लिया—'आप बुजुर्ग हैं, कुछ तो फरमाइए कि अब क्या करें?'

बड़े मियाँ आँखें तरेरकर बकरे-जैसा भर्राई हुई आवाज में बोले—चुप भी रहो। इस आखिरी वक्त में तो खुदा को याद करो।'

यह कहकर बड़े मियाँ फिर खुदा की याद में डूब गए। हमने भी सोचा, ठीक तो है, इस वक्त खुदा के सिवाय हमारी सुननेवाला और है ही कौन; और उससे दुआ माँगना शुरू किया। इतने में देखा क्या कि वही जालिम बकरा अपने अगले खुर में गज-भर लंबी छुरी दबाए चला आ रहा है। आखिरी वक्त जानकर हम सोलह आने नहीं, सवा सोलह आने बद-हवास हो गए और बस, लगे जोर-जोर से उछलने-कूदने और गला फाड़-फाड़कर चीखने-चिल्लाने। मगर वह जालिम कब तरस खानेवाला था! उसने आते ही हमें खूँटे से खोला, जमीन पर चारों खाने चित पछाड़ा और कहा—'अबे, चीखता-चिल्लाता है! देख, हम तुझे अभी जन्नत भेजते हैं।' और इसके बाद ही हमारी गर्दन पर छुरी रख दी।

अब हम जो चीख मारकर उछले तो, धड़ाम से पलँग के नीचे जा गिरे। बेगम साहबा चौंककर जाग उठीं और घबराकर बोलीं—'क्या हुआ—क्या हुआ? क्या जमीन पर गिर पड़े? कहीं चोट-वोट तो नहीं लग गई?'

हमने पलँग पर पैर रखते रखते कहा—'अजी, कुछ नहीं! नींद नहीं आ रही है; इसलिए हम पलँग से कूदने की प्रैक्टिस कर रहे हैं।'

बेगम साहबा हँसकर बोलीं—'वल्लाह ! कमाल करते हैं आप भी ! भला यह कौन-सा वक्त है कूद-फाँद करने का ? नींद नहीं आती, तो चुपचाप आराम से लेटे रहिए। यह क्या कि बच्चों की तरह लगे धमाधम पैर पीटने ! मैं तो डर गई कि या अल्लाह, यह कैसा धमाका हुआ ! यकीन कीजिए, मेरा कलेजा अबतक धड़क रहा है।'

यह कहकर बेगम साहबा तो लंबी हो गईं; मगर हम इधर-उधर देखने लगे। घड़ी दो बजा रही थी और लैंप की धीमी रोशनी शायद चुपचाप बकरे की कुरबानी का अफसाना सुना रही थी। हमारा दिल तो धड़क ही रहा था और तमाम जिस्म पसीने में डूबा जा रहा था। अभी इस हालत पर हम काबू भी न करने पाए थे कि उधर सहन में बँधा हुआ बकरा चीख उठा। उसकी दर्द-भरी आवाज रात के सन्नाटे को चीरती हुई कुछ इस तरह हमारे कानों से टकराई कि हम उछल पड़े और इरादा कर बैठे—अभी सुबह होने में काफी देर है; बस जल्दी से भाग निकलो। मगर दिल ने कहा—लाहौल विला कूवत ! यह भाग निकलना तो सरासर बुजदिली है, वह भी ऐसी हालत में जबकि तुम खूब जानते हो कि मर्दी और नामर्दी में सिर्फ एक कदम का फासिला है। मतलब यह कि हम अगर छुरी लेकर एक कदम आगे बढ़ते हैं; तो अच्छे खासे मर्द हैं, और अगर एक कदम पीछे हटते हैं तो बने-बनाए नामर्द हैं।

अचानक हमें एक-एक कर अपने बुजुर्गों की बहादुरी के किस्से याद आने लगे। हमारे दादाजान कितने बहादुर थे—हजारों क्या, बल्कि लाखों में एक। जब चाहते थे, हाथी को भी मार गिराते थे। कहते हैं कि उन्होंने एक बार शेर के कान पकड़ लिए थे और उसके जबड़े उखाड़कर रख दिए थे। नानाजान की बहादुरी के डंके तो इलाके-भर में बजते थे। वह बात करते सौ-दो सौ आदमियों से भिड़ जाते थे। तभी तो उनके किस्से खानदान के बच्चे-बच्चे की जबान पर हैं। सुनते हैं कि उन्होंने एक बार किसी भैंस की पीठ पर जरा यों ही बेंत चमका दिया था, तो वह बीच से दो होकर जमीन पर जा गिरी थी। एक और बुजुर्ग थे, जो शायद रिश्ते में अब्बाजान के मामू होते थे। उन्होंने एक बार अकेले ही थोड़े न बहुत, पूरे पचास हथियारबंद डाकुओं का मुकाबिला किया था और मुकाबिला भी ऐसा कि किसी डाकू को जिंदा न छोड़ा था। कहाँ तो ऐसे जवाँ-मर्द शेर-दिल बुजुर्ग और कहाँ उनकी औलाद में हम ऐसे नामर्द बुज-दिल, जो एक बार बकरे पर भी छुरी न उठा सकें। अगर शर्म भी हमें देख ले, तो मारे शर्म के मुँह मोड़ ले। लानत की यह फटकार पड़ी, तो हमारा दिल मजबूत हो गया—बिलकुल इस्पात। बस, हमने इरादा कर लिया—'नहीं जी, बहादुरी तो हमारी बपौती है; हम कुरबानी करेंगे और लाख बार करेंगे।'

अभी हम इन विचारों की गहराई से ऊपर उछलने भी न पाए थे कि सबेरे की ठंढी हवा मीठी-मीठी थपकियाँ देने लगीं और जो हमारी आँखें झँपीं, तो फिर हम ख्वाबों की उसी दुनिया में जा पहुँचे। इतने में देखते क्या हैं कि सुर्ख आसमान से दूज के चाँद की तरह एक टेढ़ी छुरी आँखों में चकाचौंध पैदा करती हुई हमारी तरफ झपटी चली आ रही है। भला अब हम ठहरनेवाले थे ? जी छोड़कर एकदम सरपट भाग खड़े हुए। मगर छुरी थी कि उसी तरह हमारा पीछा पकड़े चली आ रही थी। आखिर हम भागते-भागते थकने लगे और अचानक एक सुर्ख रंगवाले समुद्र के किनारे रुक गए। गौर से देखने पर मालूम हुआ कि उस समुद्र में पानी नहीं, खून लहरें मार रहा है। अब हमें न आगे बढ़ने में खैरियत दिखाई देती थी, न पीछे हटने में। उधर छुरी इतने पास आ पहुँची थी कि पलक झँपते हमारी गर्दन साफ हो जाती। ऐसी मौत से तो समुद्र में ही डूब मरना लाख दर्जे बेहतर है। यह सोचते-सोचते जो हम आँखें बंद कर धम्म से समुद्र में कूदे हैं, तो औंधे मुँह जमीन पर जा गिरे।

बेगम साहबा हड़बड़ाकर उठ बैठीं और बोलीं—'आज तो सोना भी मुश्किल हो गया। यह क्या धमाचौकड़ी मचा रखी है आपने ? नींद नहीं आती, तो खुदा के वास्ते चुपचाप लेटिए। यह कूद-फाँद तो न कीजिए।'

हमने खड़े होते-होते और घुटने सहलाते-सहलाते जवाब दिया—'धमाचौकड़ी मचाते हैं तो हम, कूद-फाँद करते हैं तो हम, आपसे तो कुछ नहीं कहते। फिर आप क्यों घर-भर को सर पर उठाए लेती हैं ? बस, चुपचाप सो जाइए।'

हम पसीने से तर-ब-तर थे, हमारी साँस बराबर फूली हुई थी, दिल की धड़कन पंजाब-मेल से टक्कर लेने में मशगूल थी और हमें साफ मालूम हो रहा था कि छुरी ने जरूर हमारा पीछा किया है। खैर, हमने लाहौल पढ़ते

पढ़ते पसीना सुखोया और कलमा पढ़ते-पढ़ते पलँग पर अड्डा जमाया। इतने में मुर्ग ने कुकड़ूँ-कूँ की पुकार लगाई, जैसे हमें याद दिलाई—'अरे कमबख्त, जरा अल्लाह को भी अपनी फरियाद सुना! शायद वह तेरे काम आ जाय।'

बस, हमने बड़े शौक से वजू किया और नमाज पढ़कर दुआ माँगी—'या अल्लाह! तू बड़ा कार-साज है। जरा हमारी भी सुन ले। बस, इतनी इमदाद कर दे कि हम इस कुरबानी के इंतहान में धड़ाके से पास हो जायँ। अगर तेरी मेहरबानी न हुई, तो हम हमेशा के लिए बेगम साहबा की नजरों से उतर जायँगे। बस, अब तो तू ही हमारी इज्जत-आबरू रखनेवाला है।'

इसमें शक नहीं कि नमाज पढ़ने और दुआ माँगने के बाद हमें ऐसा जान पड़ा, जैसे अल्लाह मियाँ ने हमारी फरियाद सुन ली है, हमारे दिल पर रखी हुई चट्टान हट गई है और अब हम यकीनन कुरबानी करने में कामयाब हो जायँगे। उधर घर के करीब-करीब सब लोग जाग उठे थे। कुछ नहा-धो रहे थे, और, जो नहा-धो चुके थे, वह कपड़े बदल रहे थे। अकेले हमीं ऐसे थे, जो अबतक अफीमचियों की तरह कुरबानी की पिनक में झोंके खा रहे थे। इतने में बेगम साहबा भूचाल की तरह हमारे कमरे में आईं और हवा में झंकार भरती हुई बोलीं—'अरे, आपने अबतक नहाया नहीं?'

हमने चौंककर जवाब दिया—'नहीं, अभी तो नहीं नहाया!'

'फिर कब नहाइएगा? मालूम भी है, बकरीद की नमाज जल्द होती है?'

'गुस्लखाना खाली है?'

'जी हाँ, खाली है! जाइए, नहा डालिए। कुरबानी में देर हो रही है!'

बेगम साहबा ने कुरबानी का जिक्र क्या किया, हमारा जीता-जागता हौसला पस्त कर दिया। हम खानदानी बहादुर हैं, कुरबानी का पक्का इरादा कर चुके हैं, फिर भी ये कुरबानी-कुरबानी की रट लगाए हुई हैं। जी में आया कि साफ जवाब दे दें—'जाइए, अब हम न नहाएँगे, न ईदगाह जायँगे, न कुरबानी करेंगे।' मगर बुजदिली का वही मनहूस सवाल सामने आ खड़ा हुआ। इसलिए हमने दिल को सँभाला और ट्रंक से कपड़े निकालते-निकालते जवाब दिया—'जल्दी भी क्या है।'

वह आँखें निकालकर बोलीं—'क्या कहा—जल्दी भी क्या है? मियाँ, खबर भी है, सात बजे हैं? अगर कुरबानी जल्दी न होगी, तो खाना भी किस तरह जल्दी तैयार होगा? जाइए-जाइए, नहा-धोकर ईदगाह का रास्ता लीजिए और मजहबी फर्ज अदा कीजिए।'

फिर वही कुरबानी—फिर वही मजहबी फर्ज! मगर बुरा हो इस कंबख्त इज्जत-आबरू का! हम अपने सर के बाल नोंचने और कपड़े फाड़ने के बजाय जल्दी से गुस्लखाने में जा घुसे। फिर नहा-धोकर और नए कपड़े पहनकर ताबड़-तोड़ ईदगाह की तरफ भागे। वहाँ एक सच्चे मुसलमान की तरह नमाज अदा करने के बाद हँसी-खुशी ईद की मुबारक-बादियाँ लेते-देते झूमते-झामते घर लौटे, जैसे कुरबानी का खबर ही भूल गए थे। मगर घर के पास पहुँचते-पहुँचते देखते क्या हैं कि दरवाजे पर बुद्धू बकर-कसाई डटा हुआ है और छुरियाँ तेज कर रहा है। बस, दिल ने जल्दी से कहा—'अभी मौका है, नौ-दो ग्यारह हो जाओ!'

मगर अफसोस! बुद्धू ने हमें देख लिया और बड़े अदब से झुककर सलाम किया। अब भाग निकलने का एक ही मतलब होता—शहर-भर में अपनी बुज-दिली का ढिंढोरा पिटवाना। इसलिए हम उसे सलाम का जवाब देते हुए घर में पहुँचे। बेगम साहबा चिलमन से झाँक रही थीं—शायद हमारा ही इंतेजार कर रही थीं। हमें देखते ही दौड़ी आईं और एक इश्तेहार हमारी तरफ बढ़ाते-बढ़ाते लगीं कूकने—'उधर आप ईदगाह गए, इधर मैंने बड़े-बड़े काम कर डाले। पहले तो नमाज अदा की, फिर बुद्धू बकर-कसाई का बुला भेजा। इतना ही नहीं, अंजुमन-इस्लामिया से एक आने में यह इश्तेहार भी मँगवा लिया। देखिए, इसमें मसजिदों की मरम्मत के लिए कुरबानी के चमड़ों की माँग की गई है। कुरबानी की दुआएँ भी लिखी हुई हैं। लीजिए, इसे पढ़िए और जल्दी से कुरबानी कर दीजिए। बड़ी देर हो रही है।'

हमने वह इश्तेहार इस तरह लिया, जैसे गिरफ्तारी का वारंट, बल्कि फाँसी का तहरीरी हुक्म हो। इसके बाद हम बड़े आराम से उस जालिम बकर-कसाई के पास पहुँचे, जो बैठा-बैठा छुरियों से खेल रहा था। उसने हमें तैयार देखकर हमारे हाथ में एक मामूली-सी छुरी पकड़ा दी, जो न ज्यादह लंबी-चौड़ी थी, न ज्यादह वजनी।

मगर न जाने क्यों, हमारे हाथ में कँप-कँपी पैदा हो गई और छुरी अब गिरी-तब गिरी करने लगी। उधर बुद्धू ने हमें बेवकूफों की तरह खड़े हुए देखकर कहा—'पढ़िए दुआ।'

हमने बुद्धू क हुक्म की तामील ऐसी वफादारी से की, जैसे वह हमारा उस्ताद हो। अब खुदा जाने, हम मसजिदों की मरम्मतवाली अपील पढ़ रहे थे, या कुरबानी के चमड़ों की माँग। मगर इतना जरूर कह सकते हैं कि अरबी इबारत में लिखी हुई कुरबानी की दुआएँ हरगिज नहीं पढ़ रहे थे। बस, इश्तेहार पर आँखें गड़ाए खड़े थे, और एक तरह अपने-आपमें खो गए थे। इतने में बुद्धू ने सवाल किया—'पढ़ चुके?'

हम जैसे चौंक पड़े और गर्दन हिलाकर बोल उठे—'हूँ!'

यह सुनते ही वह जालिम बकरे पर इस तरह झपटा कि हमारे हाथ की कँप-कँपी बिजली बन गई, सारे जिस्म में दौड़ती हुई दिल में जा समाई और छुरी उँगलियों के बीच लगी नाच दिखाने, गोया हम जान-बूझकर उसे नचा रहे थे। उधर बुद्धू ने बकरे के चारों पैर पकड़े और उसे इस तरह पटका कि हम फिर चौंक उठे और गिरते-गिरते बचे। इसके बाद उसने अपने कंधे पर से चारखाने-वाला रूमाल उतारा और उसे हमारी आँखों पर डालने के बदले बकरे की आँखों पर डाल दिया। हम उसका मुँह ताकते रह गए और मन में बोले—'रहो बचा, तुम समझते क्या हो, छुरी फेरते वक्त हम खुद अपना मुँह फेर लेंगे।'

बुद्धू ने बकरे को दबाते-दबाते कहा—'लीजिए!... बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर!'

हमारी समझ में कुछ न आया और हमने पूछा—'क्या कहा?'

बुद्धू ने जवाब दिया—'बस हुजूर, अब कुरबानी कीजिए। बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर!'

हमने कँपकँपी दूर करने की कोशिश क्या की, कँपकँपी और भी बढ़ा ली और निहायत भोलेपन से सवाल किया—'तो फेर दें छुरी?'

बुद्धू उखड़कर बोला—'मियाँ, कह तो रहा हूँ, फेरिए न! बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर!'

मगर अफसोस! छुरी हमारे हाथ में इस कदर नाच रही थी कि सरककर जमीन पर जा गिरी। गुस्सा तो बहुत आया, फिर भी हमने किसी तरह उसे उठा लिया और अपने को नये सिरे से कुरबानी करने के लिए तैयार किया। इतने में बेगम साहबा ने परदे के पीछे से हाँक लगाई—'अब आप यह कर क्या रहे हैं? जल्दी से छुरी फेरकर छुट्टी कीजिए न!'

अब क्या था, हमारा जोश उबल पड़ा और हमने मुँह इधर फेरा, छुरी उधर चलाई। साथ ही बुद्धू बोला—'बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर!......मियाँ, इधर—अरे मियाँ, इधर।'

बस, हम उछलकर खड़े हो गए। बुद्धू हमारा मुँह ताकते-ताकते बोला—'हुजूर, डरने की कोई बात नहीं!'

उसका यह कहना था कि हमपर जैसे सैकड़ों जूते पड़ गए और हमने जबर्दस्ती खिसियानी हँसी हँसकर कहा—'भला इसमें डरने की क्या बात है?'

'यही तो मैं भी कहता हूँ। मगर आप तो साफ डर जाते हैं। शायद पहली ही मर्तबा यह कुरबानी कर रहे हैं!'

'और नहीं तो क्या तेरी तरह खानदानी कसाई हैं?'

'हुजूर, मैं यह नहीं कहता। मेरा मतलब सिर्फ इतना है कि आप जरा हिम्मत से काम लीजिए। बस, छुरी फेर दीजिए। वरना ज्यों-ज्यों देर करेंगे, त्यों-त्यों डर बढ़ता जायगा।'

हम उस नामाकूल बदतमीज को कुछ जवाब देना ही चाहते थे कि बेगम साहबा ने फिर पुकार लगाई—'इधर आइए!'

हम छुरी लिए दौड़े-दौड़े उनके पास पहुँचे और बोले—'फरमाइए!'

उन्होंने भर्राई हुई आवाज में कहा—'यह आपको हो क्या गया है? इज्जत-आबरू का भी कुछ खयाल है या नहीं? खुदा के वास्ते कसाई के सामने तो बुज-दिली न दिखाइए।'

मारे गुस्से के हमारा खून खौल उठा। दिल में तो आया कि हम अपनी गर्दन पर छुरी फेर लें और उनसे कहें—'लीजिए, देखिए, हम कितने बुज-दिल हैं!' मगर फिर यह सोचकर रह गए कि अगर हम अपनी कुरबानी कर लेंगे, तो बकरे की कुरबानी कौन करेगा? इसलिए भनभनाते हुए इस तरह बुद्धू के पास पहुँचे कि अब की बार बकरे को ही नहीं, उसको भी जिबह कर डालेंगे, और बोले—'हाँ तो, अब फेर दें छुरी?'

बुद्धू ने खुश होकर कहा—'हाँ-हाँ, फेरिए न !··· बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर !'

मगर इस बार बकरे को जो शरारत सूझी, तो उसने टाँगें फटकारना शुरू कर दिया। भला ऐसी हालत में हम कसे छुरी फेर देते, और फेरने को फेर भी देते, मगर इस छटपटाहट में हमारा हाथ बहक जाता और छुरी खुदा-न-ख्वास्ता उसके और कहीं लग जाती तो क्या होता ? बस, हमने सब्र से काम लेना चाहा और बुद्धू से कहा—'भले आदमी, पहले इसे काबू में तो ला, फिर हम छुरी फेर देंगे।'

मगर उस गधे ने जवाब दिया—'अजी, आप छुरी फेरिए तो सही ! इस कंबख्त के छटपटाने से होता क्या है !'

हमने गुस्से में आकर उसे डाँटा—'अजीब बेवकूफ हो ! भला इस तरह हम कैसे छुरी फेर दें ?'

जवाब में उस गुस्ताख और मुँह-फट कसाई-बच्चे ने कहा—'तो फिर जाने दीजिए।'

अब तो हम मारे गुस्से के बेकाबू हो गए, छुरी फेंक-फाँककर घर में पहुँचे और कुर्सी पर गिरते-गिरते बेगम साहबा से बोले—'जाइए, अब आप ही कुरबानी कीजिए। हम तो इस कसाई-बच्चे की गुस्ताखियाँ बरदाश्त नहीं कर सकते।'

बेगम साहबा का हमेशा से यह कायदा रहा है कि हमारे मुकाबिले कसाई तो क्या, अगर भंगी भी होगा, तो वह 'उसी की तरफदारी करेंगी और हमारा कलेजा जलाएँगी। इस मौके पर भी उन्होंने खूब डटकर बुद्धू की तरफदारी की और तड़ाक से कहा—'उस गरीब ने ऐसी कौन-सी बात की, जिससे आपको इस कदर गुस्सा आ गया ?'

हमारी बेगम साहबा, हमारी जिंदगी में शामिल रहनेवाली, हमारे सुख-दुख में हिस्सा बँटानेवाली और वकालत करें गैर की···और गैर भी कौन ? मुँह-फट, बद-तमीज, गुस्ताख बुद्धू कसाई ! मारे गुस्से के हम पागल हो गए और मन-ही-मन अपना सर पीटकर बोले—'जी नहीं, कोई बात नहीं की ! फिर यह बदतमीजी—यह गुस्ताखी किसने की ? हमने ?'

उन्होंने हमें और भी जलाने के लिए अपने होंठ जैसे जहर में बुझी हुई मुसकान से रँग लिए और फरमाया—

'आखिर कौन-सी बद-तमीजी—कौन-सी गुस्ताखी ? वह आपसे कुरबानी करने के लिए ही तो कह रहा था और आप थे कि छुरी भी नहीं फेर सकते थे !'

'तो क्या कुरबानी करने के लिए ऐसी बदतमीजी से—ऐसी गुस्ताखी से कहा जाता है ? जाइए, अब हम न करेंगे कुरबानी। आप ही कीजिए, आप ही को मुबारक हो ऐसी कुरबानी।'

'यह तो खैर, कुरबानी न करने का बहाना है।'

'बहाना है ?'

'और क्या, बहाना तो है ही !'

'खैर, बहाना ही सही। अब आप जाइए और शौक से कुरबानी कीजिए।'

'कौन—मैं ?'.

'जी हाँ—आप।'

'कुरबानी तो मैं अभी कर डालूँ, मगर आपकी इज्जत-आबरू पर पानी फिर जायगा। दुनिया कहगी कि जो काम मियाँ से न हुआ, वह बीवी ने कर दिखाया। बस, यही सोचकर रह जाती हूँ।'

'दुनिया कुछ भी कहती रहेगी, कुरबानी तो हो जायगी।'

बेगम साहबा का गला भर आया। उन्होंने अटकते-अटकते कहा—'मुझे क्या मालूम था कि आप जरा-सी कुरबानी के लिए यों मेरा जी जलाएँगे। कसम है जो अब कभी आपसे बात भी करूँ।'

इस इंजेक्शन ने जादू का काम किया। हमारा गुस्सा हिरन हो गया और हमने घबराकर कहा—'खुदा की कसम, कहीं ऐसी ज्यादती पर उतर भी न आना, वरना हम बे-मौत मर जायँगे !'

'तो फिर जाइए, कुरबानी कीजिए।'

'यह लीजिए—अभी, इसी वक्त !'

अब हम नए जोश के साथ बुद्धू के पास पहुँचे और बोले—'ला भाई छुरी, तू भी क्या कहेगा ?'

मगर वह कंबख्त बेगम साहबा की शह पाकर और भी बद-तमीज हो चुका था, आँखें मटकाकर बोला—'यह लीजिए।'

बस, गुस्सा फिर हम पर सवार हो गया। जी में तो आया कि अपनी और बुद्धू की जान एक कर दें, मगर

बेगम साहबा के मारे इतनी आजादी थी ही कहाँ ! इस-लिए हमने बुद्धू को आँखों-ही-आँखों में खा जाने के अंदाज से घूरकर छुरी ले ली। बुद्धू ने मुस्तैदी से बकरे को दबाते हुए कहा—'हाँ फेरिए छुरी,…बिस्मिल्लाहे अल्लाहो अकबर !' और इस बार हमने भी एकदम आँखें बंद कर और दाँत किटकिटाकर छुरी फेर दी।

मगर यह क्या ! छुरी का फेरना था कि बुद्धू ने 'हाय, मार डाला'—'हाय मार डाला' के शोर से सारा घर सर पर उठा लिया। हमने घबराकर जो आँखें खोलीं, तो देखा—बकरा भागकर सहन के एक कोने में दबका जा रहा है और बुद्धू के हाथ से खून का फव्वारा छूट रहा है। अब हम थे कि छुरी लिए चोर की तरह हक्का-बक्का खड़े थे और बेगम साहबा थीं कि चिलमन की ओट में ताव-पेंच खा रही थीं। उधर तमाम महल्ला हमारे दरवाजे पर जमा था और खुदा जाने, लोग हमारी तरफ उँगलियाँ उठा-उठाकर क्या कह रहे थे। बस, यह हालत थी कि हम तो मारे शर्म के गड़े जाते थे और वह मक्कार कसाई कुछ तो दर्द की वजह से और कुछ हमदर्दी लूटने के ख्याल से चिल्ल-पों मचा रहा था।

वह दिन है और आज का दिन, फिर बेगम साहबा ने कभी हमसे कुरबानी करने के लिए नहीं कहा। अगर वह कभी कहेंगी भी और हम राजी भी हो जायँगे, तो इस खबर के बाद भला कौन बकर-कसाई हमारे दरवाजे पर कदम रखने की हिम्मत करेगा ? मतलब यह कि अब हमें उम्र भर के लिए कम-से-कम कुरबानी की तरफ से तो छुटकारा मिल ही गया है।

विवशता : प्रो० गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेंद्र'

चाह कर भी क्यों न जी भर मैं तुम्हें कर प्यार पाता ?
रूप की भास्वर विभा में तडित्-सी दुरती, दिखाती
खेल यौवन-संग करती जब प्रिये ! तुम पास आती;
मैं खड़ा निर्वाक् विस्मित नयन क्यों नभ में बिछाता ?
उमड़ पड़ता है तुम्हारा प्रेम का उन्मत्त सागर
सरल मेरी प्रेम-सरि को जब अचानक अंक में भर,
मैं लुटा-सा ज्वार में क्यों प्राण ! वह तत्काल जाता ?
झाँकती दृग में तुम्हारे, दग्ध अंतर की पिपासा
मूक वाणी में तुम्हारे प्राण की अस्पष्ट भाषा !
सुमुखि, कोई मौन चिंतन प्राण को क्यों धर दबाता ?
हृदय-कंपन में तुम्हारे धड़कता जब मुग्ध यौवन,
श्वास में होता प्रवाहित सतत मेरा विकल जीवन।
टूट नभ का एक तारा नयन में क्यों आ समाता ?
गूँज उठता हृदय में जब वलय-कंकण का मधुर स्वर,
सृष्टि हो उठती प्रिये ! निस्तब्धता से विकल, जर्जर।
विगत कोई स्वर्ण दिन क्यों प्राण को मेरे भ्रमता ?
बाँध लेता है हमें बढ़ बाहु-बंधन जब सुदृढ़तर,
और मिल जाता अधर से अधर-पल्लव-सा मनोहर,
भ्रांत-सा क्यों हाय ! तत्क्षण देह की सुध-बुध गँवाता ?
आत्म-विस्मृति में हमारे मिलन का शुभ काल कटता,
पर बिछुड़ कर प्राण ! तुमसे सतत मेरा हृदय फटता।
यह प्रिये ! मेरा-तुम्हारा युग-युगों का प्रेम-नाता,
चाह कर भी क्यों नहीं फिर मैं तुम्हें कर प्यार पाता ?



भारतीय वाङ्मय

१. संस्कृत का कथा-साहित्य

संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व-व्यापकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार के साहित्य को इन भारतीय आख्यानों ने बहुत प्रभावित किया। इन कथाओं के लोकप्रिय होने का कारण यह है कि हास्य और कुतूहल से संयुक्त इनके विनोदात्मक उपदेश बड़ी ही सरस, सरल और समाकर्षक शैली में लिखे गए हैं। संस्कृत भाषा की इन औपदेशिक जंतु-कथाओं और लोककथाओं का अपना विशिष्ट स्थान है।

संस्कृत-साहित्य में ये कथाएँ दो प्रकार से लिखी गई हैं। पहली प्रकार की कथाएँ वे हैं जो नीति-प्रधान हैं। इनमें पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाओं का निर्देश किया जा सकता है। दूसरी प्रकार की कथाएँ लोक-कथाओं के नाम से अभिहित की जाती हैं। लोक-कथाओं में 'वृहत्कथा' का उल्लेख किया जाता है।

ये मनोरंजक कथाएँ लोकजीवन को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं। इनमें मोक्षातिरिक्त त्रिवर्ग--धर्म, अर्थ और काम का ही प्रतिपादन है। पशु-पक्षी और धूर्त-लंपटों की इन कथाओं में रोचकता के साथ-साथ नीतिपरक विचारों का भी शुष्ठु समावेश दर्शनीय है। शिशु-जीवन की कुतूहलमयी प्रकृतियों को स्पर्श करने और उनकी जिज्ञासाओं को उत्तरोत्तर बलवत्तर बनाने की असाधारण क्षमता इन कथाओं में विद्यमान है। सरल और रोचक भाषा में लिखी होने के कारण संस्कृत के आरंभिक विद्यार्थियों के लिए इन कथाओं का बड़ा महत्त्व है। वेदों से लेकर उपनिषद्, पुराण और बौद्ध जातकों तक में इस प्रकार की आख्यायिकाओं का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है; फिर भी लौकिक साहित्य में 'महाभारत' (६०० ई० पू०) से इन कथाओं की परंपरा को उद्धृत किया जा सकता है। 'महाभारत' में वर्णित पुण्यात्मा बिल्ली और नीति-पटु सियार की कथाएँ इसके उदाहरण हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश और वृहत्कथा में इसी प्रकार की कथाओं का समावेश है।

पंचतंत्र

'पंचतंत्र' आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। इसके चार विविध संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में अनूदित (५३३ ई०) संस्करण, दूसरा गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' का, जो-सोमदेव-(१०००ई०) कृत 'कथासरित्सागर' में सुरक्षित है, तीसरा 'तंत्राख्यायिका'-वाला संस्करण (३०० ई०) और चौथा दक्षिण भारतीय (६०० ई०) संस्करण। प्रो० हर्टल और डा० एजर्टन ने इन्हीं उक्त संस्करणों के आधार पर 'पंचतंत्र' पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है।

विद्वानों की अंतिम राय है कि 'पंचतंत्र' की रचना ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व हो चुकी थी। इसकी लोकप्रियता और विश्व-व्यापकता का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि प्रचार की दृष्टि से 'बाइबिल' के बाद 'पंचतंत्र' का ही स्थान है। आजतक इसके पचास से अधिक भारत की बाहरी भाषाओं में लगभग २५० संस्करण निकल चुके हैं और आज भी इसपर कार्य हो रहा है।

'पंचतंत्र' की उपलब्ध प्रति में पाँच तंत्र (अध्याय) हैं—मित्रभेद, मित्रलाभ, संधि-विग्रह, लब्ध-प्रणाश और अपरीक्षितकारक। महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति के तीन मूर्ख पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए विष्णुशर्मा-नामक ब्राह्मण ने छः मास तक उन्हें 'पंचतंत्र' की शिक्षा दी थी।

हितोपदेश

औपदेशिक जंतु-कथाओं में 'पंचतंत्र' के बाद 'हितोपदेश' की गणना आती है। 'पंचतंत्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रंथादाकृष्य लिख्यते' वाक्य से स्पष्ट है कि 'हितोपदेश' का रचयिता 'पंचतंत्र' से ही प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि 'हितोपदेश' की ४३ कथाओं में २५ कथाएँ 'पंचतंत्र' से ही ली गई हैं। 'हितोपदेश' में—मित्रलाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और संधि—ये चार परिच्छेद हैं।

संस्कृत के आरंभिक अध्ययन के लिए 'पंचतंत्र' की अपेक्षा 'हितोपदेश' का अधिक प्रचलन है। इसका कारण

यह है कि 'हितोपदेश' की भाषा-शैली में सुगमता, सरलता और सरसता अधिक है। इसके श्लोक बड़े उपदेशात्मक और नीति-परक हैं। जहाँ पद्य-भाग की अधिकता है, वहाँ कथा की रोचकता अवश्य कम हो गई है। 'हितोपदेश' का रचयिता नारायण बंगाल के राजा धवलचंद्र का सभा-पंडित था। 'हितोपदेश' का रचनाकाल १४ वीं शताब्दी है।

वृहत्कथा

संस्कृत के कथा-साहित्य में जिस प्रकार औपदेशिक जंतु-कथाओं में 'पंचतंत्र' का प्रधान स्थान है उसी प्रकार मनोरंजनात्मक लोक-कथाओं में 'वृहत्कथा' की प्रमुखता है। 'पंचतंत्र' और वृहत्कथा की कथाओं में सबसे बड़ा अंतर यह है कि 'पंचतंत्र' की कथाएँ जहाँ पशु-पक्षी-प्रधान हैं, 'वृहत्कथा' के पात्र वहाँ मनुष्य-प्रधान हैं। इसीलिए 'पंचतंत्र' आदि की कथाएँ औपदेशिक जंतु-कथाओं के रूप में प्रचलित हैं और वृहत्कथा की कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में परिचित हैं।

'वृहत्कथा' पंचतंत्र से प्राचीन थी। मूल 'वृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी और उसमें एक लाख पद्य थे। 'काव्यादर्श' का रचयिता दंडी (सप्तम शताब्दी) 'वृहत्कथा' को गद्य-बद्ध होना लिखता है। मूल 'वृहत्कथा' उपलब्ध नहीं है। इस कथा-ग्रंथ का रचयिता महाराज हाल का सभा-पंडित गुणाढ्य था। गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित लोक-कथाओं को एकत्र कर इस वृहत्काय कथग्रंथ का प्रवचन किया था। उसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी था।

पश्चिमीय पंडितों ने 'महाभारत' को 'एपिक विदिन एपिक (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कहकर अभिहित किया है। 'महाभारत' की भाँति ही 'वृहत्कथा' भी अनेक काव्यों-महाकाव्यों की जन्मदात्री है। 'महाभारत' क उपाख्यानों पर रचे गए अनेक काव्य, महाकाव्य और नाटकों के द्वारा जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य की प्रशंसनीय अभिवृद्धि हुई है, ठीक उसी प्रकार 'वृहत्कथा' के कथानकों के आधार पर भी संस्कृत-साहित्य में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। भास, श्रीहर्ष, शूद्रक, दंडी और बाण-प्रभृति नाटककारों एवं महाकाव्यकारों ने 'वृहत्कथा' के कथा-सूत्रों पर वृहत्काय ग्रंथों की रचना की है। 'वृहत्कथा' के नीचे लिखे तीन संस्कृत रूपांतर आज उपलब्ध होते हैं—

१. वृहत्कथा-श्लोक-संग्रह—'वृहत्कथा' का यह प्राचीनतम रूपांतर है। इसके रचयिता बुद्ध स्वामी हैं, जो कि नेपाल के रहनेवाले थे। इनका स्थितिकाल आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच है। इस संग्रह के २८ सर्गों में केवल ४, ५२४ श्लोक ही उपलब्ध हैं।

२. वृहत्कथा-मंजरी—इसके रचयिता क्षेमेंद्र कश्मीर के राजा अनंत (१०२६-१०६४ ई०) के सभा-पंडित थे। इस संग्रह में ७,५०० श्लोक हैं। इसकी भाषा और कथानक दोनों में प्रभावोत्पादकता की कमी है।

३. कथासरित्सागर—तीसरा अनूदित रूप है। इसके कर्ता सोमदेव क्षेमेंद्र के ही समकालीन और समदेशीय थे। इसकी रचना लगभग १०३७ ई० में हुई थी। इस रूपांतर में २४,००० श्लोक हैं। प्राचीनता और वृहत्काय की दृष्टि से विश्वभर का कोई भी कथा-संग्रह 'कथा-सरित्सागर' की समकक्षता नहीं रखता है।

इसके पश्चात् संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों की परंपरा शिथिल दिखाई देती है। 'वृहत्कथा-मंजरी' और 'कथासरित्सागर' के अनुकरण पर रचे गए, शिवदास (१२०० ई०) और जंभलदत्त (१३०० ई०)-कृत 'वैताल-पंचविंशतिका' (वैताल-पचीसी) की २५ कथाओं के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। ये कहानियाँ बड़ी रोचक, व्यावहारिक और कुतूहलपूर्ण शैली में लिखी गई हैं। बौद्ध और जैन विद्वानों ने भी कथाओं के क्षेत्र में बड़ा काम किया है। किसी अज्ञातनामा बौद्ध कथाकार का भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म-संबंधी कथाओं पर लिखा हुआ 'अवदान-शतक' सबसे प्राचीन संग्रह है। आर्यशूर (चौथी शताब्दी)-कृत 'जातकमाला' में जातकों की पद्यबद्ध कथाएँ वर्णित हैं। इसी प्रकार जैनाचार्य हेमचंद्र (एकादश शताब्दी)-कृत 'परिशिष्टपर्वन्' का नाम भी उल्लेखनीय है।

कुछ अज्ञातनामा कथाकारों के, ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच लिखे हुए, कथा-संग्रह मिलते हैं। इनमें 'सिंहासन - द्वात्रिंशिका' (सिंहासन-बत्तीसी) और 'शुक-सप्तशती' के अनेकविध संस्करण उपलब्ध होते हैं। 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' में धारा-नरेश भोज (१०१८-६३ ई०) का उल्लेख मिलता है। 'शुक-सप्तशती' १४ वीं शताब्दी में फारसी भाषा में अनूदित हो चुकी थी। १५ वीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध मैथिल-कोकिल विद्यापति-कृत पुरुष-परीक्षा और १६ वीं शताब्दी में

वल्लालसेन-कृत 'भोज-प्रबंध' की कथाओं में संस्कृत-साहित्य का यह रुचिकर अध्याय समाप्त-सा हो जाता है।

इन भारतीय कथाओं का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर इसके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समान रूप ने इनका आदर हुआ है। विश्व-साहित्य में एक युगांतर उपस्थित करनेवाली इन भारतीय कथाओं की सुरुचिपूर्ण आडंबर-रहित सीधे-सादे ढंग की वर्णन-शैली ने ही इन्हें विश्व-व्यापक संमान प्रदान किया है। भारतीय मनीषियों की यह देन उनकी असामान्य प्रतिभा को युग-युगों तक अमर बनाए रहेगी।

—वाचस्पति शास्त्री

२. पंजाबी के महाकवि वारिस शाह

आम जनता में पंजाबी और उसके साहित्य के संबंध में यह गलत धारणा फैल गई है कि यह एक संप्रदाय की भाषा है। कई लोग इसे सिक्खों की भाषा घोषित कर इसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं। इस संबंध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पंजाब के सब साहित्यिक एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि वारिस शाह पंजाबी भाषा के सर्वोत्तम कवि हैं। पंजाबी भाषा के आदिकवि बाबा फरीद थे। यद्यपि इसके आदिकवि और महाकवि दोनों ही मुसलमान थे तथापि इन दोनों की कविताएँ सांप्रदायिक बंधनों से दूर हैं। इनकी कविताएँ मानवता का संदेश देने के लिए थीं और आज भी उनमें वही स्फूर्ति है जो कि शताब्दी पहले थी। आज हम पंजाबी के महाकवि वारिस शाह के संबंध में प्रकाश डालते हैं।

अठारहवीं शताब्दी के पंजाबी-साहित्य की सबसे महान रचना कवि वारिस शाह की 'हीर' है। यह इतनी विस्तृत, प्रभावशाली और मौलिक रचना है कि इससे पूर्व के पजाबी साहित्य में ऐसी अन्य कोई दूसरी रचना नहीं थी। वारिस शाह के वर्णन करने का नाटकीय ढंग, अपनी मिरजई शब्दावली, सुंदर अलंकार और समय की कटाक्ष-भरी आलोचना, उनके विशेष आकर्षण हैं। वारिसशाह का जन्म १७३५ ई० में, जिला शेखूपुरा (जो कि आजकल पश्चिमी पाकिस्तान में है) के ग्राम जड़ियाले में हुआ। उनके पिता का नाम सैयद गुलशेर खाँ था। उस समय भारत में यवनों का राज्य था। मुसलानों में सैयद बड़े प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा कसूर के एक मुसलमान आलिम 'हजरत मखदूम' के पास हुई। वारिस शाह बहुत बड़े विद्वान और अनुभवी थे और उनकी सारी रचना में उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ की झलक दिखाई देती है। वारिस शाह की एक ही रचना 'किस्सा हीर-रांझा' है। परंतु इसे ही विद्वानों ने पंजाबी का महा-काव्य कहा है। कई लोगों का यह भी मत है कि 'हीर-रांझा' लिखने के पूर्व उन्होंने अवश्य और भी कविताएँ लिखी होंगी; क्योंकि एकाएक इतनी श्रेष्ठ कविता की रचना नहीं की जा सकती। डाक्टर मोहनसिंह दीवाना जिन्होंने पंजाबी साहित्य में बहुत ही खोजपूर्ण काम किया है, कहते हैं कि हजरत मखदूम की संगति में रहने के कारण वारिस शाह एक सूफी कवि बन गए थे। वह संसार से विरक्त भी हो गए थे। उनका काव्य 'हीर-रांझा' अलौकिक प्रेम का नमूना है और इसमें 'इश्के-हकीकी' का अद्भुत वर्णन है। यह भी मत है कि वारिस शाह का किसी महिला 'भागभरी' से प्रेम था। भागभरी हिंदू थी, इसलिए उससे इनका संबंध न हो सका। 'हीर-रांझा'--यह भागभरी के नाम खुली चिट्ठी है। पुस्तक से यह भाव स्पष्ट प्रकट होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी रचना में भागभरी का नाम बहुत बार आया है; परंतु डा० मोहन सिंह का मत है कि वारिसशाह का किसी भी भागभरी से प्रेम नहीं था। भागभरी शब्द उस समय हर महिला के लिए प्रयोग कर लिया जाता था जिसका नाम-पता अज्ञात होता था। भागभरी का नाम जहाँ-जहाँ आया है, उनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं।

१ कीजै हुसन दा मान न भागभरिए,
हल जाएगा रूप विचारिए नी।
२ वारिस शाह नु मार न भागभरिए,
अनी मनस दीए प्याई वास्ता ई।
३ किसे भागभरी इहनू जमिआ ई,
एहता हुसन दी करन दा टोटड़ाई।
४ लड़िए आप बरोब रा भागभरिए,
सौ पकड़ यतीम नू मारना की।

वारिस शाह का सारा किस्सा उनकी विशेषताओं से परिपूर्ण है। सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि संक्षिप्त से संक्षिप्त भाव भी प्रकट किए गए हैं। भाषा सरल और मौलिक है। उसमें कोमल-से-कोमल भाव भी बड़ी

योग्यता से प्रकट किए गए हैं। उनकी लिखी हुई तुकें आज भी पंजाबी भाषा के विशेष मुहाविरे बनी हुई हैं। य मुहाविरे कवि के जीवन-संबंधी अनुभव के सार हैं और वे सुंदर उपमाओं-अलंकारों-सहित सर्वसाधारण लोगों के हृदयों में आज भी अपना स्थान बनाए हुए हैं। उदाहरण के लिए—

१ अट्ट आशकी वेल अंगूर दी ए,
जड़ों पुटके मूल ना सुटिए जी।
२ वारेशाह न जादिया आदता ने,
भवे कट्टिए पोरिये पोरिए वी।
३ अत्तर लगसी औना दे लीड़िया नू,
जिहड़े सौहबती हौन अत्तर दे जी।
४ वारिस रन फकीर तलवार छोड़ा,
पौर घौक अट्ट किसे दे मीत नाहीं।
५ जट भोर ने चुगल दी जीभ वांगू,
मुझे रहिम ना दीदड़े यार दे जी।
६ सौकन रन ग वाडू कपतिया दा
भले मरद दे बाब दा सौग है जी।
७ बिल्ली, रू फकीर ने अंग बाँदी,
इना फिरन छरो चटीकार है वे।
८ कोई कच ते लाल न होय जादा,
जो परोई दे नाल अट्ट लाल दे जी।

वारिस शाह के महाकाव्य की कहानी एक साधारण प्रणय-कथा है। पर उसको अपनी कथा में वर्णित करते समय उन्होंने उस समय के पंजाब का पूर्ण चित्र अंकित कर दिया है। इस कहानी को इससे पूर्व भी दामोदर आदि कुछ कवियों ने लिखने का यत्न किया था, परंतु वे सफल नहीं हो सके। वारिस की रचना की आकर्षकता कहानी में नहीं, परंतु उसे प्रस्तुत करने की मौलिकता में है। कहानी का नायक रांझा है और नायिका है हीर। दोनों के प्रेम में 'कैदी' नाम का एक व्यक्ति रुकावट पैदा करता है। हीर का विवाह किसी खेड़ा परिवार में कर दिया जाता है। रांझा फकीर बनकर हीर की खोज में ही सारा जीवन बिता देता है। कवि अपने भावों का चित्रण इस प्रकार करता है, मानों, हीर बिलकुल सामने खड़ी है। रोमांचकारी कथा में सांसारिक प्रेम के साथ-साथ इश्के-हबीबी का आनंद भी प्राप्त होता है। काजी और मुल्ला लोग किस प्रकार मजहब के नाम पर लोगों को धोखा देते थे, इस का चित्र भी बड़ी सुंदरता से कवि ने प्रस्तुत किया है। मस्जिद के मुल्ला को खरी-खरी सुनाते हुए कवि कहता है—

वास हलविदा दी, खबर मुरदिया दी।
नाल दुआई जवंदे मार दे हो।
शरा जाए सरपोश बनाइया जे,
खादार बड़े गुनागार दे हो।
पिछली रात जा मुख दा वकत हुंदा,
उस हाल ही हाल पुकारदे हो।
अहना लूलिया, कोहड़िया वांग बैठे,
कूड़ा मरन जहान दा डारदे हो।

उस समय की हलचल का वर्णन करते हुए वारिस शाह कहता है—

जदो देश दे जट सरदार होए,
छरो छरी जां नवी सरकार होई।
अशराफ सूआर, कमीन जाता,
जिम्मीदार नू बड़ी बहार होई।
चोर चौधरी मारनी पाक दामन
मूत मंडली एक थी चार होई।

अपनी नायिका हीर के सौंदर्य का तो उन्होंने अनुपम वर्णन किया है—

कई हीर दी करे तारीफ शादिर
मथे थमकका हुस्न महताब दा जी।
खूनी चूड़िया रात ज्यों चंद दुमाले
सुराख रंग ज्यों रंग शराब दा जी।
नयन नरगसीमिरंग मसौलड़े दा जी
गल्लां टहकदियाँ फुल गुलाब दा जी।
भवा बाग कमान लाहौर दिस्सन,
कोई रूप न अन्त हिसाब दा जी।
सुरमा नैना दी धार में फब रिहा,
मड़िया हिंद ते करक पंजाब दा जी।

वारिस शाह के वर्णन में कई स्थानों पर इतना माधुर्य है कि पाठक के हृदय में स्वाभाविक हूक उठने लगती है। वारिस शाह को भी अपनी 'हीर' की महत्ता का पूरा अनुभव था। इसीलिए तो उन्होंने कहा भी—

आगे हीर किसे न कही ऐसी
शेयर बहुत मकगूव बनाइया है।
ऐसा शेयर कीता पुरमगज मोजू
जेहर मोतिया लड़ी सुआर दी जी।

पंजाब के इस महाकवि की महत्ता इससे प्रत्यक्ष हो जाती है कि उन्होंने जो भी लिखा है, इतना साफ और

प्रभावोत्पादक लिखा है कि सुनने-पढ़नेवालों के मुँह से अनायास 'वाह' निकलकर ही रहता है। इस पंजाबी महाकवि के काव्य की सुषमा का रसास्वादन भारत के सभी भाषा-भाषियों को करना चाहिए।

—हरिवंश

३. एक उपेक्षित शायर

जुलाई, १९५४ की 'अवंतिका' में श्री नरेंद्रनारायणलाल-लिखित 'उर्दू का काव्य-साहित्य'-शीर्षक निबंध पढ़कर प्रसन्नता हुई। विद्वान लेखक ने उर्दू से अपरिचित व्यक्तियों को, उर्दू काव्य के महत्त्व की कुछ जानकारी कराने की जो कोशिश की है, वह कम सराहनीय नहीं, किंतु यह देखकर, न केवल मुझे ही, बल्कि अनेक उर्दू-काव्य-प्रेमियों को कष्ट हुआ कि निबंध में जहाँ 'मीर' से लेकर 'नजीर' तक, 'अकबर' इलाहाबादी से लेकर 'कुश्ता' गयावी तक और गोपीनाथ 'अमन' से लेकर नरेश कुमार 'शाद' तक के नामोल्लेखक हुए हैं, वहाँ एक पुर-कमाल, राष्ट्रसेवी, किंतु गोशानशीन शायर श्री भुवनेश्वरदत्त शर्मा 'व्याकुल' गिरीडीहवी का नाम छूट गया है। कैसे और क्यों छूट गया, मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहती; कहना केवल यह चाहती हूँ कि 'व्याकुल'-जैसे तेजस्वी उर्दू शायर को—जिसने अपनी पुर-जोर राष्ट्रीय रचनाओं ही के कारण, तीन-तीन बार जेल-यात्रा की, राष्ट्रीय आंदोलन-काल में जिसकी ओजपूर्ण गजलें, विहार की अनेक राष्ट्रीय सभाओं में गाई जाती रहीं और जिसकी कविताओं के संबंध में 'कर्मवीर'-संपादक श्री माखनलालजी चतुर्वेदी ने इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया है—'व्याकुल' उपनाम से, उर्दू भाषा में लिखी, श्री भुवनेश्वरदत्तजी की राष्ट्रीय कविताएँ सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। ये कवि हैं और राष्ट्रीयता इनमें कूट-कूटकर भरी है। अब इन्हें और उपेक्षित रहने देना, न केवल शायर, वरन् साहित्य के प्रति भी अन्याय है। व्याकुलजी के काव्य में राष्ट्रीयता किस हद तक भरी है, इसका अनुभव पाठक स्वयं कर सकते हैं—

न इज्जत दे, न अजमत दे, न सूरत दे, न सीरत दे,
वतन के वास्ते या रब ! मुझे मरने की हिम्मत दे,
मुझे मतलब नहीं दैरोहरम या दीनो ईमाँ से
वतन का प्यार दे, शाने—सदाकत दे, सखावत दे।
पिला दे आज 'व्याकुल' को मए इश्के-वतन साकी,
कि पीकर मस्त हो जाए, इसे पीने की आदत दे।

× × ×

सूरमा के कौन कहता है कि दर्दे-दिल नहीं ?
दिल नहीं, दिलवर नहीं, लैला नहीं, महमिल नहीं ?
सब हैं उसके, दिल भी है, दिलवर भी है, लैला भी है,
इश्को उल्फत आशिको माशूक की चर्चा भी है,
पर सभी हैं हेच एक हुब्बे-वतन के सामने,
इश्क मुर्दा है शहीदों के कफन के सामने !

× × ×

खरीदे कोई हम यह सर बेचते हैं,
कलेजा, दिलोजाँ, जिगर बेचते हैं,
शजर बेचते हैं, समर बेचते हैं,
खुदा की कसम, मालोजर बेचते हैं,,
बहन, भाई, मादर, पिदर बेचते हैं,
वतन के लिए घर का घर बेचते हैं !
यह नाजों का पाला पिसर बेचते हैं,
जनोमर्द, लख्ते - जिगर बेचते हैं,
इलाही ! यह नूरे-नजर बेचते हैं,
समझ-सोचकर, जान कर बेचते हैं,
इधर बेचते हैं, उधर बेचते हैं,
वतन के लिए घर का घर बेचते हैं।

—फरोख्त

इस प्रकार के अशआर लिखनेवाला शायर क्या उपेक्षा का पात्र है।

चाहिए तो था कि इस एकांतसेवी शायर को हम ज़बर्दस्ती पाठकों के सामने ला रखते; लेकिन···! छोटा नागपुर-प्रदेश के घनघोर जंगल में छिपे, हिंदी भाषा-भाषी होते हुए भी, उर्दू-काव्य-साहित्य में 'व्याकुल'जी की यह सफलता, स्तुत्य ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

व्याकुलजी के संबंध में विशेष न लिखकर यहाँ मैं उनकी कुछ और अन्य रचनाएँ ही उद्धृत कर रही हूँ, ताकि कविता-प्रेमी पाठक इन्हें पढ़कर, समझ सकें कि यह उपेक्षित और गोशानशीन शायर तथा उसकी शायरी क्या है।

आधुनिक कवि या शायर किसानों, मजदूरों तथा गरीबों के लिए कुछ न लिखे—यह संभव नहीं। 'व्याकुल' जी ने भी इस समुदाय पर लिखा है और खूब लिखा है। तनिक 'बेबसी'-शीर्षक एक नज्म की ओर मुलाहिजा फरमाइए—

देखता हूँ, पा नहीं सकता मगर—
क्योंकि मेरे पास पैसे हैं नहीं।
होटलों में—
गोश्त, अंडे, रोटियाँ,
दूध, बिरियानी, मुतंजन, सब्जियाँ,
लोफ, बिस्कुट, केक, मक्खन, दाल-भात,
चाय, कॉफी और तलती-मछलियाँ,
भूख तो है, खा नहीं सकता मगर—
क्योंकि मेरे पास पैसे हैं नहीं!
सेठ की दूकाँ में—
अच्छी धोतियाँ,
मलमलो-साटन, सुहानी साड़ियाँ,
छींट, रेशम, ऊन, तोशक, तौलियाँ,
मफ्लरो-स्वेटर, रजाई, गंजियाँ,
पास इनके जा नहीं सकता मगर—
क्योंकि मेरे पास पैसे हैं नहीं!

और इसी प्रकार—

यह बस्ती भी क्या बस्ती है!
यह फाकामस्तों के घर हैं।
यह भूखमरों की बस्ती है।
याँ सुख का सौदा महँगा है।
याँ दर्दो-मुसीबत सस्ती है।
यह बस्ती भी क्या बस्ती है!
हर सिम्त यहाँ है कंगाली,
आती है नजर बस पामाली,
काफूर हुई है खुश-हाली,
ना ईद यहाँ ना दीवाली,
हर चीज को जान तरसती है!
बीमार कोई पड़ता है कभी,
न हवा, न दुआ, न दवा मिलती,
रहती है, फकत जब लाश पड़ी,
बेशर्म वहीं अलमस्त खड़ी—
सरमायादारी हँसती है!

—भूखमरों की बस्ती

हर घड़ी मोटरें—चलाते हैं,
हुक्म मालिक के बजा लाते हैं,
रात हो या कि दिन हो, क्या पर्वा,
आते जाते हैं, जाते आते हैं,
फिक्र खाने की और न पीने की,
याद रहती है सिर्फ जीने की!

इतना ही नहीं, व्याकुलजी की कविताओं में केवल वर्तमान की विषम कठिनाई और पस्त जिंदगी का ही वर्णन नहीं है; उनकी कविताओं में आशा की यह झलक मिलती है कि आज के भीषण दुःख-दैन्यपूर्ण जीवन की मुसीबत टलेगी—निश्चय टलेगी।

मुसीबतों का सामना,
किया है और कर रहे हैं और करते जायँगे,
मरे हैं भूखों, मर रहे हैं और मरते जायँगे,
मगर, वह दिन भी जल्द ही जरूर आयेगा कि हम
नहीं, नहीं, नहीं सहेंगे, यातना पै यातना,
मुसीबतों का सामना!
मुसीबतों की जिंदगी,
जो हम पै लाद दी गई है, ख्वामख्वाहो जब्रिया?
जो हमको सौंप दी गई, 'नसीब की कथा' सुना,
गवाह किर्दगार है, पलट के हम बनाएँगे,
इसे नफीस और नई कि बे-मिसाल वाकई,
मुसीबतों की जिंदगी!

—अहदे गुरबा

इसी प्रकार 'इन्क़लाब का स्वागत', 'भूखे का सपना', 'दिवाली की रात', 'अमीर का पड़ोसी', 'भंगी', 'मजदूर', 'मजदूरनी का बेटा', 'भूख', 'हसीन और फाकामस्त' आदि अनेक रचनाएँ हैं जिनमें 'व्याकुल' जी की प्रतिभा मुखरित हो उठी है। अब कुछ व्यंग्यात्मक शेर भी पढ़िए—

कभी लीडर से प्लीडर और कभी प्लीडर से लीडर हैं
बदलना दोस्तों का रंगे-गिरगिट देखते जाओ,
न हिंदी से मुहब्बत है न कुछ उर्दू से उल्फत है,
हमेशा बोलते रहते हैं—'गिटपिट' देखते जाओ।

× × ×

सन् बयालिस में छिपा रक्खा था डर से जिसने,
आज वह गाँधी की टोपी को सजा कर निकला!
झेंप से बैठे कई जेल के जानेवाले
मिस्ले लीडर वह जभी ऐंठ दिखाकर निकला!!

× × ×

इस भीड़-भड़क्के पर कुछ कुनमुना रहे हैं।
हट जाओ, 'नये लीडर' तशरीफ ला रहे हैं॥

व्याकुलजी की उर्दू रचनाओं के ये कुछ नमूने हैं। छोटे-से निबंध में उनकी समस्त साहित्य-साधना के संबंध में लिखना संभव नहीं, फिर भी मैंने चेष्टा की है।

—सरस्वती सुशीला देवी

विचार-संचय

१ मेरा नया उपन्यास 'वयं रक्षामः'

(मार खाने का निमंत्रण)

[गत जून '५४ की 'अवंतिका' में प्रकाशित श्री जगन्नाथ-प्रसाद मिश्र के 'साहित्य में अश्लीलता'-शीर्षक लेख को पढ़कर आचार्य चतुरसेनजी ने 'अवंतिका' में क्रमशः प्रकाशन के लिए अपने नए उपन्यास—वयं रक्षामः—के दो अध्याय भेजे हैं और उसके साथ भूमिका-रूप में एक टिप्पणी भी। 'अवंतिका' में धारावाहिक रूप से उपन्यास प्रकाशित करने की हमारी नीति नहीं है। आचार्य चतुरसेन ने जो टिप्पणी भेजी है उसे हम उनके विचार के रूप में, पाठकों की जानकारी के लिए प्रकाशित कर रहे हैं।—संपादक]

निमंत्रण है उन सब कृपालु साहित्यिक मित्रों को जिनके भय से मैं सदैव फूँक-फूँककर साहित्य-पथ पर पैर रखता रहा हूँ, परंतु सदैव ही जिनकी मार खाई है। अब वे मेरे इस नए अपराध पर कौन-सी मार मारेंगे, नहीं जानता। इस बार का अपराध बहुत भारी है। एक नया उपन्यास भेंट कर रहा हूँ—वयं रक्षामः।

वयं रक्षामः—में प्राग्वेदकालीन नृवंश के जीवन की झाँकी है। उसमें मुक्त सहवास है, विवसन विचरण है, हरण और पलायन है। शिश्नदेव की उपासना है। वैदिक और अवैदिक का अद्भुत-सा चित्रण है। नरमांस की खुले बाजार में बिक्री है। नृत्य है, मद्य है, उन्मुख अनावृत यौवन है। यह सब मेरे ये मित्र कैसे सहन करेंगे भला—जो अश्लीलता की संभावना से सदा चौकायमान रहते हैं।

परंतु जैसे आपका शिव-मंदिर में जाकर शवलिंग-पूजन अश्लील नहीं है उसी भाँति मेरा 'शिश्नदेवाः' अश्लील नहीं है। उसमें धर्मतत्त्व समावेशित है। फिर वह मेरा नहीं है, प्राचीन है—प्राचीनतम है—सनातन है। विश्व की देव-दैत्य-दानव-मानव आदि सभी जातियों का सुपूजित है। सत्य की व्याख्या साहित्यकार का [illegible] है। उसी सत्य की प्रतिष्ठा में मुझे प्राग्वेदकालीन नृवंश के जीवन पर प्रकाश डालना पड़ा है। अनहोनी, अविश्रुत, सर्वथा अपरिचित तथ्य आप मेरे इस उपन्यास में देखेंगे। आप अवश्य ही मुझसे सहमत न होंगे। परंतु आपके गुस्से के भय से तो मैं अपने मन के सत्य को मन में रोक रखूँगा नहीं। अवश्य कहूँगा और सबसे पहले आप ही से।

'वैशाली की नगरवधू' लिखकर मैंने हिंदी के उपन्यासों के संबंध में यह नया मोड़ उपस्थित किया था कि अब हमारे उपन्यास केवल मनोरंजन की तथा चरित्र-चित्रण भर की सामग्री न रह जायँगे। अब यह मेरा नया उपन्यास 'वयं रक्षामः' इस दिशा में अगला कदम है। इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर-नाग-देव-दैत्य-दानव-आर्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के विस्मृत पुरातन रेखा-चित्र हैं। धर्म के रंगीन शीशे में देखकर जिन्हें सारे संसार ने अंतरिक्ष का देवता मान लिया था—मैं इस उपन्यास में उन्हें नर-रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ। वयं रक्षामः एक उपन्यास तो अवश्य है, परंतु वास्तव में वह वेद-पुराण-दर्शन और वैदेशिक इतिहास ग्रंथों का 'दुस्सह अध्ययन है। आजतक कभी मनुष्य की वाणी से न सुनी गई बातें मैं आपको सुनाने पर आमादा हूँ। मैं तो अब यह काम कर ही चुका। अब आप कितनी मार मारते हैं—यह आपके रहम पर छोड़ता हूँ। उपन्यास में मेरे अपने जीवन भर के अध्ययन का सार है।

उपन्यास में व्याख्यात तत्त्वों की विवेचना मुझे उपन्यास में स्थान-स्थान पर करनी पड़ी है। मेरे लिए दूसरा मार्ग था ही नहीं! फिर भी प्रत्येक तथ्य की सप्रमाण टीका बिना किए मैं अपना बचाव नहीं कर सकता था। अतः सौ से ऊपर पृष्ठों की एक टीका भी मेरे इस उपन्यास के साथ ही मुझे लिखनी पड़ी। अपने जान में तो मैं सब-कुछ कह चुका! पर अंततः मेरा परिमित ज्ञान इस अगाध इतिहास को सांगोपांग व्यक्त नहीं कर सकता था। संक्षेप में मैंने वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण और इतिहास के प्राणों को एक बड़ी-सी गठरी में बाँधकर इतिहास के रस की एक

डुबकी दे दी है। सबको इतिहास-रस में रँग दिया है। अब आप मारिए या छोड़िए—आपको अख्तियार है।

एक बात और, यह मेरा एक सौ इक्कीसवाँ ग्रंथ है। कौन जाने, यही मेरी अंतिम कलम हो। मैं यह घोषित करना आवश्यक समझता हूँ कि मेरी कलम और मैं खुद भी काफी घिस चुका हूँ। प्यारे पाठक और लगुड़हस्त मित्र यह न भूल जायँ।

—चतुरसेन (आचार्य)

२ भाषा के इतिहास से लाभ

इस विषय की जब-कभी चर्चा चलती है, तब सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि 'भाषा का इतिहास जानकर क्या होगा ?' इस प्रश्न का जबतक कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता, तबतक आगे बढ़ने की रुचि नहीं होती। इतिहास में आदि से अंत तक की विभिन्न दशाओं और घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन रहता है। भाषा के इतिहास में भी इस बात की चर्चा रहेगी, कि 'भाषा कब बनी, कैसे बनी तथा इसमें कब, क्या और क्यों हेरफेर हुआ ?' हमारा मन ऐसे प्रश्नों के संबंध में जिज्ञासा जरूर करता है, क्योंकि हम मनुष्य स्वभावतः जिज्ञासु हैं। भाषा के इतिहास से इतना लाभ अवश्य है कि हमारी यह जिज्ञासा शांत हो जाती है। लेकिन, इतनी-सी बात को लेकर विशेष माथापच्ची करना बिलकुल व्यर्थ-सा लगता है; क्योंकि सरसरी निगाह से देखने पर इसका कोई उपयोगी लाभ नजर नहीं आता। 'बाबा आदम के जमाने में लोग कैसी भाषा बोलते थे'—यह जानने की इच्छा तो होती है, परंतु इस जानकारी मात्र के लिए छानबीन करना, गड़े मुर्दे को उखाड़ने के समान बेकार जान पड़ता है। जबतक कोई जीवनोपयोगी लाभ नजर नहीं आता, तबतक इस विषय के अध्ययन में हमें विशेष रुचि और दिलचस्पी नहीं होती। अतएव, विषय के आरंभ करने के पहले ही यह विचार कर लेना चाहिए कि इस विषय के अध्ययन से हमें क्या लाभ है ?

जब से लिखने की प्रणाली चली, तब से इतिहास हमारे दिन-प्रतिदिन के अनुभवों को संग्रह करता जाता है। जबतक लिपि से हम अनभिज्ञ थे, तबतक किस्से-कहानियाँ और कहावतें वही काम करती रहीं, जो काम आज इतिहास कर रहे हैं। इससे एक व्यक्ति का अनुभव और ज्ञान समस्त मनुष्य-समाज को मिल जाता है। फिर एक पीढ़ी का उपार्जित ज्ञान दूसरी पीढ़ी पा लेती है। एक पीढ़ी के लोग जितना जान जाते हैं, उसे दूसरी पीढ़ी के लोग बहुत कम समय में, बहुत कम मिहनत से सीख जाते हैं। आग जलाना आज कितना आसान है। दियासलाई की एक काँटी रगड़ दी, बस अग्नि प्रकट हो जाती है। इसी काम के लिए, हमारे पूर्वजों को सैकड़ों वर्षों तक परीशानी उठानी पड़ी। कितनी तरह की उधेड़बुन के बाद किसी पीढ़ी के लोगों को रूई से सूत निकालने की तरकीब सूझी होगी। उसके बाद के लोगों को उस तरकीब से काम करने के लिए छानबीन नहीं करनी पड़ी। जानी-सुनी तरकीबों को सीख लेने से ही उनके लिए सूत कातना आसान हो गया। पूर्व जानकारी के कारण, उनका जो समय बचा, उसे उन्होंने नई-नई बातों के जानने-समझने में लगाया। यही कारण है कि हमारे ज्ञान-भंडार की निरंतर वृद्धि होती गई और दिन-प्रतिदिन हमारा विकास होता गया। इसलिए निस्संदेह यह मानना पड़ता है कि इतिहास हमारे ज्ञान की निरंतर वृद्धि और विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाता है।

इतिहास के अध्ययन से इस बात का पता चल जाता है, कि किस कारण, किसने, क्या कार्य किया और उसका परिणाम क्या हुआ ? अच्छा या बुरा ? यदि अच्छा परिणाम हुआ तो वह कार्य हमारे लिए अनुकरणीय हो जाता है और यदि बुरा परिणाम हुआ तो वह सदैव के लिए त्याज्य बन जाता है। इतिहास का विद्यार्थी, न कार्य करता है, न किसी परिणाम का नफा-नुकसान उठाता है, फिर भी वह बैठे-बैठाए केवल पठनमात्र से ही कार्य के गुण-दोष और हानि-लाभ से परिचित हो जाता है। इस जानकारी से हमारे दैनिक जीवन में पग-पग पर लाभ पहुँचता है। आग में घी डालने से क्या फल होगा, यह हम अतीत से जानते आ रहे हैं। यह तनिक-सी जानकारी भी समय पर बहुत लाभ पहुँचाती है और भीषण क्षति से बचाती है। इससे यदि हम अनभिज्ञ रहते तो भयंकर भूल कर बैठते। जब आग बुझाने की जरूरत पड़ती तब उसमें घी डाल देते या जब अग्नि प्रज्वलित करने की जरूरत पड़ती, तब उसमें जल डाल देते। यानी, जहाँ आग बुझाना होता, वहाँ हम आग भड़का देते और जहाँ उसे सुलगाना होता, वहाँ उसे बुझा देते। दोनों तरह हानि उठानी पड़ती। जब आग की लपटें चारों ओर फैल रही हों, उस समय बैठकर सोच-विचार करने का भी मौका नहीं रहता, न नया-नया प्रयोग करने का अवसर रहता है। उस समय, पूर्व-जानकारी ही सहायक होती है और उसीकी

सहायता से तत्काल जो समझ में आता है, वही करना अच्छा होता है। ऐसे अवसरों पर सधे-सधाए परीक्षित तरीकों से काम लेना पड़ता है, वरना सर्वस्व स्वाहा हो जाने की संभावना रहती है।

अतीत के अनुभव सिद्ध और परीक्षित प्रमाण होते हैं। उनका ज्ञान एक कसौटी का काम देता है। इस कसौटी पर कसकर हम निश्चित रूप से जान सकते हैं कि किस स्थिति में किस कार्य का क्या परिणाम होगा? इसके द्वारा हमें भले-बुरे कर्मों की पहचान हो जाती है और अंधकार में हमें भटकना नहीं पड़ता। पूर्व-अनुभवों की जानकारी नहीं रहने पर, हमारा प्रयत्न अँधेरे घर में ढेला फेंकने के समान होता है। विरले कभी निशाना लग गया तो लग गया, वरना हमेशा वार खाली जाता है। यानी, सफलता दैवयोग से कभी मिल गई तो मिल गई, नहीं तो अधिकतर, करीब-करीब बराबर, नुकसान होने की संभावना रहती है। इतिहास की जानकारी के कारण, इधर-उधर भटकते रहने से हम बच जाते हैं और बैठे-बैठाए, सरलता से भली-भाँति जाँच कर सर्वोत्तम रास्ता चुन सकते हैं। इतिहास हमें भविष्य के संकटों से भी सावधान कर देता है और उन संकटों से बचने का उपाय भी बता देता है। इतिहास की यही उपयोगिता है और यही उसके प्रमुख लाभ हैं।

इतनी बात केवल भाषा के इतिहास के संबंध में ही नहीं है, बल्कि सभी इतिहास के संबंध में है, चाहे वह किसी महापुरुष का हो, किसी समाज का हो, किसी देश का हो अथवा किसी कला या विज्ञान की शाखा-प्रशाखा का हो। किंतु भाषा का इतिहास, अन्य सभी इतिहासों से बहुत विशेष महत्त्व रखता है। एक बहादुर बादशाह की वीरता का वर्णन हम इतिहास में पढ़ते हैं; पर उस रण-चातुरी का उपयोग करने का अवसर, सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में एक-दो बार भी मिलता है या नहीं—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। 'किस राजा में शासन की कैसी योग्यता थी' इस जानकारी का यथार्थ लाभ उन इने-गिने महापुरुषों को ही होता है, जिन्हें राजगद्दी नसीब होती है। उन दो-चार व्यक्तियों को छोड़कर, विशाल जनसमुदाय के जीवन में उसका बहुत कम उपयोग होता है। ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा का इतिहास, विषय के विशेषज्ञों के लिए उपयोगी और आवश्यक होता है, अन्य लोगों को उससे बहुत कम मतलब रहता है। अर्थात्, अन्य इतिहास सब किसी के लिए एक समान उपयोगी और लाभदायक नहीं होते—न सब किसी को उन्हें जानने की आवश्यकता रहती है। किंतु, भाषा का इतिहास सबके लिए एक समान उपयोगी और आवश्यक है; क्योंकि भाषा का व्यवहार सबको अवश्य करना पड़ता है। अंग-दोष के कारण, जो बोलने में असमर्थ हैं, उन्हें छोड़कर सभी लोग भाषा का व्यवहार नित्य-प्रति करते हैं। अतएव, भाषा के इतिहास से जो शिक्षा मिलती है, उसका उपयोग सब कोई कर सकता है और उससे सबको लाभ पहुँच सकता है।

भाषा एक-दो व्यक्ति की संपत्ति नहीं है। एक व्यक्ति की वह चीज होती, तो वह व्यक्ति अपनी चीज को बनाता या बिगाड़ता, उससे दूसरों को नुकसान नहीं पहुँचता। भाषा समस्त समाज की एक परमोपयोगी संपत्ति है। सबकी संपत्ति को कोई एक व्यक्ति या कोई एक वर्ग यदि भूल से भी बिगाड़ता है, तो वह अक्षम्य अपराधी हो जाता है; क्योंकि, कोई अपनी नासमझी और अज्ञानता के कारण, सबकी संपत्ति को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता। यही कारण है कि हम बच्चे-बच्चे को शुद्ध बोलना सिखलाते हैं। जहाँ किसी से अशुद्धि हुई, वहीं झट, अपने-पराये उसे टोक देते हैं या उसकी हँसी उड़ाने लगते हैं। दूसरी बात यह है, कि सबकी संपत्ति, सबके सहयोग से ही बनाई, सँवारी और सुरक्षित रखी जा सकती है। अतएव, भाषा को बनाने-बिगाड़नेवाले साधारण गुण-दोषों की जानकारी सभी को होनी चाहिए। भाषा के इतिहास से ही इसका सम्यक् ज्ञान हो सकता है। इन कारणों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि भाषा का इतिहास जानना सबके लिए आवश्यक और उपयोगी है।

भाषा के संबंध में पिछले एक हजार वर्षों तक हम भ्रम-जाल में पड़े, इधर-उधर भटकते रहे। बहुत दिनों तक हम अरबी-फारसी के रंग में रँगे रहे। उससे छुटकारा मिला तो अँगरेजी का नशा चढ़ गया और लगे हम अँगरेजी की बुकनी झाड़ने। नतीजा यह हुआ कि अँगरेजी के हम पूरे गुलाम बन गए। अब परिस्थिति ने एक-ब-एक पलटा खाया है। गुलामी के दिन गए। आजादी का उदय हुआ। अब पराई भाषा की गुलामी बहुत अधिक अखरती है। इसलिए जल्द-से-जल्द हम इस गुलामी से मुक्त होकर

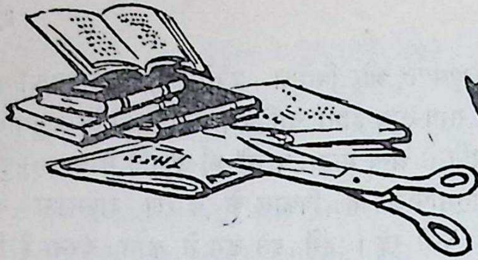
अपनी भाषा के सहारे चलना चाहते हैं। यहाँ से भाषा के इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ हो रहा है। लेकिन, आज हमारी ऐसी आदत बन गई है कि अँगरेजी में काम करना आसान जान पड़ता है और अपनी भाषा में लिखना-पढ़ना बहुत कठिन लग रहा है। इस कठिनाई को दूर करने का एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि हम अपनी भाषा को अच्छी तरह जानें और समझें। भाषा के इतिहास से ये दोनों बातें सध सकती हैं।

इस कठिनाई के अलावा एक और संकट है। अन्य भाषाओं के फेर में पड़कर हमने अपनी भाषा को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया। युग के विकास के साथ-साथ भाषा का विकास नहीं हो सका। अब यदि हम अपनी भाषा में भली-भाँति काम चलाना चाहते हैं तो उसे अन्य भाषाओं के समकक्ष उन्नत करना होगा। यह कार्य आरंभ करने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हमारी भाषा का रूप और ढाँचा क्या है? कहाँतक हम पहुँच चुके हैं और कहाँ हमें पहुँचना है? किन-किन रास्तों पर चलकर हम यहाँ तक पहुँचे और आगे किस रास्ते पर चलना श्रेयस्कर होगा? इन प्रश्नों के सही उत्तर, हमें भाषा के इतिहास से ही मिल सकते हैं। इसलिए भाषा के इतिहास का अधिकाधिक अध्ययन, आज की स्थिति में, सबके लिए नितांत आवश्यक है।

सबसे बड़ी उलझन यह है कि संपूर्ण देश में कोई एक भाषा नहीं बोली जाती। एक-एक प्रांत की बोली ने एक-एक भाषा का रूप पकड लिया है। हमें इन सभी भाषाओं का विकास करना है। इसके साथ-साथ संपूर्ण देश के लिए हमें एक राष्ट्रभाषा भी बनानी है। भारतीय विधान ने यह निश्चित कर दिया है कि हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषा और विभिन्न प्रांतों की मातृभाषाओं का विकास साथ-साथ होना चाहिए। ऐसा न हो कि राष्ट्रभाषा की उन्नति से अन्य मातृभाषाओं की उन्नति में बाधा पहुँचे या मातृभाषाओं के विकास के कारण राष्ट्रभाषा की उन्नति रुकी रहे। हमें इस ढंग से काम करना है कि राष्ट्रभाषा अन्य मातृभाषाओं के विकास में सहायक बने और अन्य मातृभाषाओं के विकास से राष्ट्रभाषा के विकास में सहायता पहुँचे। यदि हम अपने पूर्व-इतिहास को देखें तो परस्पर सहायता की ऐसी भावना भली-भाँति जाग्रत् हो सकती है। देश-भाषाओं में एक दूसरे के साथ कितना घनिष्ठ संबंध है, वह हम जान सकेंगे। इससे भाषा-भेद की भावना घटती जायगी और आपस में प्रेम एवं एकता का भाव बढ़ सकेगा। एक दूसरे के प्रति हम अपना कर्त्तव्य समझ सकेंगे। इतिहास की अनभिज्ञता के कारण, हम तरह-तरह के भ्रम में पड़ जाते हैं और जहाँ-तहाँ बहक जाते हैं। इससे भाषा की यह पेंचीली समस्या सुलझने के बदले और भी उलझ जाती है। कितने लोग अभी तक इस भ्रम में हैं कि जिस तरह अँगरेजी उनकी मातृभाषा नहीं है, उसी तरह राष्ट्रभाषा हिंदी भी उनकी मातृभाषा से बहुत भिन्न है। अँगरेजी वे पहले से जानते हैं, इसलिए अँगरेजी छोड़कर हिंदी की ओर आने की उन्हें अभी तक इच्छा नहीं होती। परायेपन का यह भाव अज्ञानता के कारण है। इतिहास की जानकारी से आत्मीयता का परिचय मिलेगा तथा राष्ट्रभाषा के प्रति श्रद्धा और सद्भावना होगी। इन अनेक कारणों से भाषा का अध्ययन इस युग में विशेष आवश्यक बन गया है।

—कैलास विहारी





सार-संकलन

१. आनेवाली पीढ़ी को संदेश

आविष्कारक मानस की दृष्टि से हमारा युग बहुत ही संपन्न है। हमने ऐसे अगणित आविष्कार किए हैं जिनसे सारी मनुष्य जाति सुखी और संपन्न हो सकती है। हम शक्ति के सहारे समुद्रों के पार जाते हैं और शक्ति को कारखानों में जोतकर हम मनुष्य को शारीरिक श्रम से त्राण दिए देते हैं। हम उड़ने में भी पटु हो गए हैं एवं विद्युत्तरंगों के सहारे हम अपने संदेश विश्व-भर को आसानी से सुना देते हैं।

किंतु, दुर्भाग्य की बात यह है कि सामग्रियों का उत्पादन और वितरण अब भी असंगठित है जिसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य बराबर इस शंका से पीड़ित रहता है कि कहीं वह बेकार न हो जाय, कहीं वह उस आर्थिक चक्र से अलग न जा पड़े जो उत्पादन, वितरण और उपभोग के बीच चल रहा है। यही नहीं, बल्कि समय-समय पर एक देश के लोग दूसरे देशवालों को मारने लगते हैं और इस कारण भविष्य की चिंता करनेवाले सभी लोग निराशा से आक्रांत हैं। इसका एक कारण यह है कि जनता का मानसिक स्तर उन लोगों से बहुत नीचे है जो यंत्रों का आविष्कार करते हैं अथवा जो यंत्रों पर स्वामित्व स्थापित करके उनसे माल पैदा करते हैं।

मुझे विश्वास है कि भावी संततियाँ जब मेरा यह वक्तव्य पढ़ेंगी तब उन्हें यह जानकर गौरव और हर्ष होगा कि वे गुजरी हुई पीढ़ी के लोगों से बहुत ही श्रेष्ठ हैं।

[आइंस्टीन के निबंध-संग्रह
'आउट आव् माइ लेटर इयर्स से']

२. राष्ट्रीय और प्रांतीय हिंदी

बंबई राज्य में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा की दो-एक परीक्षाएँ अमान्य कर दी गई हैं और सौराष्ट्र में भी सरकार कुछ ऐसा ही निर्णय करनेवाली है। कारण यह है कि यहाँ के कुछ विद्वान (जो राष्ट्रभाषा के हिमायती हैं) भ्रमवश यह मान बैठे हैं कि जो हिंदी हिंदी-प्रांतों में बोली जाती है वह राष्ट्रीय हिंदी नहीं है। राष्ट्रीय हिंदी तो वह होगी जो संविधान की ३५१ वीं धारा के अनुसार भारत की चौदह भाषाओं के योग से बनेगी। ये लोग प्रयाग के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को प्रांतीय हिंदी का प्रचारक मानते हैं और चूँकि वर्धा-समिति हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का ही एक अंग है, इसलिए समिति को भी वे प्रांतीय हिंदी का ही प्रचारक समझते हैं। अतएव, उनका मत है कि अहिंदी क्षेत्रों में वर्धा-समिति की परीक्षाएँ नहीं चलनी चाहिए।

इस प्रश्न पर राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में काफी विचार-विमर्श हुआ, किंतु, कोई यह नहीं बता सका कि राष्ट्रीय हिंदी और प्रांतीय हिंदी क्या है। यह कहना तो बिलकुल ही गलत है कि जिस दिन देश ने राष्ट्रभाषा का चुनाव किया उस दिन राष्ट्रभाषा हिंदी का कोई भी रूप उसके सामने विद्यमान नहीं था। प्रत्येक भाषा के अनेक रूप और अनेक शाखाएँ होती हैं जिन्हें नियंत्रण में रखना असंभव होता है। जनता जिस भाषा का प्रयोग करती है वह तो उस भाषा का औसत रूप है। हिंदी का भी एक औसत रूप देश के सामने मौजूद था जब संविधान ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किया और धारा ३५१ के अंदर यह निर्देश दिया कि राष्ट्रभाषा का विकास देश की अन्य भाषाओं के मेल से किया जाना चाहिए। मेरे जानते हिंदी-प्रांतों में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो संविधान की इस धारा को संदेह की दृष्टि से देखता हो अथवा जो यह चाहता हो कि अन्य भाषाओं का प्रभाव हिंदी पर नहीं पड़े। सच तो यह है कि हिंदी जहाँ-जहाँ गई है, वहाँ-वहाँ उसने अपने लिए लेखक उत्पन्न कर लिए हैं और ये लेखक जब हिंदी में लिखते हैं तब उनकी मातृ-भाषाओं की विशेषता का कुछ-न-कुछ पुट हिंदी में आ ही जाता है। और हिंदीवाले इस बात को अवांछनीय नहीं मानते। हम तो मानते हैं कि अन्य भाषाओं की विशेषताओं को आत्मसात् करके हिंदी जहाँ सचमुच राष्ट्रीय होती जा रही है, वहाँ उसकी अभिव्यंजना की शक्ति भी बढ़ती जाती है। यही तो धारा ३५१ का आशय था।

किंतु, तब भी बंबई के कुछ विद्वान जिद किए बैठे हैं कि प्रमाण और उदाहरण न मिलें तो न मिलें, किंतु, राष्ट्रीय और प्रांतीय हिंदी का भेद अवश्य किया जायगा। भावनगर में सुना कि बंबई-सरकार को जब ये लोग यह नहीं बता सके कि राष्ट्रीय हिंदी और प्रांतीय हिंदी में क्या भेद है, तब उन्होंने इस तर्क का आश्रय लिया कि हि० सा० सम्मेलन वह संस्था है जिसे गाँधीजी ने छोड़ दिया था और वर्धा-समिति सम्मेलन की शाखा है। अतएव, वर्धा और प्रयाग दोनों गाँधी-विरोधी हुए। इसलिए इन्हें प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिए !

जहाँ तक मुझे मालूम है, गाँधीजी ने सम्मेलन का त्याग दो लिपियों के प्रश्न पर किया था, किंतु, तब भी सम्मेलन पर उनकी प्रेम-दृष्टि बराबर बनी रही। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा को वे तब भी अपनी बड़ी बेटी कहा करते थे और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा को छोटी बेटी।

लेकिन, ये बातें अब खत्म हो चुकी हैं। हिंदुस्तानी भाषा और दो लिपियों का प्रचार, यह इसलिए आवश्यक माना गया था कि इसके द्वारा हिंदू-मुस्लिम समस्या के सुलझाए जाने की उम्मीद थी। किंतु, इस समस्या को सुलझाने में हम सोलह आने असफल रहे जिसका ज्वलंत प्रमाण दो-तीन खंडों में बँटा हुआ यह भारत देश है। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं है कि अब हिंदू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता नहीं रही। आवश्यकता तो है और उसकी राह भी संविधान ने बता दी है। अर्थात् अन्य १४ भाषाओं की तरह उर्दू का भी आनुपातिक प्रभाव हिंदी स्वीकार करेगी और उर्दू एक स्वतंत्र भाषा के रूप में अलग फूले-फलेगी। गाँधीजी ने चाहा था कि हिंदी-उर्दू के बीच सुलह कराकर भाषा-विषयक झगड़े का निपटारा कर दें। लेकिन, संविधान ने शर्त लगा दी है कि हिंदी पर केवल उर्दू का ही नहीं, अन्य सभी भारतीय भाषाओं का भी स्वाभाविक प्रभाव पड़ना चाहिए। जो लोग आज भी यह जिद कर रहे हैं कि राष्ट्रभाषा की समस्या केवल हिंदी-उर्दू की समस्या है, वे तनिक उस आवाज को भी सुनें जो तेलुगु आदि भाषाओं के क्षेत्र से आ रही है कि 'केवल हिंदी-उर्दू ही क्यों ? कुछ हमारा भी अधिकार है।'

मेरा वैयक्तिक मत यह है कि राष्ट्रभाषा का प्रचार अब भी अपनी आरंभिक अवस्था में है और हिंदी-प्रचारकों में से, प्रायः, सब-के-सब, यद्यपि एक ही प्रकार की भाषा लिखते हैं तथापि उनमें से कुछ लोग तो हिंदी के समर्थक हैं और कुछ विभिन्न कारणों से, हिंदुस्तानी के। काका साहेब कालेलकर, श्री मोटूरी सत्यनारायण, श्री मगनभाई देसाई, ये सभी लोग हिंदुस्तानी का समर्थन करते हैं, किंतु, इनमें से एक की भी भाषा ऐसी नहीं है जिससे हमारा विरोध हो। हाँ, जब पंडित सुंदरलाल की निर्घिन, पतित, भ्रष्ट 'जबरजंगी' भाषा सामने आती है तब हमें क्या, सारे देश को उबकाई आने लगती है। उचित यह है कि अभी हम किसी प्रकार का भी रेजिमेंटेशन नहीं करें और हिंदी अथवा हिंदुस्तानी के नाम से राष्ट्रभाषा का जो भी औसत रूप नागरी लिपी में चलाया जा रहा हो, उसे अबाध गति से चलने दें। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा उतनी ही बड़ी और महत्त्वपूर्ण संस्था है जितनी कि मद्रास की हिंदी-प्रचार-सभा। सच पूछिए तो आजतक अहिंदी प्रांतों में हिंदी का जो भी काम हुआ है, उसका श्रेय इन्हीं दो संस्थाओं को है। अतएव, अगर कोई सरकार वर्धा-समिति की परीक्षाओं को अमान्य करती है तो इससे हिंदी के प्रचार में बहुत बड़ी बाधा पड़नेवाली है। फिर हमें यह भी देखना चाहिए कि काका साहेब कालेलकर, श्री सत्यनारायणजी, महामहोपाध्याय पोद्दारजी और श्री मगन भाई देशाई, ये सभी लोग राष्ट्रभाषा के समर्थक और अपनी-अपनी जगह पर उसके कर्णधार हैं। अगर संमेलन की नीति से इनका कुछ मतभेद है तो इस मतभेद का प्रभाव हिंदी के प्रचार पर नहीं पड़ना चाहिए। दोनों ही धाराओं को नागरी की घाटी में खुलकर बहने दीजिए। आप जबर्दस्ती भाषा लादने की कोशिश क्यों करते हैं ? प्रजा-सत्ता में क्या जनता को इतना भी अधिकार न दीजिएगा कि वह पसंद की भाषा चुन ले ?

मेरे जानते वर्धा-समिति की परीक्षाएँ बंबई, गुजरात और सौराष्ट्र में अत्यंत लोकप्रिय हैं। भावनगर में कुछ कार्यकर्त्ताओं ने मुझे बताया कि समिति की लोकप्रियता को नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं देखकर ही हिंदुस्तानीवादी भाइयों ने सरकारी शस्त्र का सहारा लिया है। प्रतियोगिता में जनता के बीच अन्य संस्थाओं को वर्धा-समिति के समानांतर दौड़ने में कठिनाई होती है, इसलिए, वे संस्थाएँ सरकार से साँठगाँठ करके समिति की टाँग तोड़ देना या तुड़वा देना चाहती हैं, जिससे समिति पीछे रहे

और वे आगे हो जायँ। बात सुनकर मुझे अपने काव्य 'रश्मिरथी' का यह पद याद आया—

एक बाज का पंख कतर कर
करना अभय अपर को,
सुर को शोभे भले, नीति यह
नहीं शोभती नर को।

अगर यह सच है तो यही कहना पड़ेगा कि बंबई-सरकार जनता की पसंद की उपेक्षा करके एक ऐसी चीज को प्रोत्साहन देनेवाली है जो जनता नहीं, बल्कि कुछ व्यक्तियों की चीज है।

इस प्रसंग में मुझे कुछ विरोधाभास भी दिखाई पड़ा। सबसे बड़ा विरोधाभास तो यह है कि हरिजन का उर्दू-संस्करण अब नहीं निकलता है। कब से नहीं निकलता है, यह मुझे पता नहीं चला। किंतु, उसका बंद होना ही यह बतलाता है कि पत्र के उर्दू-संस्करण के पाठक अब नहीं रहे। उचित है कि हरिजन के व्यवस्थापक लोग हिंदुस्तानी के लिए आग्रह करने के पूर्व हरिजन का उर्दू-संस्करण फिर से जारी कर दें। यह भी सुना कि अहमदाबाद में कोई उर्दू-प्रशिक्षण-विद्यालय था जो अब बंद है। यह सब क्यों हो रहा है? क्या इसलिए कि उर्दू और हिंदुस्तानी के लिए जनता में बहुत बड़ा उत्साह है? और उत्साह नहीं है तो फिर गरीब हिंदीवालों से विवाद क्यों ठानते हैं? सच बात यह है कि सबको अपनी-अपनी मातृभाषा से प्यार है। अपनी मातृभाषा का रूप कोई भी बिगड़ने नहीं देगा। हाँ, सब मिलकर हिंदी के रूप को बिगाड़ने के लिए तैयार हैं; क्योंकि हिंदी राष्ट्रभाषा हो गई है, इसलिए, सबका उसपर समान अधिकार है। अब इस अधिकार का उपयोग लोग हिंदी की सेवा के लिए करें अथवा कुसेवा के लिए।

[**साप्ताहिक योगी में प्रकाशित श्री रामधारी सिंह दिनकर के लेख से**]

३. नैतिक ह्रास

सभी धर्म, कलाएँ और विज्ञान एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। मनुष्य में धर्म, कला और विज्ञान की जो भी प्रेरणाएँ जगती हैं, उन सबका एक ही उद्देश्य है कि मनुष्य के जीवन को ऊँचा कैसे उठाया जाय, मनुष्य को कैसे यह विश्वास दिलाया जाय कि केवल शारीरिक या आधिभौतिक जीवन ही यथेष्ट नहीं है और व्यक्ति को पूर्णरूप से मुक्त कैसे बनाया जाय। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि हमारे सभी प्राचीन विश्वविद्यालय और विद्यापीठ चर्च या धार्मिक संघों से निकले हैं। व्यक्ति को उन्नत करना—यही वह एक ध्येय है जिसे धार्मिक संघ और विद्यापीठ, दोनों ही अपने सामने रखते आए हैं। और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए दोनों ही अपने-अपने अनुयायियों में नैतिक एवं सांस्कृतिक भावों का प्रसार करते हैं।

किंतु, उन्नीसवीं सदी में धामिक संघों एवं धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं के बीच एक विभेद पड़ गया, बल्कि, बढ़ते-बढ़ते यह विभेद शत्रुता के स्तर पर पहुँच गया। किंतु यह भेद साधन को लेकर था। ध्येय के बारे में तब भी सभी लोग एकमत थे कि मनुष्य को नैतिक समृद्धि देने के लिए ही धर्म भी जन्मा था और विद्यापीठ भी।

किंतु, पिछले कुछेक दशकों में राजनैतिक एवं आर्थिक संघर्षों की जो भयानक बाढ़ आई है तथा उनके साथ जो उलझनें हुई हैं, वे बिलकुल आशातीत हैं एवं उन्नीसवीं सदी के भयानक-से-भयानक निराशावादियों ने भी इन समस्याओं की कल्पना नहीं की होगी। उस समय तो मनुष्यों के आचरण के संबंध में बाइबिल के जो उपदेश हैं उन्हें आस्तिक और नास्तिक दोनों ही स्वयंसिद्ध मानते थे और अगर कोई उनकी आलोचना करता तो उसकी बात ध्यान से नहीं सुनी जाती। लेकिन, आज की स्थिति यह है कि मानव-जीवन के इन आधारभूत स्तंभों में अब पहले की दृढ़ता नहीं रह गई है। जो जातियाँ पहले महान समझी जाती थीं, वे आज अत्याचारियों के सामने झुकी हुई हैं। पुण्य मनुष्य का गुलाम हो गया है; सत्य के लिए सत्य और ज्ञान के लिए ज्ञान की खोज करनेवाले अब श्रद्धा के पात्र नहीं समझे जाते, न उनके उद्गारों को सहने के लिए ही कोई तैयार है। स्वेच्छाचारी शासन, जनता का दमन और धर्मों एवं संप्रदायों का उत्पीड़न कई देशों में खुलकर किए जाते हैं और कोई इन दुष्कृत्यों को अस्वाभाविक एवं अनावश्यक नहीं मानता।

एक देश में जुल्म होता है और बाकी दुनिया चुपचाप उसे देखा करती है। बात यह है कि नैतिक ह्रास को सहने की अब लोगों की आदत हो गई है। वे इसके अभ्यस्त हो गए हैं और उन्हें यह महसूस नहीं होता कि यह कोई अनोखी बात है।

न्याय के पक्ष और अन्याय के विपक्ष में पहल जो प्रतिक्रिया होती थी उसकी कड़ी, मानों, हमारे समय में रही ही नहीं। तो भी यह सत्य है कि इसी प्रतिक्रिया के कारण मनुष्य फिर से बर्बरता के गर्त में गिरने से अपने को बचाता आया था। सत्य और न्याय के लिए मनुष्य में जो एक उद्दाम उत्साह है, उसी ने मनुष्य को सभ्य बनाया है, उसी ने उसकी दशा सुधारी है, राजनैतिक पटुता और कूटनीतिक चालबाजियों ने नहीं। क्या इसमें भी किसी को संदेह है कि मेशीवेली (Machiavelli) की अपेक्षा हजरत मूसा मनुष्य जाति के कहीं श्रेष्ठ नेता थे?

[आइंस्टीन के निबंध-संग्रह 'आउट आव् माइ लेटर इयर्स' से]

४. प्रगति की दिशा

अभी हाल तक प्रगति का अभिप्राय उस मार्ग से लिया जाता था जो द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का मार्ग है और जिसका सुस्पष्ट संकेत मार्क्स ने किया था। किंतु, आज पैंतीस वर्ष से इस सिद्धांत के जो व्यावहारिक प्रयोग किए गए उनका परिणाम पूर्णरूप से संतोषजनक नहीं रहा और अब विश्व के चिंतक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को भी अपर्याप्त मानकर कुछ अन्य प्रकार का चिंतन कर रहे हैं। विज्ञान की कमजोरियों पर बार-बार जोर देना, जिन कारणों से मनुष्य धर्म से विमुख हो गया है, उन कारणों को दूर करके धर्म के किसी निर्मल रूप को फिर से वापस लाने का प्रयास और यह भाव कि अदृश्य वास्तविकताओं का भी अस्तित्व हो सकता है, ये सारी बातें यही इंगित करती हैं कि मनुष्य भौतिकता पर जितना जोर दे रहा है, वह गलत है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जो आर्थिक व्याप्तियाँ हैं उन्हें सभी स्वीकार करते हैं, यह मार्क्स की सबसे बड़ी विजय है और इसी के कारण वे मानवता के इतिहास में परम आदरणीय स्थान के अधिकारी रहेंगे। सामाजिक समता का भाव विचार के स्तर पर भी अब पूर्णरूप से गृहीत हो गया है और इससे भागनेवाला चिंतक प्रगतिशील नहीं है, इतनी बात स्वीकार किए बिना अब चल नहीं सकता। किंतु, भौतिकवादियों के प्रयोगों से एक भयानक खतरा भी निकला है और वह यह है कि भौतिक साधनों को ही सब कुछ मान लेने पर, मनुष्य का आत्मिक पतन होने लगता है; वह साधन को छोड़-कर साध्य की गुलामी करने लगता है और चूँकि भौतिकता का अतिक्रमण करनेवाली बातों का उसके सामने कोई महत्त्व नहीं रहता, इसलिए, अपनी सुविधा के विचार से वह यह मान लेता है कि पुलिस की आँख बचाकर जो कुछ किया जाय, वह पुण्य है।

एक बात और है कि चिंतक और साहित्यकार जीवन की तफसील में जाकर मनुष्य के दैनिक कामों की तालिका बनाने में भाग लेंगे अथवा समस्त कोलाहल के बीच भी वे उस स्तर पर जमे रहेंगे जहाँ जीवन का दर्शन वास करता है और जहाँ से जीवन के प्रत्येक कार्य की प्रेरणा उतरती है। जैसा दर्शन वैसा कर्म, इस सिद्धांत का समर्थन इतिहास में होता ही आया है। जर्मन दार्शनिक हेगेल ने ईश्वर की कल्पना एकतंत्रसत्ता (ऐबसॉल्यूट) के रूप में की थी। परिणाम यह हुआ कि जर्मन जाति एकतंत्रता के अधीन चली गई। हिंदुओं ने बहुत वर्षों तक निवृत्ति को जीवन-दर्शन माना, परिणाम यह हुआ प्रवृत्ति का सूत्र उनके हाथ से छूट गया और वे गुलाम हो गए। यह भी कि हिंदुओं ने बहुदेववाद में विश्वास किया और उसी अनुपात में उनके सामाजिक भेद भी बढ़ गए। और आज भी अगर हिंदूधर्म विश्व के सभी धर्मों के प्रति सहनशील है और प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक दूसरे मनुष्य के समान समझता है तो इसका कारण यह है कि हिंदुओं का अडिग विश्वास रहा है कि सभी प्राणियों में परमेश्वर की एक ही सत्ता का वास है। अपने इसी सर्वात्मवादी दृष्टिकोण के कारण नवीन हिंदुत्व विश्व-धर्म की भूमिका का रूप ले रहा है।

जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ तो आती ही रहती हैं जो मनुष्य को झकझोर डालती हैं और जिनसे आजिज आ-कर वह ऐसे साधनों को अपनाने पर मजबूर हो जाता है जिनसे कल्याणकारी समाधान तो तुरंत निकल पड़ते हैं, किंतु, जो आगे चलकर सिर्फ पतन और विनाश उत्पन्न करते हैं। 'मनुष्य सीधी तरह नहीं मानता है तो उसे खूँटे से बाँधकर राशन खिलाओ' यह समाधान भी क्षणस्थायी है और इसका उस अंतिम लक्ष्य के साथ कोई मिलान नहीं है जिसकी ओर इंगित करके यह कहा जाता है कि हमारा ध्येय राज्य-हीन समाज की स्थापना है। रेजिमेंटेशन का राज्य-हीन समाज के अदर्श से जो विरोध है उसी के कारण विश्व के अर्वाचीन चिंतक साम्यवाद के नाम पर अंधाधुंध चलनेवाली कड़ाइयों के आलोचक हो गए हैं और षड्यंत्र नहीं, बल्कि वेदना और पश्चात्ताप में

पढ़कर यह सोच रहे हैं कि मार्क्स की दुहाई देकर किए जानेवाले प्रयोग भी दूषित, नाकाफी और अपूर्ण निकले।

विश्व के विचार जहाँ जा पहुँचे हैं उन्हें देखते हुए सच्ची प्रगति अब यह नहीं है कि हम आँख मूँदकर उन पद्धतियों का समर्थन करते जायँ जिनसे रेजिमेंटेशन का जन्म होता है, जिनसे चिंतन की स्वाधीनता अपहृत होती है और जिनसे सिर्फ ऐसे समाधान निकलते हैं जो क्षणस्थायी हैं; बल्कि प्रगति का सच्चा मार्ग अब वह मार्ग है जिसपर चलनेवाले मनुष्य के तन और मन, दोनों की आजादी महफूज रहती हो, और उसे रोटी और वस्त्र भी मिलते हों और साथ-ही-साथ चिंतन के मुक्त अधिकार भी। 'तुम काम करो और खाओ, सोचने का जिम्मा मेरा है और मैं जो सोचता हूँ, तुम्हारे विचार भी वे ही हैं'—यह कमजोरी डिक्टेटरी पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह जहर साम्यवाद से कैसे दूर हो, इस शंका की पीड़ा उठाए बिना कोई भी चिंतक प्रगतिशील नहीं कहला सकता। जहाँ रोटी नहीं है, वहाँ के लोग तो रेजिमेंटेशन का जहरवाली रोटी भी दौड़कर खा लेंगे; क्योंकि पुण्य और पाप के विचार उनके लिए नहीं हैं, जो बुभुक्षित और विषण्ण हैं। किंतु, जहर जहर ही है और वह उसपर भी असर डालता है जिसे उसकी पहचान नहीं है। फिर रोटी तो मिले बिना रुकेगी नहीं। चिंतक केवल यह सोचते चलें कि मनुष्य का अंतिम कल्याण किधर जाने में है।

राज्य-हीन समाज अगर अंतिम ध्येय है तो मनुष्य को उसकी ओर ले चलने के उपाय श्रद्धा, शिक्षा और प्रेम हैं। मनुष्य को भीतर से जाग्रत् करो कि त्याग उसपर तलवार के जोर से नहीं लादा जाय, बल्कि, त्याग को वह मनुष्य का दिव्य गुण मानकर ग्रहण करे। लाठी से हाँककर मनुष्य को राज्य-हीन समाज में ले जाने की कल्पना तो स्वयं विरोध से भरी हुई कल्पना है, क्योंकि यह लाठी ही तो राज्य है। इसलिए, मेरा मत है कि प्रगतिवाद की नई व्याख्या किए बिना अब इस शब्द का वजन कुछ घटनेवाला है और इस व्याख्या को रूप देने के पहले हमें इस शंका का समाधान कर लेना है कि वह रास्ता कौन है जिसपर चलने से मनुष्य तन और मन, दोनों ही दृष्टियों से स्वतंत्र रहेगा। कौन वह उपाय है जिससे मार्क्स और गाँधी, दोनों के सर्वोत्तम गुण एकीभूत किए जा सकते हैं? और कौन वह साधन है जिससे विश्व की दृश्य और अदृश्य, दोनों वास्तविकताओं के बीच सामंजस्य बिठाया जा सकता है?

[श्री रामधारी सिंह दिनकर—प्रतिष्ठान से]

५. असली और नकली बड़प्पन

नकली बड़प्पन उत्साहहीन और मित्रों की पहुँच के बाहर होता है। जो नकली बड़प्पन से पीड़ित हैं वे बराबर अपनी कमजोरियाँ छिपाने को सतर्क रहते हैं; उनमें यह हिम्मत नहीं होती कि वे अपनी कमजोरियों का ज्ञान दूसरों को होने दें; कभी-कभी अगर वे आपको अपनी दुर्बलताएँ देखने भी देते हैं तो सिर्फ इस विचार से कि उनके ऐसा करने से उन्हें आप और भी महान् समझेंगे। दुर्बलताएँ दिखाने की भी एक कला है और इस कला में ऐसे लोग पटु होते हैं। लेकिन असली बड़प्पन की बात ही और है। जो आदमी सच्चे अर्थों में बड़ा है वह स्वभाव से मुक्त होता है, उसके साथ परिचय बढ़ाना आसान और सुखद होता है तथा वह आपको खुशी-खुशी यह अवसर देता है कि अगर आप चाहें तो उसे छू लें, भली-भाँति ठोंक और बजा लें। नजदीक से देखे जाने पर भी असली बड़प्पन में कोई कमी नहीं आती। बल्कि, जितने ही समीप से आप उसे देखते हैं, उतनी ही अधिक आप उसकी प्रशंसा भी करते हैं। ऐसे बड़प्पन में एक प्रकार की दया होती है जिसके कारण वह झुककर निचले स्तर पर आ जाता है जिससे वह आपसे गले-गले मिल सके, और वह फिर बिना आयास के अपनी असली ऊँचाई पर लौट जाता है। यह बड़प्पन हार भी मानता है, अपनी उपेक्षा भी करता है और नुकसानी भी उठा लेता है। ऐसा बड़ा आदमी खुलकर हँसता है, मजाक करता है, खेलता है और आपकी गरदन से अपनी गरदन मिलाए रहता है, किंतु, उसके किसी भी कृत्य में ओछापन नहीं होता। उसके पास जाते हुए आपमें स्वतंत्रता और संयम का मेल आप-से-आप हो जाता है; उसका चरित इतना उदात्त होता है कि आप सहज ही उसपर विश्वास करने लगते हैं। बड़प्पन की सबसे बड़ी पहचान यह है कि राजा तो राजा दिखाई पड़े, किंतु, प्रजा में भी दीनता नहीं दिखाई दे। बड़ा आदमी अपने मजाक और मिलनसारी में भी बड़ा रहता है, किंतु जो उससे मिलने जाता है वह भी छोटा दिखाई नहीं देता।

[आंद्रे जीद के जर्नल, भाग दो से]

विश्व वार्ता

१. भारत

जेनेवा-समझौता ने विश्व-युद्ध की दिशा बदल दी है और इस बदलती हुई अंतरराष्ट्रीय स्थिति में भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अजमेर में अखिल-भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए कांग्रेस-अध्यक्ष पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि अंतरराष्ट्रीय स्थिति नई घटनाओं से पूर्ण है। जेनेवा-समझौता विश्व-शांति की स्थापना की दिशा में एक भारी कदम है। संभवतः इतिहास में प्रथम बार विश्व के महान देशों के राजनीतिज्ञों ने युद्ध और शांति की समस्या का सामना किया है और उसको सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके पूर्व यूरोप में और अन्यत्र अनेक संमेलन हुए। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि इसके पूर्व राजनीतिज्ञ हार्दिक प्रयत्न नहीं कर रहे थे। वास्तविकता यह है कि इन सम्मेलनों का उद्देश्य जितना अपनी व्यक्तिगत स्थिति को सुदृढ़ बनाना था उतनी समस्याओं का समाधान करना नहीं। अकस्मात् ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक समाधान की आवश्यकता हुई जो सभी प्रकार के खतरों से पूर्ण था। यदि समझौता न होता और जेनेवा-सम्मेलन निष्फल हो जाता तो हिंदचीन का युद्ध जारी रहता और धीरे-धीरे यह युद्ध फैलता जाता और विश्वयुद्ध में परिणत हो जाता। किंतु जेनेवा में उपस्थित प्रत्येक देश का प्रत्येक प्रतिनिधि वर्तमान स्थिति के प्रति, जो हमारे सामने है, पूर्ण जागरूक था और यही कारण है कि इन लोगों ने समस्या को सुलझाने का पूर्ण प्रयत्न किया।

आपने कहा कि हिंदचीन के समझौते से हमारे ऊपर एक महान दायित्व आ पड़ा है और हमने इसे स्वीकार कर लिया है। वियतनाम, लाओस और कंबोडिया के लिए अंतरराष्ट्रीय कमीशन की स्थापना हो रही है और भारत इस कमीशन का अध्यक्ष होगा।

श्री नेहरू ने कहा कि हम इस उत्तरदायित्व को राष्ट्र की संगठित सहायता और शुभ-कामनाओं से पूरा कर सकेंगे। यह कोई दलीय प्रश्न नहीं और न यह केवल सरकार का प्रश्न है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसपर समस्त भारत की प्रतिष्ठा खतरे में है।

२. हिंदचीन

हिंदचीन का चिर-प्रतीक्षित समझौता संपन्न हो गया। फ्रांसीसी प्रधान मंत्री श्री मंडेस फ्रांस के नेतृत्व में फ्रांसीसी प्रतिनिधिमंडल की यह सफलता ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। हिंदचीन की जनता साढ़े सात वर्षों के संघर्ष के पश्चात् अब शांति की साँस लेगी। समझौता तो हो गया, किंतु शांति-ससझौते के मार्ग में अब भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। इसकी सफलता की संभावना इस बात पर निर्भर करती है कि साढ़े सात वर्षों के युद्ध में जो कटुता पैदा हो गई है उसे किस रूप में दूर किया जायगा तथा वियतनाम, लाओस एवं कंबोडिया की जनता को शांति-पूर्वक अपना मार्ग कहाँ तक चुनने दिया जायगा।

भारत की अध्यक्षता में कनाडा और पोलैंड का जो अंतरराष्ट्रीय कमीशन गठित किया गया है उसपर महान दायित्व है। भारत-सरकार ने अनधिकृत रूप से हिंदचीन-विषयक समझौता सफल कराने में जो प्रयत्न किया है उसकी सराहना संपूर्ण संसार में हुई है। अमेरिका ने हिंदचीन-समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया; किंतु, उसने आश्वासन दिया है कि समस्या को विकृत करने के लिए वह कोई कदम नहीं उठाएगा।

हिंदचीन-समझौते में एक बात यह भी है कि वियतनाम, लाओस और कंबोडिया किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होंगे और न अपने यहाँ वे किसी भी विदेशी को सैनिक अड्डे ही बनाने देंगे।

हिंदचीन में विश्व-युद्ध की जो भूमिका तैयार हो रही थी उसका रूप अभी विनष्टप्राय हो चुका है और फ्रांसीसी प्रधान मंत्री श्री मंडेस फ्रांस की दूरदर्शिता, साहस तथा

योग्यता ने विश्व को विश्व-युद्ध की विभीषिका से बचा लिया। अब फ्रांसीसियों की नेकनीयती पर यह बात निर्भर करती है कि कितना शीघ्र शांति स्थापित हो।

३. पुर्त्तगाल

भारत-स्थित पुर्त्तगाली बस्तियों में भी जन-विद्रोह व्यापक रूप धारण करता जा रहा है और पुर्त्तगाली सरकार इस जन-आंदोलन को कुचल देने की गलती करने पर तुली है। भारत-सरकार चाहती है कि शांतिपूर्ण तरीके से ही विदेशी बस्तियों की समस्या का समाधान हो जाय तो अच्छा। पुर्त्तगाली सरकार ने इधर गोआ, ड्यू और डामन में जिस प्रकार का अमानुषिक दमन प्रारंभ किया है उसकी प्रतिक्रिया भारत पर होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि भारत-सरकार ने नई दिल्ली-स्थित पुर्त्तगाली दूत के द्वारा पुर्त्तगाल-सरकार को चेतावनी दी है कि गोआ, ड्यू और डामन में स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाली जनता का अमानुषिक दमन अविलंब बंद किया जाय और वहाँ के नागरिकों को गिरफ्तार करके पुर्त्तगाल नहीं भेजा जाय।

डामन के अंतर्गत दादरा एवं कुछ अन्य ग्रामों के स्वतंत्र हो जान से पुर्त्तगाली अधिकारी बौखला उठे हैं। यों तो पहले से ही यहाँ दमन जारी था, किंतु इधर पुर्त्तगाल-सरकार का अत्याचार बहुत बढ़ गया है। यहाँ तक कि जेल में गिरफ्तार व्यक्तियों के साथ बड़ा ही अभद्र व्यवहार किया जा रहा है और तरह-तरह की यातनाएँ दी जा रही हैं। बंदियों को बहुत ही निम्न कोटि का भोजन दिया जाता है और उन्हें चिकित्सा की कोई सुविधा प्राप्त नहीं है।

भारत-सरकार ने इन सारी शिकायतों की ओर पुर्त्तगाल-सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि यदि इन्हें दूर नहीं किया जायगा और इसी प्रकार दमन जारी रहा तो इसके दुष्परिणामों की जिम्मेदारी उसी पर होगी। पुर्त्तगाली बस्तियों के नागरिक भारतीय हैं जो भारत में मिलन के लिए संग्राम कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले इन सैनिकों के प्रति यदि अत्याचार किया जाता है तो यह भारत का अपमान है जिसे कदापि सहन नहीं किया जा सकता।

४. पाकिस्तान

पूर्वी पाकिस्तान के पदच्युत मुख्य मंत्री श्री फजलुल हक ने एक वक्तव्य निकालकर सार्वजनिक जीवन से संन्यास लेने की घोषणा की है। आपने अपने वक्तव्य में कहा है कि मैंने ऐसी बातें कह डालीं, जो नहीं कहनी चाहिए थीं। पाकिस्तान के प्रति मेरी कोई दुर्भावना नहीं। उन बातों के लिए मुझे हार्दिक दुःख है, क्योंकि उनसे पाकिस्तान के प्रति मेरी गैर-बफादारी प्रकट हुई। वृद्धावस्था के कारण अब मैं सार्वजनिक जीवन से संन्यास ग्रहण कर रहा हूँ।

इसमें संदेह नहीं कि श्री हक के इस वक्तव्य से पाकिस्तान की बहुसंख्यक जनता को ही नहीं, प्रत्युत भारत को भी दुःख हुआ है; क्योंकि श्री हक ने यह वक्तव्य स्वेच्छा से नहीं, तलवार की नोंक पर दिया है। स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को पूर्वी पाकिस्तान की ९५ प्रतिशत जनता ने अपना नेता चुना उसे ही गिरफ्तार कर लिया गया और दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंका गया। यह समय ही बताएगा कि पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार की तानाशाही नीति की प्रतिक्रिया जनता पर क्या होगी और इसका परिणाम किस रूप में सामने आयगा।

पाकिस्तानी सरकार अपने विरोधियों का दमन करने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपना रही है। २३ जुलाई की अर्द्धरात्रि से समस्त पाकिस्तान में कम्युनिस्ट पार्टी अवैध घोषित कर दी गई। इस प्रकार की पहली घोषणा पूर्वी पाकिस्तान के संबंध में कुछ दिन पूर्व की गई थी।

पंजाब और पश्चिमोत्तर-प्रदेश में इस घोषणा के कुछ क्षणोपरांत कुछ साम्यवादियों की गिरफ्तारियाँ भी हुई हैं। लाहौर के दैनिक पत्र 'इमरोज' का पेशावर-स्थित संवाददाता इसी सिलसिले में गिरफ्तार कर लिया गया।

इस प्रकार संपूर्ण पश्चिम पाकिस्तान में कम्युनिस्ट पार्टी अवैध घोषित हो चुकी है। सिर्फ बहावलपुर और खैरपुर दो ऐसे पाकिस्तानी राज्य हैं जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी पर अभी प्रतिबंध नहीं लगा है।

५. कश्मीर

विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियाँ जम्मू और कश्मीर को कोरिया का रूप देकर अपनी खूँखार प्रवृत्ति का ग्रास बना लेना चाहती हैं। लेकिन जम्मू तथा कश्मीर के प्रधान मंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने गत २६ जुलाई को अजमेर की काँग्रेस-महासमिति में जो भाषण दिया वह इसका एक मुँहतोड़ उत्तर है।

श्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने कहा है कि यह हमारा दृढ़ निश्चय है कि हम कश्मीर को दूसरा कोरिया बनाकर

अंतरराष्ट्रीय षड्यंत्र का अखाड़ा नहीं बनने देंगे। कश्मीर १९४७ में भारत का अभिन्न अंग था, वह अब भी भारत का अंग है और अंततक उसका अंग बना रहेगा।

आपने कहा कि कश्मीर की जनता ने अपना भाग्य अंतिम रूप से भारत के साथ जोड़ लिया है और दुनिया की कोई भी शक्ति भारत के साथ उसके प्राचीन संबंधों को नष्ट नहीं कर सकती। कश्मीर की जनता ने अपनी निर्वाचित संविधान-सभा क द्वारा भारत में सम्मिलित होने के पक्ष में अपना अंतिम निर्णय दिया है। पाकिस्तान ने यदि कश्मीर में बलप्रयोग करने की धमकी दी तो उसे पछताना होगा। १९४७ का अनुभव पाकिस्तान के सामने है और अगर उस तरह की कोई बात फिर दुहराई गई तो पाकिस्तान को पश्चात्ताप के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा।

आपने कहा कि पाकिस्तान यह सोचकर भारी गलती करेगा कि अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त कर वह आक्रमण कर सकता है। कश्मीर के हजारों शहीदों ने व्यर्थ ही अपना रक्त नहीं बहाया है। कश्मीर का बच्चा-बच्चा उसकी आजादी को बचाने के लिए उठ खड़ा होगा। हम अपनी आजादी के लिए अपनी पूरी ताकत और भारतीय भाइयों की ताकत से लड़ेंगे। कश्मीर को गुलाम बनाने के लिए दुनिया के जिस-किसी कोने से प्रयत्न होगा उसका हम जी-जान से मुकाबला करेंगे।

६. अमेरिका

दक्षिण-पूर्व एशिया-प्रतिरक्षा-संघ के पीछे अमेरिका की कौन-सी भावना है और किस उद्देश्य से अमेरिका ने हिंद-चीन-समझौता पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया—यह अस्पष्ट रूप में प्रकट तो है ही; लेकिन भविष्य इस अस्पष्टता को भी दुनिया की आँखों के सामने स्पष्ट कर देगा।

अमेरिकी परराष्ट्र-मंत्री श्री फोस्टर डलेस ने बताया है कि जबतक मित्रराष्ट्रों के साथ दक्षिण-पूर्व-प्रतिरक्षा-संघ के संबंध में कोई अंतिम समझौता नहीं हो जाता तबतक अमेरिका इसके लिए अस्थायी व्यवस्था करेगा। डलेस को विश्वास है कि अगस्त महीने में इस संघ को गठित करने के उद्देश्य से कोई-न-कोई सम्मेलन अवश्य होगा और उसमें ठोस निर्णय किया जायगा। फ्रांस, अस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फिलीपाइन्स, थाईलैंड, अमेरिका और ब्रिटेन इसमें सर्वप्रथम सम्मिलित होंगे।

गत २१ जुलाई को कोपेन हेगेन में पाकिस्तान के परराष्ट्र-मंत्री श्री जफरुल्ला खाँ ने बताया कि दक्षिण-पूर्व एशियाई प्रतिरक्षा-संघ में सम्मिलित होने के लिए यदि पाकिस्तान को निमंत्रण मिला तो पाकिस्तान-सरकार उसपर निश्चय ही विचार करेगी। कौन-कौन-से राष्ट्र इस संगठन में सम्मिलित होंगे—यह अभी निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता; लेकिन ब्रिटेन और अमेरिका ने तो उक्त प्रतिरक्षा-संगठन के लिए अपनी सहमति दे दी है।

इस संगठन की सफलता अथवा असफलता की घोषणा तो अभी भविष्य के गर्भ में पड़ी है, किंतु कम्युनिस्टों की कूटनीतिक विजय को देखकर एक प्रश्न रह-रहकर सामने खड़ा हो जाता है और सफलता की संभावनाओं को विचलित कर देता है।

७. रूस

एक ओर तो अमेरिका दक्षिण-पूर्व एशियाई प्रतिरक्षा-संघ संगठित करने का तिकड़म रच रहा है और दूसरी ओर उसके सामने यूरोप की सामूहिक प्रतिरक्षा की समस्या भी उपस्थित है। इस संबंध में सोवियत रूस ने गत २४ जुलाई को एक प्रस्ताव उपस्थित कर कहा है कि यूरोप में सामूहिक प्रतिरक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए आगामी महीनों में एक सम्मेलन बुलाया जाय जिसमें यूरोप के समस्त राष्ट्र सम्मिलित हों।

रूसी परराष्ट्र-मंत्री श्री मोलोतोव ने मास्को-स्थित तीनों पश्चिमी राष्ट्रों के राजदूतों के पास पत्र भेजकर उक्त आशय का सुझाव दिया है। पत्र में कहा गया है कि यूरोप की सामूहिक सुरक्षा के प्रश्न पर विचार करना इस सम्मेलन का उद्देश्य होगा और इसमें अमेरिका भी शामिल हो सकता है। साथ ही यूरोप के जो भी राष्ट्र इसमें सम्मिलित होना चाहें, हो सकते हैं। जनवादी चीन अपना पर्यवेक्षक भेज सकता है। यह सम्मेलन कब और कहाँ हो—इसपर अभी कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।

इस प्रस्ताव पर अमेरिका और ब्रिटेन की प्रतिक्रिया क्या है—इसकी घोषणा अभी किसी ने नहीं की है; किंतु अमेरिका ने संकेतरूप में कह दिया है कि फ्रांस और ब्रिटेन से विचार करने के बाद यह सुझाव अस्वीकृत कर देने योग्य है। ब्रिटेन ने भी अभी इतना कह दिया है कि इस प्रस्ताव में कोई नई बात नहीं कही गई है। देखना है, यूरोपीय सामूहिक प्रतिरक्षा-संबंधी रूसी प्रस्ताव का भविष्य किस रूप में सामने आता है?

—दिनेशप्रसाद सिंह



पुस्तकालोचन

प्रेत की छाया (कहानी-संग्रह)—लेखक—ज्योतींद्रनाथ एम० ए०, बी० एल०; प्रकाशक—अरुण पुस्तकालय, लहेरियासराय; पृष्ठ-संख्या—१३४; मूल्य १॥)

प्रेत की छाया श्री ज्योतींद्रनाथजी की नौ कहानियों का संग्रह है। 'न्याय का एक दिन' और 'संघर्ष'-शीर्षक कहानियाँ पौराणिक कथाओं का आधार लेकर लिखी गई हैं। इसलिए ये उद्धरण-जैसी लगती हैं; गो कि इन उद्धरण-मूलक कहानियों में भी लेखक का चिंतन-प्रधान व्यक्तित्व निखर पड़ा है। बाकी 'स्मृति के आँसू, प्रेत की छाया, तीस दिन, मा का हृदय, इलाज, मन का दोष'-शीर्षक कहानियाँ विभिन्न घटनाओं से संबद्ध होने पर भी लेखक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं। ये कहानियाँ कल्पनालोक की नहीं, बल्कि वास्तव लोक के वास्तव जीवन से संबद्ध हैं। इसलिए इनमें आई घटनाएँ रोज-ब-रोज की, पास-पड़ोस की घटनाओं-सी लगती हैं। संग्रह की पहली कहानी 'प्रेत की छाया' कलाकार 'आनंद' के जीवन की कहानी है। प्राचीन एवं आधुनिक काल के कलाकारों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालने के लायक यह काफी सामर्थ्य रखती है। यह लेखक की इस धारणा को काफी स्पष्ट कर देती है कि कलाकार का जो सम्मान प्राचीन काल में था, सदियों बाद वैज्ञानिकता एवं सभ्यता के आधुनिक युग में, उससे तनिक भी अधिक नहीं हो सका है। जहाँ प्राचीन काल का कलाकार राज्याश्रित होकर दोनों जून भर पेट भोजन पा सकता था—अपनी मर्जी के अनुसार कला-प्रदर्शन नहीं कर सकता था, वहाँ आधुनिक युग के कलाकारों की अवस्था उससे भी वीभत्स हो गई है। आज कलाकार ठोकरें खाते फिरते हैं, पर उनके खान-पान, सुख-आराम की चिंता करने-वाला कोई भी नहीं। यह दूसरी बात है कि आज समाज दूसरे की कमाई पर, दूसरे के वैभव पर मन-बहलाव करना चाहता है। संग्रह की यह कहानी कला की दृष्टि से भी सर्वोत्तम उतर सकी है। 'स्मृति के आँसू' में नारी-मनो-विज्ञान का हलका परिचय देने का लेखक ने प्रयत्न किया है। इस कहानी में जहाँ-तहाँ कथोपकथन काफी तार्किक ढंग से कराया गया है, जो लेखक के गंभीर चिंतन का परिचायक है। कहानी के नायक सतीश और नायिका 'सरिता' व्यावहारिक जीवन में भी काफी सतर्कता से काम लेते हैं, जिससे वे आदर्श चरित्रवाले बन गए हैं। पहली पत्नी की स्मृति वर्षों बाद एक बार सतीश को खूब जोर से झकझोर देती है और वह रोने लगता है। ऐसी घटना सामाजिक दृष्टि से अस्वाभाविक लगती है। हो सकता है, लेखक का विशेष ममत्व कहानी के नायक 'सतीश' के प्रति हो, और वह नहीं चाहता हो कि सतीश बार-बार पहली पत्नी की याद कर साधारण मानव की श्रेणी में आ जाय। जो पत्नी दुख के दिनों में साथ रही हो, सुख के दिन आ जाने पर उसकी याद तक नहीं आए, वह भी इतनी लंबी अवधि तक—काफी अस्वाभाविक है।

'तीस दिन' कहानी अतिसाधारण ढंग से लिखी गई रहने पर भी स्वच्छंदता-प्रिय युवक-युवतियों के मुँह पर तमाचे जमाती है। तीस दिनों के अंदर कई महत्त्वपूर्ण ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जो तथाकथित आधुनिक विकासोन्मुख समाज का प्रतिबिंब उपस्थित कर देती हैं, मन-पसंद युवक-युवतियों की मन-पसंद चाल समाज को कितना दयनीय और बदबूदार बना देती है, इसका सबूत पेश करती हैं। कहानी का नायक 'हरेंद्र' (पढ़ा-लिखा युवक) जहाँ आवारों की दुनिया का नायकत्व करता है वहाँ आधुनिक युवती सुधा नायिका की भूमिका अदा करती है। और, बेचारे अभिभावकों का मुखड़ा 'वैशाख-नंदन' की तरह नीचे झुक जाता है। आरंभ और मध्य की तरह इस कहानी का अंत नहीं बन सका। अंत काफी छिछला हो गया है।

'मा का हृदय' ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी गई है, पर लेखक ने इसमें वर्तमान समाज के दो रूप (अच्छे और बुरे) का चित्रण किया है। इस कहानी में कला की दृष्टि से भले ही खास खूबी नहीं मालूम पड़े, पर राजनीतिक दृष्टि से इसका महत्त्व होना चाहिए। 'इलाज' कहानी में

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति का प्रवेश कराया गया है। व्यय-साध्य चिकित्सा-पद्धति से जो बीमारी अच्छी नहीं हो पाती उसे यह देखते-ही-देखते छूमंतर कर दे सकती है। वास्तव में कथा या काव्य के माध्यम से ऐसी चीजों का प्रवेश मनुष्य के मस्तिष्क में कराने की चेष्टा करना अभिनंदनीय है। 'मन का दोष'-शीर्षक कहानी में अपने दृष्टिकोण को लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'ज्यों-ज्यों दुनिया सभ्य होती जा री है, मनुष्य धूर्त, लंपट और नीच होता गया है। ज्यों-ज्यों कला और विज्ञान तरक्की करता जा रहा है, दुनिया अधिक खतरनाक, संकटपूर्ण और जहरीली होती जा रही है।'

संग्रह की अंतिम कहानी 'सैनिक की प्रेमिका' लेखक के प्रति सारी धारणा बदल देती है। इस कहानी में पाश्चात्य-प्रेम को कथोपकथनों एवं घटनाओं के आधार पर भारतीय प्रेम की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और पवित्र बतलाया गया है जिसे मान लेने में पाश्चात्य देश के लोगों को भी घबराहट होगी। कलाकार की हर कृति अध्यापन का कार्य करती है, इसलिए ऐसी गलत धारणा पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को अपनाने की प्रेरणा भी दे सकती है, जो देश के लिए काफी खतरनाक है। एक संग्रह में लेखक जहाँ अपने देश की सभ्यता और संस्कृति के प्रति इतना मोहित एवं चिंतित दिखलाई पड़ता है वहाँ इस कहानी में उसकी सारी धारणा ही बदली-सी मिलती है। अच्छा होता, यदि यह कहानी इस संग्रह में नहीं आ पाती।

जो भी हो, पर संक्षेप में इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि लेखक का प्रथम प्रयास काफी सफल रहा है। भाषा अति साधारण या चलनसार कही जा सकती है। छपाई-सफाई सुंदर है।

—शंभुनाथ बलियासे 'मुकुल'

तमिल और उसका साहित्य—लेखक—श्री पूर्णसोम सुंदरम्; संपादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ; पृष्ठ-संख्या १२८ ; मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक तमिल भाषा और उसके साहित्य के परिचयात्मक विश्लेषण का प्रयास करती है। तमिल साहित्य और तमिल भाषा की विविध विशेषताओं की एक हल्की-सी झाँकी पुस्तक में दी गई है। इसमें एक बड़े विषय को लगभग सवा सौ पृष्ठों की परिधि में बाँधने के प्रयत्न का परिणाम यह हुआ है कि विशेष प्रवृत्तियों और धाराओं का न तो सूक्ष्म और विशद विश्लेषण ही हो पाया है और न विशेष कवियों और कृतियों पर जमकर विचार ही। फिर भी, संक्षेप में प्रारंभकाल से आधुनिक काल तक के तमिल साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट हो सकी है, इसमें संदेह नहीं। इस पुस्तक में नौ अध्याय हैं—प्रारंभिक परिचय, संघपूर्व काल, संघकाल, संघोत्तरकाल या काव्यकाल, भक्तिकाल, कंबन्काल, मध्यकाल, आधुनिक काल और उपसंहार। प्रथम और अंतिम अध्यायों को छोड़ शेष अध्यायों से तमिल साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का परिचय मिलता है।

तृतीय एवं अंतिम संघों (तमिल कवि-परिषदों) के काल को संघकाल कहते हैं, उसके पहले का काल संघपूर्व काल है। प्रथम एवं द्वितीय संघों के काल की रचनाएँ अप्राप्य हैं। तमिल भाषा के प्रथम वैयाकरण अगत्तीयनार रामायणकाल के महर्षि अगस्त्य थे अथवा और कोई—यह कहा नहीं जा सकता। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर ही अगत्तियम् नामक ग्रंथ लिखा था। ये प्रथम संघ के सदस्य थे। कवाटपुरम् में द्वितीय संघ की स्थापना हुई। पांड्य राजाओं ने इसकी स्थापना की थी। वाल्मीकि-रामायण में कवाटपुरम् का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र और महाभारत में भी इसकी चर्चा है। कवाटपुरम् के इस द्वितीय संघ की रचनाएँ हैं—मुरुवल, संयदम् और शेयियिर्रियम्—नाटक ग्रंथ तथा पेरुनारै, पेरुकुरुगु आदि संगीतशास्त्र के ग्रंथ। तोलकाप्पियर द्वारा रचित ग्रंथ तोलकापियम् पाणिनि के संस्कृत व्याकरण से तुलनीय है। इसका महत्त्व वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से कम नहीं। अंतिम तमिल कवि-परिषद् की स्थापना १५० ई० पू० में हुई थी। इस काल की जो रचनाएँ प्रकाश में आई हैं, उनमें कुछ हैं—एट्टूत्तौगे (आठ संग्रह), पत्तुप्पाट्ट (दस कविताएँ) और पदिने कील कणक्कु (अठारह लघु-कविता-संग्रह)।

तिरुक्कुरल 'संघ-काल' की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। विश्व-साहित्य में इसका स्थान माना जाता है। इसके रचयिता तिरुवलुवर थे। वे तमिल कवि-परिषद् के सदस्य नहीं थे। 'संघोत्तरकाल' के पाँच सर्वश्रेष्ठ काव्य हैं—शिलप्पदिकारम्, मणिमेकलै, जीवक-चिंतामणि, वलयापदि और कुंडलकशि। इसके बाद भक्तिकाल आता है।

भक्तिकाल का मूल संघोत्तरकाल की पारलौकिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों में निहित है जो आरंभ में तो आध्यात्मिक अनुभूति और रहस्यवादी अभिव्यक्ति तक सीमित रहीं, किंतु बाद में धार्मिक विद्वेष और खंडन-मंडन के रूप में परिणत हुईं। इस काल की रचनाएँ शैव और वैष्णव कवियों द्वारा रचित हैं। शिवभक्त कवियों में ये चार प्रधान हैं—माणिक्कवाचकर, तिरुज्ञानसंबंदर, अप्पर और सुंदरर्। वैष्णव संत कवि आलवार कहलाते थे। नालाहिरदिव्य-प्रबंधम् ऐसे ही बारह आलवारों द्वारा रचित चार हजार कविताओं का वृहत् संग्रह है। इन आलवारों में तीन प्रमुख भक्त हैं—पोयूगै, आल्वार, पूदत्ताल्वार और पेयाल्वार। कंबन्काल नवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की अवधि को कहते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में महाकवि कंबन् ने अमरकाव्य रामायण की रचना की। यह रचना इतनी उत्कृष्ट हुई कि इसीलिए कवि के नाम पर सारे युग का नामकरण हुआ। स्मरण रहे कि तुलसीदास का काल इसके पाँच शताब्दियों के बाद आता है। तमिल भाषा में रामायण की रचना कंबन् के पहले भी हो चुकी थी। कंबन्काल की कुछ अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—नलवेन्बा, पेरियपुराणम्, तिरुविलैयांडलपुराणम् आदि। मध्यकाल १६वीं सदी तक रहा। इस युग में भी कंबन्काल की तरह प्रबंधकाव्य की रचना हुई और अनेक प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ देखने में आईं। आधुनिक काल में तमिल साहित्य में अँगरेजों के आगमन तथा तज्जनित नवीन परिस्थितियों का प्रतिफलन है। गद्य साहित्य की प्रचुरता एवं विविधता इस काल की विशेषता है। इस काल के प्रमुख साहित्य-स्रष्टाओं में सूर्यनारायण शास्त्री, सुंदरम् पिल्लय, दामोदरम् पिल्लय, राजम् अय्य, माधवैया, स्वामीनाथ अय्यैयर के नाम लिए गए हैं। इसी समय महाकवि सुब्रह्मण्य भारती हुए जिन्होंने देश-प्रेम, समानता और वीरता के भावों का प्रचार किया। उनकी कविताओं में नई शक्ति, नई आशा और अभिनव कर्त्तव्य-निष्ठा के दर्शन होते हैं। सोमसुंदरम्जी ने कुछ इस प्रकार के उद्धरण दे रखे हैं। एक देखिए—

भय न करो, निश्चय जय होगी,
होगी मुक्ति इसी जन्म में, स्थिरता होगी।
भुजायें हैं दो, पर्वत समान।
शक्ति के चरण हैं उनपर स्वर्णिम····

आज के अन्य कवि कविमणि, भारतीदाशन, कंबदाशन, नामक्कल, रामलिंगम्पिल्लय, शुद्धानंद भारती, कोत्तमंगलम्, श्री शुग्गु आदि का भी संक्षेप में परिचय दिया गया है। कविमणि सहृदय और कोमल भावों के कवि हैं। भारती दाशन क्रांतिकारी कवि और विश्वशांति के गायक हैं। कंबदाशन तमिल के मस्त कवि हैं और उनके विचार प्रगतिशील हैं। रामलिंगम् पिल्लय गांधीवादी कवि हैं। श्री शुग्गु ने ग्रामीण किसानों की भाषा में कविता लिखी है। गद्य-साहित्य का जो परिचय प्रस्तुत पुस्तक में दिया गया है, उसमें केवल नाम ही भर गिनाए गए हैं। इस अंश के साथ पूर्ण क्या, औसत न्याय भी नहीं हो सका है। उपन्यास, कहानी, नाटक, इतिहास, समालोचना, लोकसाहित्य आदि के क्षेत्रों में काम करनेवालों के नामों का परिचय अवश्य हो जाता है।

इस प्रकार यद्यपि पुस्तक छोटी है और आधुनिक गद्य के साथ पर्याप्त न्याय नहीं हो पाया है तथापि तमिल भाषा और उसके साहित्य के संबंध में प्रारंभिक जानकारी की दृष्टि से इसकी उपयोगिता में संदेह नहीं। राष्ट्रभाषा हिंदी के पाठकों और लेखकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अहिंदी प्रांतों की साहित्य-निधि को जानें-समझें, और प्रस्तुत पुस्तक इस कार्य में थोड़ा-बहुत पथ-प्रदर्शन अवश्य कर सकती है। इसका प्रकाशन अभिनंदनीय है।

—शिवनंदन प्रसाद

अनमोल साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुष	पं० छविनाथ पाण्डेय	३॥)
माँ की ममता	,,	२॥)
क़ैदी की पत्नी	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
मीमांसा	श्री अनूपलाल मंडल	२॥)
दर्द की तस्वीरें	,,	२)
समाज की वेदी पर	,,	१॥)
बुझने न पाय	,,	४)
वे अभागे	,,	५)
रूप-रेखा	,,	१॥)
सविता	,,	३)
साक्षी	,,	१॥)
बूचड़खाना	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)
लहरों के बीच	श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त	२॥)
अविरल आँसू	महंथ धनराजपुरी	५)
सरस्वती की आत्महत्या	श्री रमण	२)

कहानी

लाल तारा	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
संसार की मनोरम कहानियाँ	,,	१॥)
माटी की मूरतें	,,	१॥)
प्रतिमा	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२॥)
रात की रानी	सुश्री उषादेवी मित्रा	२)
भीखू की टोली	सुश्री शारदा वेदालंकार	१)
हरदम आग	श्री कृष्णनन्दन सिनहा	२॥)
समानान्तर रेखाएँ	श्री राधाकृष्णप्रसाद, एम० ए०	२॥)
गौने की विदा	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	२)
सूरतें और सीरतें	प्रो० कपिल	१)
आज का प्रेम	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	२॥)

प्रहसन

दो घड़ी	श्री शिवपूजन सहाय	।॥)
कहकहा	श्री सरयूपंडा गौड़	१)
ससुराल की होली	,,	२॥)
हँसो-हँसाओ	,,	१॥)

नाटक

अम्बपाली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
तथागत	,,	१॥)
वर्धमान महावीर	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	॥)

पारिजात-मंजरी	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	१॥)
संस्कृति की झलक	श्री रमण	१॥)
जय	श्री रासविहारी लाल	२)
नवयुग का प्रभात	श्री उग्रमोहन झा	२)

यात्रा

भूमण्डल-यात्रा	श्री गोपाल नेवटिया	१॥)
आज का जापान	भदंत आनंद कौसल्यायन	२॥)

प्रबन्ध-साहित्य

संस्कृत का अध्ययन	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	२)
आगे बढ़ो	पं० छविनाथ पाण्डेय	१॥)
जीवन की सफलता	,,	॥≡)
साहित्य-समीक्षा	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	२॥)
दुग्ध-विज्ञान	श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'	१)
बौद्धधर्म के उपदेश	धर्मरक्षित	२)
निर्माण के चित्र	श्री रमण	१)
प्राणों की बाजी	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय	१॥)
हमारी सांस्कृतिक एकता	श्री रामधारी सिंह दिनकर	१॥)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता	श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)

संकलन

गाँधी-अमृतवाणी	श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	१॥)
संस्कृत-लोकोक्ति-सुधा	श्री जगदम्बाशरण राय	१॥)

जीवनी

आत्म-कथा	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	१२)
कार्ल मार्क्स	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)

काव्य

कैकेयी	श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'	३)
कर्ण	,,	१॥)
रश्मिरथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५)
धूप और धुआँ	,,	२॥)
इतिहास के आँसू	,,	३)
मधुविन्दु	श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर'	१)
नारायणी	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
द्रोण	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	१॥)
प्रेम-गीत		

संस्मरण

बापू के कदमों में — राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद — ५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान — प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र — ६)
भारतीय संविधान और शासन — प्रो० विमलाप्रसाद — ६॥)

नीति-शास्त्र

नीति-शास्त्र — श्री क्षेमधारी सिंह — २॥)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक-शास्त्र — प्रो० दिवाकर झा — ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास — प्रो० मोतीचन्द गोविल — ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास — " — २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास — माननीय श्री रामचरित्र सिंह — २॥)
विश्वज्ञान-भारती — श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' — १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में — श्री शिवपूजन सहाय — १॥)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा — संपादक-मंडल — ॥=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है — " — ॥=)
हमें जानना चाहिए — " — ॥=)
किसान और मजदूर — संपादक-मंडल — ॥=)
हमारा कर्त्तव्य — " — ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा — " — ॥)
पशुपालन और भारत का पशुधन — " — ॥)
बिहार-पंचायत-राज और उसके अधिकार — " — ॥)
फल तथा सब्जीसंरक्षण — श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा — १॥।)
फलोत्पादन — " — १॥)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना — प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव — २॥)
काव्य और कल्पना — प्रो० रामखेलावन पाण्डेय — ३॥)
निर्गुण काव्यदर्शन — प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी — ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ — चित्रकार—श्यामलानन्द — २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग — प्रो० हरिमोहन झा — १॥)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ॥।)
नवरत्न — " — ॥।)
कथा-कहानी — " — ॥।)
सीख की बातें — " — ॥।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ — श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' — १।)
मूर्खों की कहानियाँ — " — १।)
मनोरंजक कहानियाँ — " — १।)
समुद्र के मोती — " — १।)
शेर का शिकारी — श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — ॥।)
लहरदार पूँछ — श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ॥।)
नकली सिंह — " — ॥।)
ऊँचे ऊँट — " — ॥।)
साँढ़ और बेंग — " — ॥।)
चोर राजा — श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ॥।)
दालिम कुमार — श्री शिवस्वरूप वर्मा — ॥।)
सीत-बसंत — " — ॥।)
हितोपदेश की कहानियाँ — श्री शशिनाथ झा — १॥)
मामाजी — " — ॥।)
रूसी जीवट की कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १॥।)
सत्तू में भैंस — सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी — ॥।)
जादू की वंशी — श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त — ॥।)
जादू का थैला — श्री जगदानन्द झा — ॥।)
काजी घोड़ा — " — ॥)
कासिम का चप्पल — " — ॥)
चालाक मुर्गी — " — ॥)
सियार का न्याय — " — ॥)
चाँद का दूत — " — ।=)

दादा का ढोल — श्री जगदानन्द झा — ।=)
गधे की सूझ — " — ।=)
समझदार मेढ़क — " — ।=)
बेटे हों तो ऐसे — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — ।।।)
बेटियाँ हों तो ऐसी — " — ।।।)
अनोखा संसार — " — ।।=)
रोचक कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १।)
राजकुमारी का व्याह — श्री दयाभानु 'अलख' — १)
अनोखे देश में — श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग' — ।।।)
किगकांग — " — ।।।)
सोने का कीड़ा — " — ।।।)
रिपवान विंकिल — " — ।।।)
जंगल बोलता है — " — १)
घरौंदा — श्री गोविन्दशरण, एम० ए० — १।।)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ — श्री अनूपलाल मण्डल — भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=); भाग, ३ ।।=); भाग, ४ ।।=)
इनके चरण-चिह्नों पर — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — ।।।)
माँ के सपूत — श्री शिवपूजन सहाय — ।।-)

भौगोलिक कहानी

अपना देश श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।=, भाग २-।।)

चित्रित कहानियाँ

गोल-गपोड़े — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
ताक-धिनाधिन — " — ।।।)

चित्रित लोरियाँ

आ री निंदिया — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
हँसी-खुशी — " — ।।।)

ऐतिहासिक कहानी

रत्नाकर — श्री शशिनाथ झा — १)
अष्टदल (दो भाग) प्रत्येक भाग — " — ।=)
संक्षिप्त-रामायण-कथा — श्री नागार्जुन — १।।)
बाल-महाभारत — श्री चन्द्र[illegible] शर्मा — १)
चित्तौड़ का साका — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' — ।।।)

अमर कथाएँ — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=), भाग, ३ ।=), भाग, ४ ।≡)
हम इनकी संतान हैं — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
दो भाग, प्रत्येक भाग ।।-)

सामान्य ज्ञान

छात्र-जीवन — श्री फूलदेवसहाय वर्मा — १।)
क्यों और कैसे ? — श्री जगदानन्द झा — १।।)
प्रकृति पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।।=)
भाग २-।।=)।।

यात्रा-वर्णन

सिन्दबाद की समुद्र-यात्रा — श्री जगदानन्द झा — १)
पृथ्वी पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।।-)।।
भाग २-।।=)।।
विचित्र यात्रा — श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा — १)

कविता

मिर्च का मजा — श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' — ।।।)
पेटू पाँड़े — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
खट्टे हैं अंगूर — श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' — ।।।)
वीर बालक — श्री गंगाप्रसाद 'कौशल' — १)

उपन्यास

आदमी — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।)
देशद्रोही — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।)

रेखाचित्र

कुछ सच्चे सपने — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।=)

जीवनी

चाणक्य — श्री मथुराप्रसाद दीक्षित — ।=)
अशोक — श्री वीरेन्द्र नारायण — ।=)
शिवाजी — " — ।=)
लोकमान्य तिलक — श्री शुकदेव राय — ।।)
लाला लाजपतराय — " — ।।)
हिन्दी के प्राचीन कवि — " — ।।)

Regd. No. P. 784 AVANTIKA AUGUST 1954
Annual Subs. Rs. 10/- This Issue Rs. 1/-

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

की

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१. अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दों में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष को फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२. अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है।

३. अवन्तिका का वर्षारंभ जनवरी से होता है।

४. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

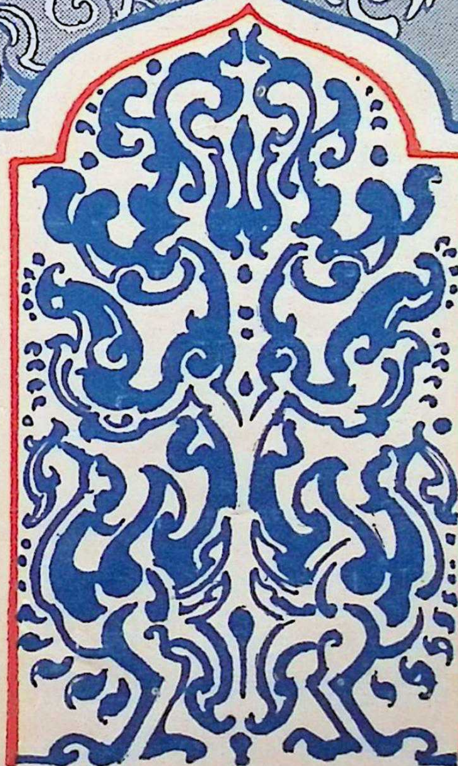
—प्रकाशक—

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

मुद्रक—श्रीमणिशंकर लाल, श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

अवन्तिका

नवंबर
१९५४ ई०



वार्षिक
१०)

संपादक
लक्ष्मीनारायण सुधांशु

एक प्रति
१)

अवन्तिका की नियमावली

संपादन-विभाग

१. अवंतिका प्रतिमास अँगरेजी महीने की पहली तारीख को प्रकाशित हुआ करेगी।

२. अवंतिका में सार-संकलन के अतिरिक्त केवल मौलिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जायँगी। अन्यत्र प्रकाशित या रेडियो द्वारा प्रसारित रचनाएँ अवंतिका में प्रकाशित नहीं की जायँगी।

३. किसी भी रचना को प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को रहेगा।

४. अवंतिका में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ दूसरे पत्रों को न भेजी जानी चाहिए।

५. अवंतिका में साहित्य, संगीत, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के लेख प्रकाशित हुआ करेंगे।

६. अवंतिक में प्रकाशनार्थ भेजी जानेवाली रचनाओं की प्रतिलिपि लेखकों को अपने पास अवश्य रख लेनी चाहिए।

७. अवंतिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ कागज के एक ही पृष्ठ पर, यथेष्ट उपांत छोड़कर, साफ-साफ लिखी रहनी चाहिए।

८. अवंतिका में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं के संबंध में निश्चित रूप से यह बताना संभव नहीं है कि कौन रचना किस अंक में प्रकाशित हो सकेगी।

९. अवंतिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ, परिवर्तनार्थ पत्र-पत्रिकाएँ और आलोचनार्थ पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के नाम ३१५, आर० ब्लॉक, पटना के पते पर भेजी जानी चाहिए।

प्रबंध-विभाग

१. अवंतिका का वार्षिक चन्दा १०) दस रुपए और एक अंक का १) एक रुपया तथा विदेशों के लिए १७ शिलिंग है।

२. अवंतिका का ग्राहक किसी भी महीने से बनाया जाता है।

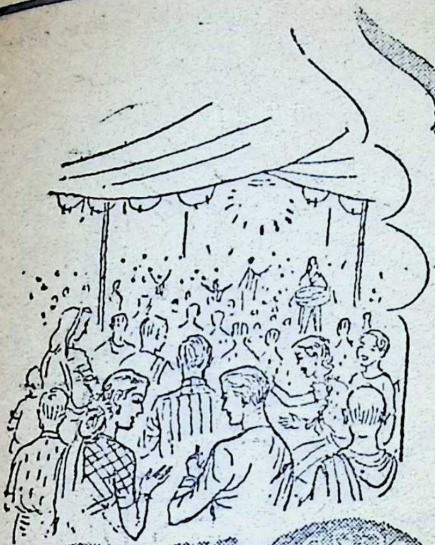
३. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

४. कम-से-कम ५ प्रतियाँ मँगानेवाले को एजेंट नियुक्त किया जायगा।

५. नमूने का अंक मुफ्त भेजने की प्रथा नहीं है।

प्रकाशक

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४



सुखमय हो आपका उत्सव...

धरती के आवर्तन से वर्ष-वर्ष में वापस आते हैं उत्सव के ये दिन। इन मधुमय लगनों में रूप, रंग व गंध सृष्टिकारी प्रसाधन के उपयोग या उपहार से प्रिय हो जाता प्रियजन के पास प्रियतर और प्रिया हो जाती प्रियतमा।

ये उत्सव-आनन्द और भी सुखमय हो सकते हैं अगर यह प्रसाधन सामग्री कैलकटा केमिकल की है।

मलय (चंदन साबुन)

प्रीतिप्रद स्नान के लिए उच्च कोटि का प्रसाधन साबुन है। इसकी दीर्घ स्थायी चन्दन की सुगन्ध तन-मन को प्रफुल्ल और स्निग्ध रखती है।

कैस्टोरल

(सुगंधित कैस्टर आयल)

स्वच्छ सुगंधित कैस्टर आयल बालों को घुंघराले और मुलायम रखने में मदद देता है। इसकी टिकाऊ, स्निग्ध, गंध दिन भर मन को प्रसन्न रखती है।

लावणि स्नो

मुखमंडल मोहक बनाने के लिए लावणि स्नो दिन में व्यवहार्य। रात में लावणी क्रीम व्यवहार करने से त्वचा लावण्य युक्त होता है।

रेणुका (फेस पाउडर)

पुष्प-सुरभि-पूर्ण यह चूर्ण मुखमंडल को मुलायम बनाता है। रेणुका टाल्कम पाउडर देह-स्निग्धता के लिए उपयोग करना उचित है।

कान्ता (चित्ताकर्षक सुगन्धि)

स्नान तथा वेशभूषा में उपयोग करने के लिए मनमोहक और टिकाऊ सुगन्धि है।

टि कैलकटा केमिकल कं० लि० कलकत्ता-२९

मलेरिया दूर कीजिए

निश्चितरूप से – सुरक्षित ढंग से – सस्ते में

'पैल्युड्रीन'

मलेरिया को मिटाता है

मलेरिया के लक्षण :

सबसे पहले आपके शरीर में कँपकँपी शुरू होती है—तब ज्वर का आरंभ, फिर पसीना और समूचे बदन में दर्द। यदि ऐसे लक्षण दिखाई दें तो तुरन्त डाक्टर की सलाह लीजिए।

'पैल्युड्रीन' हमेशा भोजन के बाद एक गिलास पानी के साथ लेना चाहिए।

वयस्क और १२ वर्ष से अधिक उम्र के लड़कों को—एक टिकिया (0'3 Gm.)
६ से १२ वर्षतक के बच्चों को—आधी टिकिया
६ से कम उम्र के शिशुओं को—चौथाई टिकिया
प्रतिदिन दीजिए जबतक ज्वर दूर न हो जाय।



परिषद् के बारह अमूल्य ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठ : मूल्य ३।), २॥।)
२. हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, आर्ट पेपर, तिरंगे और एकरंगे लगभग १०१ चित्र, मूल्य ६॥)
३. सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द, अध्यक्ष, प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बंबई, सैकड़ों अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र, लगभग ३५० पृष्ठ, मूल्य ११
४. विश्वधर्म-दर्शन : श्री साँवलियाबिहारीलाल वर्मा, पृष्ठ ७००, मूल्य १३॥)
५. यूरोपीय दर्शन : स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठ, मूल्य २।)
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा : डॉ० सत्यप्रकाश, प्रयाग-विश्वविद्यालय, मूल्य ८)
७. गुप्तकालीन मुद्राएँ : डॉ० अनंत सदाशिव अलतेकर, आर्ट पेपर पर २७ फलकें, हिन्दी परिचय के साथ, मूल्य ६॥)
८. प्राङ्मौर्य बिहार : डॉ० देवसहाय त्रिवेद, मूल्य ७।)
९. श्रीरामावतार-निबंधावली : स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, मूल्य ८॥)
१०. काव्य-मीमांसा (राजशेखर-कृत) अनुवादक—केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत', 'सुप्रभातम्'-सम्पादक, काशी, मूल्य ६॥)
११. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए०, (द्वितय), पी० एच० डी०, अनेक रंगीन चित्रों से भरपूर मूल्य १४)
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य : प्रा० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग विश्वविद्यालय, मूल्य १३॥)

शीघ्र ही प्रकाश में आनेवाले ग्रन्थ

१. स्वर : श्री फूलदेवसहाय वर्मा

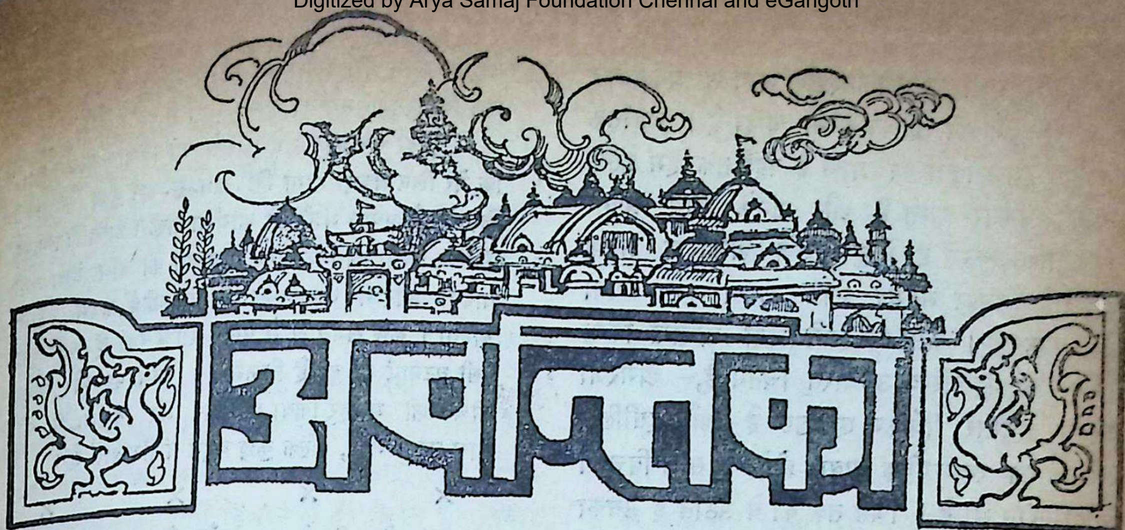


वार्षिक १०) — अवन्तिका — एक प्रति १)

[विविध-विषय-विभूपित सचित्र मासिक पत्रिका]

विदेश के लिए सतरह शिलिंग — जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश, पेप्सू तथा बिहार की सरकारों द्वारा कॉलेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत — विदेश के लिए डेढ़ शिलिंग

विषय-सूची : नवम्बर, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]
संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड २] पटना, नवम्बर १९५४ ई० :: कार्तिक, २०११ वि० [अंक ५ : पूर्णांक २३

संपादकीय

१. श्री नेहरू का परिपत्र

भारत से चीन के लिए प्रस्थान करने के पूर्व श्री जवाहरलाल नेहरू ने प्रादेशिक काँग्रेस कमिटियों के अध्यक्षों के नाम बहुत-कुछ व्यक्तिगत रूप से एक परिपत्र भेजा जो पीछे राज्य सरकारों के मुख्य मंत्रियों के पास भेज दिया गया और फिर उसे समाचारपत्रों में भी प्रकाशित कर दिया गया। इस परिपत्र को लेकर देश में और विदेश में भी, बड़ी चर्चा हो रही है। श्री जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का महत्त्व ही परिपत्र की चर्चा का वास्तविक कारण है। अपने परिपत्र में श्री नेहरू ने कुछ काल के लिए प्रधान मंत्रित्व-पद से अवकाश-ग्रहण करने का विचार प्रकट किया है और काँग्रेस के अगले निर्वाचन में उसके सभा-पतित्व की उमीदवारी से अपनी अनिच्छा जाहिर की है। इन दोनों प्रश्नों का मूल एक ही है और वह है श्री नेहरू के अवकाश-ग्रहण का विचार। यह प्रश्न महत्त्व-पूर्ण अवश्य है, किंतु जटिल नहीं। इस प्रश्न को लेकर किसी ने कहा—यह श्री नेहरू की चोट चिकित्सा है। किसी ने कहा—धमकी है और किसी ने कहा—श्री नेहरू के सामने कोई लक्ष्य या आदर्श नहीं रह गया है, इसलिए वे अवकाश-ग्रहण की बात कहते हैं।

हमने श्री नेहरू के परिपत्र को बहुत ध्यानपूर्वक और सहानुभूतिपूर्वक पढ़ा। हमें उसमें ऐसी कोई बात नहीं मिली। अपने परिपत्र में श्री नेहरू ने अपने संबंध की समस्या पर, स्वाभाविक भाव-दशा में, उच्चरित चिंतन किया है और अपने मित्रों तथा सहयोगियों को इससे अवगत कराने की चेष्टा की है। उनके परिपत्र का अंतिम अंश इस बात को अच्छी तरह पुष्ट करता है। वह इस प्रकार है—

'मैंने आपको साफ-साफ लिखने की हिम्मत की है और अपनी चीन-यात्रा के अवसर पर अपने विचारों से आपको अवगत कराने की चेष्टा की है, क्योंकि मैं नहीं चाहता कि ये अनिश्चित अफवाहें फैलती रहें और अपने लोगों के मन में संदेह या भ्रांति पैदा करें। इस किंचित व्यक्तिगत पत्र के लिए, मैं उमीद करता हूँ. आप क्षमा करेंगे। परिस्थिति ने मुझे जिस स्थान पर ला दिया है उसका वैयक्तिकता के अतिरिक्त दूसरा पहलू भी है। मैं स्वयं अपने तथा अपने कार्यों को यथासंभव विषयगत दृष्टिकोण से समझने की कोशिश करता हूँ। मैं जानता हूँ, यह कठिन है, लेकिन प्रयत्न करना ही है।'

श्री नेहरू की उपर्युक्त पंक्तियाँ हृदय की स्वाभाविक चिंतन-धारा का ही समर्थन करती हैं। उनके हृदय में

जो द्वंद्व चल रहा था उसको निश्छल भाव से प्रकट कर उन्होंने अपने बोझ को हल्का करना चाहा है। जहाँतक श्री नेहरू की इस भावना का प्रश्न है वहाँ तक हम इसके औचित्य को स्वीकार करते हैं और उनके साथ अपना मतैक्य स्थापित करते हैं, किंतु इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनपर मतभेद प्रकट करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है, श्री नेहरू का यह परिपत्र उच्चरित चिंतन है,— अँगरेजी मुहाविरे के अनुसार 'थिंकिंग एलाऽड' है—और इसीलिए इसमें चिंतन का स्वाभाविक प्रवाह होने के साथ विचारों का पूर्वापरविरोध भी है। जिस तर्क को वे उठाते हैं उसका समाधान भी वे स्वयं ही करते चलते हैं। यह चिंतन की स्वाभाविक प्रक्रिया है, उसका कोई दोष नहीं। यह आवश्यक है कि उनके परिपत्र के कुछ द्वंद्वात्मक अंशों के अवतरण पाठकों के विचारार्थ उपस्थित किए जायँ। श्री नेहरू ने लिखा है—

"आपके प्रति तथा अपने मित्रों और साथियों के प्रति मेरा कर्त्तव्य है कि इस बात को मैं थोड़ा और साफ कर दूँ। अपनी थकावट की मैंने कई बार चर्चा की है। यह ठीक है, पर इसका अधिक महत्त्व नहीं है। पिछले बहुत महीनों से मेरे ऊपर काफी बोझ पड़ता रहा है और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मैं अपने को थका महसूस करूँ। किंतु यह थकावट ज्यादा देर नहीं ठहरती और थोड़े से विश्राम के बाद ही दूर हो जाती है।

"शारीरिक स्वस्थता से मानसिक स्वस्थता का घनिष्ठ संबंध है। मैं अपने को मन और तन दोनों में पूर्ण स्वस्थ मानता हूँ। मेरी प्रवृत्ति ज्यादा-से-ज्यादा काम करने की है और कभी-कभी इससे मुझ पर बहुत अधिक बोझ पड़ता है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं पूरा तंदुरुस्त हूँ और अनेक वर्षों तक ऐसा रहने का संकल्प करता हूँ। कमजोर स्वास्थ्य मुझे नापसंद है। मैं महसूस करता हूँ कि अपने देश में मुझे अभी बहुत-से काम करने हैं और इस कार्य के लिए अपने को तंदुरुस्त रखने का मेरा दृढ़ संकल्प है।

× × × ×

"चूँकि मैं समझता हूँ कि हमारे देश ने कुछ किया है और प्रगति की मजबूत नींव डाली जा चुकी है, इस-लिए मैं अपने काम के तरीके में थोड़ा परिवर्त्तन चाहता हूँ। मैं कड़ा परिश्रम करना चाहता हूँ, पर थोड़ा विश्राम चाहता हूँ जिससे अध्ययन और चिंतन कर सकूँ। सर-कारी या और कर्त्तव्यों के करने में जो बेतरह फँसे रहते हैं उन्हें अध्ययन, चिंतन अथवा मौलिक विषयों पर पारस्प-रिक विचार-विनिमय का समय नहीं मिलता है।

"यही सब कारण है जिससे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मेरे लिए अच्छा होगा कि कम-से-कम कुछ समय के लिए भी मैं प्रधान मंत्री का कार्य न करूँ। अनिश्चित काल के लिए किसी कार्य के साथ मैं अपने को बाँध देना नहीं चाहता और न जल्दबाजी में ही कोई कदम उठाना चाहता। कुछ समय से मैं ऐसा सोच रहा हूँ और कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं जिनने इस विषय पर और अधिक सोचने को मजबूर किया है। पर मेरे दिमाग में कोई खास घटना नहीं, बल्कि कुछ बहुत गंभीर बातें हैं।

× × × ×

"कभी-कभी लोग पूछते हैं और समाचारपत्र वाले एक प्रश्न के बारे में लिखते हैं जिससे मुझे चिढ़ होती है—'नेहरू के बाद क्या?', 'नेहरू का उत्तराधिकारी कौन?' यह प्रश्न ही मेरे लिए और वस्तुतः राष्ट्र के लिए एक चुनौती बन जाता है। यह सोचना ही मूर्खतापूर्ण है कि कोई बड़ा राष्ट्र किसी खास एक या दो व्यक्तियों पर निर्भर करता है। मेरी अपनी प्रतिक्रिया इस प्रश्न के बारे में यह है कि मैं इस चुनौती को कबूल करूँ। मुझे विश्वास है कि किसी भी स्थिति में सब अच्छा ही होगा।

"जैसाकि ऊपर मैंने कहा है, मैं कोई काम जल्दबाजी में नहीं करना चाहता और न मैं अपने निश्चय को अंतिम तथा अखंड्य मानता हूँ।

× × × ×

"जल्द ही काँग्रेस के सभापति का चुनाव होने-वाला है। मेरे मन में यह बात बहुत साफ है कि इस बड़े पद के लिए मुझे फिर चुनाव में खड़ा नहीं होना चाहिए। मेरा ख्याल है कि यह बात मेरे हित में, काँग्रेस के हित में और देश के हित में भी होगी कि काँग्रेस का कोई दूसरा ही सभापति चुना जाय।"

श्री नेहरू के इस चिंतन-प्रधान परिपत्र से यह स्पष्ट है कि वे क्या चाहते हैं। हम उनकी स्थिति पर बहुत सहानु-भूतिपूर्वक विचार करना चाहते हैं और इसलिए यह कहना उचित समझते हैं कि अपनी इस स्थिति की सबसे अधिक जिम्मेवारी उनको अपने ही ऊपर लेनी चाहिए। श्री नेहरू एक सफल जन-नायक हैं। अंतरराष्ट्रीय जगत् में भारत को जो मर्यादा प्राप्त हो रही है उसका सर्वाधिक श्रेय श्री नेहरू को है। वे भारत के गौरव हैं, राष्ट्र के स्वाभिमान हैं और आज विश्व-शांति के सबसे बड़े उपासक हैं। राष्ट्रपिता बापू ने जब श्री नेहरू को अपना उत्तराधिकारी

घोषित किया था तब, कुछ लोगों के यह संदेह प्रकट करने पर कि आपके विचारों के साथ उनका पूरा मेल नहीं बैठता, उन्होंने कहा था—'आज नहीं तो, मेरी मृत्यु के बाद जवाहरलाल मेरी भाषा में ही बातें करेंगे।' क्या हमारा यह समझना गलत है कि आज श्री नेहरू विश्व-शांति के लिए बापू की भाषा का ही प्रयोग कर रहे हैं?

श्री नेहरू के परिपत्र में जहाँ कहीं पूर्वापर-विरोध है वह स्वाभाविक चिंतन के द्वंद्व के कारण ही है, पर उससे उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी हो जाता है। वे अपनी थकावट की चर्चा करते हैं, अवकाश लेना चाहते हैं और फिर तुरत ही थोड़े विश्राम से ही अपने को तैयार पा लेते हैं। वे हमें विश्वास दिलाते हैं कि वे तन-मन से पूरी तरह स्वस्थ हैं और अनेक वर्षों तक ऐसा रहने का संकल्प करते हैं। वे प्रधान मंत्रित्व से कुछ काल के लिए अवकाश चाहते हैं। कांग्रेस के सभापतित्व के लिए फिर उमीदवार बनना हितकर नहीं समझते। श्री नेहरू का उत्तराधिकारी कौन हो, इसकी चुनौती भी वे स्वयं कबूल करते हैं, लेकिन जल्दबाजी में वे कुछ नहीं करना चाहते। वे जो कुछ करेंगे, अपने मित्रों तथा सहयोगियों की सलाह से ही करेंगे।

हम फिर मुख्य प्रश्न पर आते हैं और उसपर विचार करना चाहते हैं। आज श्री नेहरू भारतीय राष्ट्र के प्रधान मंत्री हैं, परराष्ट्र मंत्री हैं, भारतीय काँग्रेस के सभापति हैं, राष्ट्रीय योजना-समिति के अध्यक्ष हैं, और न मालूम कितनी संस्थाओं के क्या-क्या हैं। इन सबका बोझ ढोना सरल नहीं है, लेकिन उनके ऊपर इतना बोझ डालने के लिए उत्तरदायी कौन? स्वयं श्री नेहरू गंभीरता-पूर्वक विचार कर यह स्वीकार कर सकते हैं कि अधिक बोझ लेने और उसे ढोने की जिम्मेवारी उनकी अपनी है। देश में राष्ट्रपति का पद तो सर्वोच्च है, पर काँग्रेस-संस्था की मर्यादा की दृष्टि से काँग्रेस के सभापति का पद काँग्रेसी प्रधान मंत्री के पद से ऊँचा माना जाना चाहिए। इस बात को श्री नेहरू स्वीकार करते हैं और एक दिन संसदीय काँग्रेस-दल के सदस्यों की एक बैठक में उन्होंने कहा था कि वे थक-से गए हैं और फिर इसको स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा कि वे काँग्रेस का सभापतित्व छोड़ना नहीं चाहते, प्रधान मंत्री का पद छोड़ना चाहते हैं।

जिस प्रकार श्री नेहरू अपने निश्चय को अंतिम तथा अखंड्य नहीं समझते उसी प्रकार हमारे लिए भी यह संभव नहीं है कि उनके किसी विचार को हम संकल्प समझें। श्री नेहरू की प्रकृति का यह एक गुण या दोष है कि वे किसी को अपना सानी नहीं समझते। आचार्य कृपालानी काँग्रेस के अध्यक्ष थे। प्रधान मंत्री श्री नेहरू से उनकी नहीं बनी। आचार्य कृपालानी ने बापू से फरियाद की। बापू ने राय दी कि जवाहरलाल से तुम्हारी पटती नहीं तो काँग्रेस का सभापतित्व छोड़ दो। शांतिप्रिय राजेंद्रबाबू के साथ भी उनका संबंध सदैव मधुर नहीं रहा। राजर्षि टंडन को काँग्रेस के सभापतित्व से हटाकर उनका बोझ स्वेच्छा से अपने शिर पर लिया। सरदार पटेल के साथ भी बराबर कसमकस चलती रही। जब कभी किसी ने अपना शिर ऊँचा करने की चेष्टा की, श्री नेहरू ने रास्ते से उसे अलग किया। इस बात को स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं है कि श्री नेहरू ने कुछ लोगों के हाथ पकड़कर ऊपर खींचे हैं और उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर बिठाया भी है। यह बात अपने क्रम में स्वाभाविक है। कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, दुनिया के सारे काम वह नहीं कर सकता। उसे दूसरों का सहारा लेना ही पड़ेगा। श्री नेहरू ने इतना ही किया है। बड़े वृक्ष की छाया बड़ी घनी होती है, उससे आतप से रक्षा होती है, पर वह अपने छाया-मंडल के भीतर किसी दूसरे वृक्ष को पनपने नहीं देता। कोई शक्तिशाली पौधा पनप भी जाता है तो उसे विकास का वायुमंडल नहीं मिलता। प्रकृति का ही यह नियम है। अतः इसके संबंध में श्री नेहरू को दोष देना व्यर्थ है।

श्री नेहरू में काम करने की अद्भुत क्षमता है और इस क्षमता का लाभ राष्ट्र ने बहुत उठाया भी है, पर किसी राष्ट्र के लिए कोई व्यक्ति अनिवार्य नहीं माना जा सकता। राष्ट्र के जीवन की कोई अवधि निश्चित नहीं रहती, पर व्यक्ति का जीवन सीमित रहता है और उसकी शक्ति भी सीमित रहती है। श्री नेहरू ने राष्ट्र की बड़ी सेवा की है और जबतक उनके शरीर में शक्ति बनी रहे, हृदय में उत्साह उमड़ता रहे तबतक उन्हें अपने नवोदित राष्ट्र की सेवाएँ करनी चाहिए। प्रजातंत्र में राजकुल की तरह कोई किसी का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। श्री नेहरू का उत्तराधिकारी कोई एक ही व्यक्ति क्यों हो, राष्ट्र की छत्तीस करोड़ जनता उनका उत्तराधिकार चाहती है। किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए

यह प्रश्न बहुत अपमानजनक है कि उसके किसी पदाधिकारी का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। श्री नेहरू जबतक सक्षम रहें, वे कार्यरत रहें, किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अपनी कार्यावधि को पूरा करने के बाद ही श्री नेहरू का कार्य-विरत होना राष्ट्र के लिए शोभनीय होगा। काँग्रेस के सभापतित्व का कार्य-काल अब समाप्त-प्राय है और इसके आगामी निर्वाचन में उन्हें खड़ा नहीं होना चाहिए। यदि वे काँग्रेस का सभापति ही बना रहना ज्यादा पसंद करें तो, प्रधानमंत्रित्व का भार दूसरे पर सौंपकर, वे सभापति ही बने रहें। उनकी पसंद का समर्थन सारा राष्ट्र करेगा। राष्ट्र का प्रधानमंत्रित्व तथा काँग्रेस का सभापतित्व, दोनों का एकत्र भार किसी एक व्यक्ति के लिए बहुत अधिक हो जाता है। अध्ययन, चिंतन तथा मौलिक विषयों पर विचार करने के लिए जो अवकाश मिल सकता था वह श्री नेहरू को नहीं मिला। फिर भी हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि यह क्षमता श्री नेहरू ने ही दिखाई जो इतने बोझ को अबतक ढोते आ रहे हैं। श्री नेहरू में अनेक गुण हैं जिनका साधारणतः वर्णन नहीं किया जा सकता। काश, थोड़ा वे सहिष्णु होते और अपने विचार की आलोचना को शांतिपूर्वक सुनने का संयम रख पाते।

२. हिंदी-साहित्य के इतिहास की समस्या

इधर हाल में ही श्री शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी-साहित्य के इतिहास की समस्या के संबंध में एक विचारपूर्ण लेख लिखकर हमारा ध्यान एक उचित दिशा की ओर आकर्षित किया है। खड़ी बोली के नाम से हिंदी का एक निश्चित स्वरूप है और हिंदी भाषा-समूह या हिंदी-परिवार में आठवीं शताब्दी के बौद्धचर्यापदों से लेकर शौरसेनी, अर्ध मागधी अपभ्रंशों को मिलाते हुए अवधी, व्रजभाषा, मैथिली, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, मगही, भोजपुरी आदि अनेक जनपदीय बोलियों तथा भाषाओं को सम्मिलित करते हैं और उनके उपलब्ध साहित्य को हिंदी-साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान देते हैं। जहाँ तक राष्ट्रभाषा हिंदी या उसके साहित्य के इतिहास का प्रश्न है, अहिंदी भाषाभाषियों के लिए वह बड़ा जटिल हो जाता है। वे राष्ट्रभाषा हिंदी का इतिहास पढ़ना चाहते हैं, पर उन्हें पहले-पहल अपना दिमाग चंदवरदाई की रचनाओं में ही खपाना पड़ता है। उसके बाद कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी की रचनाओं की विविध भाषाओं में साहित्य का चाहे जो सौंदर्य हो, पर वे उनमें पड़कर अपना धैर्य खो बैठते हैं। 'अवंतिका' के पिछले अंक में हमने एक टिप्पणी लिखकर हिंदी-जगत् का ध्यान इस ओर आकर्षित करने की चेष्टा की थी। इस समस्या पर अब गंभीरता-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता आ पड़ी है।

श्री शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—

"हिंदी-साहित्य के इतिहासकार हिंदी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं, जिससे इतिहास के प्रबुद्ध विद्यार्थी अनेक भ्रांतियों में पड़ जाते हैं। हिंदी-साहित्य के आदि-काल और मध्य-युग का इतिहास लिखते समय वे राजस्थानी, मैथिली, अवधी और ब्रज आदि उत्तर, पूर्व और मध्य भारत में प्रचलित लगभग आठ-दस भाषाओं और बोलियों के प्राचीन साहित्य और श्रुति-परंपरा से प्राप्त लोक-काव्य को हिंदी-साहित्य के अंतर्गत स्थान देकर यह स्वीकार-सा करते दीखते हैं कि हिंदी किसी एक भाषा का नाम नहीं है, बल्कि शौरसेनी और अर्ध-मागधी अपभ्रंशों से आठवीं-दसवीं शताब्दियों के बीच विकसित हुई जनपदीय भाषाओं के समूह का नाम है। इनमें से कभी किसी भाषा या बोली का अधिक प्रसार रहा तो कभी किसी का, फलतः साहित्य के सिंहासन पर कभी राजस्थानी तो कभी मैथिली, कभी अवधी तो कभी ब्रजभाषा आरूढ़ रही। इस प्रकार इस विशाल क्षेत्र की विभिन्न आधुनिक भाषाओं के इतिहास को एक ही पुस्तक में भावुकता-पूर्वक संकलित कर देने से समग्र रूप में आठवीं-दसवीं शताब्दी से हिंदी में साहित्य-निर्माण की धारा का अविच्छिन्न प्रवाह दिखाना सुगम हो जाता है। किंतु जब वे आधुनिक या वर्तमान साहित्य पर कलम उठाते हैं तब उनकी भावुकता का केंद्र भी बदल जाता है। आधुनिक युग के आते ही ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि भाषाओं में परंपरा से होती आई साहित्य-निर्माण की

तत्कालीन चेष्टाओं के प्रति वे सहसा असहिष्णु हो उठते हैं।"

हिंदी-साहित्य के इतिहास का आदि तथा मध्यकाल पूर्णतः जनपदीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास है और आधुनिक काल में खड़ी बोली हिंदी के गद्य-पद्य-समन्वित साहित्य का इतिहास है। इस काल में ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि भाषाओं के साहित्य का इतिहास लिखा नहीं गया। जिन भाषाओं की रचनाओं ने हिंदी साहित्य के इतिहास के आदि-मध्य काल को अलंकृत किया वे आधुनिक काल में बिल्कुल तिरस्कृत क्यों कर दी गईं? ऐसी बात नहीं कि वे भाषाएँ अब मृत हैं और उनमें साहित्य-रचना बिल्कुल ही नहीं हुई। हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखक का ध्यान ही उस ओर नहीं गया। यदि हिंदीभाषा-समूह के साहित्य का इतिहास लिखना अभीष्ट है तो आधुनिक काल में भी उन भाषाओं के उपलब्ध साहित्य को सम्मिलित करना न्यायसंगत बात है। श्री शिवदान सिंह चौहान ने इस विषय का सुंदर विवेचन करते हुए हमारी जनपदीय साहित्यगत श्रद्धा के पारा के तेजी से शून्य पर पहुँचने के संबंध में लिखा है—

"संक्षेप में, आधुनिक काल से पहले तक तो हम हिंदी भाषा-समूह का इतिहास लिखते हैं, लेकिन आधुनिक काल आते ही हम राष्ट्रभाषा हिंदी (खड़ी बोली का संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप) का इतिहास लिखने लगते हैं। पहले हमारी भावुकता हिंदी की परंपरा को दीर्घतम और विशालतर दिखाने में व्यस्त होती है, और हिंदी-भाषा-समूह की किसी भाषा या बोली की एक भी रचना को इस इतिहास-परंपरा से विलग करना बर्दाश्त नहीं करती, किंतु फिर खड़ी बोली के संस्कृत-निष्ठ रूप में ही (खड़ी बोली का फारसीनिष्ठ 'उर्दू' रूप भी इसमें संमिलित नहीं किया जाता) सीमित हो जाती है। आधुनिक काल आते ही हिंदी-भाषा-समूह की अन्य भाषाओं के प्रति सहसा हमारी श्रद्धा का पारा इतनी तेजी से नीचे उतरकर शून्य पर पहुँच जाता है कि हमारी भावुकता उनमें अब साहित्य-रचना के छिट-पुट प्रयत्नों तक का औचित्य स्वीकार करने को राजी नहीं होती।"

श्री चौहान ने हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखक का जो दिशा-संकेत किया है वह विचारणीय तथा समर्थनीय है। उन्होंने इस संबंध में फिर लिखा है—

"इतिहास-संबंधी इन भ्रांतियों का इंद्रजाल टूटते ही प्रश्न उठता है कि हिंदी-साहित्य का इतिहास कहाँ से शुरू हो, उसका विस्तार कहाँ तक हो, अर्थात् क्या उसमें प्रचलित परिपाटी के अनुसार खड़ी बोली हिंदी से इतर उत्तर-मध्य भारत की अन्य भाषाओं का इतिहास भी संमिलित किया जाय या नहीं। यदि किया जाय तो किस रूप में, यदि न किया जाय तो चंद, कबीर, जायसी, विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा, केशव, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानंद, रत्नाकर आदि के बिना हिंदी-साहित्य का इतिहास क्या नगण्य नहीं रह जायगा?"

यह सच है कि हिंदी-साहित्य के इतिहास में अबतक जो कविगण मेरुदंड की तरह माने जाते रहे हैं उनको छोड़कर हम आगे कैसे बढ़ सकेंगे। क्या इससे हिंदी-साहित्य की नगण्यता का बोध नहीं होगा? कबीर, सूर, तुलसी को छोड़कर हम हिंदी का डंका किस प्रकार पीट सकेंगे, यह प्रश्न हमारी वृत्तियों को अवश्य ही संकुचित कर देता है, किंतु इसके लिए संकुचित होने की कोई बात नहीं है। यदि हम हिंदीभाषा-समूह के साहित्य के इतिहास को हिंदी भाषा के साहित्य के इतिहास से भिन्न मानने का दृष्टिकोण बना लें तो इस समस्या का समाधान हो सकता है। सारे परिवार का इतिहास लिखना एक बात है और उसके किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास लिखना दूसरी। इसमें विरोध या नगण्यता का कोई प्रश्न नहीं उठता। अभी हिंदी का जो बहुविध विकास हो रहा है, प्रतिदिन उसके साहित्य की जो श्री-वृद्धि हो रही है वह नगण्य नहीं मानी जा सकती। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-भाषा के साहित्य को जितना संपन्न रहना चाहिए था उतना वह नहीं है, पर कबीर, सूर, तुलसी को रखकर भी हम इस अभाव को कहाँ पूरा कर पाते हैं। हिंदीभाषा-समूह के साहित्यिक इतिहास से कबीर, सूर, तुलसी, विद्यापति, केशवदास, घनानंद, पद्माकर, रत्नाकर आदि को किसी प्रकार अलग नहीं रखा जा सकता, बल्कि हिंदीभाषा-परिवार की प्रत्येक भाषा के साहित्य का

सांगोपांग अद्यतन इतिहास लिखकर हम उपेक्षित क्षेत्र में अपेक्षित काम कर सकते हैं।

हिंदीभाषा के साहित्यिक इतिहास की परंपरागत लेखन-पद्धति की अवैज्ञानिकता तथा अनैतिहासिकता के संबंध में श्री चौहान ने लिखा है--

"इतिहास-लेखन की यह परंपरा अनैतिहासिक और स्वेच्छाचारी है। इसके पीछे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव है। एक प्रकार से यह पद्धति ही एक संकीर्ण सामंती दृष्टिकोण का पोषण करती है, साहित्य के विद्यार्थियों में जनवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं करती। जिस तर्क-जाल का आश्रय लेकर हमारे इतिहासकार अपने दृष्टिकोण की इतनी असंगतियों को एक सूत्र में पिरोते हैं, वह अबौद्धिक और भावना-जन्य है, और हीन भावना और संकीर्णता को जन्म देता है। दुर्भाग्य से अबतक के हमारे सभी इतिहासकार अतर्क्य भाव से इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपनाते आये हैं, इसलिए हमारा संकेत किसी व्यक्ति-विशेष की ओर नहीं है। एक भ्रांत परिपाटी चल पड़ी है जिसके प्रति पाठकों को सचेत करना हमारा कर्त्तव्य है।"

जहाँ तक इतिहास-लेखन की पद्धति को अधिकतर वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक बनाने का प्रश्न है, हम श्री चौहान के विचारों का समर्थन करते हैं, किंतु सामंती तथा जनवादी दृष्टिकोणों का उल्लेख कर उन्होंने अपने सरल प्रश्न को जटिल बना दिया है। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। इतिहास को शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ही लिखने की आवश्यकता है। जो युग सामंती-युग की तरह ही बीत गया है उसका इतिहास यदि जनवादी दृष्टिकोण से लिखा जायगा तो वह भ्रष्ट हो जायगा। इतिहास की वैज्ञानिक दृष्टि में सामंती और जनवादी का कोई खास महत्त्व नहीं। साहित्य का इतिहास प्रवृत्तियों का ही इतिहास है और सदैव ही उसका मूलाधार जनवादी प्रवृत्तियाँ ही रही हैं। यदि ऐसा न रहता तो साहित्य के आचार्यों को साधारणीकरण का पाठ पढ़ाने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। यदि कबीर, सूर, तुलसी की रचनाओं में जनवादी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं तो उनमें और है क्या! श्री चौहान ने तथ्य रूप से हिंदी-साहित्य के इतिहास की समस्या के संबंध में जो विचार प्रकट किए हैं उनका हम समर्थन करते हैं और हिंदी-प्रेमियों की प्रतिक्रिया का सादर आह्वान करते हैं।

३. शैतान पीछे आ रहा है

अभी कुछ ही दिन पहले नई दिल्ली में केंद्रीय योजना-मंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा ने विभिन्न भारतीय राज्यों के सिंचाई तथा योजना-मंत्रियों का एक सम्मेलन पारस्परिक संपर्क रखने के लिए बुलाया था। प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने उस सम्मेलन का उद्घाटन किया था। अपने उद्घाटन-भाषण में, विशेषज्ञों की भारी भीड़ देखकर, उन्होंने कहा—

"मुझे ऐसा लगता है कि हम आजकल अधिकाधिक ज्ञान तो एकत्र करते जाते हैं, लेकिन इससे हमारी बुद्धिमानी कम होती जाती है। जो लोग विशेष क्षेत्रों में विशेष जानकारी हासिल कर लेते हैं वे शेष संसार के बारे में बिलकुल कोरे हो जाते हैं।'

अपने लंबे-चौड़े भाषण में श्री नेहरू ने शासन-यंत्र की शिथिलता की बड़ी भर्त्सना की। अपने भाषण के सिलसिले में उन्होंने कहा—

"विशेषज्ञ लोग यह भूल जाते हैं कि पुल बनाने या अन्य इस प्रकार के इंजीनियरिंग के कामों के करने का एक ही उद्देश्य है कि मनुष्य के हित का ध्यान रखा जाय। इसे भूलने पर हमारे विशेषज्ञ अमानवीय हो जाते हैं। उत्पादन को दुगुना-तिगुना करना, बिजली या इस्पात को ज्यादा पैदा करने का कोई भी अर्थ नहीं है जबतक उसका संबंध मनुष्य की भलाई के साथ न हो।"

श्री नेहरू ने राष्ट्रीय विकास-योजना के संबंध में जो अपव्यय हो रहा है उसकी भी शिकायत की। बहुत-से कल-कारखाने बेकार पड़े हुए हैं। बहुत-सी मशीनें जो पहले से मँगाई पड़ी हैं उनका उपयोग न कर विदेशों से नई-नई मशीनें मँगाई जा रही हैं। विकास-योजना का काम जितनी तेजी के साथ होना चाहिए उतनी तेजी के साथ काम नहीं चल रहा है। इसपर अपना तीव्र असंतोष व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—

"जनतंत्र के साथ समय, शक्ति और यंत्रकार का अपव्यय भी आता है जो हम बरदाश्त नहीं कर सकते। हमें यह सोचकर काम करना चाहिए कि शैतान पीछे आता है भागता हुआ। हम सुस्त और काहिल आदमी

नहीं चाहते जो रोज-रोज इधर-उधर की बातों की शिकायत करते रहें और अपनी तनख्वाह और काम की शर्तों के बारे में शिकायत करें। मैं इस शिकायत से अब ऊब गया हूँ। काम की शर्तें जरूरी हैं, पर मैं पूछता हूँ कि आखिर क्या तनख्वाह तुम चाहते हो। मैं केवल काम चाहता हूँ और मैं ऐसे आदमी चाहता हूँ जो जोश के साथ काम करें। उन आदमियों की तरह काम करें जो यह समझते हों कि वह वही काम करेंगे जिसे वह ठीक समझते हैं और केवल यह नहीं कि गलत बात को दबकर स्वीकार कर लें जिससे वह परेशानी में पड़ें।'

जिस तेजी के साथ आज दुनिया भागी जा रही है उसका मुकाबिला भारत को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए करना जरूरी है। पूँजीवाद तथा साम्यवाद के संघर्ष के कारण किसी दिन विश्व-युद्ध छिड़ जा सकता है। उस समय और कुछ नहीं तो अपनी आत्मा-रक्षा के लिए भी हमें तैयार रहना पड़ेगा। युद्ध का वह शैतान तेजी के साथ हमारे पीछे-पीछे भागता आ रहा है। हमें अपनी चाल में और तेजी लाने की जरूरत है कि जबतक वह हमारे पास पहुँचे तबतक उसका जबरदस्त मुकाबला करने के लिए हम तैयार हो जायँ। यह एक चेतावनी है जिसपर हमें बराबर ध्यान रखना है।

४. काँग्रेस की प्रतिष्ठा का प्रश्न

नई दिल्ली का एक समाचार है कि हिमाचल प्रदेश के उप-राज्यपाल श्री हिम्मतसिंहजी ने अपने पद से त्यागपत्र देने का विचार किया है। इसका कारण यह है कि संघीय राज्य-मंत्रालय से हिमाचल प्रदेश सरकार के एक खास मंत्री के विरुद्ध श्री हिम्मतसिंहजी ने अभियोग लाने की अनुमति चाही, किंतु उन्हें वह अनुमति नहीं मिली। अभियोग की बात यह बताई जाती है कि एक खास मंत्री की मोटर गैर कानूनी तरीके से अफीम चुराकर ढोने में पकड़ी गई। राज्य की पुलिस तथा सिविल सर्विसवालों ने इसके संबंध में कड़ी कार्रवाई करनी चाही, किंतु वहाँ का मंत्रिमंडल अपने एक साथी को गिरफ्तार कराने के लिए तैयार नहीं हुआ। उप-राज्यपाल श्री हिम्मतसिंहजी ने उक्त मंत्री के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए नई दिल्ली का दरवाजा खटखटाया, लेकिन वहाँ से भी उन्हें यह कहकर अनुमति नहीं मिली कि उक्त मंत्री काँग्रेसी हैं और काँग्रेसी मंत्री के विरुद्ध कोई कारवाई होगी तो इससे काँग्रेस-संस्था की अप्रतिष्ठा होगी। यदि यह सच है तो काँग्रेस-संस्था के लिए इससे बढ़कर अप्रतिष्ठा की कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। बुराइयों को ढँकने की चेष्टा से संस्था की शक्ति क्षीण ही होगी। काँग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। इसमें अनेक प्रकार के लोग अनेक तरह के विचार से सम्मिलित हुए हैं। इतनी बड़ी संस्था में यह कदापि संभव नहीं है कि सब दूध से धोए हुए ही लिए जायँ। यदि किसी सदस्य का आचरण संस्था की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हो तो उसे संस्था की सदस्यता से मुक्त कर कानून के हवाले कर देना चाहिए। साधारण जनता के हृदय में काँग्रेस की प्रतिष्ठा तब बढ़ सकती है जब काँग्रेस ही अपने किसी सदस्य को अपने पाप के प्रायश्चित्त के लिए बाध्य करे। पाप को प्रश्रय देना उसको प्रोत्साहित करना है।

५. हिंदी शिक्षा-समिति का संघटन

भारत सरकार ने देश के अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में व्यापक रूप से हिंदी के प्रचार के विचार से हिंदी-शिक्षा-समिति का तत्काल संघटन करना निश्चित किया है। इस समिति का अध्यक्ष भारत सरकार मनोनीत करेगी। किंतु समिति के सदस्यों का मनोनयन राज्य सरकारें करेंगी। इस प्रकार असम, आंध्र, कुर्ग, बंबई, कच्छ, सौराष्ट्र, पेप्सू, उड़ीसा, मद्रास, मैसूर, पंजाब, मणिपुर, तिरुवांकुर कोचीन, त्रिपुरा, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और पश्चिम बंगाल के सदस्य रहेंगे। लोक-सभा तथा राज्य-सभा के भी एक-एक प्रतिनिधि उन सदनों के अध्यक्षों द्वारा मनोनीत होंगे। प्रमुख हिंदी संस्थाओं के दो प्रतिनिधि भारत-सरकार के संकेत पर लिए जायँगे और दो हिंदी-भाषी राज्यों में से भी क्रमशः एक-एक प्रतिनिधि एक-एक वर्ष के लिए बारी-बारी से लिया जायगा।

समिति के संघटन को बहुत प्रतिनिधित्व-पूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है। मुख्य विषय समिति का संघटन नहीं, अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी का प्रचार करना है। किसी समिति का संघटन दो विचारों से किया जाता है—एक तो खूब एकनिष्ठ होकर काम करने के लिए और दूसरा उत्तरदायित्व टालने के लिए। हम निश्चयपूर्वक अभी यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हिंदी शिक्षा-समिति का संघटन हिंदी-प्रचार के लिए किया गया है या उत्तरदायित्व टालने के लिए। फिर भी हम हिंदी-

शिक्षा-समिति के संघटन का स्वागत करते हैं और उसके सदस्यों से यह आशा रखेंगे कि भारत-सरकार ने उन्हें देश में हिंदी के व्यापक प्रचार का जो अवसर दिया है उसका वे पूरा उपयोग करेंगे।

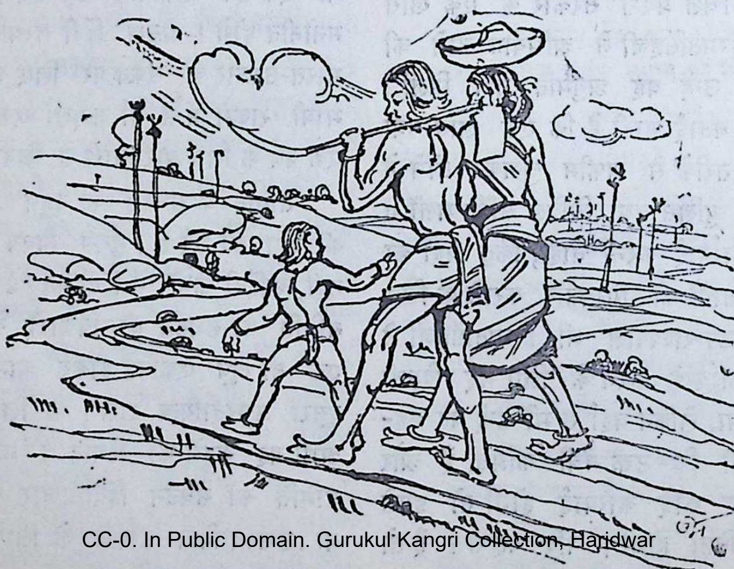
६. केंद्रीय मंत्रालय के हिंदी-विभाग

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों में राष्ट्रभाषा हिंदी के अधिकाधिक व्यवहार के लिए हिंदी-विभाग खोले गए हैं। इस संबंध में दिवंगत श्री रफी अहमद किदवई की बड़ी शोकपूर्ण स्मृति हो जाती है। संचार-मंत्री की हैसियत से उन्होंने कई वर्ष पूर्व डाक-तार-विभाग में हिंदी के व्यवहार के लिए बहुत प्रशंसनीय काम किए। उन्होंने हिंदी में तार भिजवाना शुरू किया, हिंदी में डाक की मुहरें बनवाईं और हिंदी के संबंध में कई छोटे-बड़े काम किए। वर्त्तमान संचार-मंत्री श्री जगजीवन राम स्वयं एक हिंदी-प्रेमी मंत्री हैं। इनके कार्य-काल में भी हिंदी-व्यवहार की प्रगति बनी रहेगी, इसमें हमें संदेह नहीं है।

रफी साहब ने अपनी मृत्यु के पहले कृषि और खाद्य-मंत्रालय में भी हिंदी-विभाग की स्थापना कर दी थी।

रेलवे-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी अपने रेलवे-मंत्रालय में हिंदी-विभाग खोल रखा है। उनके कार्यालय से बराबर हिंदी पत्रों के उत्तर हिंदी में ही दिए जाते हैं। विभिन्न रेलवों के जेनरल मैनेजरों के दफ्तरों में भी हिंदी भाषा का व्यवहार धीरे-धीरे शुरू किया जा रहा है। रेलवों के नामकरण—ईस्टर्न, वेस्टर्न, नार्थ-ईस्टर्न रेलवे आदि अँगरेजी में किए गए हैं, पर अच्छा यह होता कि नामकरण हिंदी में किए जाते। अनुवाद के रूप में अभी पूर्वी, पश्चिमी, पूर्वोत्तर रेलवे नाम चलते हैं, पर हमें यह मानकर चलना होगा कि नाम का अनुवाद नहीं होता। जरूरत पड़ने पर अँगरेजी के रोमन अक्षरों में हिंदी नाम लिखे-पढ़े जा सकते हैं।

वित्त-मंत्रालय की आर्थिक शाखा में भी हिंदी-विभाग खुलने की अभी सूचना मिली है। इस प्रकार अब आगामी वित्तीय वर्ष का आयव्ययक अँगरेजी के अतिरिक्त हिंदी में भी संसद् में उपस्थित किया जायगा। भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों में हिंदी के व्यवहार के लिए जो विभाग खुले हैं उसके लिए हम भारत सरकार की प्रशंसा करते हैं और यह आशा रखते हैं कि दिनानुदिन हिंदी के व्यवहार में प्रगति होती रहेगी।



प्राण-यज्ञ

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

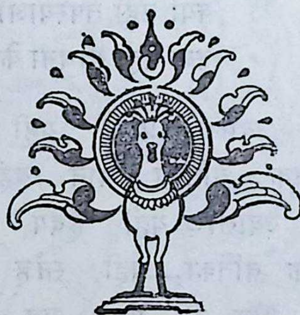
जल उठे मृत्तिका-दीप यज्ञ के, जय हो
अब प्राण बाँटने की वेला है आती !
आकाश खड़ा मानों अनादि की शून्य तुला हो
मानों विस्मय का प्रथम काव्य-पट किरन धुला हो
चुप अंतरिक्ष छाया-समुद्र मानों अविकल हो
निस्तब्ध दिशाएँ मानों कोलाहल अविचल हो
वर्तिका सात रंगों की उकसाने को
नभ-पथ की रेखा बार--बार झुक जाती !

मैं चकित कि कैसी ज्वाला वहाँ सुलगती
उस ओर कौन वह रूपमयी-सी लगती
भीनी सुवास यह, यह कैसी सिहरन है
तप रहा तेज यह या कोई तड़पन है
रस–धार फूटती मधुर महारव करती
कल्पने ! बोल क्या वही माधवी धरती ?
क्या वही तपस्याओं की वह्निशिखा है
क्या वही साधना के युग-युग की थाती !

मुट्ठीभर ज्वाला—प्राण यही बनती है
यह तुनुक वर्तिका—गान यही बनती है
मुट्ठीभर ज्वाला—यही हृदय का स्वर है
यह तुनुक वर्तिका—यही स्नेह का घर है
कल्पने ! मौन ही मेरा सब - कुछ लिखता
शब्दों के भीतर मैं अशब्द-सा दिखता
लिख रहा मौन मैं अलिखित ही रहता हूँ
मेरी वाणी बन जीभ बैठने जाती !

ज्याघोष सृजन के पूजा से पावन हे
मेरी आँखों से निकले हुए धुवन हे
साक्षी रहना हे महाशून्य की ज्वाला
चेतना भर रही पार्थिवता का प्याला
देवता आयतन माँग रहे हैं झुक कर
अधिकरण माँगते सानुरोध रुक-रुक कर
हे महाव्योम के नील कमल ! तुम साक्षी
मानव बढ़ता, मानवता हृदय बिछाती !

इस तप्त अनल से साँस निकलती चलती
नन्ही-सी बाती, आयु इसी में पलती
अब भेद अचेतन-चेतन बीच कहाँ है
स्वर एक बोलता धड़कन जहाँ-जहाँ है
मानव, मानवता ज्वाला के दो कण हैं
बाती के कंपन के विराट दो क्षण हैं
मानव, मानवता ज्वाला के दो स्वर हैं
लिख रहा मौन मेरा ये दो अक्षर हैं
ऐसे अक्षर-में शब्द—न अब ईक्षण हूँ
मेरी वाणी बन जीभ बोलती, गाती।
जल उठे मृत्तिका-दीप यज्ञ के, जय हो
अब प्राण बाँटने की वेला है आती !



सिक्ख-धर्म

श्री रामधारी सिंह दिनकर

भारतीय वेदांत और ईरानी तसव्वुफ के मिलन से भारत-वर्ष में जो धार्मिक जागर्त्ति उत्पन्न हुई, कबीर की तरह नानक भी उसी जागत्ति के पुष्प थे। देश-विदेश में घूम-कर उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों और साधकों की संगति की थी। कहते हैं, वे बगदाद भी गए थे और वहाँ उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ था। बगदाद में उनकी याद में एक मंदिर भी है जिसपर तुर्की भाषा में शिलालेख मौजूद हैं। गुरु नानक के सैयदवंशी चेलों के उत्तराधिकारी अभी तक उस मंदिर की रक्षा करते हैं। ये सारी बातें बगदाद के एक अरबी पत्र 'दारुल सलाम' के ६ एप्रिल, १६१६ ई० वाले अंक में छपी हैं।[1]

गुरु नानक ने जो पंथ चलाया, वही सिक्ख-पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन संतधारा के अनुसार गुरु नानक भी निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जात-पाँत और मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते थे। उनका मत एक ओर जहाँ वेदांत पर आधारित है; वहाँ दूसरी ओर वह तसव्वुफ के भी अनेक लक्षण लिए हुए है। विशेषतः गुरु नानक की उपासना के चारों अंग (सरन-खंड, ज्ञान-खंड, करम-खंड तथा सच खंड) सूफियों के चार मुकामात (शरीअत, मारफत, उफवा और लाहूत) से निकले हैं, ऐसा विद्वानों का विचार है। गुरु नानक और शेख फरीद के बीच गाढ़ी मैत्री थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं।

गुरु साहब की वेशभूषा और रहन-सहन सूफियों जैसी थी। अतएव, बहुत-से अर्वाचीन विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि गुरु नानक पर मुस्लिम प्रभाव अधिक था। अतः उनका धर्म इस्लाम का ही स्वतंत्र आख्यान रहा होगा। इस अनुमान के समर्थन में, अक्सर, यह भी कहा जाता है कि गुरु नानक के शिष्य केवल हिंदू ही नहीं, बहुत-से मुसलमान भी हुए थे। इस प्रसंग में यदि सिक्ख-धर्मग्रंथों का प्रमाण खोजा जाय तो 'रहटनामा' में गुरु की स्पष्ट आज्ञा मिलती है कि खालसा धर्म (शुद्ध धर्म) हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों से अलग है।[1] गुरु की इस आज्ञा को सही मानना चाहिए, क्योंकि गुरु नानक यदि हिंदुत्व या इस्लाम से पूर्णरूप से संतुष्ट रहते तो उन्हें एक नवीन पंथ निकालने की चिंता ही नहीं होती।

हिंदुओं के आचरण से वे कितने असंतुष्ट थे, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है कि 'हिंदुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नहीं मानता, अपितु, अपनी ही बड़ाई में लगा रहता है। उनके कान व हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं से भरते जा रहे हैं और मुसलमान कर्मचारियों के निकट एक-दूसरे की निंदा करके लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे हैं। वे समझते हैं, रसोई के लिए चौका लगा देने मात्र से हम पवित्र हो जायँगे।' इसी प्रकार, वे अन्यत्र मुसलमानी शासन में काम करनेवाले हिंदू टैक्स-कलक्टरों को लक्ष्य करके कहते हैं कि 'गौ तथा ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और धोती, टीका एवं माला-जैसी वस्तुएँ धारण किए रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-देकर तुर्कों के साथ संबंध बनाए रहते हो। अरे, ये पाषड छोड़ क्यों नहीं देते?'[2]

इन पंक्तियों में हिंदुओं की आलोचना तो है ही, किंतु, उनके लिए एक तड़प, एक सहानुभूति, एक दर्द भी है और सिक्ख-धर्म का सारा इतिहास हिंदुत्व के लिए इस तड़प, इस सहानुभूति और इस दर्द से परिपूर्ण रहा है। अतएव, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि जैसे उन्नीसवीं सदी में हिंदुत्व ने अपनी रक्षा करने के लिए आर्य समाज और ब्रह्म-समाज का रूप लिया था, वैसे ही, इस्लाम से बचने के लिए उसने अपना निराकारवादी रूप प्रकट किया जिसके महान् व्याख्याता महात्मा नानक हुए।

१. दे० मेडिवल मिस्टीसिज्म आव इंडिया
—लेखक आचार्य क्षितिमोहन सेन

१. दे० सिक्खिज्म—इट्स आयडियल्स एंड इस्टीट्यूशन्स
—लेखक तेजासिंह

२. उत्तरी भारत की संत-परंपरा में 'आदिग्रंथ' से उद्धृत

किसी पाश्चात्य लेखक ने चमत्कारपूर्ण शैली में कहा है कि सिक्ख-धर्म सनातन धर्म की अरबी टीका और आर्य-समाज इस्लाम का संस्कृत में अनुवाद है। इसलिए, सिक्ख-धर्म को इस्लाम की शाखा मानना तो नितांत भूल है, हम उसे हिंदुत्व की ही बाँह कह सकते हैं।

सच्ची बात तो यह है कि सिक्ख-धर्म के दर्शन और इस्लाम के दर्शन में, विशेषतः, ईश्वर के स्वरूप को लेकर वही भिन्नता है जो भिन्नता कुरान और वेदांत के बीच मिलती है। हजरत मुहम्मद ईश्वरवादी थे, किंतु, ईश्वर के बारे में उनकी कल्पना यह थी कि वह सातवें आसमान पर रहता है एवं मनुष्यों के सुख-दुःख तथा भक्ति-अभक्ति से उसका संबंध है। किंतु, गुरु नानक का ईश्वर निरंकार पुरुष है। 'वह स्थान-विशेष में रहकर सिंहासनासीन होनेवाला नहीं है, बल्कि सर्वात्मभाव से अणु-अणु के भीतर ओतप्रोत है और उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ द्वारा, स्वभावतः, होता जा रहा है।'[१] इससे विदित होता है कि गुरु नानक वेदांत की भावना से भरे हुए थे एवं उनपर सूफियों की धर्म-साधना का प्रभाव तो पड़ा था, किंतु, इस्लामी दर्शन का उनपर कोई प्रभाव नहीं था।

ठनका सृष्टि-विकास का सिद्धांत वेदांत का सिद्धांत है। वे कर्म को मानते हैं, पुनर्जन्म को मानते हैं, निर्वाण और माया को मानते हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश के त्रिदेवत्व में विश्वास करते हैं। उनका गुरु-परंपरा में जो विश्वास है वह सूफीमत से खूब पुष्ट हुआ दीखता है। इस्लाम की मौलिक शिक्षा के विपरीत और सूफीमत की साधना के अनुसार वे वैराग्य के महत्त्व में भी आस्था रखते हैं। इसके सिवा, नामजप, ध्यान, समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ बहुत महत्त्व है। सब मिलाकर गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित पंथ सरल, सुकुमार, जनप्रिय एवं विनयपूर्ण पंथ था। उसकी सबसे बड़ी शिक्षा यह थी कि परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। इसलिए, निखिल सृष्टि को ब्रह्ममय समझकर उसे प्रणाम करो।

सिक्ख-धर्म में 'वाह गुरु' का जो धार्मिक नारा प्रचलित है उसकी एक व्याख्या कहीं से डोरोथी फील्ड ने उद्धृत की है[२] जिसके अनुसार 'वा' का संकेत वासुदेव, 'ह' का हरि, 'गु' का गोविंद और 'रु' का राम की ओर है।

सिक्ख-धर्म आरंभ से ही प्रगतिशील रहा है। जात-पाँत, मूर्त्तिपूजा और तीर्थ के साथ वह सती-प्रथा, शराब और तंबाकू का भी वर्जन करता है। इस धर्म ने परदे को बराबर बुरा समझा है। कहते हैं, तीसरे गुरु अमर दास से एक रानी मिलने को आई, किंतु, वह परदे में थी। इसलिए, गुरु ने उससे मिलना अस्वीकृत कर दिया।[१] यह धर्म आरंभ से ही व्यावहारिक भी रहा है एवं जिस वैराग्य को गुरु उच्च जीवन के लिए आवश्यक मानते थे उसे वे गृहस्थों पर जबर्दस्ती लादने के विरोधी भी थे। खान-पान में खालसा-धर्म में वैष्णवों की कट्टरता कभी नहीं रही। प्रतापमल नामक एक हिंदू पंडित का बेटा जब मुसलमान होने लगा तब उसने बेटे से कहा कि खाने-पीने की स्वतंत्रता के लिए हिंदू धर्म को छोड़ना चाहते हो तो अच्छा है कि मुसलमान नहीं होकर सिक्ख हो जाओ।[२] इससे भी ज्ञात होता है कि हिंदुओं के यहाँ खालसा-संप्रदाय पराया नहीं समझा जाता था।

सिक्ख-धर्म में गुरु नानक से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक दस गुरु हुए जिनके नाम, क्रमशः, नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविंद, हरराय, हरकृष्णराय, तेगबहादुर और गोविंद हैं। प्रत्येक गुरु अंत समय में अपने उत्तराधिकारी को अपना पद सौंपकर उसे पंथ का गुरु घोषित कर दिया करते थे। गुरु गोविंद सिंह जब स्वर्गवासी होने लगे तब उन्होंने ग्रंथ को ही पंथ का गुरु घोषित किया और यह आज्ञा दी कि अब से कोई व्यक्ति गुरु नहीं होगा।

गुरु नानकदेव के वचनों को पहलेपहल गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' लिपि में लिखा। तभी से यह लिपि चालू हुई है। सिक्खों के मुख्य धर्म-ग्रंथ, 'ग्रंथ साहिब' का संकलन और संपादन सन् १६०४ ई० में पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने किया। इस ग्रंथ में आदि के पाँच गुरु और नवें गुरु तेगबहादुर के वचन और पद संगृहीत हैं। एक दोहा गुरु गोविंदसिंहजी का भी है। एवं इस ग्रंथ में अन्य हिंदू संतों और सुधारकों के भी पद हैं। गुरु गोविंद सिंह साहित्य के बहुत बड़े विद्वान, कवियों के प्रबल संरक्षक

१. उत्तर भारत की संत-परंपरा
२. दे० रिलीजन आव द सिक्ख्स

१. दे० सिखिज्म—इट्स आयडियल्स एंड इंस्टीट्यूशन्स
२. वही

और स्वयं भी हिंदी के अच्छे कवि थे। उनकी सभी रचनाओं को सिक्ख 'दशम ग्रंथ' के नाम से अभिहित करते हैं। उन्होंने विचित्र नाटक, जफरनामा, सौ साखी, जाप और चंडी-चरित्र आदि अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उन्होंने एक रामायण भी लिखी थी जिसे पटियाला-कालेज के प्राध्यापक संत इंद्र सिंह चक्रवर्ती ने अभी हाल में 'गोविंद-रामायण' के नाम से प्रकाशित किया है।

सिक्खों का संप्रदाय शांत, विनम्र एवं भावुक भक्तों का संप्रदाय था, किंतु, उसके भीतर सामरिकता क्यों आ गई, इसका दायित्व तत्कालीन शासकों की धर्मांध नीति और तानाशाही मिजाज पर है। बात यों हुई कि जहाँगीर ने जब अपने भाई खुसरो को मारने के लिए खदेड़ा तब वह अपने प्राण बचाने को भाग निकला। इस क्रम में उसने गुरु अर्जुनदेव से कुछ आर्थिक सहायता की याचना की और गुरु ने दयाद्रवित होकर उसे पाँच हजार रुपए दिए। यह कहानी किसी चुगुलखोर ने जहाँगीर तक पहुँचा दी। इसपर जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को दिल्ली बुलवाया एवं उनपर दो लाख रुपयों का जुर्माना ठोंक दिया तथा यह भी आज्ञा दी कि ग्रंथ-साहिब में से वे सभी पंक्तियाँ निकाल दो जिनसे इस्लाम का थोड़ा भी विरोध होता हो। किंतु, गुरु अर्जुन ने दोनों आज्ञाओं को मानने से इनकार कर दिया। इसपर जहाँगीर ने गुरु पर भयंकर अत्याचार किए। 'उनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गई, उन्हें जलती हुई लाल कड़ाही में बिठाया गया और उन्हें उबलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। गुरु ने सब-कुछ सहन कर लिया और मुँह से आह तक नहीं निकाली।'[१] फिर रावी-स्नान के बहाने वे कैद से बाहर आए और रावी के तट पर जाकर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। सिक्खों के प्रसंग में, सुविख्यात जहाँगीरी न्याय का यही उदाहरण संसार के सामने आया।

गुरु अर्जुन के बाद, छठे गुरु हरगोविंदजी हुए। इन्हीं के समय से सिक्ख-संप्रदाय सामरिकता की ओर अग्रसर होने लगा। गुरु अर्जुन के साथ जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे उन्हें भूलना किसी भी सिक्ख के लिए संभव नहीं था। साथ ही, इस घटना से सिक्ख होश में भी आ गए और उन्होंने देखा कि केवल जप और माला से ही धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती है। यदि धर्म को बचाना है तो उसके लिए तलवार भी धारण की जानी चाहिए और उसके पीछे कुछ राज्य-बल भी होना चाहिए। इसलिए, गुरु हरगोविंद ने सेली फाड़कर गुरुद्वारे में डाली और शरीर पर राजा और योद्धा का परिधान धारण कर लिया। यहीं से सिक्ख-संप्रदाय की युद्धवीरता की परंपरा आरंभ हुई। गुरु ने आज्ञा जारी कर दी कि अब से भक्त गुरुद्वारे में चढ़ाने के लिए द्रव्य नहीं भेजकर अश्व और शस्त्रास्त्र भेजा करें।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के राज्यकाल में भी सिक्खों और मोगलों के बीच खटपट चलती रही। तीन बार उन्हें मोगलों से छोटी-छोटी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और एक बार तो (बाज को लेकर आरंभ हुई लड़ाई में) सिक्ख जीत भी गए। इस विजय ने सिक्खों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए और पंजाब तथा काश्मीर में मुसलमानी अत्याचारों से पीड़ित लोग सिक्ख-संप्रदाय की ओर बड़ी ही आशा और अभिमान से देखने लगे।

गुरु हर राय से भी औरंगजेब की नहीं बनी। फिर जब औरंगजेब ने धर्म-परिवर्तन की नीति को जोरों से चलाना चाहा तब काश्मीर के कुछ पंडित धर्म पर आई हुई विपत्ति की कष्ट-कथा लेकर गुरु तेगबहादुर के पास पहुँचे। गुरु ने कहा कि 'किसी महापुरुष के बलिदान बिना हिंदू-धर्म की रक्षा असंभव है।' कहते हैं, गुरु तेगबहादुर के पुत्र बालक गोविंद सिंह वहीं खड़े थे। पिता की बात सुनते ही वे कह बैठे कि 'पिताजी! तो आपसे बढ़कर दूसरा महापुरुष कौन होगा?' गुरु को बेटे की बात लग गई। उन्होंने आनन-फानन अपने बलिदान की राह सोच निकाली और ब्राह्मणों से कहा कि औरंगजेब को समाचार भेज दो कि तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लें तो सभी हिंदू खुशी-खुशी मुसलमान हो जायँगे। निदान, यही हुआ और औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर को अपने दरबार में बुलवा भेजा। गुरु वहाँ हाजिर तो हुए, किंतु, इस्लाम को कबूल करने से उन्होंने इनकार कर दिया। इस सत्याग्रह का जो स्वाभाविक परिणाम होना था, वह अपनी पूरी भीषणता से घटित हुआ। गुरु तेगबहादुर शेर की तरह पिंजड़े में डाले गए, उनपर भयानक-से-भयानक अत्याचार किए गए, और अंत में उनकी हत्या भी कर दी गई।

१. उत्तर भारत की संत-परंपरा

गुरु हर गोविंद ने अपने पिता की अकाल मृत्यु से क्षुब्ध होकर सिक्ख-संप्रदाय को सैनिक रूप देना आरंभ किया था। गुरु गोविंद ने इस प्रक्रिया को पूर्णता पर पहुँचा दिया। गुरु हर गोविंद ने शांतिप्रिय सिक्ख-धर्म पर खड्गवाद की छोटी-सी कलम लगाई थी, गुरु गोविंद ने उसे विशाल वृक्ष बना दिया। सिक्ख-धर्म की सारी मानसिकता को बदलने के उद्देश्य से उन्होंने एक विचित्र लीला की। आनंदपुर के एक बैसाखी मेले में उन्होंने सभी सिक्खों को एकत्र किया। फिर एक बड़े चबूतरे पर उन्होंने चारों ओर से कनात खड़ी करवाई और उसके भीतर कुछ बकरे बँधवा दिए। तब वे तलवार खींचकर कनात से बाहर आए और बोले कि धर्म की रक्षा के लिए चंडी बलिदान चाहती है। तुममें से जो प्राण देने को तैयार हो वह कनात में आवे। मैं अपने हाथों महाचंडी के आगे उसका बलिदान करूँगा। गुरु की ललकार पर एक आदमी कनात में जाता, गुरु उसे वहीं बिठा देते और एक बकरे की गरदन काटकर रक्तभरी तलवार लिए बाहर निकल आते। इस प्रकार, पाँच वीर कनात के भीतर पहुँचे। जब छठा आदमी नहीं उठा, तब गुरु ने उन पाँचों वीरों को बाहर निकाला और कहा कि ये 'पाँच प्यारे'[1] धर्म के खालिस अर्थात् शुद्ध सेवक हैं और इन्हें लेकर मैं आज से खालसा-धर्म की नींव डालता हूँ। उसी समय, उन्होंने एक कड़ाह में पवित्र जल भरवाया, उनकी धर्मपत्नी ने उसमें कुछ बताशे घोले और गुरु ने तलवार से उस जल को आलोड़ित किया तथा तलवार से ही उसे 'पाँच प्यारों' पर छिड़का। इसी अमृत[2] को पीकर लोग खालसा-धर्म की सेवा में प्रवृत्त हुए।

गुरु गोविंद ने ही चार ककारों का प्रचलन किया जिन्हें धारण करना प्रत्येक सिक्ख के लिए आवश्यक माना जाता है। ये चार ककार हैं—(१) कंघी (बाल साफ करने के लिए। कुछ गुरु बाल रखते थे, इसलिए, शिष्यों ने भी उसे धारण किया।); (२) कच्छा (फुर्ती के लिए); (३) कड़ा (यम, नियम और संयम के लिए) तथा (४) कृपाण (आत्मरक्षा के लिए)।

गुरु गोविंद सिंह की तैयारियों से औरंगजेब घबरा उठा। उसने गुरु की राजधानी आनंदपुर पर एक बार जबर्दस्त घेरा डाला। किंतु, गुरु हाथ नहीं आए। आनंदपुर से भागते समय उनके दो बच्चे (जुझार सिंह ९ साल और फतेह सिंह ७ साल) गायब हो गए। इन्हें किसीने सरहिंद के शासक वजीर खाँ के हाथों में सौंप दिया और उस दुष्ट ने इन दो बच्चों को सिर्फ इसलिए, दीवारों में चुनवा दिया कि पितृ-संस्कार के कारण वे स्वेच्छा से मुसलमान होने को तैयार नहीं थे।

औरंगजेब के मरने के बाद, उसके बेटे बहादुर शाह से गुरु गोविंद सिंह की मैत्री हो गई। किंतु उसी के राज्यकाल में, गोदावरी नदी के पास गुरु गोविंद के सोते समय एक पठान ने उनके पेट में छुरा भोंक दिया जिससे उनका स्वर्गवास हो गया। यहीं मरते समय गुरु गोविंद ने धर्म-ग्रंथ को खालसा-धर्म का गुरु घोषित किया।

गुरु नानक अपने को न तो हिंदू मानते थे, न मुसलमान। और जिसे वे सिक्ख कहते थे वह उनकी दृष्टि के अनुसार सुधरा हुआ हिंदू और सुधरा हुआ मुसलमान दोनों हो सकता था। आरंभ में, उनके पंथ में बहुत-से मुसलमान भी दीक्षित हुए थे और कहते हैं, जब नानक मरे तब उनकी लाश को जलाने और दफनाने के लिए हिंदू और मुसलमान उसी प्रकार झगड़ पड़े, जिस प्रकार वे कबीर की लाश पर झगड़े थे। फिर भी कालांतर में, सिक्खों का मुसलमानों से वैर हो गया। इसे हम शासकों की धर्मांधता का ही परिणाम कहेंगे।

गुरु हर गोविंद ने जो परंपरा चलाई उससे प्रत्येक सिक्ख के दो रूप हो गए—एक वीर और सिपाहीवाला, दूसरा संत और भक्तवाला। किंतु, गुरु गोविंद सिंह ने संत और भक्त को गौण एवं शूर और वीर को प्रमुख बना दिया। असल में, वे परशुराम के अवतार थे और संकट के समय मनुष्यों को यह शिक्षा देने आए थे कि जीवन-संघर्ष में विजय पाने के लिए केवल शास्त्र ही नहीं, शस्त्र की भी आवश्यकता होती है; केवल 'शाप' ही नहीं, 'शर' की भी आवश्यकता होती है। उनकी कविताओं के भीतर एक विचित्र प्रकार का तेज है जो हमारी आँखों से ओझल हो गया है। जिस परमात्मा

१. ये पाँच प्यारे थे लाहौर के दयाराम, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचंद, बीदर के साहिबचंद और जगन्नाथपुरी के हिम्मत।

२. कहावत है कि इस कड़ाह का पानी दो गौरैयों ने पी लिया या और पानी पीते ही वे आपस में लड़ने लगे।

को गुरु नानक 'निरंकार पुरुष' कहते थे, उसके नाम गुरु गोविंद ने 'असिध्वज', 'महाकाल' और 'महालौह' रखे थे। ये नामकरण ही बतला देते हैं कि गुरु गोविंद सिंह ने सिक्ख-धर्म को समेटकर किस दिशा में मोड़ना चाहा था। हिंदी की रीतियुगीन कविताओं के बीच भूषण की कविता अपना अलग व्यक्तित्व रखती है, किंतु, गुरु गोविंद की कविताओं में कुछ और ही उज्ज्वल मंत्र हैं।

सेवक सिक्ख हमारे तारिय,
चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।
जो हो सदा हमारे पच्छा,
श्री असिधुजजी करियहु रच्छा।
मैं न गनेसहि प्रथम मनाऊँ,
किशन-विशन कबहूँ नहिं ध्याऊँ।
महाकाल रखवार हमारे,
महालोह, मैं किंकर थारे।
अपना जान मुझे प्रतिपारिय,
चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।

× × ×

धन्य जियो तेहि को जग में
मुख ते हरि चित्त में युद्ध विचारै।

× × ×

दशम कथा भागवत की, भाषा करी बनाय।
अवर वासना नाहिं कछु, धर्म-युद्ध को चाय।

कविता का उपयोग गुरु गोविंद सिंह ने अपने मतों का प्रचार करने के लिए किया, साधु-सिक्खों में सामरिकता भरने के लिए किया। युद्ध जब अवश्यंभावी हो जाता है, तब संसार-त्यागी लोग उससे भाग खड़े होते हैं। किंतु, जिन्हें संसार में रहना है, वे उसे धर्मयुद्ध मानकर सोत्साह संघर्ष करते हैं। धर्मयुद्ध की परिभाषा है वह युद्ध जिसे मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए लड़ना पड़ता है। सिक्ख लड़ाई नहीं चाहते थे। लड़ाई उनपर जबर्दस्ती लादी गई थी। इसलिए, सिक्ख-संप्रदाय में ऐसे गुरु निकल आए जिन्होंने युद्ध को धर्म से समन्वित कर दिया। आत्म-रक्षा में लड़ाइयाँ तो राणा प्रातप और शिवाजी ने भी लड़ीं, किंतु, वे युद्ध का दर्शन नहीं निकाल सके। सिक्खों ने दर्शन भी निकाला और खिलाफत-जैसा एक संगठन भी, जिसमें एक ही व्यक्ति सारे संप्रदाय का राजा और गुरु, दोनों होता था। सच पूछिए तो सिक्ख-धर्म में संगत या संगठन की जो प्रथा थी, उसी के कारण, मुसलमान सिक्खों से घबराते थे और उसी के कारण, सिक्ख तबाह भी हुए। सभी सिक्ख एक समान बाल रखते थे, कड़े पहनते थे, कंघी रखते थे। इसलिए मुसलमानों को हर बालवाले के पीछे दौड़ना आसान हो जाता था। सिक्ख राजपुताने के रेगिस्तान और पहाड़ों की तराइयों में छिपते फिरते थे और पीछे-पीछे शाही फौज के आदमी बालवालों को खोजते फिरते थे। गुरुओं ने सिक्खों के हृदय में वीरता और बलिदान की जो ज्वाला जलाई, वह तत्कालीन हिंदुओं में नहीं थी। मुस्लिम काल में धर्म के नाम पर सबसे ज्वलंत बलिदान सिक्खों ने दिए या फिर मेवाड़ के राजपूतों ने, यद्यपि, राजपूतों में धर्माभिमान कम, अपने किलों, नगरों और बहू-बेटियों की रक्षा की चिंता अधिक थी। जैसे महाराणा प्रताप और शिवाजी महाराज हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष से उत्पन्न हुए, उसी प्रकार, सिक्ख-धर्म भी हिंदुत्व और इस्लाम के मिलन से जनमा था। किंतु, कालक्रम में यह धर्म इस्लाम के विरुद्ध हिंदुत्व की तलवार बन गया। 'सत् श्री अकाल' 'अल्ला हो अकबर' का जवाब-जैसा लगता है एवं सिक्खों ने शूकर को भक्ष्य मानकर एक प्रकार से गो-भक्षण की वृत्ति का जवाब निकाला था।

सिक्ख-धर्म और हिंदुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। हिंदुत्व का स्वभाव है कि उसपर जब जैसी विपत्ति आती है, तब वह वैसा ही रूप अपने भीतर से प्रकट करता है। इस्लामी हमलों से बचने के लिए अथवा उनका उत्तर देने के लिए हिंदुत्व ने इस्लाम के अखाड़े में अपना जो रूप प्रकट किया, वही सिक्ख या खालसा-धर्म है। सिक्ख-गुरुओं ने हिंदू-धर्म की रक्षा और सेवा के लिए अपनी गरदनें कटाईं, अपने जीवन का बलिदान दिया तथा उन्होंने अपना जो सैनिक संगठन खड़ा किया, उसका लक्ष्य भी हिंदूधर्म को जीवित एवं चैतन्य रखना था। इसी कारण, सिक्ख सारे भारतवर्ष में हिंदुओं के प्रिय रहे हैं।

यद्यपि गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने बराबर निराकार की भक्ति पर जोर दिया, किंतु सिक्ख-संप्रदाय कभी भी साकारोपासना का विरोधी नहीं हुआ। गुरु गोविंद

ने वीरता की उमंग में आकर 'किसुन-बिसुन' के अस्तित्व से इनकार तो कर दिया, किंतु, चंडी की स्तुति करना वे नहीं भूले, और उन्होंने रामकथा पर भी सुंदर खंड-काव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिंदू देवी-देवताओं पर काफी श्रद्धा रखते थे। सिक्ख-धर्म-ग्रंथ में लिखा है--

रामकथा जुग-जुग अटल, जो कोई गावे नेत।
स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।

यही नहीं, हिंदू-समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख-समाज में कम नहीं हैं। सिक्खों में भी जात-पाँत है, छुआछूत है और विवाह-संबंधों पर बहुत-कुछ वैसे ही नियंत्रण हैं, जैसे हिंदुओं के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमार, ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख-संप्रदाय में भी हिंदुत्व ही उपसर्ग लगाकर जी रहा है।

किंतु, इतना होने पर भी आज हिंदू और सिक्ख कुछ-कुछ भिन्न समझे जाते हैं जिसका कारण यह है कि जब अँगरेज यहाँ के शासक थे, तब उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भेद बढ़ाने के साथ-साथ हिंदुओं और सिक्खों के बीच भी काफी भेद बढ़ा दिए। इस संबंध में, दिल्ली के दैनिक 'हिंदुस्तान' में प्रकाशित अपने एक लेख में लाला संतराम ने लिखा है—

'जब अँगरेजों ने पहले सिक्खों को हराकर पंजाब पर अधिकार किया तो उन्हें सिख-पंथ तथा सिक्ख-मत को लोगों की दृष्टि में तुच्छ तथा हेय दिखलाने की आवश्यकता हुई, जिससे लोग उनसे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य से उन्होंने ट्रंप नाम के एक विद्वान से सिक्खों के धर्म-ग्रंथ का अँगरेजी में अनुवाद कराया। वह अनुवाद मैंने देखा है। उसमें उसने सिक्ख-मत तथा गुरुओं की खूब खिल्ली उड़ाई है। उसमें परस्पर-विरोधी बातें दिखलाकर ग्रंथ-साहब को 'एक चूँ-चूँ का मुरब्बा' सिद्ध करने का यत्न किया है। इसके बाद एक समय आया जब अँगरेजों को हिंदुओं से सिक्खों को अलग करके फूट डालने की आवश्यकता हुई, तब उन्होंने मेकलाफ नामक एक दूसरे विद्वान से उसी धर्मग्रंथ का अनुवाद कराया। उसमें उसने सिक्ख-धर्म को हिंदुओं से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया। सिक्खों के दस गुरुओं में से नौ के सिर पर लंबे केश नहीं थे। गुरु नानक के चित्रों में उनके सिर पर टोपी और छोटी-छोटी कतरी हुई दाढ़ी रहती थी। परंतु मेकलाफ ने सभी गुरुओं के ऐसे चित्र बनवाए जिनमें गुरुओं के सिर पर लंबे केश और पगड़ियाँ थीं। मेकलाफ के प्रचार से कई सिक्ख तो यहाँ तक कहने लगे कि सिक्खों के लिए गो-मांस-भक्षण की भी मनाही नहीं।

पहले के सिक्ख और असिक्ख, दोनों के विवाह सनातन वैदिक रीति से होते थे। अँगरेजों ने 'आनंद मैरिज' बनाकर सिक्खों की विवाह-पद्धति भी अलग कर दी।

अँगरेजों ने सिक्ख-सत्ता को विनष्ट किया और सिक्ख अँगरेजों के ही भारी मित्र हो गए, यह भी इतिहास का व्यंग्य है। सरदार खुशवंत सिंह ने अपनी पुस्तक 'द सिक्ख' में लिखा है कि लार्ड डलहौजी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'सिक्ख-सत्ता का संपूर्ण विनाश मेरा ध्येय है। मुझे सिक्ख-वंश को समाप्त करके सारी जाति को अपने अधीन लाना है। यह कार्य मुझे शीघ्र करना है, संपूर्ण रूप से करना है और इस तरह करना है कि इस संबंध में आगे करने को कुछ भी नहीं रह जाय। डलहौजी ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही किया। फिर भी, जब वह अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर को देखने गया तब उसने जूते नहीं उतारे। पवित्र स्थान में वह जूते पहने हुए घूमता रहा और हजारों सिक्ख यह तमाशा देखते रहे। देखते क्यों नहीं? डलहौजी के स्वागत में ही तो उस रोज मंदिर में दीवाली मनाई गई थी।'



दास-प्रथा-युग के अंत में धर्म की व्याख्या

डॉ० रांगेयराघव, एम० ए०, पी० एच० डी०

महाभारत में युधिष्ठिर का चरित्र युधिष्ठिर की मृत्यु के बहुत बाद लिखा गया है। यद्यपि यह वर्णन अधिकांश बुद्ध-पूर्व है तथापि कपिल के सांख्य के आदि रूप का उसपर थोड़ा प्रभाव पड़ गया है। अंतर्भुक्ति के युग में लिखी वस्तु में भी अंतर्भुक्ति का दिग्दर्शन होता है। हम युधिष्ठिर के उस चिंतन को यथासाध्य उपस्थित करते हैं जो अपने पुराने रूप के सबसे अधिक निकट रहा होगा। युधिष्ठिर दार्शनिक था। क्षत्रिय था। वह ब्राह्मण का शत्रु नहीं था। उसने ब्राह्मणधर्म का तिरस्कार भी नहीं किया था। किंतु जिसकी गाथा परंपरा में उसे स्वर्गारोहण करते समय सदेह दिखाती है, उसका दर्शन कैसा रहा होगा? वह उस युग का साधारण व्यक्ति तो नहीं था? युधिष्ठिर के चिंतन के नाम से जो परवर्त्ती प्रभाव-मिश्रित अंश महाभारत में हैं, उन्हें हम विभिन्न स्थानों पर युधिष्ठिर का नहीं, वरन् युग-चिंतन का रूप मानकर विवेचन करेंगे। युधिष्ठिर का व्यक्तित्व महाभारत में जो मिलता है, वह इतना भिन्न है कि भारतीय इतिहास में ऐसा पात्र नहीं मिलता। और बर्बर-युग में जिस व्यक्ति को इतना उठाया गया है कि भीष्म-जैसे आजन्म ब्रह्मचारी, मृत्यु के शासक, महापराक्रमी अर्जुन, अवतार कृष्ण तथा एक-से-एक बड़ा कहे जानेवाले ऋषि भी उसके सामने कुछ नहीं हैं, धर्म का अवतार तो वह स्वयं ही है, और, महाभारत भगवान के अवतार से भी अधिक बड़ा स्थान धर्म के अवतार को देता है, वह एक उलझन में पड़ा व्यक्ति है जो शोक भी करता है, कृष्ण की भाँति योगीश्वर भी नहीं है, फिर भी वही महाभारत का नायक है। उसकी इस विचित्रता के कारण ही कुछ लोग युधिष्ठिर को जरतुष्ट्र का बिगड़ा स्वरूप मानते हैं। कुछ बौद्ध प्रभाव और जैन प्रभाव से निर्मित चरित्र मानते हैं। जरतुष्ट्र तो केवल नाम-साम्य है। संस्कृत और फारसी दोनों ही एक मूल भाषा से निकली हैं। अतः एक धातु के बिगड़े रूप और भी हो सकते हैं। अतः उन्हें मिला देने की आवश्यकता नहीं है। जैन और बौद्ध रूप का पूर्ववर्त्ती रूप ही युधिष्ठिर है। युधिष्ठिर के चरित्र का दो रूपों में भारत में विकास हुआ है। जैन-बौद्ध रूप में कपिल द्वारा होता हुआ जो रूप पहुँचा है, वह संशय-रूप का पल्लवन है। असंशय-रूप से धर्मपालन ब्राह्मणधर्म में समन्वित है। अश्वल जनक में भी युधिष्ठिर की निरासक्ति का ही रूप मिलता है। जातियों की अंतर्भुक्ति के समय धर्म जब भिन्न-भिन्न थे, तब व्यक्ति-धर्म अक्सर ही माना गया था। सामंतीय व्यवस्था के विकास ने आकाश के ब्रह्म को मनुष्य के लिए अवतारों के रूप में धरती पर उतार लिया और लोकनायक के रूप में उसकी अवतारणा की। बर्बर-युगीन अंतर्भुक्तिगत समाज की समस्याओं का उत्तर युधिष्ठिर को दिया गया है और ब्राह्मणवाद के प्रतिष्ठापन के साथ उसे धर्म के रूप में ऐसा व्यक्तित्व-विकास पढ़ाया गया है जो तत्कालीन ब्राह्मणवर्ग की ग्राह्य शक्ति का परिचायक बनकर प्रस्तुत होता है कि देखकर आश्चर्य होता है। युधिष्ठिर को नायक बनाकर बाद में भी कोई महत्त्वपूर्ण काव्य नहीं लिखा गया। वह ऐसा व्यक्ति है जो समाज के प्रचलित नियमों को धर्म के नाम पर कार्यरूप में परिणत करता है, किंतु, उसका तर्क उनकी लघुता की सीमा को नहीं मानता। गौतम बुद्ध का सर्वदुःखवाद का यही बीज है। क्षयगत समाज में सब अपने-आप हो रहा है। व्यक्ति के महत्त्व को कृष्ण ने मिटाया है। गीता का विराट पुरुष समृद्धि और विकास का चिह्न नहीं, क्षयगत समाज का वर्णन है।[1] किंतु युधिष्ठिर को चारों ओर भयानक विनाश-ही-विनाश दीखता है, उसने एक धर्म निकाला है, व्यक्तिधर्म। व्यक्ति-धर्म है समाज के नियमों को करते चले जाना, किंतु, अपने स्वार्थ के लिए अवसर के अनुसार बदलना नहीं; आचार की श्रेष्ठता। अपने सामाजिक पक्ष के अभाव में ही इस चरित्र का इतिहास में अनुरूपेण विकास संभव नहीं हो सका था।

१ देखिए, प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास—रांगेयराघव

कुरुक्षेत्र के राजा पांडु की स्त्री से, अन्य व्यक्ति के वीर्य से, यौन संबंधों में स्वतत्र समाजवाले शतशृंग पर्वत से उत्तर में, युधिष्ठिर का जन्म हुआ था। इसके चार भाई भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव भी ऐसे ही उत्पन्न हुए थे। पिता की मृत्यु के बाद ये लोग अपने ताऊ राजा धृतराष्ट्र के यहाँ आकर पढ़े, बड़े हुए। धार्तराष्ट्र सुयोधन ने इनसे शत्रुता की, किंतु बचपन से ही युधिष्ठिर क्षमाशील था। सुयोधन ने इनको राज्याधिकारी जान चालाकियाँ खेलीं। पुरोचन द्वारा लाक्षागृह में रखवाकर जला देने की चेष्टा की, किंतु ये लोग भाग आए। लोगों को पता नहीं चला। हस्तिनापुर में इनका अंतकर्म भी करा दिया गया। ये लोग वन में कष्ट उठाते रहे, फिर एक ब्राह्मण के घर में रहे। माता कुंती ने ब्राह्मणपुत्र का उपकार करने के लिए भीम को राक्षस से लड़ने भेजा तो युधिष्ठिर ने कुंती के कार्य को अनुचित कहा; परंतु बाद में मान गया। पांचाल जाते समय अंगापर्ण गंधर्व के अर्जुन के शरणागत होने पर युधिष्ठिर ने उसे क्षमा दिला दी। युधिष्ठिर कुछ लंबी नाकवाला, सिंहगति से चलनेवाला, गोरा, लंबा, कमलनयन पुरुष था। (बुद्ध के रूप की कालांतर में कल्पना इसी से मिलती हुई है।) द्रौपदी-स्वयंवर के बाद उसने ही माता की आज्ञा को स्वीकार किया और कुरुभूमि में भी पार्वत्य परंपरा की पंचपति-व्यवस्था स्वीकार कर ली। पूर्वपुरुषों के मार्ग पर चलना ही सूक्ष्म धर्म का ज्ञान, युधिष्ठिर ने बताया था। इसके बाद वे हस्तिनापुर लौट आए। यहाँ द्रौपदी-सहवास का भाइयों ने नियम-निर्धारण कर लिया।

युधिष्ठिर बात करने की अलौकिक शक्ति रखता था। वह इंद्रप्रस्थ भेज दिया गया। द्रौपदी और चारो भाई भी चले गए। एक बार अर्जुन ने एकांत में द्रौपदी और युधिष्ठिर को देख लिया। रोकने पर भी अर्जुन वनवास को चला गया। कृष्ण ने मय दानव से नया महल बनवाया और युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। वह एक धर्मात्मा राजा था। उसका नाम 'अजातशत्रु' पड़ गया। उसके मंत्री भी थे। इसी समय उसने कृष्ण से कहा था—शांति की सेवा ही मेरे लिए विधि और धर्म है। कोई पृथ्वी को जीतकर सदा नहीं रख सकता। इसके बाद युधिष्ठिर का संशय का जीवन ही शुरू हो जाता है। समाज एक नियम से चलता है। उसमें कुछ चतुराई की भी आवश्यकता पड़ती है। किंतु युधिष्ठिर उसे अन्याय समझता है। उसकी राय में युद्ध धन और राज्य का लोभ है। क्षत्रिय का धर्म क्रूर कर्म है। सब मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण समझकर कार्यरत रहते हैं; परंतु वे नहीं जानते कि उनके कार्यों का फल क्या है?

क्या वन में रहने से शांति मिल सकती है? सब-कुछ त्याग देना क्या मनुष्य के लिए श्रेयस्कर नहीं है? राज्य अनर्थ की जड़ है। उसे स्वीकार करने में अनेक प्रकार की कूटनीति का आश्रय लेना पड़ता है। हत्या भी करनी पड़ती है। परंतु उससे लाभ क्या है? दुर्योधन नीच है, छली है। उसको मार देना चाहिए। किंतु उसको मारना क्या बंधु-हत्या नहीं है?

कृष्ण ने इस विचार का विकास किया था कि घर, कुल, गण से ऊपर राज्य है। राज्य दंड के आधार पर न्याय और पुण्य की व्यवस्था करता है। उसके बिना नीचों को दंड नहीं मिल सकता और सज्जन जीवित भी नहीं रह सकते। किंतु युधिष्ठिर का चिंतन पराजय को स्वीकार करता है। यह जो युद्ध में हमारे-तुम्हारे न्याय के लिए आयुधजीवी सैनिक मारे जाते हैं, उनके बालक अनाथ हो जाते हैं, स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, माता-पिता को पानी देनेवाला कोई भी नहीं रहता, इसका उत्तरदायित्व किसपर आता है? भविष्य को अंधकार की भाँति छाया हुआ देखकर युधिष्ठिर का मन छटपटाने लगता है। वह सोचता है कि हम कहाँ बहे जा रहे हैं। उसके तर्क का स्वर है कि मनुष्य को इतनी यंत्रणा क्यों दी जा रही है? जिन नियमों को वह शाश्वत समझकर अभिमान से भरा निबाहता चला जा रहा है, उसका मानदंड क्या है? क्यों प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के फल भी उसे भोगने पड़ते हैं? क्या मनुष्य जानता है कि जो कुछ वह कर रहा है, वही एकमात्र अंत है? कथा है कि व्यास ने कहा था कि युधिष्ठिर क्षत्रिय-नाश का कारण होगा। यह सुनकर मन में इस प्रकार 'दैव को कोई झुठा नहीं सकता। मैं आत्महत्या करूँगा।'—युधिष्ठिर ने सोचा। लोगों के समझाने पर कहा—'जातिवश होकर काम करूँगा। भेदभाव तज दूँगा।' (स० प० ४६, २०-३०)

लोमश ने कहा था कि अधर्मी पुरुष अधर्म करके समृद्ध भी होता है। किंतु अधर्म से मनुष्य का पहले

अभ्युदय होता है, परंतु बाद में वह समूल नष्ट हो जाता है। (वन० प० ६४, १-५)

आत्महत्या युधिष्ठिर को पाप दिखाई देती है। आत्मा को मारने की उसमें शक्ति नहीं है। वह शरीर लिए ढो रहा है एक ऐसी यातना जिससे उसे कहीं छुटकारा नहीं दिखाई देता।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि युधिष्ठिर उस समाज में है जिसमें स्त्री और पुरुष दासों की संख्या काफी है। देश में असंख्य राज्य हैं। स्त्रियों पर पुरुष का कहीं पूर्ण अधिकार है; कहीं पार्वत्य देश में स्त्री बहुपतिवाली है। वह समाज ऐसा है जिसमें अंधे पितृव्य धृतराष्ट्र के भी गांधारी के गर्भकाल में वेश्या से युयुत्सु ने जन्म लिया है और पितृव्य फिर भी पूज्य माने जाते हैं। वीर्यदान देकर धृतराष्ट्र और पांडु को जन्म देनेवाले कृष्ण द्वैपायन वेद-व्यास महर्षि माने जाते हैं, यद्यपि उनकी माता निषाद जाति की थी। वह आकर आर्य-पट्ट पर बैठी थी और कन्यावस्था में जन्म दिए बालक का भी पूर्ण संमान था। उस समाज में इंद्र की उपासना थी, लोग देवताओं की शक्ति में पूर्णरूपेण विश्वास रखते थे। यज्ञ, कर्मकांड और ब्राह्मण-पौरोहित्य था। ब्राह्मणों की अवस्था पहले से गिर गई थी। द्रोण को आकर पेट के लिए नौकरी करनी पड़ी थी। आर्य हो या अनार्य—राजा राजा होता था। परस्पर संबंध भी होते थे। वानप्रस्थ में वृद्ध चले जाते थे, बहुत-से संन्यासी हो जाते थे और अश्वमेध तथा राजसूय के नाम पर, धर्म कहकर लूट की जाती थी।

धन का प्रभाव अधिक हो गया था। असाम्य और दुःख हर जगह दिखाई देता था।

परलोक की कल्पना उस समय अवश्य बढ़ी-चढ़ी थी, वह परवर्त्ती काल में भी रही, और आज भी है। इस भावना का जन्म किसी भी समाज में हुआ हो, किंतु यह सृष्टि के रहस्य का प्रश्न है। क्योंकि इसका कोई उत्तर नहीं दे पाता था, यह भावना भीतर उतर गई थी। लोगों का विचार है कि ब्राह्मणों ने इस कल्पना को अपने वर्ग-स्वार्थ को जीवित बनाए रखने के लिए गढ़ लिया था। किंतु यह तर्क प्रमाणित नहीं है। उच्चवर्ग किसी भी तथ्य या तर्क को अपने लाभ के लिए प्रयुक्त करते आए हैं और जनसमाज को ठगते रहे हैं, किंतु बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनका उदय उनके हाथ में नहीं है।

परलोक के साथ नरक और स्वर्ग की भी कल्पना थी। आर्य का स्वर्ग उत्तर कुरु था और वह परंपरा में उत्तर को ही स्वर्ग समझता था। अनार्य जातियों का स्वर्ग आकर उसमें मिल गया है। परलोक की कल्पना के साथ वर्त्तमान का धर्म जुड़ गया है। वह ऐसी सुंदर कल्पना है जिसके लिए विश्व लालायित है। माना जा सकता है कि यह कल्पना—यह स्वर्ग की कल्पना ही कालांतर में बौद्धों में सुखावती की कल्पना बनकर निखरी थी, किंतु पुनर्जन्म और परलोकवाद का अस्तित्व बुद्ध भी, ईश्वर और आत्मा को नहीं मानते हुए भी, मानता था। बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या में भेद किया था। वह लोकपालों को मानता था। उपनिषदों में ऋषियों ने भी लोकपालों को माना है। ब्राह्मणों में कर्म और यज्ञ प्रधान है, पर नया ब्रह्म उठ रहा है। युधिष्ठिर के समय में संभवतः ब्रह्म का विकास हो चुका था या होने के रास्ते में था।

ब्रह्म का पुराना रूप नए रूप को एक ही दिन में प्राप्त नहीं कर गया होगा। उसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ होगा।

उस बर्बर-युग में वृद्धावस्था, भय, भूख आदि मालिकों के भी शत्रु थे, दास के भी। सबसे बड़ी बात थी कि मालिकों में यह भाव उदित हो रहा था कि वस्तुतः वे भी मनुष्य थे, या कहें कि दास भी मनुष्य था। दास की शक्ति का उठना ही इसका परोक्ष कारण रहा होगा।

युधिष्ठिर क्षयकाल में शासक हुआ है। वह देख रहा है कि जिन अधिकारों के लिए वह लड़ रहा है, वे सब मृतप्राय हैं। प्रश्न यों उठता है कि फिर उनकी जगह आनेवाला क्या है?

परलोक में मृत्यु, बुढ़ापा, डर, भूख, प्यास, मन को अप्रिय आदि बातें कुछ भी नहीं हैं। वहाँ मनोरंजक सुखभोग के अतिरिक्त और कुछ कर्त्तव्य नहीं। चित्त-विकार से क्रोध उत्पन्न होता है। बंधु-विनाश से मिला राज्य किस काम का? पुण्य के लिए राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करने चाहिए। धर्मात्मा भी दैवयोग से युद्ध में हार जाते हैं। (३ प०, १७ अ०)

किंतु यह विचार युधिष्ठिर को पूर्ण संतोष नहीं देता। वह उस पुण्य की भी व्याख्या करने लगता है कि यह सचमुच पुण्य है या नहीं। यदि हत्या ही इसका आधार

है तो फिर पुण्य कैसे कहा जा सकता है। अपना परलोक क्या दूसरे के विनाश पर खड़ा हो सकता है ?

युधिष्ठिर का यक्ष से वार्त्तालाप हुआ है। यक्ष धर्म है। वह बगुला बनकर आता है। यक्ष को धर्म कैसे कहा गया है ? क्या यक्ष पहले बुरे देवता माने जाते थे, परवर्त्ती काल में अंतर्भुक्ति के बाद अच्छे देवता माने जाने लगे ? यक्ष के अतिरिक्त कच्छप को भी भारत में धर्म का प्रतीक माना गया है। विद्वानों का मत है कि 'धर्म' का ज्ञान आर्येतर जातियों से आया है। 'धर्म' 'आचार-व्यवहार' है। संभव है, यह हो सकता है। यक्ष, कच्छप की ही भाँति, विचारशील माना गया है। आर्य्य कबीलों का धर्म यज्ञ था। यज्ञ में ही ब्रह्म का जन्म हुआ था। ब्रह्म का धीरे-धीरे विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से विकास भी हुआ था।

यक्ष के विषय में हम अन्यत्र कह चुके हैं कि यक्षसमाज यौनसंबंधों में स्वतंत्र था। संभवतः वाममार्ग का आदि, तंत्र का आरंभ भी उसी से हुआ था। फिर ऐसे समाज को धर्म का रूप महाभारतकार ने क्यों दिया ? इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस समाज में इस चिंतन का कोई मूल अवश्य रहा होगा।

युधिष्ठिर के इन प्रश्नों के उत्तर देने के संदर्भ में यह याद रखना ठीक होगा कि इस समय उसके चारों भाई मरे पड़े हैं। व्यक्ति का धैर्य दिखाने के लिए संभवतः यह कथा जोड़ दी गई है। किंतु, फिर भी इस कथा का अपना स्वतः-सिद्ध मूल्य है जो चिंतन का क्षेत्र प्रकट करता है। इस विचारधारा में हमें कई नये तथ्य प्रकट होते हैं जिनका निर्वचन हमारे लिए बहुत लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

नीचे हम यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर देते हैं। युधिष्ठिर का चरित्र और चिंतन किस प्रकार का है ?

[व० प०, ३१३ अ०]

प्र०—सूर्य्य को कौन ऊपर उठाता है ? सूर्य के चारों ओर भ्रमण करनेवाला कौन है ? कौन सूर्य्य को अस्त करता है ? और वह किसमें स्थित है ?

उ०—ब्रह्म सूर्य्य को उठाते हैं। देवता उसके चारों ओर घूमते हैं। धर्म से अस्तंगत होते हैं। सत्य में स्थित हैं।

प्र०—मनुष्य किससे श्रोत्रिय होता है ? किससे महत् पदार्थ पाता है ? किससे सहायक-युक्त और बुद्धिमान होता है ?

उ०—आचार्य के मुँह से······निश्चय करने से श्रोत्रिय होता है। तप से महत् पदार्थ को पाता है। धैर्य से सहायकयुक्त और वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान होता है।

प्र०—ब्राह्मणों का देवभाव क्या है ? उनकी कौन-सी बात सज्जनों की-सी है ? उनका मनुष्यभाव क्या है ? उनकी कौन-सी बात असाधुओं की-सी है ?

उ०—स्वाध्याय ब्राह्मणों का देवभाव है। तप, मरण, और निंदा क्रम से दूसरों के उत्तर हैं।

प्र०—क्षत्रियों का देवभाव क्या है ?

उ०—अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार।

प्र०—क्षत्रियों का मनुष्यभाव क्या है ?

उ०—डरना।

प्र०—क्षत्रियों का साधुभाव क्या है ?

उ०—यज्ञ।

प्र०—क्षत्रियों का असाधुभाव क्या है ?

उ०—दुखियों की रक्षा से विमुख होना।

प्र०—यज्ञ का साम क्या है ?

उ०—प्राण।

प्र०—यज्ञ का यजु क्या है ?

उ०—मन।

प्र०—यज्ञ का वरण करनेवाला कौन है ?

उ०—ऋक्।

प्र०—यज्ञ किसका अतिक्रमण नहीं करता ?

उ०—ऋक् का।

प्र०—बोनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ?

उ०—वर्षा।

प्र०—काटनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ?

उ०—बीज।

प्र०—एक स्थान पर रहनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ?

उ०—गाय।

प्र०—उत्पन्न करनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है ?

उ०—पुत्र।

यहाँ युधिष्ठिर का धर्म क्षत्रिय-धर्म है। ब्रह्म ही मूल है जिससे यह समस्त सृष्टि चल रही है। देवताओं का स्थान उस ब्रह्म से कम हो गया है। किंतु सूर्य किसलिए उदय और अस्त होता है ? धर्म के कारण। यदि मनुष्य का धर्म इस संसार से लुप्त हो जाता है तो संभव है कि सूर्य भी अपना कार्य्य करना त्याग देगा।

ब्राह्मण का मनुष्यभाव तप है। ब्राह्मण उस समय अधिक तपनिरत हो रहे थे। पहले ऋषि-मुनि होते थे, किंतु अब तप पर अधिक जोर दिया जाने लगा था।

यज्ञ का साम प्राण है। प्राण का परवर्ती रूप वायु का आधार है। मन जो यहाँ यजु है, वह ही प्राण का संगी हो जाता है।

समाज खेतिहर है, तभी वर्षा पर इतना विश्वास किया गया है। संतान होना मनुष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। प्रारंभ में जिन आर्य्य कबीलों में पितरों को तृप्ति देने के लिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक थी, उनमें परलोकवाद के साथ संतानोत्पत्ति का भी कर्मफल के साथ संबंध हो गया था। युधिष्ठिर का यह चिंतन द्वापर-कालीन ही प्रतीत होता है।

किंतु इतना ही काफी नहीं है। मनुष्य के जीवन की सार्थकता भी स्वयं प्रमाणित होनी चाहिए। मनुष्य ने जन्म तो ले लिया, किंतु वह क्या है जो उसे ऊँचा उठानेवाली वस्तु है, जिससे उसका अन्यों से भेद दिखाई देता है। यदि वह अपने से, परलोक से, पितरों से, देवताओं से संबंध नहीं जोड़ सकता तो वह व्यर्थ है। यक्ष कहता है—

प्र०—कौन मनुष्य क्रियानुभव-समर्थ, बुद्धिमान, लोकपूजित, सर्वप्राणिसम्मत होकर, श्वास लेकर भी मुर्दा है?

उ०—जो देवता, अतिथि, भृत्य, पितर और आत्मा की पूजा नहीं करता, इन्हें अन्न नहीं देता।

यक्ष इसे स्वीकार करता है। आत्मा का अन्न से संबंध यहीं निर्धारित हो जाता है।

प्र०—पृथ्वी से भी अधिक किसका गौरव है?
उ०—माता का।
प्र०—आकाश से भी उच्च कौन है?
उ०—पिता।
प्र०—वायु से भी अधिक शीघ्रगामी कौन है?
उ०—मन।
प्र०—तिनकों से भी अधिक असंख्य कौन है?
उ०—चिंता।
प्र०—सोने पर भी आँख कौन नहीं मूँदता?
उ०—मछली।
प्र०—उत्पन्न होकर भी कौन नहीं हिलता-डुलता?
उ०—अंडा।
प्र०—किसके हृदय नहीं है?
उ०—पत्थर के।
प्र०—कौन वेग से बढ़ता है?
उ०—नदी।
प्र०—मर रहे आदमी का मित्र कौन है?
उ०—दान।
प्र०—सब प्राणियों का अतिथि कौन है?
उ०—अग्नि।
प्र०—सनातन धर्म क्या है?
उ०—ज्ञान।
प्र०—यह सब जगत् क्या है?
उ०—वायु।
प्र०—प्रवासी का मित्र कौन है?
उ०—साथी।
प्र०—गृहवासी का मित्र कौन है?
उ०—भार्या।
प्र०—बीमार का मित्र कौन है?
उ०—वैद्य।
प्र०—अमृत क्या है?
उ०—गाय का दूध।
प्र०—शीत की दवा क्या है?
उ०—अग्नि।
प्र०—कौन अकेला विचरता है?
उ०—सूर्य्य।
प्र०—कौन बारंबार जन्म लेता है?
उ०—चंद्रमा।
प्र०—बोने की प्रधान जगह क्या है?
उ०—धरती।
प्र०—प्रिय वचन बोलनेवाला क्या पाता है?
उ०—सबका प्रेम।
प्र०—धर्मात्मा क्या पाता है?
उ०—सद्गति।

चलनेवाले को जगत् कहते हैं। कालांतर में जिस ब्रह्म को उपनिषदों में अव्यक्त कहा गया, बौद्धों ने जिसे शून्य कहा, शंकर ने जिसे माया कहा,—कहा कि वह कुछ नहीं है, इंद्रियों से वर्णित नहीं किया जा सकता; युधिष्ठिर ने उसे वायु कहा है। योगी लोग जब बाद में 'पिंड' में 'ब्रह्मांड' को बसा लेते थे तब, इसी वायु को उन्होंने

में करके शरीर-स्तंभन करते थे। यह वायु ही उपनिषदों में प्राण बना है। यजुर्वेद के ब्रह्म का रूप सृष्टि के साकारत्व में बिखरा पड़ा है। वह द्वापर के अंत में वायु हो गया है। चेतन है, किंतु अव्यक्त है। वह कालांतर में पंचमहाभूतों में से है।

जगत् वायु है, किंतु वह मृत्युलोक भी है। लोक का एक परलोक भी है। उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य विभिन्न प्रकार के कार्य करता है, गति तो फिर भी जीव को मिलती ही है। जगत् है जो संसार, उसमें वायुरूप जीव है, और वायु में रहकर भी वह परलोक में अच्छे और बुरे कर्मफल पाता है। जो परलोक में भी सुख पाता है, वही सद्गति पाता है।

समाज में यह विचार क्यों आया? इसलिए नहीं कि लोगों ने कर्मफल का सिद्धांत थोपा; नहीं। तत्कालीन समाज में नियम बने थे; फिर भी अनेक विषमताएँ थीं। इन विषमताओं का फल सभी को भोगना पड़ता था। सभी को प्रकृति का रहस्य समझ में न आने की वेदना थी। उच्च कोटि के लोग निम्नवर्गों पर अत्याचार करते थे। वे इसे अपना अधिकार समझते थे। किंतु प्रकृति के सामने सब पराजित थे। धनी और दरिद्र समान दुःख पाते थे। कर्मफल निम्न जातियों से पैदा हुआ या उच्च जातियों से—यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। किंतु परलोक के दंडविधान के अतिरिक्त यह विचार प्रायः अधिक मान्य होने लगा था कि मनुष्य-मनुष्य सब बराबर हैं। राजा हो या दास, पुरोहित हो या चांडाल, मनुष्य सब हैं। यह फल क्यों भिन्न है? क्योंकि इन नियमों का नियंता कहीं और है। ऐसा विचार उस समाज में उदय हो जाना आश्चर्यजनक नहीं था, वही समाजशास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन नहीं था।

प्र०—जितनी बातें धन्य समझी जाती हैं, उनमें उत्तम क्या है?

उ०—सबके अनुकूल रहना।

प्र०—उत्तम धन क्या है?

उ०—शास्त्रज्ञान।

प्र०—उत्तम लाभ क्या है?

उ०—आरोग्य।

प्र०—उत्तम सुख क्या है?

उ०—संतोष।

प्र०—ब्राह्मण को धन देने की क्या आवश्यकता है?

उ०—धर्म के कारण, यश के लिए।

प्र०—नट को?

उ०—भरण-पोषण के लिए।

प्र०—सेवक को?

उ०—भरण-पोषण के लिए।

प्र०—राजा को?

उ०—डर के लिए।

प्र०—मृत पुरुष कौन है?

उ०—दरिद्र पुरुष।

प्र०—मृत राष्ट्र कौन है?

उ०—बिना राजा का राष्ट्र।

प्र०—मृत श्राद्ध कौन है?

उ०—श्रोत्रिय-हीन श्राद्ध।

प्र०—मृत यज्ञ कौन है?

उ०—दक्षिणाहीन यज्ञ।

प्र०—विष क्या है?

उ०—याचना और प्रार्थना।

प्र०—श्राद्ध का समय क्या है?

उ०—सत्पात्र ब्राह्मण का मिल जाना।

प्र०—विचार कर काम करनेवाला क्या पाता है?

उ०—अभ्युदय और विजय।

प्र०—बहुत मित्रोंवाले को क्या मिलता है?

उ०—सुख।

युधिष्ठिर का धन्य जीवन वही है जब मनुष्य सबके ही अनुकूल हो जाय। यह एक असंभव बात थी। इस अनुकूलता का आधार तो था समाज का नियम और मर्यादा। वह परंपरा से वर्ग-स्वार्थों के आधार पर टिका था। दास-प्रथावाला समाज भी एक दिन अपने से पहले की आदिम साम्यवादी अवस्था पर प्रगति बनकर आया था ताकि समाज में श्रम का अधिक नियोजन हो सके। उत्पादन के साधन काम में लाए जायँ। और, आज वही विषमता अटूट-सी लगती थी।

प्र०—कौन-सा काम करने से मनुष्य अनंत नरक को जाता है?

उ०—याचक ब्राह्मण को बुलाकर 'नहीं' करनेवाला, वेद, शास्त्र, पुराण, देवता, पितर को झूठ कहनेवाला, धन रखकर भी लोभ से दान न करनेवाला, न आप ही उसका भोग करनेवाला, कहकर न देनेवाला।

प्र०—कुल, चरित्र, स्वाध्याय और श्रुत में ब्राह्मणत्व का कारण क्या है ?

उ०—चरित्रहीन केवल पठन-पाठनरत ब्राह्मण मूर्ख हैं। क्रियावान ही पंडित हैं। दुराचारी पढ़े तो शूद्र से भी गया-बीता है। मन मारकर अग्निहोत्रादि स्वकर्म करनेवाला ही ब्राह्मण है।

प्र०—कौन सदा आनंद पाता है ?

उ०—अनृणी जो परदेश में नहीं है, भले ही भूखा हो, वह आनंद का अनुभव करता है।

इस युग में पौरोहित्य के लिए वसिष्ठ और विश्वामित्रवाला जन्म से निर्णीत होनेवाला संघर्ष नहीं है। अब समाज में वही ब्राह्मण संमान पा सकता है जिसका चरित्र अच्छा है।

धर्म का अंतिम ध्येय क्या है ? सबका भला करना। सामाजिक रूप में किसी का शोषण न करना। किंतु युधिष्ठिर के समय में इसका अर्थ है वर्ग-संबंधों में वही काम करना जिसका करना उचित है, पाप है। दूसरों का न छीनना ही धर्म है।

प्र०—धर्म का अंतिम स्थान क्या है ?

उ०—सबकी अनुकूलता, किसी की बुराई न करना।

प्र०—यश की चरम सीमा क्या है ?

उ०—दान।

प्र०—स्वर्ग और सुख का एकमात्र आश्रय क्या है ?

उ०—सत्य और चरित्र (क्रम से)।

प्र०—मनुष्य की आत्मा क्या है ?

उ०—पुत्र।

प्र०—दैवविहित सखा कौन है ?

उ०—स्त्री।

प्र०—उपजीविका और प्रधान आश्रय क्या है ?

उ०—मेघ और दान (क्रम से)।

प्र०—प्रधान धर्म क्या है ?

उ०—दया।

प्र०—कौन धर्म सदा फलदायक होता है ?

उ०—यज्ञ।

प्र०—किसका संयम करने से शोक नहीं रहता ?

उ०—मन का।

प्र०—किसके साथ मेल करने से फिर बिगाड़ नहीं होता ?

उ०—साधु पुरुषों से।

प्र०—क्या छोड़ देने से मनुष्य सबका प्रिय होता है ?

उ०—अभिमान।

प्र०—क्या छोड़ देने से मनुष्य का शोक दूर होता है ?

उ०—क्रोध।

प्र०—क्या छोड़ देने से मनुष्य सुखी-संपन्न होता है ?

उ०—लोभ और कामना (क्रम से)।

प्र०—सब लोग किससे आवृत रहते हैं ?

उ०—अज्ञान से।

प्र०—सब लोग किससे अप्रकाशित रहते हैं ?

उ०—तमोगुण से।

प्र०—किसलिए मित्रों को छोड़ देते हैं ?

उ०—लोभ से।

प्र०—किस बात से स्वर्ग नहीं जाते ?

उ०—संग में फँसने से।

प्र०—दिशा क्या है ?

उ०—साधु लोग।

प्र०—जल क्या है ?

उ०—आकाश।

प्र०—अन्न क्या है ?

उ०—धेनु।

प्र०—तप का लक्षण क्या है ?

उ०—स्वधर्म-पालन।

प्र०—दम का लक्षण क्या है ?

उ०—मन का दमन।

प्र०—क्षमा का लक्षण क्या है ?

उ०—जाड़ा-गर्मी आदि द्वंद्वों का सहना।

प्र०—लज्जा का लक्षण क्या है ?

उ०—कुकर्म से बचना।

प्र०—ज्ञान का लक्षण क्या है ?

उ०—तत्त्वार्थबोध।

प्र०—शम का लक्षण क्या है ?

उ०—चित्त-शान्ति।

प्र०—दया का लक्षण क्या है ?

उ०—सबके सुखी रहने की इच्छा।

प्र०—आर्जव का लक्षण क्या है ?

उ०—समचित्तावस्था।

प्र०—मनुष्य का दुर्जय शत्रु कौन है ?

उ०—क्रोध।

प्र०—अनंत व्याधि क्या है ?

उ०—लोभ।

प्र०—साधु कौन है ?

उ०—सर्वहितकारी।

प्र०—असाधु कौन है ?

उ०—दयाहीन पुरुष।

स्वर्ग मनुष्य के सत्य से मिलता है, सुख एकमात्र चरित्र से। जिसका चरित्र ठीक नहीं है वह व्यक्ति स्वयं सुखी नहीं हो सकता। यह एक विश्वजनीन सत्य है। यज्ञ एक फलदायक धर्म है। किंतु मनुष्य का प्रधान धर्म रीतियों में नहीं, दया में है। मन का संयम ही मनुष्य को शोक से मुक्त कराता है। और, फिर युधिष्ठिर तप का लक्षण स्वधर्मपालन बताता है अर्थात् जैसा उसका वर्ग करता है, वर्ण करता है, वैसा ही करना चाहिए।

और इसके बाद हम युधिष्ठिर के दार्शनिक को देखते हैं जो ऐसे धर्म का प्रतिपादन करता है, जिसे आजतक विश्व के किसी धर्म ने नहीं कहा। उसमें एक व्यापकता—सर्वयुगीनता है। धर्म को जड़ रूप से मान लेना ही धर्ममूढ़ता है। धर्म को भी वह चलता हुआ देखता है। आलस्य को वह धर्म का आचरण न करने के बराबर मानता है। स्नान तो मन की मैल को धोना है, शरीर को मल-मलकर धोना स्नान नहीं है। और, अज्ञान के कारण ही मनुष्य इतना शोक करता है। सबमें सम हो जाना ही उद्देश्य हो गया है।

प्र०—मोह क्या है ?

उ०—धर्ममूढता।

प्र०—मान क्या है ?

उ०—आत्माभिमान।

प्र०—आलस्य क्या है ?

उ०—धर्माचरण न करना।

प्र०—शोक क्या है ?

उ०—अज्ञान।

प्र०—स्थिरता क्या है ?

उ०—स्वधर्म-दृढ़ता।

प्र०—धैर्य क्या है ?

उ०—इंद्रिय-निग्रह।

प्र०—स्नान क्या है ?

उ०—मनोमालिन्य धोना।

प्र०—दान क्या है ?

उ०—प्राणिरक्षा।

प्र०—पंडित कौन है ?

उ०—धार्मिक पुरुष।

प्र०—नास्तिक कौन है ?

उ०— मूर्ख।

प्र०—काम क्या है ?

उ०—संसार।

प्र०—मत्सर क्या है ?

उ० – मन में कुढ़ना।

प्र०—अहंकार क्या हे ?

उ०—महान अज्ञान।

प्र०—दंभ क्या है ?

उ०—धर्म का ढोंग।

प्र०—दैव क्या है ?

ठ०—दानफल।

प्र०—पिशुनता क्या है ?

उ०—दूसरों को दोष लगाना।

प्र०—आश्चर्य क्या है ?

उ०—प्राणी रोज मरते हैं और जो बचे हुए हैं, वे यह देखकर भी सदा जीते रहने की इच्छा करते हैं, यही।

प्र०—मार्ग क्या है ?

उ०—तर्क की कोई स्थिरता नहीं है। श्रुतियाँ भी अलग हैं। मुनि भी एक नहीं है जिसे प्रमाण माना जाय। धर्म का तत्त्व गुफा में निहित है। मार्ग वही है जिससे बड़े लोग और महापुरुष चले हैं। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

प्र०—वार्त्ता क्या है ?

उ०—काल पृथ्वी-पात्र में, आकाश का ढकना बंद करके, रात-दिन के ईंधन में, सूर्य की आग जलाकर, मासx ऋतुरूपी डोई चलाकर, सब प्राणियों को पकाता है, यही है।

प्र०—पुरुष कौन है ?

उ०—जबतक कीर्त्ति रहती है तबतक पुण्यात्मा पुरुष कहलाता है।

प्र०—सबसे धनी कौन है ?

उ०—जो भूत, भविष्य, सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय को समान मानता है।

प्र०—धर्म, अर्थ और काम परस्पर-विरोधी हैं, इनका एकत्र समावेश कैसे होता है ?

उ०—जब धर्म और भार्या परस्पर वशवर्त्ती और सहायक होते हैं, तब होता है ?

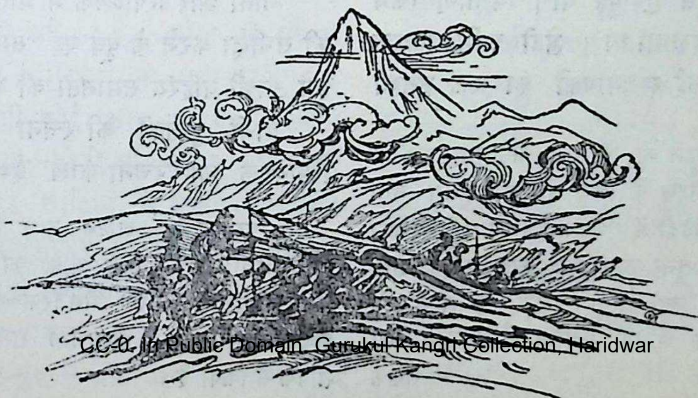
कपिल, बुद्ध आदि मेधावियों की पृष्ठभूमि यह है कि दास-प्रथा के समाज में युधिष्ठिर धर्म से कहता है कि उसे आश्चर्य हो रहा है। सृष्टि और संहार निरंतर अविराम महान गति से हो रहा है। वह उसको समझ नहीं पा रहा है। वह नहीं जानता कि इस सृष्टि का क्या रहस्य है। वह वेद की प्रणालियों की ओर देखता है। उसके सामने असंख्य मतोंवाले मुनि खड़े हैं। वह नहीं जानता कि किसके मत को ठीक समझे। सब अपनी-अपनी कहते हैं। धर्म का तत्त्व गुहा में छिपा हुआ है। वह तो चल रहा है। उसको चलने में जब उलझन दिखाई देती है तब वह यह देख लेता है कि अतीत के महापुरुषों ने क्या किया था। कुछ तो किया ही होगा जिसके कारण इतनी श्रद्धा से स्मरण में रख लिए गए। इससे बढ़कर कुछ भी धर्म नहीं है। मनुष्य की जिज्ञासा असीम है। वह देख रहा है—ऊपर आकाश है। उसके परे क्या है, वह नहीं जानता। वह देख रहा है कि सूर्य तप रहा है। काल चला जा रहा है। प्राणी जन्म लेते हैं, मरते हैं, और यही चक्र अहोरात्र, मास, ऋतु, वर्ष में चलता चला जा रहा है।

युधिष्ठिर पर किसका प्रभाव होगा ? हम जानते हैं कि जैन तीर्थंकरों की परंपरा ऋषभ से चली है जो पार्श्वनाथ से बहुत पहले हुआ था। उसके चिंतन ने बहुत धीरे-धीरे विकास किया है। तभी २४ वें तीर्थंकर के रूप में महावीर आया है। महावीर तक जो अहिंसा की धारा बही आ रही है, तनिक उसकी तुलना युधिष्ठिर के संमुख धर्म से भी कराने योग्य है। धर्म क्या है ? युधिष्ठिर कहता है—'व्यवहार और 'जीवन में ओछेपन को छोड़ देना ही परम धर्म और परमार्थ है। उदार भाव धारण करना धर्म है। उदार धर्म महत्त्वपूर्ण है।'

और, यहाँ धर्म के रूप और अंगोपांगों का भी विश्लेषण किया गया मिलता है जो हमारे लिए बहुत ही आवश्यक सिद्धांत-विवेचन की भाँति प्रमाणित हुआ है।

धर्म (व० प० ३१४ अ० १–१०)

का	के	की
शरीर	आत्मज्ञान	इंद्रियाँ
१ यश	के साधन	१ अहिंसा
२ सत्य	१ शम	२ समता
३ दम	२ दम	३ शांति
४ शौच	३ तितिक्षा	४ तप
५ सरलता	४ एकाग्रता	५ शौच
६ लोकलज्जा	५ उपरति	६ ईर्ष्याविहीनत्व
७ धैर्य		७ प्रेम
८ दान		
९ तप		
१० ब्रह्मचर्य		



गीता और रिपब्लिक का समानांतर अध्ययन

श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल

जीवन और जगत् के प्रति अर्वाचीन तथा प्राचीन दृष्टिकोणों में अंतर स्पष्ट है। तुलनात्मक दृष्टि से पुरातन दर्शन अपेक्षाकृत अधिक नैतिक, आध्यात्मिक और पारलौकिक है; पर, आधुनिक दर्शन दैहिक, भौतिक तथा पार्थिव। इस कथन का तात्पर्य सामान्य प्रवृत्ति से है। वैसे इसके अपवादविशेष के उदाहरण भी उपलब्ध हो सकते हैं। भारत आज भी अतीत की इस परंपरा का अक्षुण्ण रूप से पालन कर रहा है। यह असंदिग्ध है कि वर्त्तमान की अपेक्षा ही पूर्व अधिक अध्यात्मवादी नहीं रहा है, अपितु पश्चिम की अपेक्षा भी पूर्व अधिक आध्यात्मिक है। निस्संदेह भारत अध्यात्म की ओर आज भी सर्वाधिक उन्मुख है। किंतु इससे यह अनुमान निकालना कि पाश्चात्य जगत् में इसका सर्वथा एवं सर्वदा अभाव रहा है, समीचीन नहीं है। जर्मनी के कांट, हेगेल, शॉपेनहावर प्रभृति इसी में विश्वास करते हैं। ईसाई धर्म की संपूर्ण परंपरा इसपर आधारित है। प्राचीन यूनान में भी इसका प्राधान्य था। यूनान के श्रेष्ठ दार्शनिकों—पिथागोरस, सुकरात, प्लेटो एवं [1] अरस्तू की आध्यात्मिक नैतिकता अथवा पारलौकिकता में एकनिष्ठ आस्था थी। इन सबमें दार्शनिक के रूप में प्लेटो सर्वश्रेष्ठ है। अध्यात्मवाद में उसकी सर्वाधिक आस्था है। प्लेटो पर पिथागोरस और सुकरात का एवं अरस्तू पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। प्लेटो का जन्म ४२७-४२८ वर्ष ई० पूर्व में हुआ था। वह शरीर का बहुत हृष्ट-पुष्ट था। विस्तीर्ण स्कंध के कारण ही वह प्लेटो कहलाता था। प्लेटो अभिजातकुल का था और ग्रीस के कई राजनायकों का रक्त उसकी रगों में दौड़ रहा था। राजनीति में सक्रिय भाग लेने का उसने निश्चय कर लिया था। परंतु तत्कालीन राजनीति की कदर्य अवस्था देखकर उसने अपना विचार-परिवर्त्तन कर दिया। उसने एक दार्शनिक तथा शिक्षक का जीवन चुना। इसी समय उसने जीवन, जगत्, व्यक्ति, राज्य, आत्मा, परमात्मा प्रभृति के विषय में भी चिंतन किया। उसने अपने राजनीतिक विचारों को सेराक्युज में दो बार क्रियात्मक रूप देने का भी प्रयत्न किया था। प्लेटो की कृतियों की संख्या ३५–३६ है। परंतु इनमें 'रिपब्लिक' [1] सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इस पुस्तक में अभिव्यक्त विचारों की जो समानता श्रीमद्भगवद्गीता के अभिमत से है उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना इस लेख का उद्देश्य है।

महाभारत, रामायण, उपनिषदों, बौद्ध और जैन ग्रंथों में जीवन के प्रश्नों का शास्त्रीय प्रतिपादन प्रासंगिक अथवा एकदेशीय है। इसीलिए प्लेटो की 'रिपब्लिक' से तुलना के लिए भारतीय ग्रंथों में से श्रीमद्भगवद्गीता चुनी गई है जिसमें जीवन के प्रश्नों पर शास्त्रीय रूप से प्रकाश डाला गया है।

'गीता' उपनिषदों का अध्याहार है। यह हमारी संस्कृति का प्रदीप, हमारी सभ्यता का संबल मानी जाती है। भारतीय दर्शन की इससे अधिक प्रतिनिधि, प्रसिद्ध एवं प्रचलित पुस्तक दूसरी कोई नहीं है।

गीता और रिपब्लिक में प्रतिपादित सिद्धांतों के साम्य की समीक्षा करने के पूर्व यह समीचीन प्रतीत होता है कि हम उनकी वहिरंग समानता की भी परीक्षा करें।

दोनों पुस्तकों की रचना प्राचीन काल में हुई थी। रिपब्लिक का रचना-काल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का

१. सौक्रेटीस और एरस्टौटल को हिंदी में क्रमानुसार सुकरात एवं अरस्तू कहते हैं। पिथागोरस के लिए और कोई दूसरा नाम प्रचलित नहीं है। प्लेटो को हिंदी में 'अफलातून' नाम से पुकारा जाता है। पर मुझे 'अफलातून' नाम हास्यास्पद प्रतीत होता है। अतः मैं इसका व्यवहार नहीं करता। प्लेटो का ग्रीक नाम प्लातोन है। पर मुझे उसका अधिक प्रचलित लैटिन नाम प्लेटो ही सर्वसुंदर लगा। —लेखक

१. पुस्तक का लैटिन नाम रिपब्लिक है। ग्रीक नाम 'पौलितेइया' है। किंतु ग्रीक की अपेक्षा लैटिन नाम अधिक प्रचलित होने के कारण मैंने रिपब्लिक चुना है। इसका हिंदी अनुवाद बरेली के पं. भोलानाथ शर्मा ने 'आदर्श नगर-व्यवस्था' शीर्षक से किया है। —लेख

पूर्वार्द्ध है तो गीता की सर्जना, लोकमान्य तिलक के अनुसार, ई० पू० १५०० में हुई थी। दोनों की सृष्टि प्राचीन सभ्यता-संस्कृतिवाले देश में हुई थी। एक का जन्म यूनान (ग्रीस) के नगर-राज्य एथेन्स में हुआ तो दूसरी की उत्पत्ति सिंधु-गंगा की उपत्यका में। एक की भाषा ग्रीक है तो दूसरी की संस्कृत। एक का रचयिता दार्शनिक प्लेटो है तो दूसरे का महर्षि व्यास। प्लेटो का प्रमुख वक्ता एवं प्रतिनिधि सुकरात है तो व्यास श्रीकृष्ण का आश्रय लेता है। सुकरात जहाँ ग्रीस ही नहीं, संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में से एक है, वहाँ श्रीकृष्ण स्वयं ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। दोनों पुस्तकों का संवादात्मक रूप आद्यंत उपस्थित है। 'रिपब्लिक' के प्रारंभ में सेफालस, पोलिमार्क्स, थ्रासीमार्क्स एवं सुकरात आते हैं और पश्चात् ग्लाकन तथा एडियाभाब्लस। प्रारंभ के वार्तालाप में प्रायः सभी भाग लेते हैं, किंतु उत्तरार्द्ध में सुकरात निर्बंध वक्ता का स्थान ग्रहण कर लेता है। दूसरे पात्र केवल संवाद को आगे बढ़ाने का कार्य संपादित करते हैं। गीता में आरंभ से लेकर अंततक अर्जुन जिज्ञासु, शिष्य और किंकर्त्तव्यविमूढ़ भक्त के रूप में आता है। श्रीकृष्ण उसे धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति का मर्म समझाते हैं।

यद्यपि दोनों ग्रंथों के पात्र ऐतिहासिक हैं तथापि उनको हम मनोजगत् के प्रतीक मान सकते हैं। जिस प्रकार महाभारत का युद्ध मानसिक है, उसी प्रकार रिपब्लिक का संपूर्ण वार्त्तालाप काल्पनिक है। गीता में अंतर्द्वंद्व का चित्रण है और रिपब्लिक में भी शंसयग्रस्त मन में उठनेवाले विचारों का प्रतीकात्मक पात्रों द्वारा खंडन-मंडन।

गीता अठारह अध्यायों में विभाजित है और रिपब्लिक दस पुस्तकों में। किंतु परिमाण और संख्या में रिपब्लिक की सामग्री गीता से कहीं अधिक है। गीता के संवादों का रूप श्लोकात्मक है। रिपब्लिक के साथ ऐसी कोई बात नहीं है, और न ऐसी कोई संभावना ही हो सकती है। रिपब्लिक और गीता—दोनों की भाषा और शैली अति सरल है। दोनों का साहित्य में उच्च स्थान है। दोनों में ओज एवं प्रसाद गुण हैं। काव्य, नाटकीयता और रमणीयता दोनों की ही विशेषताएँ हैं।

समुद्र-मंथन से जिस प्रकार अमृत की उत्पत्ति हुई थी उसी प्रकार महाभारत-युद्ध से गीता एवं पेलॉपॉनेशियन महासमर से 'रिपब्लिक' की रचना हुई थी। महाभारत में धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, सत्य-मिथ्या में संघर्ष था। माया-मोह, राग-द्वेष के अंधकार को दूर कर प्रकाश का पथ दिखाने के लिए ही गीता की रचना हुई थी। पेलॉपॉनेशियन महायुद्ध के पश्चात् ग्रीस में अस्थिरता एवं अशांति का साम्राज्य स्थापित हो गया। उस समय स्वार्थपरायण नेता और ढोंगी शिक्षक जनता को गुमराह कर रहे थे। धर्म एवं नीति के बाल की खाल खींची जाने लगी थी। उसी समय प्लेटो ने अपनी रचना द्वारा नैतिक गुणों तथा सत्य की पुनःस्थापना का प्रयत्न किया।

संसार में महापुरुषों के जीवन में प्रायः ऐसे प्रसंग आते हैं, जब उन्हें यह निश्चित करना पड़ता है कि जीवनधारा विपरीत दिशाओं में से किस ओर प्रवाहित की जाय। जगत् के कर्मसंकुल जीवन में अपने-आपको संमिलित कर दिया जाय, अथवा जनरव और कोलाहल से दूर किसी वनप्रांतर में जप-तप में शेष जीवन व्यतीत किया जाय। इन कर्मबंधनों से अपने को आबद्ध कर दें अथवा गेरुआ वस्त्र धारण कर धुनी रमा लें। गृहस्थी के जंजाल, कौटुंबिक राग-रंग, पारिवारिक चहल-पहल में रहा जाय या सांसारिक माया-मोह, जागतिक राग-द्वेष से निर्लिप्त होकर इस सांध्य अरुणिमा के उस पार की रहस्यमय सत्ता के ऊहापोह और आराधना में अपने जीवन की आहुति दे दी जाय? कर्ममय जगत् में ही रहा जाय अथवा वैराग्य की राह लें? कर्मयोग में प्रवृत्त हुआ जाय अथवा संन्यास में संलग्न हों? प्रवृत्ति-मार्ग की ओर उन्मुख हों अथवा निवृत्ति की ओर अभिमुख?

कुछ ऐसा ही प्रसंग अर्जुन के समक्ष भी उपस्थित है। महाभारत - युद्ध के अवसर पर समरार्थी अर्जुन अपने सारथि श्रीकृष्ण को युद्ध-स्थल के मध्य में रथ ले जाने को कहता है। और, वहाँ पहुँचने पर, अर्जुन कहता है—हे कृष्ण, युद्धेच्छु एकत्र स्वजनों को देखकर मेरे अंग-अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, रोएँ खड़े हो गए हैं, धनुष हाथ से फिसल रहा है, समूची देह में दाह हो रहा है और मन चक्कर खा रहा है।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
नच शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।

किंतु अर्जुन कोई कापुरुष नहीं है। उसकी यह दुरवस्था इसलिए नहीं है कि वह युद्ध से डरता है या उसे पराजय अथवा अपनी मृत्यु का भय है। प्रत्युत उसके मन में धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म का द्वंद्व है। उसे स्वजनों को विनष्ट कर राज्य-सुख उपभोग करने की कोई अभिलाषा नहीं है। वह कुलक्षय करने को प्रस्तुत नहीं है। वह मानव-हत्या से बचना चाहता है। उसे डर है पाप का। और, इसी कारण वह युद्ध करना नहीं चाहता। किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को कर्म-अकर्म का मर्म समझाने, संमोहग्रस्त भक्त को धर्म के पथ पर ले जाने, उसकी समस्त शंकाओं का समाधान कर, ज्ञान एवं सत्य का प्रकाश विकीर्ण करने के लिए ही श्रीकृष्ण द्वारा गीता का गान हुआ है।

इसी प्रकार रिपब्लिक का प्रारंभ होता है न्याय की निष्पत्ति के विवाद से। वार्त्तालाप के मध्य न्याय का प्रसंग आ जाता है। सेफालस के अनुसार सत्य बोलना और पावना चुकाना ही न्याय है। सेफालस का पुत्र पोलीमार्क्स इस कथन की व्याख्या करते हुए कहता है कि न्याय का अर्थ होता है जो जिस योग्य है उसे वैसा ही पुरस्कार देना अर्थात् मित्र का मंगल करना और शत्रु का अमंगल। थ्रासीमार्क्स के अनुसार शक्तिशाली का हित ही न्याय है। किंतु सुकरात के अनुसार न्याय सर्वश्रेष्ठ कला है और इन व्याख्याओं से भिन्न एवं उच्चतर वस्तु है। इसी न्याय अथवा धर्म को केंद्रस्थ मानकर रिपब्लिक की रचना हुई है। इस आदर्श नगर-व्यवस्था का मूलोद्देश्य है व्यक्ति और राज्य में न्याय अर्थात् धर्म की स्थापना।

गीता की व्याख्या के विषय में अत्यधिक मतभेद है। प्रत्येक संप्रदाय ने अपने स्वार्थ एवं सिद्धांत के समर्थन में स्वानुकूल अर्थ लगाया है। शंकराचार्य प्रभृति ने इसमें ज्ञान का प्रतिपादन पाया है। मध्ययुगीन विभिन्न संप्रदायों को इसमें भक्ति का प्राधान्य मिला है। नारायणी संप्रदाय और वर्त्तमान काल के विद्वानों ने इसमें कर्मयोग की प्रतिष्ठा देखी है। इनमें सभी सही हैं। वस्तुतः गीता में तीनों हैं। भक्ति, प्रेम और विश्वास के अभाव में न तो ज्ञान ही संभव है, और न कोई कार्य ही भलीभाँति संपादित किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान के अभाव में मनुष्य अंधा रहता है अथवा नेत्र रहते हुए भी अंधा-सा हो जाता है। और, मनुष्य कभी कर्महीन नहीं हो सकता। प्रकृति का स्वभाव ही कर्म है।

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

भक्ति अथवा ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व और पश्चात् भी कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है। किंतु यदि कहीं कर्म करने और न करने में प्रतिरोध हो तो वहाँ कर्म को ही चुनना चाहिए।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।

जिस भक्ति और ज्ञान से हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाने का संदेश मिलता है, वह भक्ति और ज्ञान व्यर्थ है। यदि महापुरुष कर्म का त्याग करेंगे तो सामान्य जन अकर्मण्य हो जायँगे।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।

गीता की रचना का उद्देश्य और फल अर्जुन को युद्ध में अर्थात् कर्मयोग में प्रवृत्त कराना है। यत्र-तत्र-सर्वत्र श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को ऐसे ही उद्बोधन मिले हैं। यथा—

तस्माद्युद्धस्व भारत ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् ।
मामनुस्मर युद्ध्य च ।

इसी प्रकार प्लेटो के रिपब्लिक में न्याय और नैतिकता में विश्वास और भक्ति के प्रतिष्ठापन का प्रयास किया गया है। विद्या तथा बुद्धि के विकास और ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त शिक्षा की व्यवस्था की गई है। और, इस दीर्घ योजना का उद्देश्य है—राज्य-शासन के हेतु संरक्षकों एवं सैनिकों को प्रस्तुत करना। ज्ञान की परिणति कर्म में है। यह गुफा के दृष्टांत से स्पष्ट कर दिया गया है। ग्लाकौन आपत्ति करता है

कि दार्शनिकों को इस प्रकार सांसारिक जीवन व्यतीत करने को विवश करना अनुचित है। सुकरात उत्तर देता है कि इस प्रकार उनको विवश नहीं किया जायगा। वे ऐसा स्वेच्छा से करेंगे; क्योंकि यही उनका कर्त्तव्य, न्याय एवं धर्म है (रिपब्लिक, पृष्ठ ३१८२०)। इस कर्मवाद में निःस्वार्थता एवं अनासक्ति है। गीता में तो बारंबार कर्मयोग की फलासक्तिहीनता पर जोर दिया गया है। यहाँ केवल स्वार्थ की भावना का ही त्याग नहीं है, प्रत्युत कर्म के परिणाम के विषय में भी ध्यान देने की मनाही है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

कर्मयोग की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—योगः कर्मसु कौशलम् (२-५०) अर्थात् कर्म में कुशलता ही योग है। अपने कार्य को दक्षता से संपादन करने में योग सन्निहित है। अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य कौन-सा कर्म करे, जिसमें वह पारंगत और पटु हो सकता है? इसका उत्तर 'स्वधर्म' के सिद्धांत में मिलता है। स्वधर्म की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन की उदासीनता की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।

यदि अर्जुन अपने धर्म के अनुकूल इस समर में संलग्न नहीं हुआ तो स्वधर्म एवं कीर्ति को खोकर वह पाप का भागी बनेगा।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।

'नियतं कुरु कर्म'—कृष्ण नियत कर्म करने के लिए उपदेश देते हैं, क्योंकि—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।

अर्थात् जो कर्म स्वधर्मानुसार नियत कर दिए गए हैं, उनका संन्यास करना उचित नहीं है। मोहवश उनका त्याग करना तामस प्रवृत्ति का लक्षण है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।

यदि परधर्म का आचरण सहज हो, तोभी अपने धर्म को त्यागकर उसे नहीं अपनाना चाहिए। स्वधर्म में मृत्यु भी श्रेष्ठ है, पर, परधर्म भयावह है। अपने कर्मों में निरत व्यक्ति परमसिद्धि प्राप्त करता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।

सदोष होने पर भी नियत सहज कर्म को कदापि नहीं त्यागना चाहिए; क्योंकि एक तो सभी उद्योग आग के धुएँ की भाँति किसी-न-किसी दोष से व्याप्त रहते हैं, और, ऐसी अवस्था में स्वधर्म-पालन ही कल्याणकारक है, क्योंकि स्वभावसिद्ध कर्म करने में पाप नहीं।

प्लेटो के अनुसार न्याय के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करे। जब नियत कर्म किए जायँगे तभी विग्रहादि का अभाव हो जायगा। और, इस प्रकार व्यक्ति एवं राज्य में समन्वय की स्थापना स्वयं हो जायगी। सुकरात कहता है कि राज्य के अच्छे होने का मुख्य कारण यह सिद्धांत है कि बालक, युवा, वृद्ध, दास और स्वामी, शासक और शासित—प्रत्येक मनुष्य अपना कार्य-संपादन करे तथा दूसरों के कर्म में टाँग न अड़ावे। इसमें हम आधुनिक श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण का सिद्धांत पाते हैं। किंतु इस कार्य-विभाजन और विशिष्टीकरण का एक आधार है। यह व्यवस्था और सिद्धांत तर्क एवं बुद्धि की भित्ति पर स्थापित है।

मैना

श्री राहुल सांकृत्यायन

दरिद्रता और भुखमरी की कालरात्रि यद्यपि हमारे देश के लिए नहीं बीती है, पर अँगरेजों और उनके सिरजे कुछ कालयवनों से मुक्ति जरूर मिली है। इन कालयवनों में एक था जमींदार-वर्ग। धन कानून को खरीद सकता है, यह अब भी देखा जा सकता है। अँगरेजों की बनाई कचहरियाँ अब भी चल रही हैं। अब भी साल में दो-दो, चार-चार लाख कमाते, स्याह को सफेद करनेवाले वकील देश में प्रतिष्ठा पाते फल-फूल रहे हैं और कचहरियों का न्याय पहले से भी महँगा है, फिर गरीब को न्याय पाने की क्या आशा हो सकती है? बड़े-बड़े जमींदार रियासती राजा न होते भी उस समय अपनी रैयत के हरता-करता थे, विशेष कर इस्तमरारी या तालुकदारी बंदोवस्तवाले बड़े-बड़े जमींदार। उनकी रियाया में किसी को मजाल नहीं था कि मालिक की कचहरी छोड़ सरकारी कचहरी में आपसी झगड़े को ले जाय।

अंगरेजों ने 'बाबू' शब्द को बहुत सस्ता कर दिया, नहीं तो इस शब्द का मान राजा से थोड़ा ही कम था। लोगों की जुबान पर 'राजा बाबू' का शब्द एक साथ ही आता था। मामूली कलमघिस्सू के लिए यह शब्द कभी इस्तेमाल किया जायगा, अँगरेजी राज्य के पहले कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। बाबू पहले राजा के छोटे कुमारों को कहा जाता था, अर्थात् उसका वही मूल्य था जो कि रियासतों में कुँवर का। उन्नीसवीं सदी में कितने ही 'बाबू' कहे जानेवाले लोग राजा और महाराजा बन गए. यह भी इसी बात को सिद्ध करता है।

वैसे तो बिहार में खाते-पीते लोग भी देखादेखी अपने बच्चों के दो-दो नाम रखते थे, लेकिन पहले यह हक बाबू साहेबों को ही प्राप्त था। बड़ा नाम कभी-कभी फुलस्केप की एक पूरी पाँती में समाता था। इतना बड़ा नाम लेना या याद रखना हरएक आदमी के वश की बात नहीं थी। पर, वह विशेष लिखापढ़ी के समय ही इस्तेमाल किया जाता था। हमारे चरितनायक का नाम बाबू विंध्यवासिनीप्रसादनारायण सिंह बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता, शायद इसी की कमी पूरी करने के लिए वह अंत में शर्मा भी जोड़ने लगे थे। लेकिन उनका छोटा नाम शंभूजी था। 'जी' लगा देने से असम्मान प्रकट करने का डर नहीं था। इसलिए परोक्ष में लोग बाबू साहेब को इसी नाम से पुकारते थे। यह विश्वास नहीं होता कि आज साठ शरदों के देखनेवाले शंभूजी की चार पीढ़ियों को देख चुके हैं। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में शंभूजी के पिता मन्नूजी के बाल गंगा-जमुनी थे, पर वह अभी साँड़-से घूमते थे, जो इस वर्ग में अनहोनी-सी बात थी। इनके यहाँ चिररोगी मरियल-से ही पुरुष देखने में आते थे। घर की लक्ष्मियाँ बेगमों से भी अधिक परदे में रहती थीं, तीर्थों में गंगास्नान के समय चारों ओर कनात से घिरी डुबकी लगाती थीं। ऐसी असूर्यंपश्याओं को लोग यही समझते थे कि उनमें सभी पद्मिनी या उर्वशी होंगी। पर, हाल में जब शताब्दियों के पिंजरे टूटे तब लोगों का यह भ्रम दूर हो गया। कोई सोच भी नहीं सकता था कि अंतःपुरों में एक नहीं. सैकड़ों कुरूपता में विश्वविजय प्राप्त करनेवाली महिलाएँ इतने दिनों से पलती रहीं। इस भ्रम को वस्तुतः लोकप्रसिद्ध कहावत ही दूर कर देती थी—"बाबू का बच्चा खवास और खवास का बच्चा बाबू'। बाबू की जगह राजा भी आप रख सकते हैं। किसी समय सामंत-कुल की सुंदरियाँ स्वयंवर करती थीं। कुरूपाओं के स्वयंवर में प्रभुताशाली सामंत जायँगे, इसकी आशा ही नहीं का जा सकती थी। उस समय चुनी हुई संतानोत्पत्ति की संभावना थी। परंतु जब हमारे देश के सामंत गुड़िया भर रह गए, उनके हाथ का खड्ग केवल फोटो खिंचवाने के लिए रह गया तब वीरता और पौरुष पर बिकनेवाली, स्वयंवर करनेवाली सामंत-सुंदरियों की भी आवश्यकता नहीं रह गई। चाहे परदे के भीतर कैसे भी काले-पीले रक्तों का संमिश्रण होता रहे, पर यदि वह उच्च कुल में गिना जाता हो, तो उस कुल की कन्या लेने योग्य समझी जाती थी। राजकुमारी या बाबू-कुमारी के सुंदर या असुंदर होने से कोई फर्क नहीं पड़ता था, क्योंकि हर हालत में सामंतों को बुढ़ापे तक वैभव के

अनुसार दर्जन-आध दर्जन रखेलियाँ और गाने-नाचनेवाली वेश्याएँ रखनी ही पड़ती थीं जिनके चुनाव में अवश्य रूप का पूरा खयाल रखा जाता था। शंभूजी भी अपने वर्ग की इस परिपाटी का बड़ी बड़ाई के साथ पालन करते थे। वह अपने बाप की उम्र नहीं पा सके। वही बात उनके बेटे की हुई और उनके पोते की तरुणाई में शेषनाग के फरण पर गड़ी जमींदारी-प्रथा खतम हो गई, जिसके साथ ही गाँवों से यह राज्य-शासन भी उठ गया।

प्रथम युद्ध के आस-पास का समय था। शंभूजी की तरुणाई का मध्याह्न था। यद्यपि उनका वर्ण गोरा नहीं, साँवला था; लेकिन उन्हें अपने पिता से हट्टा-कट्टा शरीर और कुछ सौंदर्य भी दायभाग में मिला था। यौवन, धन-संपत्ति और प्रभुत्व के साथ काफी मात्रा में अविवेकिता भी उन्हें मिली थी, पर चौथी चीज को हम सहज नहीं कह सकते थे। उसके उत्पन्न होने में वह वातावरण और दरबारी कारण थे, जिनकी छत्रच्छाया में शंभूजी का लालन-पालन हुआ था। यदि बिल्कुल अविवेकी होते, तो उनका प्रताप मध्याह्न के सूर्य की तरह नहीं तप सकता था। उनकी जमींदारी की आमदनी पचास हजार भी नहीं थी। चाहे उनके कुछ गाँव मुसल्लम अपने रहे हों, पर 'राजधानी' में एक दर्जन हिस्सेदार थे। राजधानी की प्रजा चाहे अपनी हो या पराई, कुछ ही सालों की मलि-काई के बाद समझने लगी, कि पानी में रहकर मगर-मच्छ से बैर करना बुद्धिमानी नहीं है। उस समय गाँवों में मोटरों का प्रचार नहीं हुआ था। प्रथम युद्ध के बाद जब गाँवों में मोटरें पहुँचीं, तब मोटरवालों में पहले शंभूजी ही थे। दूसरे बाबू लोग सोच रहे थे, सतयुग से चले आते हाथी रोब-दाब कायम रखने में जितने सहायक हैं, उतनी मोटरें नहीं हो सकतीं। मोटर लेने के पहले शंभूजी शाम के वक्त जोड़ी पर हवा खाने के लिए निकला करते थे, जिसके घोड़े उस समय के रुपयों में पाँच-पाँच सौ से कम के नहीं होते थे। बाबुओं की राजधानी में बाजार का होना अनिवार्य था और शंभूजी की राजधानी तो बहुत पुराने समय में बसी थी, जिस समय उनका वंश जिले के आधे की बात अतिशयोक्ति मान लेने पर भी तिहाई-चौथाई पर तो अवश्य शासन करता था। एक सकरी टेढ़ी-मेढ़ी कुछ अधिक चौड़ी गली चली गई थी, जिसे लोग सड़क कहा करते थे। उसीके दोनों तरफ सौ-सवा सौ दूकानें थीं। जोड़ी में पैर से बजनेवाली घंटी लगी थी। टेढ़े-मेढ़े रास्ते में ऐसे भी उसके बजाने की जरूरत पड़ती, पर कोचवान हर दस कदम पर उसे जरूर बजा देता। घंटी की आवाज सुनते ही लोगों के कान नहीं, पैर खड़े हो जाते और सिर से टकरानेवाले ओसारे से बाहर चले आते। सवारी के सामने आते ही कमर दोहरी करके दोनों तरफ से लोग कोर्रनिश करने लगते। बाबू साहेब की नजर जिधर पड़ जाती, उधर वह कभी-कभी सिर झुका देते, यद्यपि ऐसा करना आवश्यक नहीं था। दोहरी कमर से लगे सिर चाहे बाबू साहेब को न दिखाई पड़ें, पर यदि किसी ने कोर्रनिश करने में जरा भी सुस्ती की, तो वह उनकी आँखों से नहीं बच पाता था। उसी समय साथ चलनेवाले मुसाहिब को हुकुम हो जाता। अगले दिन कचहरी में पेशी होती, और शायद ही कभी दस-पाँच से कम जुर्माना दिए जान बचती। जुर्माना लेना अँगरेजी कानून के सरासर खिलाफ था, पर गाँवों में जमींदार का कानून अँगरेजी कानून के भी ऊपर था। गफलत करनेवाला चाहे अपनी प्रजा हो या पराई, उसे शंभूजी के हुकुम को मानना ही पड़ता था। यदि न माने, तो शंभू बाबू के एक दर्जन लठियल किस मर्ज की दवा थे? यह सौभाग्य समझिए, जो 'राजधानी' के दूसरे भागीदार जमींदार धन में उनसे छोटे और रोब में तो उनके पासंग भी नहीं थे। नहीं तो इसमें शक नहीं, दो मूजियों में खटपट हो जाती और गरीब अपने बचने की तदबीर निकाल लेते।

दासू शंभू बाबू की राजधानी का एक मामूली बनिया था। सुरती-तंबाकू, लवंग-लाइची-जैसी दस-बीस चीजें उसकी छोटी-सी दूकान में बेचने के लिए रखी रहती थीं। उनकी बिक्री से वह कैसे घर के पाँच परानियों के मुँह के लिए अन्न जुटा पाता था, यह समझना साधारण अर्थशास्त्री के समझने की बात नहीं है, पर, वह गिरहस्ती चला लेता था। तभी तो उसे चिड़िया पालने का शौक चर्राया था। शंभूजी की राजधानी के तरुण बनियों को किसी-न-किसी चीज का शौक जरूर था। जो ज्यादा अच्छे माने जाते, वह सबेरे नहाकर गाँव की ठाकुरबाड़ी में ठाकुरजी का दर्शन कर चरणामृत ले आते। और आगे बढ़े हुए शाम को आरती के पहले घंटा-दो-घंटा झाल-ढोल पर गला फाड़-फाड़कर भजन गा आते। शौकीनों में कुछ तीतर पालते या कोई और पक्षी। कुत्तों के पालने का रिवाज

नहीं था। बाजार की रखवाली के लिए वैसे ही बेमालिक के दर्जन-दो दर्जन कुत्ते आननेरी रात की ड्यूटी बजाने के लिए तैयार थे। जिनकी संपत्ति की वे रखवाली करते थे, उनसे वे नियमपूर्वक डंडा खाने के अधिकारी थे। दासू भी शौकीन तरुण था। उसने एक मैना पाल रखी थी। तोते की उमर डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक होती है। अभी कुछ ही वर्षों पहले, १८१४ ई० में पूना में पेशवा के महल से चुराया तोता विलायत में किसी अँगरेज के पास मौजूद था। मैना दस-बारह वर्ष से अधिक नहीं जी पाती, पर आदमी की बोली बोलने में वह तोते का कान काटती है। दासू ने जान-बूझकर तोते को न ले, मैना को नहीं पाला था। यदि उसे उस समय तोता ही मिला होता, तो वह उसे ही पाल लेता, यह जानते हुए भी कि वह मैना का मुकाबिला नहीं कर सकता। नेपाल और आसाम की मैना अच्छी बोलती है, पर दासू की स्थिति का आदमी ऐसी शौकीनी नहीं कर सकता था। यह संयोग ही समझिए, जो उसे ऐसी मैना हाथ लग गई थी, जो बड़ी बोलनेवाली निकली। छोटे बच्चे को ही लेकर पाला था। उसके साथ दासू और घरभर का प्रेम था। जब वह आदमी की कितनी ही बातें बोलने लगी; आने-जानेवालों से 'कौन है' और दूसरे सवाल-जवाब करने लगी, उसके साथ का प्रेम कई गुना बढ़ गया। दासू को अपनी मैना पर अभिमान था। उस नगरी में किसी के पास ऐसा पक्षी नहीं था। वह हमेशा उसे अपनी आँखों के सामने रखता। जब कभी पहुनाई के लिए जाता तब मैना को भी अपने साथ ले जाता। यद्यपि दासू ने कभी मुँह से नहीं कहा तथापि आठ-दस वर्ष पास रहते-रहते दासू का प्राण मैना में बसने लगा। उससे अधिक अच्छी स्थिति रखनेवालों ने सौ-पचास देने का भी प्रलोभन दिया, पर दासू अपने प्राण को कैसे बेच सकता था।

कीर्ति फैलते-फैलते एक दिन शंभूजी के कान में पहुँची। किसी मुसाहिब ने उन्हें और चढ़ा दिया, शायद कसर निकालने के लिए। उसी शाम को शंभूजी का सिपाही दासू के पास पहुँचा। दासू मैना को कैसे दे सकता था? खाली हाथ लौटने पर शंभूजी का पारा १२०° पर चढ़ गया। पीटकर लाने का हुकुम हुआ। चपरासी ने ऐसा पीटा, कि दासू के प्राण मैना के घर से निकलने के पहले ही निकल गए। सारी नगरी जानती थी; कितनों ने अपनी आँखों देखा था, पर कोई मुँह खोलने के लिए तैयार नहीं था। दासू का खून पच गया।

जीवन-पथ पर : श्री महेंद्र भटनागर

मिले हो आज जीवन की डगर पर;
किंतु आगे साथ मेरा सह सकोगे क्या?

अभी जीवन-निशा पहला प्रहर, तारे
गगन में आ, अनेकों आ, रहे हैं छा,
सघनतम आवरण छाया, नहीं दिखती
सफलता को प्रभाती की कहीं रेखा,
नहीं दिखता कहीं भी लक्ष्य का लघु
चिह्न, आँखों को यहाँ पर फाड़ कर देखा,
निराशा से बचा लोगे, सतत-गति-
लक्ष्य-उन्मुख प्रेरणा-स्वर कह सकोगे क्या?

नहीं संदेह, प्राणों को यहाँ पाथेय,
साधन-हीन हो चलना असंभव है,
नहीं संदेह, दीपक को बिना लघु
स्नेह-बाती के कहीं जलना असंभव है,

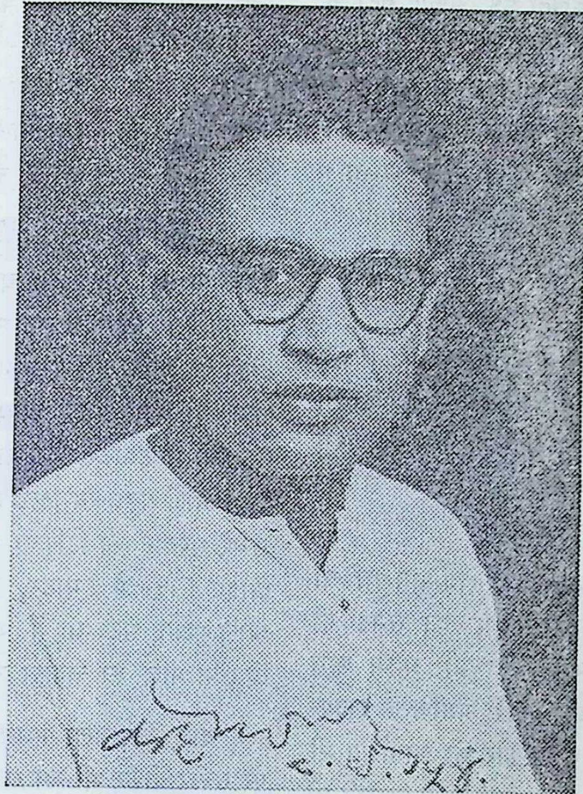
नहीं संदेह, आँधी में भयावह
नाश का सामान हो पलना असंभव है,
तुम्हारे प्यार के बल पर चला हूँ,
पर, भला आगे सदय तुम रह सकोगे क्या?

नहीं तो चल रहा हूँ मौन, जीवन-पंथ
पर आगे अकेला ही, अकेला ही,
नहीं तो चढ़ रहा हूँ पर्वतों को
आज मैं भागे अकेला ही, अकेला ही,
चला हूँ चीरता सागर-लहरियाँ
बाहुओं के बल घिरी जब नाश वेला ही,
अभय वरदान देकर, मूक मन से
कह सकोगे यों, 'नहीं तुम बह सकोगे!' क्या?

भारत का सुरम्य शैल-शिखर—दार्जिलिंग

श्री कन्हैयालाल मिंडा

पश्चिम बंगाल की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी दार्जिलिंग पश्चिम वंग प्रांत के उत्तरी भाग का एक रमणीय स्थान है। इसे भारत के पार्वत्य प्रदेशों की रानी कहा जाता है। हिमालय की पवित्र गोद में, प्रकृति नटी के सुंदरतम अंचल में, अलौकिक हिमाच्छादित दृश्यों से सुसज्जित दार्जिलिंग स्वास्थ्यप्रद स्थानों में एक मानी हुई जगह है। इस दृष्टि से यदि हम इसे भारत का स्वर्ग कह दें, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी।



स्वास्थ्य-लाभार्थ भ्रमण करने के पूर्व स्थान के चुनाव का प्रश्न आता है। वैसे तो भारत में अनेक स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान हैं, परंतु दार्जिलिंग का अपना महत्त्व है। अतः दार्जिलिंग भारत के पार्वत्य प्रदेशों में सर्वोत्कृष्ट स्थान माना गया है। भारत के पहाड़ी स्थानों में दार्जिलिंग सबसे अधिक ऊँचाईवाला स्थान है। यहाँ की जलवायु श्रेष्ठ है। चहल-पहल निराली है। स्फूर्ति और साहस का यह भंडार है तथा तिब्बत का प्रवेश-द्वार है। पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित शिखाएँ यहाँ से सन्निकट हैं जो हवाई मार्ग से लगभग १०० मील ही हैं। उत्तर-पूर्व हिमालय पर चढ़ाई करनेवाले पर्वतारोही दलों का यह प्रमुख पड़ाव है। यहाँ का टाईगर हिल जहाँ से सूर्योदय के आश्चर्य-चकित कर देनेवाले मनोरम दृश्य दिखाई देते हैं, भारत ही नहीं, अपितु विश्वप्रसिद्ध स्थान है।

दार्जिलिंग में नेपाली, तिब्वती, भोटिया, सिक्किमी, आसामी, बंगाली, मारवाड़ी, बिहारी और विविध प्रदेशों के विभिन्न प्रकार के निवासियों के रहने के कारण सदैव नयापन ही रहता है। भ्रमणार्थ आनेवालों को हिमालय की रम्य कंदराओं के मध्य बसे हुए दार्जिलिंग से नई स्फूर्ति, नया उत्साह और नया जीवन मिलता है। कोलाहल से थककर आए हुए यात्री दार्जिलिंग के शांत वातावरण में पहुँचकर सुख-चैन पाते हैं। भारत के प्राकृतिक भूगभ-अन्वेषकों की खोज के अनुसार दार्जिलिंग-जैसा प्राकृतिक सौंदर्यपूर्ण प्रदेश भारत में अन्य नहीं है। दार्जिलिंग-भ्रमण के दिनों में जब दार्जिलिंग के माल रोड पर देश-देशांतर के संभ्रांत व्यक्तियों का संमेलन होता है और समीप ही हिमालय की बर्फीली चोटियों से शीतल बयार प्रफुल्लता का मधुर संदेश सुनाती है तथा गगन-चुंबिनी चोटियों पर क्रीड़ा करते हुए मेघ हवाई उड़ान भरते हैं, कभी भगवान भास्कर के मुखारविंद पर बादलों की झीनी-झीनी मलमली चद्दर छा जाती है, कभी मेघाच्छन्न व्योम से धीरे-धीरे नृत्य करती हुई नन्ही-नन्ही बूँदियाँ चुपके से आकर गले लग जाती हैं, तब मन-मयूर नाच उठता है, हृत्तंत्री के तार झंकृत हो उठते हैं, और, उस समय आह्लादित हृदय से सहसा यही निकलता है कि दार्जिलिंग, तू वास्तव में भारतीय पर्वतों की रानी है!

यहाँ के निवासियों में लताओं की-सी सुंदरता, पुष्पों की-सी निर्मलता और हवा-जैसी स्फूर्ति होती है। प्रकृति के हरियाले दामन पर सजी-धजी पुष्पमालाएँ नवागंतुकों का स्वागत करती हुई अपनी धीमी मुस्कुराहट-भरी मौन भाषा में यात्रियों को पुनः-पुनः दार्जिलिंग-भ्रमण का आमंत्रण देती रहती हैं। छिन में बादल, छिन में धूप, छिन में वर्षा—क्षण-क्षण रंग बदलती हुई प्रकृति नटी के चित्र-पट ही दार्जिलिंग की रामकहानी है।

दार्जिलिंग से कंचनजंघा की हिम-मंडित श्रेणियों का जो मनोहर दृश्य दिखाई देता है, उसे देखते-देखते दर्शक की आँखें भले ही थक जायँ, परंतु जी कभी नहीं भरता। जिसके मन में एक बार दार्जिलिंग की छवि बस जाती है, वह पुनः दार्जिलिंग आने को लालायित ही रहता है। यही दार्जिलिंग की विशेषता है।

बंगाल के तत्कालीन गवर्नर तथा भारत-सरकार के आज के गृहमंत्री डा० कैलासनाथजी काटजू ने कहा था कि मैं भारत के बहुत-से पार्वत्य प्रदेशों में घूमा हूँ, परंतु भारत के समस्त स्वास्थ्यवर्द्धक पार्वत्य प्रदेशों में से मुझे दार्जिलिंग ही सबसे उत्तम लगता है।

दार्जिलिंग-यात्रा का समय—दार्जिलिंग-भ्रमणार्थियों के लिए अप्रैल-मई और अक्टूबर-नवंबर का समय ही श्रेष्ठ है। दार्जिलिंग पश्चिम बंगाल प्रांत की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी है। इसलिए अप्रैल-मई में बंगाल के राज्यपाल यहाँ आते हैं और प्रादेशिक सरकार का कार्यालय भी यहीं चला आता है। अक्टूबर और नवंबर में हलकी-सी सर्दी के सुहावने दिन होते हैं। इन दिनों दार्जिलिंग नगर और समीपवर्ती स्थानों की सौंदर्यच्छटा स्वाभाविक तौर से निखरी रहती है। वर्फ से ढँकी हुई पर्वतमालाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। विविध भाँति के फूलों और तितलियों का आविर्भाव होता है। मंत्र-मुग्ध भँवरों की गूँज सुहाती है। जब यात्रियों की किलोल करती हुई रंगभरी टोलियाँ पास से गुजरती हैं तब सैर का आनंद द्विगुण हो जाता है। इन दिनों आकाश प्रायः साफ और मौसम अच्छा रहता है। दूर-दूर की दृश्यावलियाँ साफ दिखाई देती हैं। स्वास्थ्य के लिए यह मौसम अति सुखकर है। इन दिनों स्कूलों के खेल आदि होते हैं, फूलों की प्रदर्शनी होती है और स्थानीय लोग अनेक प्रकार के उत्सव मनाते हैं।

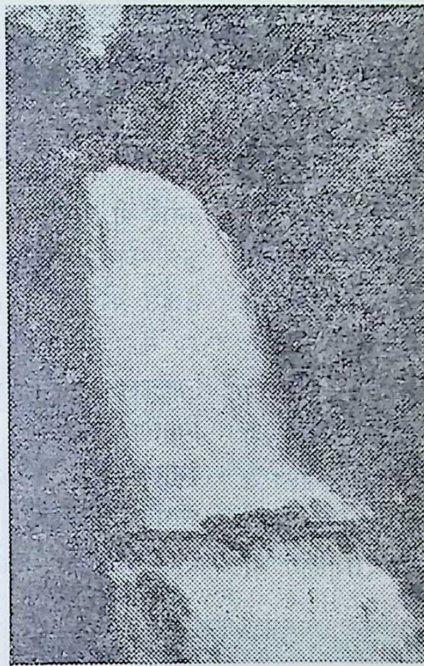
सैर करनेवालों के लिए—फुसफुस रोग, यकृत, प्लीहा, मलेरिया, काला ज्वर, स्नायु-दुर्बलता, बहुमूत्र इत्यादि बीमारीवाले रोगियों के लिए जलवायु उपकारी है। क्षयरोगियों के लिए भी अच्छा है। दार्जिलिंग, कलिंपोंग और करसियांग में टी० बी० के अस्पताल भी हैं। जो लोग दार्जिलिंग की सर्दी बर्दाश्त नहीं कर सकते, उनके लिए कलिंपोंग और करसियांग में रहना लाभदायक है। हृदय-रोग, श्वास, वातव्याधि, गठिया आदि के रोगियों के लिए दार्जिलिंग की जलवायु अच्छी नहीं है। अतः रोगियों को दार्जिलिंग-भ्रमण के पूर्व अच्छे चिकित्सक से सलाह करके ही आना चाहिए।

भ्रमणार्थियों को दार्जिलिंग आकर चुपचाप होटल या घर में नहीं बैठे रहना चाहिए। क्योंकि सब दिन एक ही जगह बैठे रहने से मन उदास हो जाता है और शरीर ढीला पड़ जाता है। इसलिए प्रातः और सायं कम-से-कम पाँच या छः मील अवश्य घूमना चाहिए। कच्ची सब्जियों में टमाटर और मटर अवश्य खाने चाहिए। ये दोनों चीजें बहुत स्वादिष्ट होती हैं और खून बढ़ाती हैं। सवेरे मक्खन की टिकिया और दूध लेकर दो तीन मील घूम आइए। दिन में टमाटर, खीरा, मटर खाइए; कभी-कभी आलू और मटर घी में भूनकर खाइए। शाम को फिर दो-तीन मील का चक्कर लगा आइए।

बार्छहील, जला पहाड़, घूमपहाड़ आदि स्थानों को घोड़े पर सवार होकर भी जा सकते हैं। प्रातः ही उठिए और फुर्ती से आवश्यक गर्म वस्त्र पहनकर मित्रमंडली के साथ सैर को निकल जाइए। आपका स्वास्थ्य चमक उठेगा। दार्जिलिंग से जाने को आपका दिल नहीं करेगा। ठंड से बचने के लिए गर्म वस्त्र जरूर पहन लेने चाहिए। अप्रैल-मई में प्रायः कुहासा छाया रहता है। कुहासे के समय भ्रमण करना स्वास्थ्य के लिए बहुत ही लाभदायक है। कुछ आदमियों को दार्जिलिंग की सर्दी से निमोनिया हो जाने का भय रहता है, परंतु दार्जिलिंग में उतना निमोनिया नहीं होता जितना कि तराई में होता है। सैर के दिनों में दार्जिलिंग के यात्री होटलों को पत्रों द्वारा पहले ही रिजर्व करा लेते हैं। इसलिए स्थान मिलना कठिन होता है। अतः दार्जिलिंग-भ्रमणार्थियों को यात्रा के पूर्व स्थान का प्रबंध कर लेना चाहिए।

दार्जिलिंग समुद्र की सतह से ६८१२ फुट से १२००० फुट तक की ऊँचाई पर बसा हुआ है। इसके उत्तर में सिक्किम और तिब्बत, दक्षिण में जिला जलपाइगुड़ी और बिहार का जिला पूर्णिया, पूर्व में भूटान और पश्चिम में नेपाल स्थित हैं। जिले का कुल क्षेत्रफल १६६४ वर्ग-मील है तथा सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या ४४५२६० है।

जिले की जनसंख्या का प्रायः ४० प्रतिशत भाग चाय-बगानों में काम करता है। साधारण लोग गरीब हैं तथा बहुत ही सस्ती मजूरी पर काम करते हैं। सैर के मौसम के दिनों में दार्जिलिंग नगर की आबादी प्रायः दुगुनी हो जाती है। देश-विदेशों से आए हुए भ्रमणार्थियों का चौरास्ते और माल रोड का सम्मेलन नई रौनक पैदा कर देता है।


करसियांग का पगलाझोरा

यहाँ पर रेलवे की छोटी लाइन चलती है। मार्च सन् १८७८ ई० में ई० बी० एस्० का उत्तर विभाग सारा (एक गाँव) से सिलिगुड़ी तक खुला हुआ था। तत्पश्चात् सन् १८८१ में डी० एच० आर० लाइन सिलिगुड़ी से दार्जिलिंग, कलिंपोंग और किशनगंज तक चालू हुई। इस लाइन का सिलिगुड़ी प्रारंभिक और दार्जिलिंग अंतिम स्टेशन है। आरंभ में कार्ट रोड का निर्माण किया गया। वर्षा अधिक होने से पहाड़ फिसल जाने क कारण जगह-जगह सड़कें टूट जाती थीं, जिससे प्रायः डेढ़ लाख रुपया सालाना खर्च होता था। सन् १८७८ में रेल बनाने की योजना रखी गई और सन् १८८० के अंत में निर्माण आरंभ हुआ तथा तिनधरिया तक यह लाइन बनकर तैयार हो गई। इसका उद्घाटन भारत के तत्कालीन प्रथम वायसराय श्री लार्ड लीटन ने किया। इसी साल यह लाइन करसियांग तक तैयार कर दी गई और सन् १८८१ में दार्जिलिंग तक ५१ मील का टुकड़ा २० लाख की लागत से तैयार कर दिया गया, परंतु वर्षा क दिनों में पहाड़ फिसल जाने के कारण प्रायः लाइन टूट जाती है, जिससे खर्च बढ़ता रहता है। सन् १९२० तक इसपर ४२ लाख रुपए खर्च हुए। इस रेलवे लाइन के आरंभ में ७ टन उठा सकनेवाला और ७ मील फी घंटा चलनेवाला इंजन था; परंतु अब उसकी शक्ति बढ़ा दी गई है। अब ३५ टन वजन उठाता है और १२ मील प्रति घंटा चलता है। २६ फुट लंबी एक खास बोगी भी लगती है जो यात्रियों के लिए विशेष आरामदायक है। सन् १९१४ में वर्कशाप खोला गया। यहाँ पर सब चीजें तैयार तथा मरम्मत की जाती हैं। केवल पहिए ही आयात किए जाते हैं। अब शायद चित्तरंजन के करखाने में बनने लगे।

सन् १८८७, १९३४ और १९५० के भूकंप में हुई भूमि-धसान के कारण बड़ी क्षति हुई, जिससे लाइन को पुनः ठीक करवाने में लाखों खर्चा हुआ। सन् १९५० की भूमि-धसान के पश्चात् गेलखोला-लाइन (कलिंपोंग) इतनी भयंकरता से टूटी कि वह लाइन अभी तक मरम्मत नहीं की जा सकी और आखिर उसे उठा ही देना पड़ा। सिलिगुड़ी-दार्जिलिंग-लाइन पर वर्षा के दिनों में करसियांग के पास पगलाझोरा क पागलपन से रेलवे लाइन को काफी क्षति पहुँचती है। १५ मई, १९५२ ई० में डी० एच० आर० को उत्तर-पूर्वी रेलवे में विलीन कर दिया गया और आज-कल उसका प्रधान कार्यालय पांडु, आसाम में है।

दार्जिलिंग से दृष्टिगोचर होनेवाली पर्वत-मालाओं के नाम तथा दूरी—

चोटी का नाम	ऊँचाई	दूरी
जानू (नेपाल)	२५३०४	४६ मील
कार्बस और कावरु	२५०१५	४० मील
कंचनजंघा	२८१५६	४५ मील
पांडीम	२२०१७	३६ मील
नरसिंह	१९१५०	३२ मील
डी० २	२२५२०	४६ मील

चिमीयुमो	२२३००	७० मील
डी० ३	७६२००	४६ मील
कांचनझाउ	२२५०६	६६ मील
डिल्कियारी	२३१३६	७२ मील
चमनगूँ	१७३२५	४३ मील
गिपमोची	१४५७८	४२ मील

दार्जिलिंग से द्रष्टव्य अन्य चोटियों की ऊँचाई—

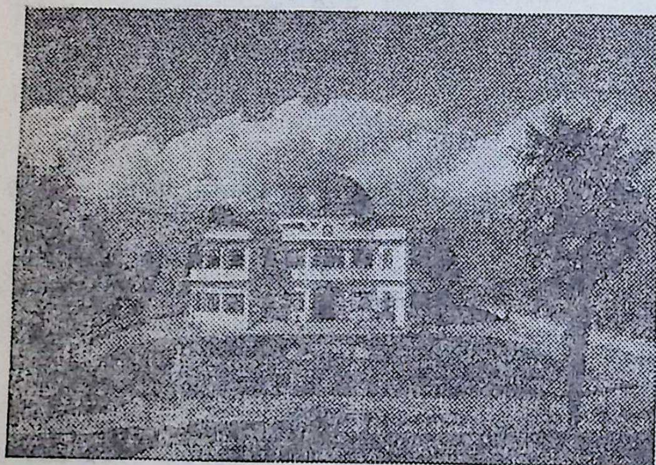
नाम	ऊँचाई	नाम	ऊँचाई
माउंट एवरेस्ट	२९००२ फुट	चोमोल्हारी	२३९४४ फुट
नारीम	१७५७३ फुट	सिंहलीला	१२१२६ फुट
फालूत	११८११ फुट	मैनोंग	१०६२६ फुट
तोंगला	१००७४ फुट	सेंदूकफूल	११९२९ फुट
साबुरकुम	११६३६ फुट	लमफरम	१२८२७ फुट
किरसोंग	१२२५८ फुट	लिंगटू	१२६१२ फुट

दार्जिलिंग के दर्शनीय स्थान—दार्जिलिंग का एक-एक स्थान प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण है। कंचनजंघा के उत्तुंग पर्वत-शिखरों की अद्भुत शृंखलाओं का विचित्र दृश्य प्रत्येक स्थान से अनेक प्रकार के विभिन्न रूपों में देखा जाता है। भारत के उत्तर में हिमालय की सैकड़ों मील लंबी हिम-मंडित पंक्ति प्रहरी के रूप में खड़ी है, किंतु दार्जिलिंग की दृष्टि से इस गिरिशृंखला से कंचनजंघा का विशेष महत्त्व है। अपने अप्रतिम सौंदर्य के लिए यह विश्व-विख्यात चोटी है। दार्जिलिंग का कण-कण इन्हीं निकटवर्ती शुभ्र हिमावलियों से आलोकित है। नवागंतुकों के लिए दर्जिलिंग की अनेक वस्तुएँ और सैकड़ों स्थान दार्शनीय हैं जिनमें निम्नलिखित के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

१ चौरास्ता माल रोड, २ ब्रोबोर्न पार्क, ३ महाकाल, ४ विक्टोरिया पार्क, ५ अजायबघर, ६ लेबोंग, ७ बर्छ हिल, ८ विक्टोरिया वाटरफाल्स, ९ बोटानिकल गार्डन, १० घूम मोनस्ट्री, ११ घूम रोक, १२ सिंचल लेक, १३ टाईगर हिल, १४ धीरधाम-मंदिर, १५ रज्जु-मार्ग, १६ जला पहाड़, १७ कटा पहाड़, १८ सिद्रावांग, १९ बतासिया लूप, २० तेंजिंग-निवास, २१ चित्तरंजन-स्मारक, २२ कैवंडर्स डेयरी फर्म, २३ हैप्पीवली चाय-बगान।

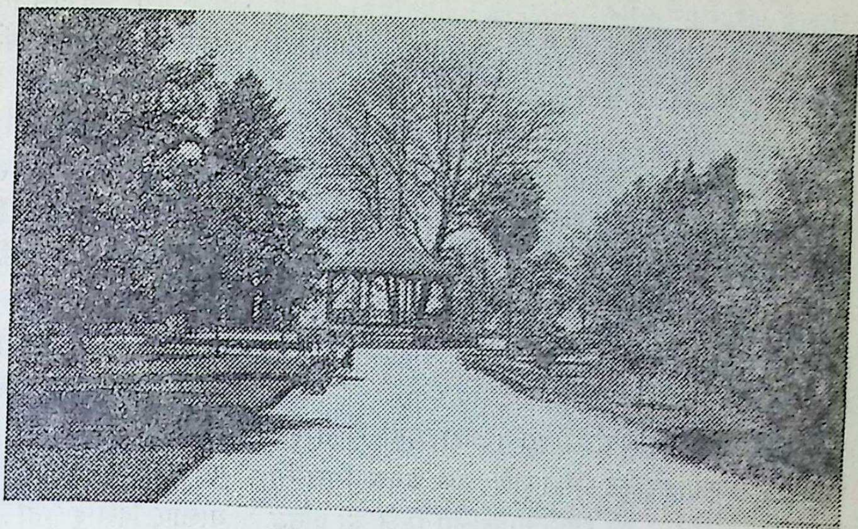
राजभवन—माल रोड पर, बर्छ हिल जाने के रास्ते में, यह विशाल भवन स्थित है। सन् १८५९ में यहीं पर एक अँगरेज ने आशानगर बसाने की योजना बनाई थी, परंतु वह अधूरी रही। इसके बाद इसे महाराजा कुचबिहार ने खरीद लिया और तत्पश्चात् भारत-सरकार ने इसे अपने अधिकार में लेकर यहाँ ३१ अक्टूबर, १९११ ई० में राजभवन बनवा दिया। सन् १९३४ के भूकंप में यह बिलकुल नष्ट हो गया था। परंतु सरकार ने इसका पुनः निर्माण करवाया। दार्जिलिंग के मकानों में यह सर्वश्रेष्ठ इमारत है। इसका नीले रंग का आकाशी गुंबज अत्यंत सुंदर है और मेघाच्छन्न आकाश के नीचे इसके पीछे की बर्फीली चोटियाँ अत्यंत मनमोहक प्रतीत होती हैं। इसी राज-प्रासाद के आकार का राजबाड़ी में निर्मित बर्दवान-महाराजा का राजभवन भी है।

विक्टोरिया पार्क—माल रोड के घेरे में यह सुंदर पार्क है। इसमें अनेक प्रकार के सुंदर फूल हैं। बालकों के झूलने के लिए दो झूले हैं और यात्रियों के विश्राम करने के लिए भी कई बेंचें रखी हुई हैं। यहाँ पर दशहरे के दिनों में स्थानीय नगरपालिका की ओर से मेला लगता है, जो प्रायः एक पखवारे तक चलता है। इसी पार्क के सामने एंडरूजचर्च और ऊपर जीमखाना क्लब है। स्त्रियों, बच्चों और अधिक न घूम सकनेवाले सैलानियों के लिए माल रोड के घेरे में यह सुंदर पार्क है। यहाँ पर पानी के कई



यह राजभवन नहीं है। राजभवन के आकार का बना हुआ राजबाड़ी में स्थित महाराज बर्दवान का राजभवन है।

नल भी लगे हुए हैं। यात्रियों के लिए घास पर चलने तथा फूल आदि तोड़ने की सख्त मनाही है।



विक्टोरिया पार्क

महाकाल—माल रोड के ऊपर, समुद्र की सतह से ७१६८ फुट की ऊँचाई पर, यह प्रसिद्ध देवस्थान स्थित है। यहाँ से दार्जिलिंग नगर, जला पहाड़, कटा पहाड़, लेबोंग कैंटोनमेंट और नेपाल तथा सिक्किम की सीमाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। यह हिंदू और बौद्ध लोगों का परम माननीय धर्मस्थान है। केवल दार्जिलिंग नगर ही नहीं, अपितु समूचे दार्जिलिंग जिले की जनता यहाँ पर प्रायः मंगलवार और शनिवार को पूजा करती है। जिसे महाकाल कहा जाता है, वह एक स्वाभाविक उत्पन्न शिलाखंड है। दूर-दूर की बस्तियों और शहरों से लोग यहाँ आते हैं, कपूर तथा घी का दीपक जलाकर धूप चढ़ाते हैं और तिलक लेकर जाते हैं। भ्रमणार्थियों के लिए यह एक सुंदर द्रष्टव्य स्थान है।

यहाँ पर पूजा आदि का स्थान नेपाली असमर्थ-सहायक समिति, दार्जिलिंग द्वारा २७ फरवरी, सन् १६२६, शनिवार, तदनुसार, फाल्गुन शुक्ला १५, सं० १६८२ को बनवाया गया था। इसको दार्जिलिंग तथा इसके निकटवर्ती स्थानों की जनता पूजनीय देवस्थान मानती है। इसकी ऊँचाई बाजार लेवल से ७०० फुट है। यहाँ पर लंबे-लंबे बाँसों में, तिब्बती और भोटिया भाषा में लिखे मंत्रों के साथ, ध्वजाएँ टँगी हुई हैं। कितने ही लामा लोग यहाँ पर सफेद, लाल, पीली, नीली और हरी ध्वजाएँ चढ़ाते रहते हैं। भोटिया और नेपाली इसे विशेष कर पूजते हैं। इसके प्रवेश-द्वार पर पीतल की बनी हुई शेरों की दो मूर्त्तियाँ हैं।

यहाँ से सूर्योदय और सूर्यास्त के विचित्र दृश्य भी दिखाई देते हैं। जो यात्री टाईगर हिल की कड़कड़ाती सर्दी को सहन नहीं कर सकते, वे यहाँ से सूर्योदय का दृश्य देख सकते हैं। यहाँ से नगाधिराज कंचनजंघा की हिमाच्छादित शिखाओं का बहुत ही मनोहर दृश्य दिखाई देता है। रात्रि के समय दार्जिलिंग नगर की बस्तियों का मनभावना दृश्य देखते ही बनता है। शहर की ओर नजर करने से ऐसा प्रतीत होता है कि, मानों, ताराओं का समूह भूमि पर आराम करने के लिए चंदा मामा के स्वागत की तैयारियाँ कर रहा हो। शहर का दृश्य तो ऐसा प्रतीत होता है कि, मानों, सिलसिलेवार बसाया गया हो। अपूर्व छवि और विलक्षणता का यहाँ आकर गहरा संसर्ग हो जाता है। यहाँ पर एक बँगला है। उसमें नगरपालिका की ओर से एक बक्स रखा हुआ है, जिसमें पर्वतमालाओं का नक्शा और ऊँचाई आदि दी हुई है। इसकी देखभाल के लिए यहाँ एक चपरासी भी नियत है। यहाँ से लेबोंग का रेस ग्राउंड भी साफ-साफ दिखाई देता है। यदि दुर्बिन लगाकर देखा जाय तो प्रकृति नटी की मनोहर छवियों के और भी सुंदर एवं विचित्र दृश्य दिखाई देंगे। प्रातः और रात्रि के समय यहाँ से अभूतपूर्व दृश्य दिखाई देते हैं। इसके समीप ही दौरजे लामा की, जिससे दार्जिलिंग का नाम संबंध रखता है, समाधि है और काली माई की भी एक प्रतिमा है। कुछ ही नीचे हनुमानजी की एक मूर्ति स्थापित है। इसके नजदीक ही, थोड़ा नीचे, एक सुंदर गोलाकार बँगला है। जो यात्री इतनी ऊँचाई पर चढ़कर आते हैं, उनका थक जाना स्वाभाविक है। यह विशेष कर उन्हीं के विश्राम के लिए बनाया गया है। यहाँ पानी का एक नल भी है। इस बँगले के बाईं ओर, ६५ पैड़ी नीचे, एक गुफा है यह एक विचित्र

स्थान है। यहाँ पर करीब १० या १२ फुट ऊँचा पहाड़ झुका हुआ है और वह टूट पड़ने को तैयार-सा प्रतीत होता है। यह पहाड़ बीच से फटा हुआ है और बड़ा डरावना दीखता है। परंतु यह वर्षों से इसी तरह डटा हुआ है। कहा जाता है कि यह गुफा दार्जिलिंग से सिलिगुड़ी तक या इससे भी आगे तक चली गई है। कहते हैं कि एक दल इसकी खोज करने भी गया था, परंतु लौटकर नहीं आया। जो लोग महाकाल की पूजा करने आते हैं, वे हनुमानजी और गुफा को भी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं तथा पुष्प चढ़ाते हैं।

भिक्षुओं की टोलियाँ भी प्रायः यहाँ बैठी रहती हैं। माल रोड से लगाकर ठेठ महाकाल तक अनेक भिखमंगे मिलते हैं। महाकाल का स्थान दार्जिलिंग जिले का प्रसिद्ध और माननीय देवस्थान है। सैकड़ों यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते हैं। स्थानीय नगरपालिका को चाहिए कि यात्रियों की सुविधा के लिए कुछ और बँगले बनवा दे, जिससे वर्षा के समय यात्री आराम से ठहर सकें।

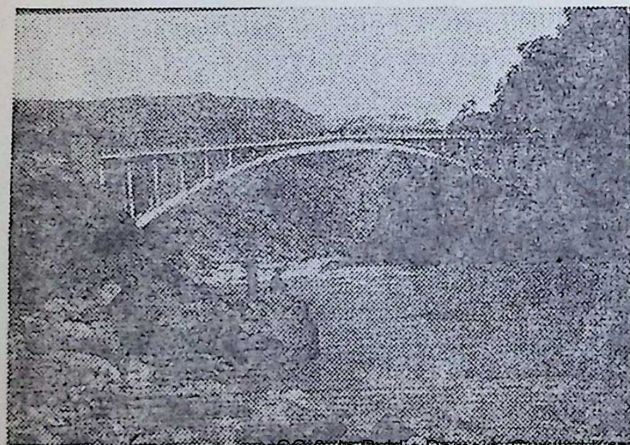
अजायबघर (नेचुरल हिस्ट्री म्युजियम) — विक्टोरिया पार्क के नीचे ही यह नेचुरल हिस्ट्री म्युजियम है। इसकी स्थापना सन् १९१५ में हुई। इसे तैयार करने में कुल ५०,००० रु० की लागत लगी थी। यहाँ पर मृत शेर, जंगली भैंसे, गरुड़, गैंडे के सिर, अनेक प्रकार के साँप, विविध भाँति की चिड़ियाँ, चूहे, लोमड़ी, तितली, पिचली, कीड़े आदि हैं। पर्वतों की कंदराओं में चिड़ियाँ किस प्रकार रहती हैं, इसका इससे सुंदर आभास होता है। न्यौला, शेर, भेड़िया आदि अनेक मृत जानवरों का सुंदर संग्रह है। भ्रमणार्थ माल रोड की सैर करते हुए इसे देख सकते हैं। दो-तीन घंटे आराम से बिताने और पर्वतों में रहनेवाली चिड़ियों तथा पक्षिवर्ग की जानकारी के लिए अच्छा संग्रह है। यह ९ से १ और ३ से ५ बजे तक खुला रहता है तथा रविवार को बंद रहता है। इसमें जाने के लिए टिकट नहीं लगता।

बार्छ हिल – ऊँचाई ६८७४ फुट। राजभवन से अनुमानतः चार फर्लांग की दूरी पर यह अवस्थित है। सुंदर उपत्यकाओं से घिरा हुआ यह एक प्राकृतिक रमणीय स्थान है। सैलानी लोग प्रायः यहाँ पर सैर करने को आते ही रहते हैं। पिकनिक पार्टियों के लिए दार्जिलिंग में यह सर्वोत्तम स्थान है। यहाँ से अनेक हिम-मंडित पर्वत-मालाएँ दिखाई देती हैं। सैलानी टोलियाँ कभी-कभी बनभात (खाना) भी यहीं बनाती हैं, जिसके लिए अलग रसोईघर बना हुआ है। छात्रों और छात्राओं के दल यहाँ पर विशेष कर सैर करने आते हैं। यहाँ से दार्जिलिंग का दृश्य बहुत ही सुंदर दिखाई देता है। खेलने के लिए कई मैदान हैं और झूला भी पड़ा हुआ है। यहाँ पर जाने के कई रास्ते हैं। जल्दी जानेवाला सीधी चढ़ाई के रास्ते जल्दी पहुँच सकता है।

यहाँ पर जाने के लिए चौरास्ते से घोड़े भी लिए जा सकते हैं जो यहाँ से लगभग डेढ़ मील पड़ता है। ऊपर एक बँगला है जिसमें यात्रियों के विश्राम के लिए बेंचें रखी हुई हैं।

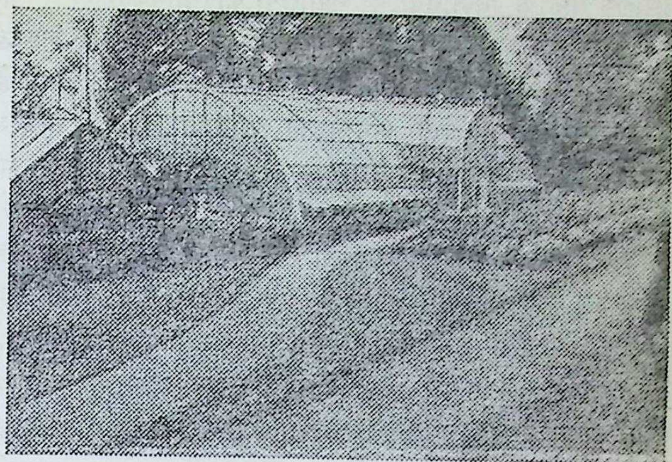
विक्टोरिया वाटर फाल्स— यह जलप्रपात दार्जिलिंग के प्रसिद्ध झरनों में से एक है। यहाँ पर लगभग ६० फुट की ऊँचाई से पानी गिरता है। यहाँ सिमेंट और लोहे का सुंदर धनुषाकार पुल बना हुआ है। इसकी लंबाई १३४ फुट १ इंच, चौड़ाई १२ फुट ५ इंच और ऊँचाई ५० फुट ९ इंच है तथा लगभग सवा तीन फुट ऊँची रेलिंग लगी हुई है।

वर्षा के दिनों में इसकी शोभा देखते ही बनती है। शहर से करीब एक मील की दूरी पर और बाजार-लेबल से २५० फुट नीचे में यह सुंदर झरना अवस्थित है। इसके समीप ही गवर्मेंट हाई स्कूल और रामकृष्ण-वेदांत-आश्रम है। इसके उत्तर की ओर यहाँ का प्रसिद्ध उद्यान बोटेनिकल गार्डन है। शीत ऋतु में धारा का प्रवाह कम हो जाता है। इसके



तिस्ता नदी पर बना अंडरसन पुल

आगे 'टाउन एंड' नाम की घोष महोदय की एक कोठी है। इसमें पहाड़ों पर पैदा होनेवाले भाँति-भाँति के फूल बेचे जाते हैं। इससे करीब दो मील नीचे तराई में यह झरना वर्षा के दिनों में देखने योग्य होता है। दार्जिलिंग नगर के समीप यही एक सुंदर झरना है जिसे भ्रमणार्थी सहज ही देख सकते हैं। आवागमन की कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ की नगरपालिका ने यह पुल बनवाया है।


लायड बोटानिक गार्डन

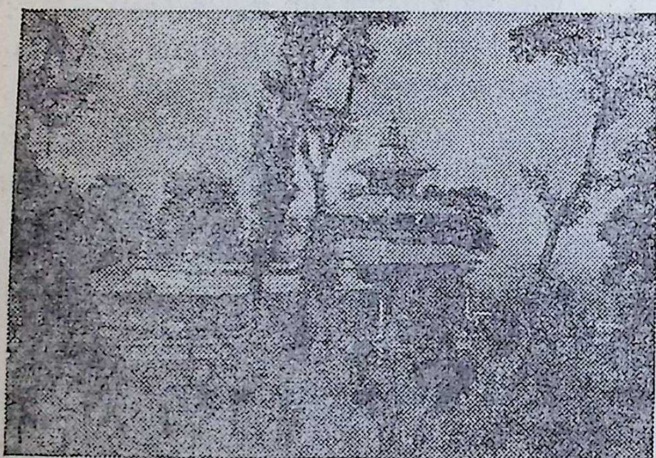
लायड बोटानिक गार्डन—दार्जिलिंग के दर्शनीय स्थानों में लायड बोटानिक गार्डन का नाम उल्लेखनीय है। यह सरकारी बगीचा है, जिसका नाम बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल श्री लायड जार्ज के नाम पर ही रखा गया था। इस बगीचे में विविध प्रकार के फूलों, पत्तियों और वनस्पतियों के वृक्ष लगाए गए हैं। यहाँ पर देश-देशांतरों के भाँति-भाँति के फूल-पत्तियों और नाना प्रकार के वनस्पति-वृक्षों का सुंदर संग्रह है। प्रायः प्रमुख वृक्षों के नीचे अँगरेजी भाषा में उनके नाम और जन्म-स्थान लोहे की छोटी-छोटी पत्तियों पर लिखे हुए हैं। सजावट के लिए पत्थरों से विशेष प्रकार के आकर्षक दृश्य बनाए गए हैं, जिनपर नाना प्रकार के फूल लगे हुए हैं। यहाँ पर एक छोटा सुंदर पुल है, और है एक सुहावना-सा तालाब, जिसमें कमल के फूल शोभा पाते हैं। काँच का एक विशाल गृह भी है, जिसके अंदर नए किस्म के अनेक फूलों और पत्तियों को बहुत ही सुंदर ढंग से सजाकर रखा गया है। पानी के हौज़ में लाल रंग की मछलियाँ फूलों की शोभा बढ़ाती रहती हैं। यह एक बहुत ही सुंदर तथा लंबा-चौड़ा बगीचा है। यात्रियों के विश्राम के लिए स्थान-स्थान पर बेंचें रखी हुई हैं। कई बँगले भी बने हुए हैं। इसमें अनेक छोटी-छोटी घुमावदार सड़कें हैं जिनके नाम गण्य-मान्य व्यक्तियों के नाम पर रखे हुए हैं। बगीचे की सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके प्रबंधकर्ता का कार्यालय भी यहीं पर है। गैंग रोड और बरहुल रोड के समीप ही पत्थर की दीवार पर एक लंबे और दो-तीन छोटे-छोटे नंगे पाँवों के चिह्न हैं। कुछ लोग इन्हें भगवान राम, सीता और लक्ष्मण के चरण-चिह्न मानते हैं तथा यहाँ पर फूल-पैसे भी चढ़ाते हैं। यह बगीचा मोटर स्टैंड के समीप ही चौदह एकड़ भूमि पर स्थित है और भ्रमणार्थियों के मनोरंजन एवं सैर का एक निकटवर्ती सुंदर स्थान है।

जला पहाड़—दार्जिलिंग से चार मील दूर तथा लगभग १००० फुट की ऊँचाई पर जला पहाड़ अवस्थित है। दार्जिलिंग जिले का यह सुंदरतम सैनिक निवास है। यहाँ पर बने हुए सुंदर-सुंदर मकानों ने इसकी शोभा को और भी बढ़ा दिया है। यहाँ से दार्जिलिंग नगर का दृश्य बहुत ही सुंदर दीखता है तथा रात के समय बिजली-बत्तियों की शोभा दर्शनीय होती है। सैनिक निवास-गृहों के समीप जाना वर्जित है। यहाँ का 'राम-मंदिर' दार्जिलिंग जिले में अपने ढंग का श्रेष्ठ मंदिर है। यहाँ पर पुस्तकालय, वाचनालय तथा एक जला पहाड़-कैंटोनमेंट प्राइमरी स्कूल भी है। यह भारत-सरकार और बंगाल-सरकार की सहायता से संचालित है।

जला पहाड़ के ऊपर ही 'कटा पहाड़' है। यहाँ पर गुर्खा सैनिक टुकड़ियाँ रहती हैं। यह भी एक अत्यंत रमणीय स्थान है। यहाँ भ्रमण के पूर्व सैनिक-रक्षित स्थान की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिए।

धीरधाम-शिवालय—दार्जिलिंग रेलवे स्टेशन के निकट ही धीरधाम नाम का भगवान शिव का एक विशाल मंदिर है। इसकी बनावट ब्रह्मदेशीय तिमंजले पैगोडा के आकार की है। इसके ऊपर सोने का एक सुंदर कलश है। इस मंदिर-जैसा भव्य और चित्ताकर्षक नेपाली ढंग का मंदिर दार्जिलिंग जिले में दूसरा नहीं है।

दार्जिलिंग प्रांत के निवासियों में नेपालियों की अधिकता है। जिले में इसके पूर्व कोई ऐसा मंदिर न था जहाँ नेपाली भाई अन्य प्रांतवासी हिंदुओं के साथ हिलमिलकर पाठ-पूजा कर सकें। इसी अभाव को दृष्टिगत करके स्थानीय नेपाली बंधुओं ने संसार के एकमात्र स्वाधीन हिंदू राज्य, नेपाल का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। नेपाल-राज्य भगवान शिव का बड़ा भक्त है। अतः सन् १६३६ की गर्मियों में लगभग एक लाख रुपये की लागत से नेपाल के तत्कालीन हिंदू-कुलभूषण अधिपति महोदय ने इस सुंदर मंदिर को बनवाकर तैयार करवाया। इसका उद्घाटन नेपाल के तत्कालीन प्रधान मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र हिज एक्सिलेन्सी कमांडिंग जनरल श्री शमशेर बहादुर राणाजी के कर-कमलों द्वारा हुआ। इस महोत्सव में सम्मिलित होकर बंगाल के राज्यपाल तथा सिक्किम के महाराजा-सरीखे महानुभावों ने भी हिंदू-धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। दार्जिलिंग के इतिहास में शिव-पूजन का यह महोत्सव अभूतपूर्व था। यहाँ प्रातः और सायं दार्जिलिंग आनेवाले हिंदू यात्रियों की भीड़ लगी रहती है। इस मंदिर के अंदर की प्रस्तर-मूर्तियाँ काठमांडू (नेपाल) के प्रसिद्ध शिवालय पशुपतिनाथ के मंदिर-जैसी हैं। सहस्रों लोग प्रातः और सायं यहाँ शीश नवाने आते हैं। यहाँ प्रतिदिन हरिकीर्तन होता है। यहाँ से दार्जिलिंग नगर तथा कंचनजंघा की हिममंडित चोटियों के सुंदर दृश्य दिखाई देते हैं।



धीरधाम-मंदिर

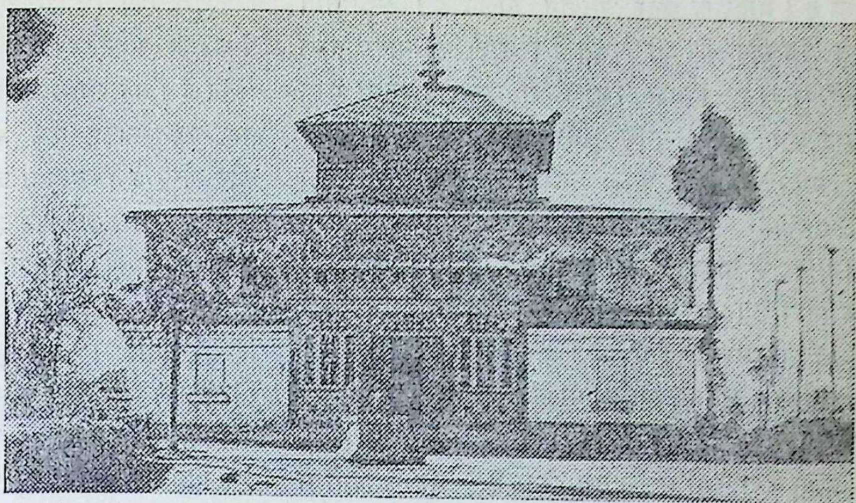
सिंचल लेक—सिंचल लेक दार्जिलिंग और उसके निकटवर्ती स्थानों को पानी पहुँचानेवाले रम्य जलागार का नाम है। यह प्राकृतिक सौंदर्य का जल-भंडार दार्जिलिंग से ६ मील की दूरी तथा ७४४५ फुट की ऊँचाई पर हरि-भरी उपत्यकाओं के मध्य अवस्थित है। पिकनिक पार्टियों के लिए दार्जिलिंग जिले में यह सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। दार्जिलिंग से जोड़ बँगला और जोड़ बँगला से पुरानी फौजी सड़क होकर जाना पड़ता है। यहाँ पर जाने के पूर्व दार्जिलिंग-नगरपालिका के इंजीनियर से आज्ञापत्र प्राप्त कर लेना आवश्यक है। नगरपालिका से प्रवेशपत्र निःशुल्क ही प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ से एक सीधी सड़क करसियांग तक चली जाती है, जिसपर केवल फौजी मोटरें ही आ-जा सकती हैं।

सिंचल लेक की प्राकृतिक छटा अद्भुत है जो भ्रमणार्थियों के मन को मोह लेती है। जो भ्रमणार्थी यहाँ आते हैं, वे पूरा दिन यहीं पर हँसी-खुशी से बिताकर जाते हैं। प्राकृतिक छटाओं के भव्य स्रोतों के संगम पर फोटो लेने का भी अति भावना दृश्य है। चारों ओर की रमणीयता से युक्त प्रकृति नटी के क्रीडांगण में यात्री स्वर्गीय आनंद में विभोर हो जाते हैं। यहाँ से जाने को उनका जी नहीं करता। चारों ओर दौड़-धूप और सैर-सपाटे में मस्त यात्री खाते-पीते भले ही थक जायँ, परंतु मन नहीं भरता। दार्जिलिंग-दर्शनार्थियों को सिंचल लेक की सैर अवश्य करनी चाहिए।

दार्जिलिंग के बसने से पूर्व यहाँ एक छोटी-सी झील थी जहाँ कई रम्य स्रोतों का संगम होता था। दार्जिलिंग नगरपालिका की ओर से दार्जिलिग नगर तथा अन्य समीपवर्ती स्थानों को जल देने की व्यवस्था के लिए मि० मोंटो ने इस प्राकृतिक जलागार का पता लगाया और १६०० ई० में यहाँ पर नौर्थ लेक नाम से एक छोटी-सी झील बना दी। सन् १६०८ में प्रस्तुत झील से दार्जिलिंग जिले को जल वितरित किया गया। १६३२ ई० में अन्य तीन छोटी-छोटी झीलें बनाई गईं जिनका उद्घाटन २८ फरवरी, १६३२ को बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल महोदय ने किया। नया फिल्टर हाउस सन् १९४१ में बनाया गया जहाँ से पानी शुद्ध करके भेजा जाता है। दिसंबर से मई तक प्रायः पानी की कमी रहती है। उन दिनों समीप के

खंखोला पंपिंग स्टेशन से, जोकि जोड़बँगला के पास है, पानी चढ़ाया जाता है। पहाड़ों के मध्य बसा होने पर भी दार्जिलिंग में कई बार पानी के लिए हाहाकार मच जाता है। सैर के मौसम में यहाँ से प्रायः नौ लाख गैलन पानी प्रतिदिन भेजा जाता है।

आरंभ में यहाँ पर चार छोटे-छोटे हौज हैं, जिनमें पहाड़ से आनेवाले पानी के बालू, रेत आदि छँटते हैं। अंत के हौज से साफ पानी साढ़े नौ इंच चौड़े पाइपों द्वारा दो बड़े-बड़े तालाबों को जाता है। यहाँ पर पहाड़ी झरनों से प्रायः ५४००० गैलन पानी प्रति घंटा के हिसाब से आता है। उत्तरी तालाब की गहराई साढ़े २५ फुट और गोलाई १५७५ वर्गफुट है। इसमें दो करोड़ गैलन पानी जमा रह सकता है। पूर्वी तालाब की गहराई २६ फुट और गोलाई १३६५ वर्गफुट है। इसमें एक करोड़ ३० लाख गैलन पानी जमा रह सकता है। इन तालाबों में से पानी फिल्टर हाउस में पहुँचता है और वहाँ से विशुद्ध होकर विभिन्न स्थानों को जाता है। यहाँ का पानी अत्यंत स्वच्छ है।



धूम मौनास्ट्री का बौद्ध मंदिर

धूम मौनास्ट्री—धूम स्टेशन से थोड़ी ही दूर ऊपर दार्जिलिंग जिले का यह प्रसिद्ध बौद्ध विहार है। इसमें भगवान गौतम बुद्ध की लगभग १५ फुट ऊँची एक अत्यंत विशाल मूर्ति है। इसके माथे में एक बड़ा हीरा शोभित है। दार्जिलिंग ही नहीं, दूर-दूर के बौद्ध विहारों में इतनी विशाल प्रतिमा नहीं है। भगवान बुद्ध के २४ अवतारों के अतिरिक्त अवतारी लामाओं और कालिदास तथा विक्रमादित्य के समसामयिक दीपंकर, श्रीज्ञान और नागार्जुन एवं तारा देवी तथा प्रज्ञापारमिता देवी की मूर्तियाँ भी हैं। कितनी ही मूर्तियों पर सोने का काम है जो काठ की शीशेदार आलमारियों में सुशोभित हैं। चाँदी, पीतल और ताँबे की भी अनेक मूर्तियाँ हैं। दीवारों पर निर्मित सुंदर तैलचित्र लामाओं के हस्त-कौशल का दिग्दर्शन कराते हैं। चित्रकारी में निपुण लामाओं की यह कला प्रशंसनीय है। मंदिर में रखी एक बड़ी आलमारी में सैकड़ों खाने हैं जिनमें हस्तलिखित तथा काठ के ठप्पे से छपे तिब्बत भाषा के सैकड़ों ग्रंथ शोभायमान हैं। तिब्बती धर्मग्रंथों में श्रेष्ठ 'कंग्युर' और 'तेंजूर' नाम के ग्रंथ भी यहाँ हैं। लामाओं के लिए पूजा करने के विशेष स्थान बने हुए हैं। लामा लोग इनपर बैठकर पूजा करते हैं तथा सत्संग होता है। तिब्बती ढंग के विशेष प्रकार के लंबे-लंबे बिगुलनुमा बाजे और ढोल भी यहाँ रखे हुए हैं, जिन्हें विशेष पर्व-त्योहार आदि अवसरों पर बरता जाता है। मंदिर के अंदर, पीतल का, लगभग मन भर तैल आ जाय—इतना बड़ा, एक दीपक है, जिसमें नारियल का तेल भरा रहता है और आठों याम दीपक की अखंड ज्योति जलती रहती है तथा सुगंधित धूप की सुगंध रहती है। धार्मिक विचार के भक्त जन यहाँ पर प्रतिदिन अधिक-से-अधिक दीपक जलाते हैं। पर्व-त्योहार आदि शुभ दिवसों पर तो हजारों दीपकों की जगमगाहट से मंदिर प्रदीप्त हो उठता है। उस समय की शोभा देखते ही बनती है। कितने ही लामा लोग दरवाजे पर आसन लगाए माला जपने के साथ-साथ रूई की बत्तियाँ भी बनाते रहते हैं। मंदिर में एक बहुत बड़ा घंटा भी रखा हुआ है।

मंदिर के भीतर की प्रतिच्छवि लेने के लिए दस रुपया देने पर स्वीकृति मिल सकती है। बाहर से प्रतिच्छवि लेने पर यह प्रतिबंध नहीं है। मंदिर के बाहर दाएँ-बाएँ मणियाँ अर्थात् धर्मचक्र लगे हुए हैं, जिन्हें घुमाना धर्म माना

जाता है। मंदिर के अंदर धूम्रपान वर्जित है। इसे 'यींगा छावे विग मौनास्ट्री' भी कहते हैं। मंदिर के बाहर चारों कोनों पर हाथ का पक्का रंग किया हुआ है तथा भैरव प्रभृति देवताओं की अनेक मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

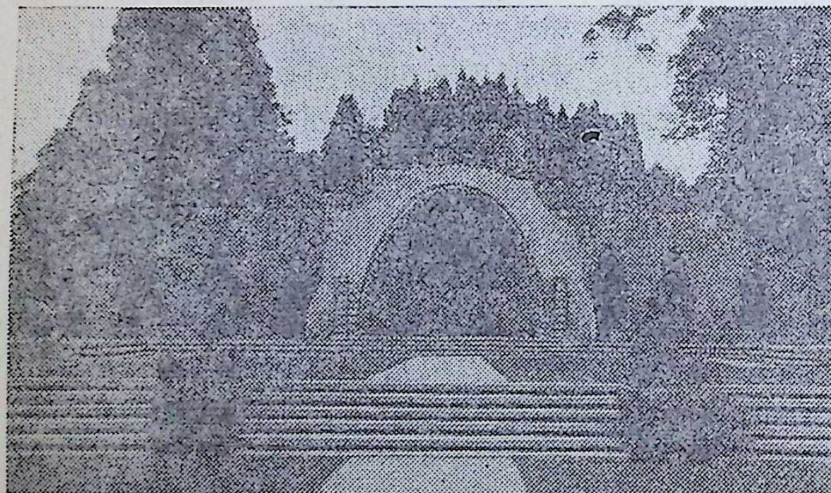
मंदिर के पास ही एक सत्संग-भवन तथा एक छोटा देवस्थान और भी है। यहाँ पर लामा लोग पूजा करते हैं। मंदिर के आहाते में, पीछे की ओर, तिब्बती भाषा का एक स्कूल है। इसे सरकारी सहायता भी प्राप्त है। इसमें तिब्बती बालक-बालिकाएँ पढ़ते हैं।

ज्येष्ठ-पूर्णिमा के अवसर पर तीन दिनों का अष्टम व्रत रखा जाता है। मंदिर-प्रवेश के पूर्व दाईं ओर एक नया-सा मंदिर है। इसी में सत्संग होता है। व्रत के दिनों में उपवास रखनेवाले स्त्री-पुरुष यहीं पर भजन-कीर्तन करते हैं। लामा लोग प्रवचन करते हैं। अवसर-अवसर पर प्रत्येक श्रोता को २५ वार शीश नवाना पड़ता है। नतमस्तक होकर प्रणाम करने की विशेष रीति है। धर्मगुरुओं की आज्ञा का पालन तिब्बती लोक-जीवन में महत्त्वपूर्ण है।

तिब्बती धर्म-प्रसार एवं भगवान् गौतम बुद्ध की विशाल प्रतिमा के कारण धूम का यह बौद्ध विहार जिले भर में प्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ का प्रथम पुजारी अवतारी लामा बताया जाता है। भ्रमणार्थियों को यह विहार देखने का अवसर नहीं चूकना चाहिए। यहाँ पर यात्रियों के विश्राम के लिए एक धर्मशाला भी बनी हुई है।

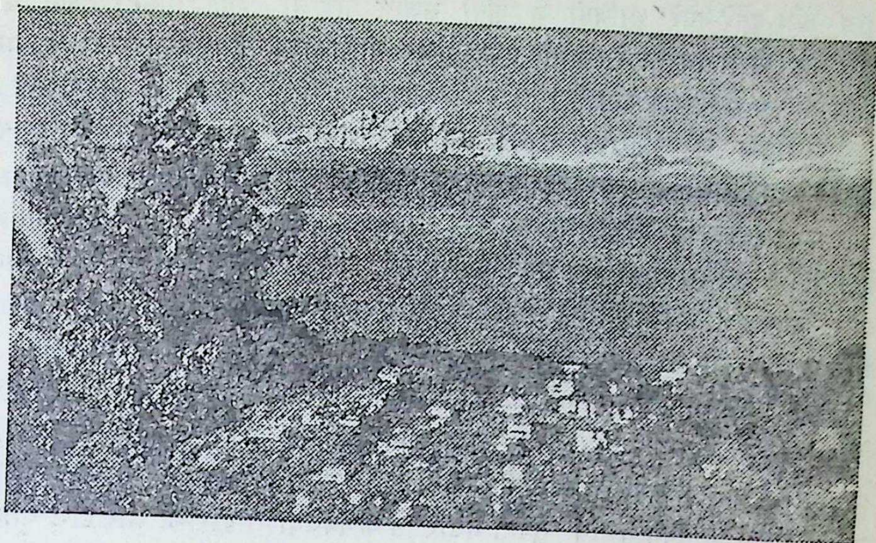
धूम रोक (दूरपीन डंडा—धूमराक, धूम स्टेशन के निकट ही समुद्र-तल से ७६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह स्थान दार्जिलिंग से साढ़े तीन मील दूर है। यह बहुत बड़ा एक पत्थर है जो काफी लंबा, चौड़ा और ऊँचा है। बताया जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य-काल में अमेरिका ने इसे खरीदना चाहा था, परंतु अँगरेजों ने दिया नहीं। पिकनिक पार्टियों के लिए यह अत्यंत रमणीय स्थान है तथा स्वच्छ दिनों में इसकी चोटी से सिलिगुड़ी साफ दिखाई देती है। वन्य वृक्षों और पुष्पलताओं से इसका सौंदर्य और भी बढ़ जाता है। यहाँ पर जोंक होते हैं। यात्रियों को सावधान रहना चाहिए। शीपना नाम का एक पौधा भी होता है, जिसके पत्तों के लगने से शरीर में जलन-सी होने लगती है। उससे भी बचना चाहिए।

रज्जु-मार्ग (रोप वे)—दार्जिलिंग के चाय-बगानों में तेल के इंजिन और बिजली तथा जल-शक्ति से चलनेवाले लगभग १ दर्जन रज्जु-मार्ग हैं, जिनके द्वारा बगानों से चाय, शीघ्र और सुलभता से, दूसरी जगह भेजने के अड्डों पर, उतार दी जाती है। कलिंपोंग से गेलखोला का रज्जु-मार्ग आयात-निर्यात का मुख्य साधन है। इस स्थान पर रेल नहीं चलती। अतः लाखों मन ऊन, संतरा, चाय आदि के आयात-निर्यात का यही एक मुख्य साधन है। दार्जिलिंग-नगरपालिका का भी एक रज्जु-मार्ग है, जो विशेष करके नगर का कूड़ा-करकट फेंकने के लिए बनाया गया है। दार्जिलिंग जिले के रज्जु-मार्गों में दार्जिलिंग से विजनबाड़ी तक का रज्जु-मार्ग भारत में अपने ढंग का प्रथम और प्रसिद्ध एवं दर्शनीय है। यह मार्ग गोयनका-कंपनी के मालिक स्व० नागरचंदजी गोयनका के मस्तिष्क की सूझ है। उनको सन् १९२९ में यह विचार आया और सन् १९३० में उन्होंने अपनी यह योजना सरकार के संमुख रखी। तत्काल ही इसका बनना प्रारंभ हुआ और तैयार होने पर इसका उद्घाटन जनवरी, सन् १९३९ में दार्जिलिंग के तत्कालीन जिलाधीश



ब्रोवोर्न पार्क

श्री ए० एस० लारकिन महोदय ने किया।



कंचनजंघा से आलोकित दार्जिलिंग की एक झलक

दार्जिलिंग के यातायात के साधनों में अभी सुधार की काफी गुंजाइश है। ऊँची-नीची और टेढ़ी-मेढ़ी जगह होने से कोई भी यात्रा सुविधाजनक एवं शीघ्र सुलभ नहीं है। सिलिगुड़ी से दार्जिलिंग की सड़कें एवं अन्यान्य मोटर एवं रेल-मार्ग वर्षा ऋतु के दिनों में पर्वत-स्खलन के कारण टूट जाते हैं और कई दिनों तक मार्ग अवरुद्ध रहता है। इससे लाखों रुपयों का खर्च और कष्ट तो बढ़ ही जाता है, साथ-साथ मार्ग शीघ्र ठीक करने की तदवीर में अनेक श्रमिकों की जानें भी चली जाती हैं। भ्रमणार्थियों का आना-जाना तो जबतक मार्ग पूर्ववत् न बन जाय, तबतक ठप्प हो ही जाता है। इस असुविधा को दूर करने का सही प्रकार क्या हो—यह तो संबद्ध अनुसंधानकर्ताओं का मस्तिष्क ही बतला सकता है, परंतु कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि स्वीटजरलैंड की भाँति यदि बिजली की रेलों का बनाया जाना संभव हो सके तो यह यातायात की समस्या सहज ही सुलझ सकती है।

लेवोंग (संसार का सबसे छोटा रेसकोर्स)—दार्जिलिंग से लेवोंग का रेसकोर्स लगभग ४ मील दूर कार्ट रोड पर है। सिलिगुड़ी से आरंभ हुई कार्ट रोड लेवोंग जाकर समाप्त हो जाती है। यहाँ सैनिक रहते हैं। घुड़दौड़ का लगभग एक मील का सुंदर घेरा है। मई से अक्टूबर तक कलकत्ता आदि शहरों से यहाँ बड़े-बड़े धनी-मानी रेस खेलने आते हैं। सर्वप्रथम जीतनेवाले घुड़सवार को बंगाल के राज्यपाल पारितोषिक देते हैं। लेवोंग से रंगीत नदी एक चाँदी के फीते की तरह मालूम पड़ती है। आकाश साफ रहने पर यहाँ से बहुधा बर्फीले उत्तुंग शृंगों का अनुपम दृश्य दिखाई देता है। लेवोंग के चारों ओर बड़े-बड़े चाय-बगान हैं। बहुत-से यात्री चाय-बगानों को देखने यहाँ आते हैं। यहाँ से अनुमानतः आठ मील नीचे सींगला बाजार है जो कि दार्जिलिंग का अंतिम सिक्किम-सीमांत नगर है। सींगला बाजार से रंगीत नदी प्रबल वेग धारण करके तिस्ता नदी के साथ मिलने के लिए गंभीर नाद से चलती है। रंगीत नदी के इस तरफ बंगाल और उस तरफ सिक्किम राज्य की सीमा है। लोहे के झूल से बने हुए पुल से पार होकर सिक्किम की सरहद में पहुँचा जाता है। थोड़े ही आगे सिक्किम राज्य का एक छोटा-सा बाजार है, जिसका नाम 'नया बाजार' है। यह बाजार दिनोंदिन उन्नति कर रहा है। लेवोंग-सेना-निवास से आगे गिंग नाम का एक पर्वतीय गाँव है, जिसमें 'गिंग गुम्मा' नाम का एक प्रसिद्ध दर्शनीय बौद्ध विहार है। चौरास्ते से मोटिया बस्ती होकर एक रास्ता भी लेवोंग को गया है। मोटिया बस्ती में फुवशृंग काजी द्वारा संस्थापित एक निःशुल्क बोर्डिंग तथा स्कूल है। इसकी उन्नति के लिए बिड़ला ब्रदर्स की वार्षिक सहायता प्रशंसनीय है। इस स्कूल को देखने के लिए प्रत्येक वर्ष बौद्ध भिक्षु लोग यहाँ आते हैं।

बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल सर जान अंडर्सन ने छाती ठोंककर कहा था कि 'हम बंगाल को कुचल देंगे।' उन्हीं के सीने की ताकत को आजमाने के लिए बंगाल की महिला वीरांगना भवानी देवी और वीरश्रेष्ठ रवींद्र ने सन् १९३४ की ४ मई को ठीक चार बजे शाम में यहीं उनकी छाती में गोली दागी थी। गोली पाकेट में रखे हुए सिगरेट-केस में लगी और वे बाल-बाल बच गए। भवानी ने इस बहादुरी के पुरस्कार में फाँसी का तख्ता

चूमा और दूसरे-दूसरे साथियों ने लंबी सजाएँ पाईं। माल रोड से लेवोंग का रेस-कोर्स एक सुंदर गोलाकार झील के रूप में दिखाई देता है।

सूर्योदय के अद्वितीय दृश्यों का केंद्र टाईगर हिल—दार्जिलिंग के उत्तर-पश्चिम में ६ मील की दूरी और ८५१५ फुट की ऊँचाई पर यह रम्य स्थान अवस्थित है। यहाँ से सूर्य-दर्शन का श्रेष्ठ समय अप्रैल, मई, अक्टूबर और नवंबर है। दार्जिलिंग से यहाँ पर छोटी कार या घोड़े द्वारा पहुँचा जा सकता है।

अरुणोदय के साथ-साथ पूर्व क्षितिज पर विभिन्न भाँति के मन-भावने नयनाभिराम दृश्यों का अभिनय प्रारंभ हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों, सृष्टि-रचयिता के स्वर्गलोकस्थ सुषमा-भंडार से कंचनजंघा की हिम-मंडित श्रेणियों पर सप्त रंग-रंजित इंद्र-धनुष के सदृश अनुपम आभाएँ छिटकाई जा रही हैं और एवरेस्ट के उत्तुंग शिखरों पर मड़राती हुई अरुणिमा आकाश-सरोवर में रक्त कमल खिलने का आभास कराती है। क्षण-क्षण में परि-वर्तित अद्भुत प्राकृतिक रंगों के शृंगारों से सुस-ज्जित पर्वतमालाएँ रूपिल एवं स्वर्णिम बनकर अभूतपूर्व अलौकिक दृश्यों के अभिनय उपस्थित करती हैं। कभी-कभी तो एक ही पर्वतमाला पर अनेक रंगों की प्रभाओं का दर्शन करके हृदय उल्लसित हो उठता है और इस स्वर्गिक आनंद से विभोर मन फूला नहीं समाता। गिरिमुकुट एवरेस्ट एवं कंचनजंघा की गगनचुंबिनी शृंखलाएँ चारों ओर की विभिन्न प्राकृतिक छटाओं के आज से सज जाती हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानों, यही हो जगन्नियंता का स्वर्गलोक। एक ओर लाल और हरी, दूसरी ओर पीली तथा नीली एवं शेष में स्वर्णिम और रुपहले रंग को प्रसारित करती हुई रश्मियाँ भगवान भास्कर के जग-प्रांगण में पदार्पण करने का संदेश देती हैं। भगवान भानु के स्वागतार्थ चर-अचर शांत होकर दर्शन की प्रतीक्षा में प्रस्तुत हो जाते हैं। प्रकृति नटी के मनोरम अंचल पर क्षण-क्षण रंग पलटती हुई मनमोहिनी प्रभाएँ हृदय में स्वर्गिक उल्लास भर देती हैं। उस समय हर्ष का साम्राज्य-सा छा जाता है। अत्यंत समीपवर्ती कंचनजंघा की बर्फीली चट्टानों को सहसा स्वर्णमयी देखकर जी ही ललच जाता है! जिस समय भगवान भास्कर के पावन दर्शन से पूत दिशाओं पर प्रकृति नटी विभिन्न चित्रपटों की आड़ से विस्मापक एवं पारलौकिक चित्र चित्रित करती है, उस समय चहुँ ओर देखते-देखते दृष्टि विचलित हो जाती है। पल में कंचनजंघा, पल में एवरेस्ट और पल में एक पंक्ति में संगठित हिमावलियों एवं व्योम के उस सिंह-द्वार की ओर दृष्टि घूमती रहती है जहाँ पर जगन्नियंता की क्रमबद्ध प्राकृतिक दृश्या-वली पंक्ति बाँधे दर्शक के लिए ध्यानावस्थित मुद्रा में स्तब्ध रहती है। सूर्य-नारायण के प्रकट होने के पूर्व लक्षित स्थान पर एक वेगपूर्ण झटका-सा आता है, जिससे व्योम में हल्का-सा भूकंप आ जाता है और सहसा गगन-मंडल थर्रा जाता है। ऐसा आभास होता है कि मानों, समुद्र में ज्वार-भाटा आ रहा हो। इसी भाँति विविध रूपों में परिणत अभिनयों के पश्चात् प्राकृतिक रंगों से विभूषित चित्रपटों को उद्घाटित कर मुस्कराते हुए भगवान भास्कर एक अत्यंत स्वच्छ, निर्मल एवं शुभ्र ज्योतिर्मय, श्वेत गोलाकार कंदुक के रूप में, उछलते हुए प्रकट होते हैं। उस समय टाईगर हिल के बँगले पर सर्दी से ठिठुरते हुए ध्यानमग्न दर्श-नार्थियों की भीड़ द्वारा नमस्कार-हेतु उच्चरित 'भानु भगवान की जय' के नारों से आकाश गुंजित हो उठता है और भगवान सूर्यनारायण के जग-प्रवेश की प्रसन्नता में दर्शनार्थी अलविदा होते हैं।


चाय-पत्ती चुनती हुई नेपाली महिलाएँ

तेंजिंग-निवास—एवरेस्ट - विजेता शेरपा तेंजिंग नोर्की महोदय की कोठी भी यहीं पर है। इसे देखने से

पर्वतारोहण - संबंधी जानकारी का अच्छा आभास मिलता है। पर्वतारोहण में दक्ष शेरपा सरदार गालजन, पासंगदावा लामा, अंग थर्के आदि अनेक विख्यात शेरपा भी यहीं रहते हैं। भारत-सरकार द्वारा संचालित पर्वतारोहण-शिक्षण स्कूल भी मेजर जनरल एन० डी० जयाल और तेंजिंग नोर्की महोदय की देखरेख में प्रारंभ हो गया है।

दार्जिलिंग की उपज में संतरा, चाय, आलू, इलायची, चिरायता आदि भारत-प्रसिद्ध हैं। मनोरंजक स्थानों में कैपिटल और रिंक सिनेमा तथा जिमखाना तथा प्लांटर्स क्लब उल्लेखनीय हैं। सार्वजनिक स्थानों में गोरखा-दुःख-निवारक सम्मेलन, हिमाचल-हिंदी-भवन, सार्वजनिक पुस्तकालय, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी आदि हैं। जजबाजार में स्थित सेठ मोहनलाल शिवलाल की धर्मशाला यात्रियों के विश्राम का सुंदर स्थान है। यहाँ का होटल माउंट एवरेस्ट भी विख्यात है।

कैसी मोहन है यह माया ?

प्रो० श्यामनंदन 'किशोर'

मेघ - भरी पलकों में अपनी,
किसने बंद किया पूनम को ?
अपने नन्हे - से प्राणों ने
कैसे साध लिया सरगम को ?

× × ×

यह वाड़व की ज्वाला, जीवन;
कैसी मोहन है यह माया—
—मरु के राही को भी मिलती,
अपने तन की संगी छाया।
कैसे बँध जाती है धारा, दो तट के दुर्बल संयम में !

सघन गगन में हँसती बिजली,
जलते प्रखर अमा में तारे,
कठिन शिखर पर गिरि के चढ़ती,
जाने किसके लता सहारे ?
कैसे आशाओं की किरणें, मिल जातीं जीवन के तम में !

भेद नहीं विश्वास समझता,
मोम और पत्थर के भीतर।
निर्झर और बँधे कूपों में
तीखी प्यास न पानी अन्तर !
कैसे खो देता अपने को कोई तुनुक किसी निर्मम में !

जल और जीवन

डॉ० रामानंद तिवारी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल्०

सार्थकता भारतीय संस्कृति और साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस सार्थकता का प्रमाण मिलता है। साहित्य के क्षेत्र में 'कला कला के लिए है' का सिद्धांत कुछ आलंकारिकों के आग्रह के अतिरिक्त प्रायः नहीं मिलता। अधिकांश संस्कृत-साहित्य काव्यप्रकाशकार के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये; सद्यः परनिर्वृतये कांता-संमिततयोपदेशयुजे' के अनेकविध आदर्शों में मुख्यतः कल्याण और निःश्रेयस के लक्ष्य की ही साधना करता है। धर्म के क्षेत्र में वैदिक कर्मकांड की सूक्ष्मताएँ मीमांसकों के ही विवेचन का विषय रह गईं; अधिकांश धर्म-साधना का तात्पर्य मोक्ष में ही रहा। दर्शन के क्षेत्र में भी, यद्यपि संप्रदायों के पारस्परिक विरोध-प्रसंग में बहुत-कुछ सूक्ष्म तर्क तथा खंडन-मंडन देखने में आता है तथापि सभी संप्रदायों के दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य निःश्रेयस ही रहा है।

भाषा एक जाति के जीवन की वाणी है। सार्थकता की महत्ता सबसे अधिक संस्कृत भाषा के अंतर्गत देखने में आती है। भाषा के सामान्य पद तो प्रायः सभी भाषाओं में सार्थक होते हैं, चाहे उस सार्थकता में अधिक गंभीरता तथा सूक्ष्मता न हो। किंतु संस्कृत भाषा में नाम-वाचक विशेष संज्ञापद भी प्रायः सार्थक होते थे। दश रथियों से युद्ध करनेवाले का नाम 'दशरथ', जिस नगरी में युद्ध की संभावना न हो उसका नाम 'अयोध्या', जिसके जन्म की कथा केवल जनश्रुति हो उसका नाम 'कर्ण', जिसके साथ युद्ध करना कठिन हो उसका नाम 'दुर्योधन', जिसका शासन करना कठिन हो उसका नाम 'दुःशासन', जो विशाल-काय हो उसका नाम 'भीम', जल से उत्पन्न होनेवाले कमल का नाम 'जलज', जल प्रदान करनेवाले बादल का नाम 'जलद', सबको धारण करनेवाली पृथ्वी का नाम 'धरा', आदि असंख्य सामान्य तथा विशेष पद संस्कृत भाषा की इस सार्थकता के प्रमाण हैं। संस्कृत में पर्यायों की प्रचुरता का कारण भी भाषा की अर्थ-मूलकता ही है। कमल, मेघ, सूर्य, चंद्र आदि सामान्य पदों के ही नहीं; इंद्र, अर्जुन, सीता, राम, गंगा, पार्वती आदि विशेष पदों के भी अनेक पर्याय हैं। एक ही व्यक्ति के लिए अर्थ-भेद से अनेक पदों का प्रयोग किया जा सकता है। विष्णु और शिव के सहस्र नाम इस सार्थकता की सूक्ष्मता और संपन्नता की मर्यादा अंकित करते हैं।

जल के अनेक पर्यायों में 'जीवन' संस्कृत भाषा की सार्थकता की सूक्ष्मता, संपन्नता और गंभीरता का एक अद्भुत उदाहरण है। न जाने, जीवन और भाषा के किस मर्मदर्शी विधाता ने जल को यह अनंत अर्थपूर्ण पर्याय दिया होगा। जलनिधि के गर्भतल के अलक्ष्य रत्नों तथा दृश्य तल की अगण्य लहरों की भाँति जीवन के अनंत रहस्य भाषा के उस अज्ञात स्रष्टा के दिव्य दृगों में आकाश के तारों के तुल्य खिल उठे होंगे। भारतीय संस्कृति और साहित्य में प्राप्त होनेवाले बाह्य प्रकृति और मानव-जीवन के तादात्म्य को उस भाषा के ब्रह्मा ने एक पद के इस अद्भुत पर्याय में अमर कर दिया है। जीवन के भारतीय दृष्टिकोण, उसकी सामान्य प्रकृति और उसके अनंत रहस्यों का इस एक दुर्लक्ष्य इंगित से निर्देश कर दिया है।

अमरकोश में 'जल' के पर्यायरूप से 'जीवन' का निर्वचन मिलता है—

आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्॥

'जल ही जीवन है'—यह एक अत्यंत सामान्य सत्य है। ग्रीष्मकाल में इस गर्म देश के निवासियों को इस सामान्य सत्य का विशेष अनुभव बहुधा होता है। ग्रीष्म की दोपहरी में यात्रा करते हुए पथिक को मार्ग में प्राप्त शीतल जल 'जीवन' ही नहीं, जीवन का रक्षक 'अमृत' प्रतीत होता है। ग्रीष्म के अतिरिक्त साधारणतया भी जल पर जीवन की निर्भरता असंदिग्ध है। भोजन के विना मनुष्य कई दिनों तक जीवित रह सकता है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में दो बार इक्कीस दिनों तक के उपवास किए। कई जैन साधुओं ने कई मास तक निराहार रहकर

यतींद्रनाथ दास की भाँति अपनी देह का विसर्जन किया है। किंतु प्यास लगने पर जल के बिना कुछ घंटे रहना भी दुष्कर हो जाता है।

विकासवादी वैज्ञानिकों का मत है कि जल से ही सृष्टि का आरंभ हुआ है। सृष्टि के आदि काल में भूमि पर जीवन का कोई चिह्न न था—न वृक्ष थे, न पशु-पक्षी और न मनुष्य। पृथ्वी के ऊपर एक गहन और विषाक्त गैस का आवरण छाया हुआ था। सबसे पहले जल के वृक्षों ने भूमि की ओर बढ़कर उसके विषाक्त वायुमंडल को शुद्ध किया। उसके बाद जल के जंतुओं ने पृथ्वी पर प्रवेश किया। उन जंतुओं से ही बढ़ते-बढ़ते विकास की एक अवस्था में भूमि पर मनुष्य का उदय हुआ।

पश्चिमी विकासवाद का यह सिद्धांत मनुष्य को ईश्वर की मौलिक सृष्टि माननेवाले धर्मनिष्ठों की श्रद्धा को आघात अवश्य पहुँचाता है, किंतु भारतीय परंपरा में भी वह नितांत अविदित नहीं है। दशावतारों का क्रम एक प्रकार का विकासवाद ही प्रतीत होता है। इस अवतार-क्रम में भी सृष्टि का आरंभ जल से ही माना गया है। यह भारतीय दर्शनों के सृष्टि-सिद्धांत के अनुरूप भी है। प्रलय-काल में सृष्टि जल में ही निमग्न हो जाती है। सर्ग-काल में फिर जल में से ही सृष्टि का उदय होता है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने प्रलय-जल में से पृथ्वी के उद्भवन से ही अपने कथानक का आरंभ किया है—

उतर रहा था वह जल-प्लावन
और निकलने लगी मही।

अवतार-क्रम में प्रथम मत्स्य-अवतार माना जाता है। पृथ्वी के उद्गमन का प्रसंग कोल (वराह) अवतार के साथ आता है। आदि वराह ने अपने अग्र-दंत से जल में निमग्न पृथ्वी का उद्धार किया था। मत्स्यावतार की आदि अवस्था संभवतः सृष्टि के पूर्णतः जलमग्न होने की अवस्था है। मत्स्य जल के जीवों की (तथा सृष्टि की) उस आदि अवस्था का प्रतीक है, जब वे जल के बाहर आने की शक्ति नहीं रखते थे। मछली जल के बाहर न आ सकती है और न जीवित ही रह सकती है। यदि पृथ्वी पूर्णतः जल-मग्न है तो जल के बाहर आने का प्रसंग भी नहीं है। अन्यथा भी मछली में जल से बाहर आने की सामर्थ्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि मत्स्यावतार से सूचित सृष्टि के आदिकाल में 'जल में ही जीवन है'। मत्स्यावतार के बाद कूर्म (कच्छप) अवतार में जीवन के जल से बाहर निकलने की संभावना उपस्थित होती है। किंतु पृथ्वी पर आने और रहने की सामर्थ्य होते हुए भी कछुए की प्रवृत्ति भी जल की ओर ही अधिक होती है। कूर्मावतार जल से जीवन के निर्गमन की इस संदिग्ध और संकोचशील अवस्था का ही प्रतीक है। वराह-अवतार जीव और जीवन में स्पष्टतः भूमिवास की शक्ति के उद्भव का प्रतीक है। इसीलिए पुराणों में आदि वराह को ही जल-मग्न पृथ्वी के उद्भावन का श्रेय भी दिया गया है।

इस प्रकार जल से ही जीवन और सृष्टि के आरंभ और विकास का सिद्धांत पूर्व और पश्चिम दोनों की परंपरा में पाया जाता है। पश्चिम का सुस्पष्ट तथा सुसाधित वैज्ञानिक सिद्धांत पूर्व के पौराणिक प्रतीकों की रहस्यमय छाया में अंतर्हित है। इतना पूर्व और पश्चिम की प्रणाली में अंतर है। पौराणिक विकासवाद अवतारों के प्रतीकों पर आरोपित कोई कष्टकल्पना नहीं है। उपनिषद्-दर्शन के सृष्टिवाद से उसकी पूर्ण संगति है। उपनिषद् अध्यात्म-दर्शन है। उसके अनुसार आत्मा सृष्टि का मूल है। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पतियाँ, वनस्पतियों से अन्न, अन्न से पुरुष। (एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।)—तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक १, मंत्र १

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त सृष्टि-प्रसंग में आत्मा से आकाश, आकाश से वायु और वायु से अग्नि के उत्पन्न होने तक की अवस्था सृष्टिमंडल के गैस के आवरण से आच्छादित होने की अवस्था के समान है। जीवन का आरंभ तो पृथ्वी के उदय के साथ ही माना जा सकता है। पृथ्वी जल से उत्पन्न होती है। तदनंतर जल और पृथ्वी के संयोग से वनस्पति और प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः जीवन के अर्थ में सृष्टि का आरंभ जल से ही होता है। अस्तु, जल से जीवन की उत्पत्ति वैज्ञानिक विकासवाद, पौराणिक अवतारवाद तथा औपनिषदिक सृष्टिवाद—तीनों के समान रूप से अनुकूल है।

किंतु जल से जीवन और सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं

होती, उनका पोषण भी जल पर ही निर्भर है। अन्न और वनस्पतियों के बिना पशुओं और मनुष्यों का जीवन असंभव है (मांसाहारी पशु और मनुष्य भी शाकाहारी पशुओं पर ही अपना निर्वाह करते हैं।) तथा जल के बिना अन्न और वनस्पति उत्पन्न नहीं हो सकते। खेतों में किसान और वाटिकाओं में माली किस उत्सुकता से उठते हुए बादलों को देखते हैं। आकाश से जल की वर्षा मानों अमृत की वर्षा है।

इसके अतिरिक्त नहाना, धोना, सफाई आदि सभ्य जीवन के अनेक कार्य जल पर ही निर्भर हैं। जल से ही जीवन की उत्पत्ति है, जल पर ही जीवन की स्थिति निर्भर है और यदि प्रलय के पौराणिक मत को मान लिया जाय तो जल में ही सृष्टि का निलय है। इस प्रकार जल ही जीवन और सृष्टि का ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। उपनिषदों की भाषा में वह 'तज्जलान्' है, जिससे भूतों की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा उत्पन्न होने पर वे जीवित रहते हैं तथा जिसमें अंत में वे विलीन हो जाते हैं। (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।—तैत्तिरीय उप०, वल्ली ३, अनुवाक १, मंत्र–१)। जल ही 'ब्रह्म' है। वह जीवन की उत्पत्ति, स्थिति और लय का चरम आश्रय है।

जीवन के अन्य अंतर्वर्ती मार्मिक रहस्य भी जल की प्रकृति और गति में अंतर्निहित हैं। जल के कण-कण में जीवन की अनंत रहस्यमयी मूर्ति प्रतिबिंबित होती है। जल की लहर-लहर में जीवन की मोहिनी ज्योति का रंजित इंद्रधनुष आभासित होता है। विश्व के गगन-नयन में अनंत की करुणा के सजल मेघ घिरकर जीवन और सृष्टि को सरस बनाते हैं। विश्व के सुदृढ़ और उदग्र पर्वतीय वक्ष पर जीवन की मुक्त मुसकान के निर्मल निर्झर बिखर रहे हैं। अनंत के खारे आँसुओं के उदधि-अर्ध्य के अतल गर्भ में जीवन के अनमोल रत्न छिपे हुए हैं। जल की तरलता, स्निग्धता, स्वच्छता, सरसता, गतिगंभीरता आदि में जीवन की अनंत विभूतियाँ अंतर्निहित हैं।

जीवन के दो रूप हैं—एक यथार्थ और दूसरा आदर्श। जीवन का यथार्थ रूप मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति में प्रतिफलित होता है। यह जीवन का वह सामान्य रूप है जो प्रायः समाज और इतिहास में मिलता है। जीवन का आदर्श रूप मनीषियों की कल्पना और साधकों की कामना में दृष्टिगत होता है। महापुरुषों के जीवन में चरितार्थ होकर यह यथार्थ भी बन जाता है, किंतु प्रायः यह दुर्लभ तथा स्पृहणीय ही रहा है।

जीवन के यथार्थ और आदर्श दोनों ही रूपों के लक्षण एक आश्चर्यजनक सीमा तक जल में घटित होते हैं। जल प्रकृति से तरल होने के कारण दुर्ग्राह्य है। एक बालक नल के पानी की धारा को पकड़ने का खेल करते-करते दार्शनिक से यह प्रश्न कर बैठा कि 'पानी पकड़ा क्यों नहीं जाता ?' 'जल तरल है' इसके अतिरिक्त दार्शनिक को और कोई उत्तर न आया। जल के समान ही जीवन भी दुर्ग्राह्य है। बड़े-बड़े दार्शनिकों की समक्ष में उसका रहस्य पूर्णतः नहीं आ सका। यह तरल जल हाथ से और जीवन बुद्धि से ग्रहण करने में नहीं आता। जल का ग्रहण यदि किसी प्रकार संभव है तो वह एक पात्र द्वारा। पात्र में ग्रहण करके ही जल का उपयोग भी संभव है। जीवन के तत्त्वों, रहस्यों और मूल्यों का ग्रहण भी मनुष्य 'पात्र' बनकर ही कर सकता है। यह 'पात्र' तप से ढलकर या साधना के आघातों से ही निर्मित होता है।

तरल होने के कारण जल प्रकृति से प्रवहमान है। जीवन की धारा भी प्रकृति से गतिमान है। काल की गति निरंतर है। सतत क्रियाशीलता का नाम ही जीवन है। गति जल और जीवन का निसर्ग-सामान्य लक्षण है। इस गति-क्रम में ही जल शुद्ध और स्वच्छ रहता है; गतिरोध होने पर वह बँधे हुए तालाब क पानी के समान सड़ने लगता है। उसमें दुर्गंध आने लगती है और काई की पर्त उसके स्वरूप को भी ढँकने लगती है। जीवन का स्वरूप भी सक्रियता और प्रगति के प्रवाह-क्रम में ही शुद्ध और स्वच्छ रहता है। गतिरोध होने पर वह विकृत होने लगता है; उसमें दुर्वृत्तियों की दुर्गंध आने लगती है और रूढ़ियों की काई उसके स्वरूप को ही तिरोहित करने लगती है।

जल और जीवन दोनों के प्रकृत प्रवाह के वेग को रोकना कठिन है। नदी और निर्झर का प्रवाह पर्वत के वक्ष को चीरकर बहता है। व्यक्तिगत जीवन में जीवन की प्रकृति का प्रवाह मुनियों और महात्माओं की साधना के बाँधों को भी तोड़कर दुर्वासा के क्रोध अथवा विश्वामित्र के काम की भाँति फूट पड़ता है। सामाजिक जीवन में उसका उग्र वेग रूस, चीन आदि की राज्य-क्रांतियों की

भाँति इतिहास को एक अनिवार्य दिशा प्रदान करता है। सामान्यतः व्यक्ति और समाज नदी की बाढ़ में बहते हुए वृक्षों और जीवों की भाँति इस प्रवाह के वेग के साथ ही बहते हैं। इस प्रवाह के विपरीत चलना कठिन है। उसके लिए कठिन साधना और अपार शक्ति अपेक्षित है।

इस गतिशीलता में एक गौरव है। पर्वतीय नदी के प्रवाह में बाधा बनकर आए हुए शिला-खंड भी चूर-चूर हो बालुका बन जाते हैं, जो अन्य अपेक्षित पदार्थों के साथ मिलकर पारदर्शी तथा प्रतिबिंब-दर्शी काँच बनाती है तथा नगरों की जल-योजना में जल के शोधन का साधन बनती है। प्रगतिमान और क्रियाशील जीवन में भी बड़ी-बड़ी बाधाएँ अनायास चूर्ण हो जाती हैं। कुछ अन्य अपेक्षित जीवन-तत्त्वों के सहयोग से बाधाओं के विकीर्ण तत्त्व ही जीवन के पारदर्शक तथा प्रतिबिंब-दर्शक बनते हैं और सभ्य जीवन के संशोधन के साधन भी बनते हैं।

इस जल और जीवन के प्रवाह में गंभीर स्थलों पर भ्रमर-चक्र बनते रहते हैं, जिनमें तैराक और नाविक भी डूब सकते हैं। जल और जीवन की धारा को पार करने के साधारण साधन इन विषम स्थितियों में व्यर्थ हो जाते हैं। सामान्य लोक के लिए जल और जीवन की धारा को पार करने का सुगम साधन श्रम और यत्न से बनाया हुआ सेतु है, जो जीवन में महापुरुषों की गाथा के रूप में आरूढ़ होता है।

जल और जीवन के इस निसर्ग प्रवाह की गति स्वभावतः अधोमुखी है। जल सहज ही नीचे की ओर बहता है और जीवन की अधोमुखी गति भी अनायास है। चरित्र-निर्माण और नैतिक उत्कर्ष की साधना न करने पर जीवन का प्रायः पतन ही होता है। जल और जीवन की अधोमुखी गति जितनी सहज है, उनकी ऊर्ध्वमुखी गति उतनी ही कठिन है। जल को ऊपर चढ़ाने के लिए बड़े जटिल और सबल यंत्रों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जीवन के उन्नयन के लिए भी तप, योग और साधना का सबल नैतिक और आध्यात्मिक अध्यवसाय अपेक्षित है।

तरल रूप के कारण जल और जीवन दोनों में ही परिवर्तनशीलता बहुत है। दोनों ही पात्रानुरूप रूप ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। दोनों में संपर्क से प्रभाव ग्रहण करने की भी निराली शक्ति है। नदियों का जल भूमि का गुण ग्रहण कर लेता है। इसीलिए गंगाजल में अद्भुत गुण है। इसीलिए साँभर झील का जल खारा है। जीवन में भी भूमि का प्रभाव ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण पर्वत के निवासी बलिष्ठ होते हैं। आर्द्र जलवायु के लोग श्लथ होते हैं। जीवन में वातावरण का प्रभाव ग्रहण करने की प्रवृत्ति होने के कारण धर्म-साधना के लिए मंदिरों और तीर्थों का निर्माण हुआ। नैतिक संस्कारों के लिए प्राचीन काल में आश्रम और विद्यापीठ बने थे। आज के विद्यालय भी इसीलिए हैं।

प्रभाव ग्रहण करने की इस क्षमता के कारण जल जहाँ किसी भी वर्ण (रंग) का ग्रहण कर तद्रूप बन जाता है, वहाँ मलिनता आदि को ग्रहण कर स्वभावतः शुभ्र होते हुए भी मलिन हो जाता है। जीवन भी संपर्क द्वारा कोई भी रूप, रंग अथवा मलिनता ग्रहण कर सकता है। किंतु स्थिर होने पर जिस प्रकार कुछ काल में ही जल अपने प्रकृत शुभ्र रूप में आ जाता है, उसी प्रकार स्वस्थ होने पर जीवन भी अपने स्वरूप को प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है। स्थिर और शांत होने पर जीवन में जल की शुभ्रता की भाँति आत्मा के अमल आलोक का उदय होता है। यही जीवन का स्वरूप भी है।

अंधकार में जल बड़ा भयंकर प्रतीत होता है। अज्ञान के तिमिर में जीवन की विभीतियाँ भी प्रस्फुटित होती हैं। किंतु ज्योति के एक दीप जल में अनंत और अतल ज्योतिर्लोक की परंपरा का सृजन करता है। प्रकाश में उज्ज्वल जल की तरंगों पर शुभ्र आलोक के सप्तरंग इंद्रधनुष वितन्वित होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के शुभ्र आलोक में विभासित जीवन में तत्त्व की ज्योतिष्किरण अनंत दिव्य लोकों का उद्भावन करती है। सत्य के सूर्य की शुभ्र किरणों से मानस-लहरियों पर स्नेह और सौंदर्य से रंजित इंद्रधनुष अंकित होते हैं।

जल और जीवन दोनों का उद्गम और मूल स्रोत खोजना कठिन है। गंगा का उद्गम अलक्ष्य ही रहा; गंगोत्री तो मुनियों की खोज की मर्यादामात्र है। जीवन का आदि खोजते हुए वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही सूक्ष्मताओं और जटिलताओं में भटक गए।

मल के दुर्लक्ष्य होते हुए भी जल और जीवन की धाराओं की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट हैं। दोनों की अवस्थाओं के लक्षणों में अद्भुत समानता है। जल की पर्वतीय धारा आरंभिक अवस्था में कृश, कोमल, अगंभीर और

अतिशय वेगवती होती है। जीवन की धारा भी बाल्य-काल में कोमल, चंचल और अगंभीर होती है। मैदान की मध्य अवस्था में जलधारा मंद, मंथर और गंभीर हो जाती है। जीवन की धारा भी प्रौढ़ता और गृहस्थ की मध्यावस्था में मंथर और गंभीर हो जाती है। अंत की अवस्था में जल और जीवन दोनों की धाराएँ शिथिल और व्यग्र हो जाती हैं।

जल की तीन अवस्थाएँ हैं—द्रव, वाष्प और हिम। द्रव की तरलता और गति जल तथा जीवन का प्रकृत रूप है। ताप से उच्छ्रित जीवन की करुणा-कादंबिनी अनंत के गगन-नयन से बरसकर भूतल को रसाप्लावित करती है। भावना की अपेक्षित ऊष्मता (warmth of feeling) के अभाव में शीतता (coldness) के अधिक होने पर जीवन की प्रकृत तरलता हिम की भाँति जड़ीभूत हो जाती है और उसकी निसर्ग गति निहत हो जाती है। अपेक्षित ऊष्मता के प्राप्त होने पर ही वह पुन: द्रवित होकर लोक को प्रवाह से सरसित करने में समर्थ होती है।

न्याय-दर्शन के अनुसार स्नेह जल का सांसिद्धिक गुण है। जल की स्निग्धता ही विश्व के विशृंखल कणों को आबद्ध कर घटादि के निर्माण का कारण बनती है। जीवन का भी मुख्य गुण स्नेह ही है। स्नेह की सरसता से ही लोक के वर्ग और समाज के समूह संगठित होते हैं।

जल और जीवन दोनों के तरल होने के कारण उनमें तनिक-से आघात से भी हलचल पैदा हो जाती है। विभ्रम के क्रम से दोनों में दूर तक हलचल के आवर्त्त शीघ्र ही फैल जाते हैं, किंतु कुछ काल बीतने पर स्वतः ही शांत होकर विलीन हो जाते हैं।

हलचल से युक्त जल और जीवन दोनों ही अथाह प्रतीत होते हैं। किंतु स्थिर और शांत होने पर दोनों ही प्रायः पारदर्शी होते हैं। शीतकाल में यमुना और नर्मदा के स्वच्छ जल में तल की सभी वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। स्थिर और शांत महात्माओं का स्वच्छ जीवन गंभीर होते हुए भी पारदर्शी होता है।

जल और जीवन दोनों में एक विशेषता होती है कि दोनों की स्वच्छता निकट-संपर्क में अधिक प्रस्फुटित होती है। गदला जल स्वच्छ हाथ में या स्वच्छ पात्र में लेने पर स्वच्छ जान पड़ता है। नीच और दुष्ट मनुष्यों में भी निकट-संपर्क में आने पर अद्भुत गुण दिखाई देते हैं। निकट से देखने पर उनके दुष्ट हृदय में भी स्वच्छता और सौजन्य दिखाई दे सकते हैं।

जल और जीवन दोनों की गंभीरता में असंख्य मगर-मच्छ और अनंत रत्न छिपे रहते हैं। अवकाश पाकर दुर्वृत्तियों के ये मगर असावधान व्यक्तियों को समूचा निगल जाते हैं। साहस और यत्न से गहरी खोज करनेवालों को अमूल्य रत्न भी हाथ लग सकते हैं। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।'

यथार्थ जीवन की प्रकृति से जल के स्वभाव की उक्त समानताओं के साथ-साथ जल में आदर्श जीवन के भी अनेक गुण सन्निहित हैं। चीनी भाषा में एक कहावत है कि 'ज्ञानी मनुष्यों को दर्पण के समान होना चाहिए।' दर्पण अपने स्वरूप में निर्मल, उज्ज्वल और स्वच्छ होता है, वह प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिंब ग्रहण कर सकता है, किंतु किसी भी वस्तु के विकार को ग्रहण नहीं करता। यदि दर्पण के स्थान पर जल को जीवन का आदर्श माना जाय तो और भी अधिक उपयुक्त है। मनुष्य का जीवन जल के समान स्वच्छ और निर्मल होना चाहिए। जल वस्तुओं के विविध वर्णों और मलिनताओं को ग्रहण करते हुए भी स्वरूप से सदा स्वच्छ रहता है। नदियों का जल वर्षा में आविल होकर भी शरद् में निर्मल हो जाता है। दर्पण के समान नितांत अस्पृष्ट तथा अविकृत रहने की क्षमता तो सिद्ध योगियों में ही हो सकती है; किंतु स्थिर और शांत होकर आत्मा की प्रकृत स्वच्छता प्राप्त करने की क्षमता साधारण मनुष्यों के जीवन में भी संभव और स्पृहणीय है।

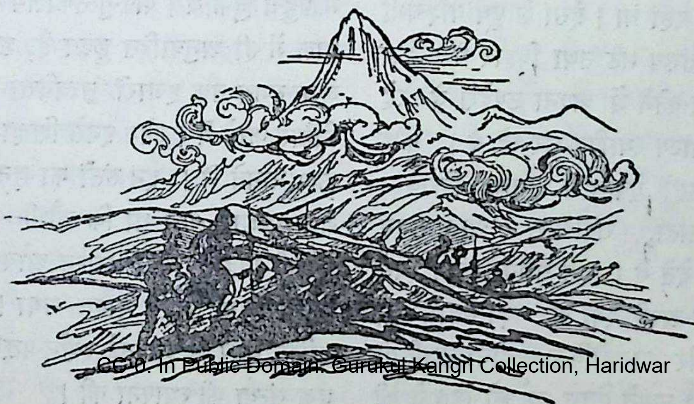
स्वरूपतः स्वच्छ होने के साथ-साथ जल सरस, मधुर और शीतल होता है। यह सरसता, मधुरता और शीतलता भी जीवन का स्पृहणीय आदर्श है। मनुष्य का जीवन और भाव ऐसा होना चाहिए, जिसके संपर्क से दूसरों को सद्भावना और शांति मिल सके। सरसता और मधुरता के स्नेहमय संपर्क से समाज में सौहार्द और सद्भाव का संचार होता है। सरसता से जीवन की भावभूमि में सद्भावों के कुसुम खिलते हैं, जो देवता की अर्चना में अर्पित होकर जीवन को कृतार्थ बनाते हैं। मधुरता के स्नेह से समाज को संगठन का सूत्र और उन्नति का आधार मिलता है। शीतलता की शांति जीवन में आनंद की भूमिका है।

जलधारा के समान जीवन को सक्रिय भी होना चाहिए। जीवन में शिथिलता जड़ता की सूचक है। निष्क्रिय जीवन बँधे पानी की तरह सड़ने लगता है और उसमें दुर्वृत्तियों की दुर्गंध आने लगती है। सक्रिय जीवन में बाधाएँ नदी की धारा में आनेवाले शिलाखंडों के समान चूर्ण हो जाती हैं, और जल की स्वच्छता का साधन बनती हैं। सक्रिय जीवन बहते पानी की तरह सदा स्वच्छ, शुद्ध और मधुर रहता है। अतः जल की स्वच्छता की भाँति उसकी सक्रिय गतिशीलता भी जीवन में स्पृहणीय है।

स्वच्छ होने पर गतिमान और गंभीर होते हुए भी नर्मदा का जल पारदर्शी होता है। ऐसी पारदर्शी गंभीरता जिसमें जीवन के प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे, जीवन का अनुपम आदर्श है। स्वच्छता का अभाव जीवन में कलुष का द्योतक है। गतिहीनता जड़ता का लक्षण है। किंतु गंभीरता का अभाव जीवन के हलकेपन का प्रमाण है। स्वच्छता जीवन की आभा है, गतिशीलता उसकी सजीवता और स्फूर्ति है। किंतु गंभीरता जीवन का गौरव है। इस गंभीरता में स्वच्छता का अभाव जल और जीवन दोनों को कालिमामय तथा भयंकर बना देता है। अतः स्वच्छता और गतिशीलता के साथ-साथ पारदर्शी गंभीरता भी जीवन का स्पृहणीय आदर्श है।

जलों में गंगाजल सर्वोत्तम है। गंगाजल पृथ्वी का अमृत है। उसमें अनेक गुण हैं। वह पवित्र होने के साथ-साथ अनेक रोगों की औषधि है। आदर्श जीवन वही है जो स्वयं स्वस्थ रहने के साथ-साथ दूसरों के दुःख-रोगों का उपचार कर उन्हें भी स्वस्थता प्रदान कर सके। गंगाजल जलों में सबसे अधिक अविकार्य है। अमृत की भाँति वर्षों तक हिंदू-घरों में सुरक्षित रहने पर भी उसमें कोई विकार या दुर्गंध नहीं आती। गंगाजल के समान अविकारी और उपकारी जीवन उत्तम आदर्श है। किंतु जिस प्रकार शुद्धतम गंगाजल गंगोत्री के दुर्गम तीर्थ में ही प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार उस आदर्श जीवन का पवित्रतम रूप साधना के दुर्गम हिमगिरि पर ही सिद्ध हो सकता है। शिव के दिव्य ऐश्वर्य और उनकी अनंत शक्ति के साथ-साथ भगीरथ के भगीरथ तप और प्रयत्न से ही वह सुरसरि की धारा भूतल पर सुलभ हो सकी है। कल्याण-साधना की शक्ति और भगीरथ-प्रयत्न से ही वह भागीरथी-सा पवित्र, अविकारी और उपकारी जीवन सिद्ध और सार्थक हो सकता है।

भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कमल के समान अलिप्त आत्मिक जीवन उच्चतम आदर्श है। जिस प्रकार जल में उत्पन्न होकर भी कमल सदा जल के ऊपर रहता है और लोक में श्री-सौरभ का विस्तार करता है, उसी प्रकार जीवन की समस्त कोटियों से ऊपर रहकर लोक में मंगल और सौंदर्य का प्रसार करनेवाला आत्मनिष्ठ जीवन परम आदर्श है। साधना के हिमगिरि पर निर्मल मानस में प्रस्फुटित होनेवाला शुभ्र सहस्रदल लक्ष्मी का निवास है। कैलासपति शिव के चरणों में ऐसे निर्मल मानस का उज्ज्वल अर्घ्य अर्पित कर तथा उसमें प्रस्फुटित आत्मा के शुभ्र सहस्रदल में श्री की अवतारणा कर कल्याण-कामी मानव श्री शिव की अपूर्व आराधना कर स्वयं कृतार्थ होकर लोक के मंगल-मार्ग का तीर्थ बन सकता है।



यहूदी-संस्कृति पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव

श्री नारायणप्रसाद सिन्हा

ईसा से दो शताब्दी पूर्व यहूदियों को फिलस्तीन में यूनानी आक्रमणों के कारण भयानक परिस्थिति का सामना करना पड़ा। इसी के परिणामस्वरूप लाखों यहूदी मिस्र आदि देशों में जा बसे थे। इसी से प्रभावित हो उन्हें अन्य साहित्य और दर्शन का शौक हुआ और वे उनका अध्ययन करने लगे। व्यापार में वे पहले से ही दक्ष थे। मिस्र के टालेमी बादशाहों के समय में उनके साथ अच्छा व्यवहार हुआ था। उन्हें पूरी धार्मिक आजादी थी। उसी समय तौरेत और अन्य यहूदी धर्मग्रंथों का यूनानी भाषा में अनुवाद हुआ तथा इब्रानी में भी अन्य ग्रंथों का अनुवाद किया गया।

उस समय संसार में एक भारी धार्मिक प्रवाह चल रहा था। भारतीय बौद्धधर्म-प्रचारक सर्वत्र भ्रमण कर रहे थे और अपने साथ भारतीय अध्यात्म, दर्शन और विज्ञान का, पश्चिमी देशों—मिस्र यूनान आदि में, विस्तार कर रहे थे। उस ससय मिस्र की राजधानी सिकंदरिया एवं भारत की राजधानी पाटलिपुत्र के बीच राजदूतों, दार्शनिकों और विद्वानों का आना-जाना बराबर जारी था तथा प्रेम-संबंध स्थापित था। इसी के प्रभाव से टालेमी वंश के बादशाहों की कई सौ वर्ष तक उदारता कायम रही। ये बड़े विद्या-प्रेमी थे। इनके समय में ज्ञान-विज्ञान ने मिस्र में खूब उन्नति की थी।

उस समय बौद्धधर्म अफगानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान होकर यूरोप में तेजी से बढ़ रहा था। ईसा से पूर्व पश्चिमी एशिया एवं सीरिया में असंख्य मठ तथा बिहार थे। बौद्ध भिक्षु रोम-साम्राज्य के कोने-कोने में अपना उपदेश दे रहे थे, प्रेम एवं शांति का साम्राज्य स्थापित कर रहे थे। कोई धार्मिक विवाद न था। किसी देवता से इनका विरोध न था। ये विश्व-प्रेम, नम्रता, सदाचार, आत्म-संयम और आत्म-शुद्धि पर जोर देते थे। इस समय अन्य धर्म स्पर्द्धा में लगे थे और अपने-अपने देवों को बड़ा बताते थे।

इस प्रकार ऐहिक और पारलौकिक—दोनों उन्नतियों पर जोर दिया जा रहा था। अपने पैतृक धर्म को त्यागने की आवश्यकता न थी। जापान का शिंतो-धर्म और बौद्धधर्म दोनों आज भी साथ-साथ चल रहे हैं। इसी भाँति चीन का ताओ मत और बौद्धधर्म चीन में साथ-साथ चल रहे थे।

अनेक भारतीय संत पश्चिमी एशिया, अफ्रिका तथा यूनान के जंगलों में कुटिया बनाकर रहते थे। इन संतों के पास उन देशों के बड़े-बड़े महात्मा और विद्वान मिलने के लिए आया करते थे और इनसे लाभ उठाते थे। धार्मिक, वैदिक और दार्शनिक शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें संतों का एक खास गिरोह था, जिन्हें यूनानी इतिहासकार जिम्नोशॉकिस्ट या हाइलोवियो कहते हैं और बड़े आदर से उनका नाम लेते हैं।

जिम्नोशॉकिस्ट का भावार्थ है नंगे दार्शनिक तथा हाइलोवियो का अर्थ है वानप्रस्थ। वे लोग दिगंबर रूप में रहत थे। सरल जीवन, कम-से-कम भोजन और वस्त्र पर निर्वाह तथा सात्विक मनोवृत्ति का अनुगमन करना ही उनके जीवन में व्याप्त हो रहा था। वे श्रमण और ब्राह्मण—दो प्रकार के होते थे। उनमें कुछ जैन भी थे। इन तीनों धर्मों के साधु दूर-दूर देशों में जाते थे। तीनों धर्मों का समन्वय करना ही उन संतों की प्रमुख चेष्टा रहती थी।

ईसा से ४०० वर्ष पूर्व ही ये भारतीय तत्त्ववेत्ता यूरोप में पहुँच चुके थे। पोप-पुस्तकालय के एक लेख से जो अभी हाल में ही अनुवादित हुआ है, ज्ञात होता है कि ईसा के जन्म-समय तक हजारों तत्त्ववेत्ता इथोविया के जंगलों में निवास करते थे। लोग इनसे शिक्षा ग्रहण कर अपने को कृतकृत्य मानते थे। इन संतों का यूनानी विद्वानों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि चौथी सदी ईसवी-पूर्व में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान 'वीरो' भारत आया और यहाँ वर्षों रहकर, शिक्षा ग्रहण करके वापस गया। यूनान पहुँचकर उसने एलिस नगर में इस नई दर्शन-पद्धति के शिक्षण के लिए एक संस्था की स्थापना की।

इस दर्शन-पद्धति का मुख्य सिद्धांत यह था—'इंद्रियों द्वारा वास्तविक ज्ञान असंभव है। यथार्थ ज्ञान अंतःकरण की शुद्धि से होता है। अतः अत्यंत सरल जीवन, आत्म-संयम और योग द्वारा अपने अंतर में पहुँचना चाहिए।' भारत से लौटने पर 'वीरों' दिगंबर-रूप में रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनानी उसके प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते थे तथा आदर की दृष्टि से देखते थे। वह स्वयं योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प समाधि में विश्वास रखता था।

एस्सेनी

बौद्ध भिक्षुओं और संतों के प्रभाव से ई० पू० दूसरी शताब्दी में यहूदियों में एस्सेनी नामक संप्रदाय प्रचलित हुआ। यहूदी इतिहास-लेखक यूसुफ और फ़ाइलो तथा अन्य यूनानी इतिहास-लेखकों ने विस्तार से इन संतों और इस नवीन संप्रदाय का चित्रण किया है।

इन लोगों के मठ शहर से दूर होते थे। मठ की वस्ती के भीतर हरएक संत की अलग-अलग कुटी होती थी, जो पास-पास ही बनाई जाती थी। वे आजन्म ब्रह्मचारी, तपस्वी और संयमी होते थे। उनका एक कुलपति होता था। सब-का भोजन साथ-साथ और एक कुल के समान होता था।

प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन कई घंटे शारीरिक श्रम करता था। अनाज पैदा करना, भोजन बनाना, कपड़ा तैयार करना आदि कार्य इसी श्रम के अंतर्गत माने जाते थे। किसी को नौकर या दास बनाना पाप समझा जाता था। अपना काम स्वयं करते थे। सब संपत्ति कुल की समझी जाती थी। व्यक्तिगत संपत्ति का इनमें विचार ही नहीं आता था।

हरएक एस्सेनी प्रातः उठकर शौच-स्नानादि नित्य-कर्म करके सूर्योदय से पूर्व ही संध्या-पूजन से निवृत्त हो जाता था। भोजन से पूर्व दोनों समय स्नान करता था। अहिंसा मुख्य धर्म था; अतः मांस-भक्षण एवं मदिरा-पान पूर्ण निषिद्ध था। रोटी, साग और ठंढा पानी ही मुख्य खाद्य था। भोजन के प्रारंभ और अंत में एस्सेनी ईश्वर-प्रार्थना करते थे और परमात्मा को धन्यवाद देते थे। सफेद कपड़े पहनते थे, सिर में तेल डालना पाप समझते थे। एक जोड़ा कपड़ा से अधिक वस्त्र कोई नहीं रखता था। पशु-बलि के कारण ये लोग यहूदियों के मंदिर में नहीं जाते थे।

ये लोग प्राचीन धर्म पर केवल श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए शुद्ध उपहार तथा धूप यरूसलम को भेजते थे। ईरान के मित्र (सूर्य) संप्रदाय के प्रभाव के कारण सूर्य के प्रति आदर करते थे और सूर्य की ओर मुँह करके संध्या करते थे। सूर्योदय के समय यहूदियों के प्रसिद्ध मंत्र 'रोमा' का उच्चारण करते थे। उसे अध्यात्म-कार्य में सहायक सम-झते थे।

हर एस्सेनी का कर्त्तव्य था कि नित्य-कर्म के बाद समीप की वस्तियों में दीन-दुखियों और गरीबों की सेवा करे। कुल के कोष से भी वे उनकी सहायता कर सकते थे। विना कुलपति की आज्ञा लिए भी परोपकार में उक्त धन व्यय किया जा सकता था। अन्य कार्यों के लिए कुलपति की आज्ञा लेना अनिवार्य था। रात के समय वे अध्ययन, मनन, आध्यात्मिक चिंतन, विचार और योग की क्रियाओं में लगते थे। पवित्र जीवन, दीन-दुखियों की सेवा, शारीरिक श्रम और योग द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध,—ये ही मुख्य चार साधन थे।

ईसा के जन्म-समय पर सीरिया, फिलस्तीन और मिस्र के पहाड़ों में बहुत-से संत रहते थे, जहाँ पर पानी के सोते बहा करते थे। फ़ाइलो के समय इनकी संख्या ४,००० थी। एक इतिहास-लेखक भारतीय और ईरानी संतों की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि यहूदियों में एस्सेनी भी इसी प्रकार के थे।

यूनानी इतिहासकार स्ट्रेबो इन्हें 'दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का संघ' कहकर पुकारता था। ये लोग एक-एक सप्ताह तक एस्सेनी-वस्तियों में एकांत-सेवन करते और समाधि में पड़े रहते थे। ध्यान द्वारा ईश्वर-प्राप्ति ही इनका लक्ष्य था। ये नाम और मंत्र भी जपते थे। दर्शनों पर विचार करते, भजन गाते तथा भक्ति में निमग्न हो नाचने लगते थे। शिष्यों को ही योग की विधि और ध्यान करने की प्रणाली बतलाते थे। ये लोग बड़ी उमर के होते थे। सरल, संयमी जीवन के कारण ही ये आध्यात्मिक भावना के अधिकारी होते थे। बालक या वृद्ध ही इस संप्रदाय में शिष्य हो सकता था। नवागंतुक को अपनी संपूर्ण संपत्ति कुल को देनी पड़ती थी। तीन वर्ष तक उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। शिष्य बनते समय प्रत्येक से निम्न प्रतिज्ञा कराई जाती थी—

'मैं परमात्मा का भक्त रहूँगा। मनुष्यमात्र के साथ न्याय का व्यवहार करूँगा। स्वयं या किसी के कहने से किसी की हिंसा न करूँगा और न हानि पहुँचाऊँगा। बुरे

लोगों से दूर रहूँगा। भले लोगों की सहायता करूँगा। वचनों का पालन करूँगा। अधिकारियों से सत्य-व्यवहार करूँगा। अपने अधिकार को सत्ता-रूप में किसी पर न लादूँगा। न कभी अभिमान करूँगा। सदा सत्य से प्रेम और असत्य से घृणा करूँगा। हाथों को चोरी से और आत्मा को पापों से बचाऊँगा। भाइयों से छिपाव न करूँगा और न उनका रहस्य खोलूँगा, चाहे प्राण भले ही चले जायँ।'

इसके सिवा ये कभी शपथ नहीं खाते थे। इनके मठों में केवल पुरुष ही भरती होते थे, पर अफ्रिका में स्त्री-जिज्ञासुओं को भी ले लेते थे। इब्रानी 'जिन' शब्द से एस्सेनी शब्द का विकास हुआ है, जिसका अर्थ है, मौन रहनेवाला, धर्मनिष्ठ और संन्यासी। ईसा से १०० वर्ष बाद फिर पता न चला कि यह संप्रदाय कहाँ गायब हो गया। यूनान के पैथागोरियन स्टोइक नामक दार्शनिक ने अपने अनेक सिद्धांत इन्हीं 'एस्सेनी' संतों से लिए हैं। ईसाइयो में मठों और महंतों की प्रथा इन्हीं से ली गई है।

कब्बालह

बौद्ध और हिंदू-धर्म के प्रभाव से यहूदियों में 'कब्बालह' शैली का जन्म हुआ, जिसका अर्थ 'कबूलियत' है। इस प्रणाली में इतनी विकृति आ गई कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में यूरोपीय विद्वान् इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे; परंतु इस सदी में उसके प्रति जिज्ञासा बढ़ रही है। इस विषय की मुख्य पुस्तक 'जौहर' है, जो पहली शताब्दी में लिखी गई। इसका अर्थ है प्रकाश। यह तौरेत का भाष्यमात्र है। इसमें जीव, सृष्टि और मुक्ति पर विचार किया गया है। ईश्वर अंनत, अपरिमित, अचिंत्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है। वह 'नेति-नेति' है। उसका अस्तित्व चेतना से भी परे है। अव्यक्त से व्यक्त 'प्रकट' हुआ। अव्यक्त से व्यक्त ही अवतारवाद है। पिंड और ब्रह्मांड की समानता ही योग का विधान है। शुद्ध आत्मा ही मुक्त है तथा ईश्वर में लीन होना ही मुक्ति है।

कब्बालह में शरीर के भीतरी चक्रों का योगाभ्यास द्वारा रहस्योद्घाटन करके भिन्न दर्जों को ज्ञात करने की चर्चा है। इन रहस्यों और योग की क्रियाओं को कब्बालियों ने बौद्ध और हिंदू संतों से सीखा था। यह आगे चलकर रहस्यवाद के रूप में यूरोप में विकसित हुआ।

यहूदियों में धार्मिक विचार-श्रृंखला

अब्राहिम ने काबुल के मंदिरों और धनाढ्य पुरोहितों का विरोध किया। इससे जनता के लिए धर्म का द्वार बंद हो गया। पर आम लोगों के लिए तो कुछ पूजा-विधान चाहिए ही। यहूदी लोगों की एक सुमेरी शाखा थी—जो उनसे अलग हो चुकी थी। उनकी पूजा रूढ़िवाद पर निर्भर है। अब्राहिम ने जनता के लिए पूजा की आवश्यकता का अनुभव किया और उसके अनुसार याहेव के नाम पर मंदिर बनाए।

अब्राहिम के पोते याकूब ने भी पूजा का अनुभव किया और जिला वर्त्तानी में एक पत्थर खड़ा करके उसपर तेल चढ़ाया। याहेव के नाम पर उसे 'बैथुएल' (अल्लाह का घर) कहा गया। हजारों वर्ष तक यही नाम प्रसिद्ध रहा।

यहूदी खानाबदोशों में खेमे की शक्ल के मंदिर बने थे। आबाद होने पर पक्के मंदिर बनाए गए। सुलेमान ने यरुसलम में मंदिर बनवाया तो अन्य मंदिरों का महत्त्व कम हो गया। जरथुस्त ने अनेक देवों की पूजा हटाकर एक ईश्वर की उपासना कायम की और 'अहुर मज्द' नाम दिया। उसके विरुद्ध बहकानेवाली शक्तियों की चर्चा की। वृहत् साम्राज्य में एक प्रकार की उपासना संभव नहीं, अतः नानाविध कर्मकांड बढ़े। जरथुस्त ने अमरगणों का भी उल्लेख किया है। वे ही भिन्न-भिन्न देवता हो गए। इन्हीं में से अच्छे और बुरे देवता बना लिए गए, जो कि असुर और देव के नाम से पुकारे गए। यूनान में इसी आधार पर सहायक फरिश्तों और बाधक शैतानों की कल्पना हुई। पुरोहितों का जोर बढ़ा। यज्ञ और बलिदान अधिक होने लगे। सदाचार के स्थान पर कर्मकांडों की संख्या बढ़ गई। शरीर की पवित्रता और छुआछूत ने हृदय की शुद्धता का स्थान ले लिया। जरथुस्त का सार्वजनीन धर्म एक संप्रदाय बनकर रह गया। यही बातें फिलस्तीन में भी फैल गईं।

काबुल के निर्वासन से लौटने के पूर्व यहूदियों में फरिश्तों और शैतानों की चर्चा न थी, पर वापसी में अनेक फरिश्ते और शैतान आ घुसे। फरिश्तों को यहूदी लोग 'ईश्वर-पुत्र' कहते थे जो पीछे शैतान के रूप में आ गए। इन शैतानों और फरिश्तों के रूप यहूदियों ने काबुल और ईरान से लिए थे। ईरानी 'ऐश्मदेव' इब्रानी में 'अशमेदइव' हो गया। यही देवता मुसलमानों

और ईसाइयों ने यहूदियों से लिया है। इसे प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह की प्रणालियाँ भी निर्द्धारित की गईं। पौराणिक कथाएँ भी इन्हीं आधारों पर चल पड़ीं। कौम का संरक्षक देवता मिकाइल था। 'ईराक' में 'भरदुक' अंधकार से लड़नेवाला देवता था। और, ईरान में अहुर मज़्द को भी अंधकार तथा अन्याय से लड़ना पड़ा था। इसी तरह मिस्र में सुनहले बछड़े की पूजा का रिवाज था। मूसा के पुत्र आरान ने मिस्र से लौटकर यहूदियों में इसका भी विधान चलाया और इसे याहेव का रूप दिया। काबुल में 'बाल' के नाम से उदय होते सूर्य की पूजा होती थी। उसकी अनेक प्रतिमाएँ थीं। यहूदियों में सदियों तक बाल-सूर्य की पूजा होती रही। अब्राहिम के जन्म-स्थान में चाँद की भी पूजा होती थी। हर यहूदी मास शुक्ल पक्ष से प्रारंभ होता था। आज भी उनमें दोज का त्योहार मनाया जाता है और उसे ईश्वर का चिह्न मानते हैं। चाँद को ये विशेष दिनों पर नमस्कार करते थे। विदेशी देवताओं और नक्षत्रों की भी पूजा होती थी, जिसमें पुरोहित भी शामिल होते थे। मंदिरों की पूजा-विधि का उल्लेख तौरेत में है। यरुसलम में एक चौखूटे संदूक में दो शिलाएँ रखी थीं, जिनपर खुदा की आज्ञाएँ खुदी थीं, जो खुदा ने मूसा को दी थीं। ये सबसे पवित्र वस्तु मानी जाती थीं। कभी-कभी जुलूस में भी मिस्र के लोग इन्हें निकालते थे। यहूदी मंदिर का मुँह पूर्व की ओर होता था। नंगे पैर मंदिरों में जाते थे। सिर पर टोपी या साफा का होना जरूरी था। मंदिर में अकेला पुरोहित जा सकता था। वह भी हाथ-पैर धोकर जाता था। बत्तीदान में बत्तियाँ जलाई जाती थीं। एक तरफ हवन की वेदी बनी होती थी। वेदी के अंदर लकड़ी और ऊपर पीतल मढ़ा रहता था। हिंदू-मुसलमानों की भाँति ये लोग तौरेत का पाठ भी करते थे। यूनानियों ने जब तौरेत का ग्रीक भाषा में अनुवाद किया तब यरुसलमवालों ने शोक मनाया था। इनके बहुत-से त्योहार होते थे, जिनमें तीन मुख्य थे—

(१) वसंत ऋतु में, मूसा के मिस्र से लौटने की यादगार में, पासोवर होता था। यह ऋतु से संबंध रखता था। होली के समान ही त्योहार था। इस समय के भजनों को 'हल्लोल' कहते थे। पशु-बलि भी होती थी, शराब भी पीते थे। यहूदियों के सबरिब्न संप्रदाय के लोग आजतक इसे इसी प्रकार मानते हैं और काबुलवाले भी इसी रीति पर चलते हैं। (२) गेहूँ की फसल कटने पर 'पेंटेकोस्ट' त्योहार होता था। इस दिन ईश्वर ने मूसा को १० आज्ञाएँ दी थीं। (३) शरद् ऋतु में लोग घरों से निकलकर सात दिनों तक खेमों में रहते थे, 'टेबरनेकल' की दावत करते थे। इसमें बैल की बलि होती थी।

दाऊद-जैसे पैगंबरों ने भी पशुबलि दी थी, जो कि बीमारी से बचने के लिए की गई थी। इन बलि-विधियों का विस्तार से तौरेत में वर्णन है। फिर यरुसलम की यात्रा का नाम 'हैज' रखा गया। सन् १६५ ई० में देशभक्त मूसा ने यरुसलम को यूनानियों से स्वतंत्र किया। तब एक त्योहार मनाया गया, जिसे दीये का त्योहार कहते हैं। दिसंबर में ८ दिन तक दीये जलाए जाते हैं, दावतें होती हैं; खुशियाँ मनाई जाती हैं।

नए वर्ष की दूज को नव वर्ष का त्योहार मनाते हैं। इस अवसर पर उपवास भी करते हैं। एक मास का भी व्रत होता है। दसवें दिन प्रायश्चित्त का त्योहार मनाते हैं, उपवास करके शरीर को कष्ट देते हैं, जंगल में दौड़ते हैं। इसे योम-किप्पर कहते हैं।



जब 'दुलड़ी' क्वाँरी थी

श्री शंभुनाथ बलियासे 'मुकुल'

मर्म-लोक में विचरण करनेवाला कवि दुनिया की सारी चीजों से विरक्त होकर अलग नहीं पड़ा रहता, बल्कि वह उनपर खास ढंग से ख्याल रखा करता है। आस-पास के लोगों के मनोभावों को चित्रित करने के लिए वह खोया-खोया-सा रहता है। ऐसी अवस्था में अपने-आप-पर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता। मोहित करनेवाली भावनाओं का, उसकी हर नजाकत का, चढ़ाव-उतार का उसपर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि वह विवश-सा हो जाता है। अपनी इस विवशता के चलते ही वह समाज में भी साधारण जगत् से भिन्न जगत् का प्राणी माना जाने लगता है। मर्म को समय पाकर छू देना, उसके स्पंदन से पुलकित हो उठना एवं हर्षातिरेक से अपने को आत्मविभोर कर देना वह अपना परम कर्त्तव्य मानने लगता है। ऐसे समय वह जो कुछ होते देखता है, उसे चुपचाप अपने तक ही नहीं रख पाता। उसे लगता है, जैसे कोई उसे कुरेद रहा है, सारी बातें साफ-साफ कह देने के लिए। वह कहे बिना रह भी नहीं पाता है। इसी स्पष्ट-वादिता के चलते वह समाज में भी कभी प्रिय तो कभी अप्रिय बनता, कभी प्रतिष्ठा एवं कभी अप्रतिष्ठा का अधि-कारी समझा जाता है। गो कि इस प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का उसके लिए कोई मूल्य नहीं; क्योंकि वह अपने को इन सबसे परे का मानता है।

संताली लोकगीतों का रचयिता यह कवि जैसे अपने समाज का नहीं हो। समाज से जैसे उसे कोई मतलब ही नहीं हो। औरों की तरह न वह कुदाली लेकर मिट्टी काटने या कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटने भर को ही अपना कर्त्तव्य मानता है और न अपने सामाजिक सारे रश्म-रिवाजों को अंधे की तरह ढोते जाना ही पसंद करता है; बल्कि वह उन सारे सामाजिक बंधनों को छिन्न-भिन्न कर देना चाहता है, जो किसी की आजादी में अनधिकार अड़ंगा उपस्थित करने की चेष्टा करता हो। वह सामर्थ्य-वानों के साथ तनिक भी सहानुभूति नहीं रखता है, क्योंकि सामर्थ्यवान स्वयं दूसरों पर सहानुभूति प्रकट करने का दंभ प्रदर्शित करते रहते हैं। यही कारण है कि 'दुलड़ी' के प्रति उसकी खास सहानुभूति हो गई है। 'दुलड़ी' की उमर हो गई है, पर खास कारणों से वह अभी तक क्वाँरी है। वह उमर के अनुसार बहुत-कुछ चाहती है, लेकिन समाज उसे देना नहीं चाहता है। समाज बंधन मानता है, लेकिन भूख-प्यास बंधन से परे की वस्तु है।

'दुलड़ी' के मर्मलोक में कितनी व्यथा है, इसे समाज ने कभी जानने की चेष्टा नहीं की। बंधनहीन मन को समझने की चेष्टा वह कर ही कैसे सकता था? हाँ, चेष्टा सामाजिक बंधनों से मुक्त रहनेवाले कवि ने की थी। यही कारण है कि सहानुभूति की एक हल्की किरण पाकर 'दुलड़ी' ने अपना भीतर-बाहर उसके लिए दृश्य बना दिया था। कवि इस उदारता की अवहेलना नहीं कर सका। और, वह उसकी सारी बातों को सहृदयता से सुनता तथा धड़-कनों के चढ़ाव-उतार को सही रूप में कागज पर अंकित कर देने का प्रयत्न करता रहता। यह सिर्फ इसलिए कि 'दुलड़ी' पर जो कुछ हो रहा था, उसे वह अनुचित मानता था। समाज की आँखों में उँगली डालकर वह चेतावनी दे देना चाहता था कि आइंदे ऐसा न हो, और, यदि ऐसा ही होता रहा, तो, एक दिन ऐसा भी आयगा जब यह बर्दाश्त से बाहर हो जायगा। फिर उस दिन सारे समाज का रंग बदरंग हो जायगा। बंधन की महिमा बखाननेवालों के सिर पर कलंक का टीका लग जायगा।

'दुलड़ी' का स्वस्थ शरीर यौवन की पहली अँगड़ाई ले चुका है। उसमें अनचाहे ही क्या कुछ होने लगा है। उसकी बुभुक्षा बढ़ने लगी है। बेताबी का अनुभव होने लगा है। सारा शरीर रह-रहकर पुलकित हो उठता है, जैसे किसी ने अचानक कुछ कर दिया हो। अपने को सँभालना उसके लिए कठिन हो गया है। अस्तु, वह करना चाहती है कुछ, पर हो जाता है कुछ और ही। उसे एक ऐसे सहयोगी की सख्त आवश्यकता मालूम पड़

रही है, जो सँभालकर ले चले। अपने को सँभालने के ख्याल से वह काफी सावधानी से कदम बढ़ाती है, पर लगता है, जैसे उसके पैर धरातल पर कभी पड़ते ही नहीं। उसे अपनी यह स्थिति पसंद है, ऐसी बात भी नहीं। वह काफी चिंतित है। चिंता दूर करने लिए ही अधीरता एवं बेचैनी से वह ढूँढ़ रही है किसी ऐसे समर्थ व्यक्ति को जो अपने व्यक्तित्व से उसे प्रभावित कर सके—विश्वास दिला सके और सँभालकर साथ-साथ ले चल सके।

एक दिन उसे एक ऐसे व्यक्ति का दर्शन होता है, जिसके व्यक्तित्व पर उसकी नजर टिक जाती है। और तब, थोड़ी देर बाद, वह कह उठती है—

ओका विररेन चेंडें का नाम
संगे दारे साकामे ञाञाम काना ?
ओकोय होपोम कानाम ओलोक कॉडा
सांगे लो पहा कुड़ीम ञाञाम काना ?

'यह किस जंगल का पक्षी है जो सघन पत्तोंवाले वृक्ष की खोज कर रहा है। यह किसका पढ़ुआ लड़का है, जो संपन्न परिवार की लड़की खोज रहा है?'

लगता है, जैसे 'पढ़ुआ' लड़क की पात्रता ने उसे आकृष्ट कर लिया है। लड़का मौन है, पर 'दुलड़ी' उसके मनोभावों का अध्ययन कर दूर से ही समझ जाती है कि इसे एक पात्री की जरूरत है। उसके हृदय में लड़के की पात्रता के प्रति संमान का भाव जगता है और वह मन-ही-मन निश्चय कर लेती है कि इसे ही अपने सहयोगी के रूप में अपनाएगी। अब उसके मन में इसकी चिंता होने लगती है कि किस बहाने उससे चलकर थोड़ी बातें कर ली जायँ; क्योंकि 'दुलड़ी' को इसका पूर्ण ज्ञान है कि वह अपनी (संतालों की) सामाजिक व्यवस्था के चलते किसी क्वाँरे लड़के से खुलेआम दिल की बातें एकांत में नहीं कह-सुन सकती है। वह क्या, कोई भी संताल-क्वाँरी ऐसा करने का साहस नहीं कर सकती। अस्तु, काफी सोचने-विचारने के बाद वह एक ऐसा उपाय ढूँढ़ निकालती है जिसका बेकार जाना संभव नहीं। और, तब वह आनंद से उछलकर गुनगुनाने लगती है—

आले राचारे तोवा वाहा
मिलवा राचारे नाकाड़ वाहा
मिलवा राचादो चेकाते ञ वोला
वाहा नेंगो सतेञ वोला
मिलवा गातेञ दोञ ञोलेगेया

'मेरे आँगन में 'दुधी' फूल है और मेरे प्रेमी के आँगन में 'अल्होड़' का फूल है। मैं अपने प्रेमी के आँगन में कैसे जाऊँगी? मैं फूल तोड़ने के बहाने जाऊँगी और उनसे बातें करूँगी।'

मनचाही चीजों के मिलने की अधिक संभावना दीखने पर बेताबी का बढ़ जाना स्वाभाविक है। इसलिए ऐसी अवस्था में ऐसी क्रियाओं का हो जाना भी स्वाभाविक ही है, जिनका साधारण अवस्था में होना संभव नहीं। 'दुलड़ी' को मनचाही चीज मिल गई है। अस्तु, उसपर आधिपत्य जमा लेने को वह व्यग्र हो उठी है। वह विजय-अभियान में निकल पड़ी है। इसके लिए उसने किसी की आज्ञा लेने तक की आवश्यकता नहीं समझी और न किसी की रोकथाम की ही परवाह की। द्रुत गति से चली और 'अल्होड़' फूल तोड़ने के बहाने अपने प्रेमी के पास तक पहुँच गई। स्वेच्छा से, विना किसी प्रकार की पूर्व-सूचना दिए ही। लाचारी थी, इसलिए उचित-अनुचित का विचार करना संभव भी नहीं हो सका। अतः उसने पहुँचते ही बिना किसी झिझक के कहना शुरू किया—

कामरा कोयारे मेलो मेचो कोंड़ामलान्दा वादिञ
इञाक् मोन कोड़ाम पुराव लेखान—
मौनेरे मो तो न कुड़िञ इ मामा।

'ऐ युवक! उस दिन तुमने 'केले' के बगीचे में मुझे देखकर मुस्करा दिया था। शायद, तुम मेरे मन की इच्छा समझ गए हो। यदि तुम मेरे मन की इच्छा पूरी कर दो तो मैं तुम्हारे मन के लायक लड़की ढूँढ़ दूँगी।'

'दुलड़ी' की लाक्षणिक भाषा उसका प्रेमी नहीं समझता हो—ऐसी बात नहीं। उसे अपने प्रेमी की सूझ-बूझ की संपन्नता पर पूरा विश्वास है। इसीलिए तो उसने ऐसी भाषा का प्रयोग किया। उसका प्रेमी 'पढ़ुआ' है। इसलिए उसकी समझदारी की परीक्षा उसके द्वारा दिए गए छोटे-से उत्तर से ही हो जाती है। वह विना किसी भूमिका के कह उठता है—

जोनोम-जोनोम कुडिञदो होमेया।

'यदि यह ठीक है, तो मैं तुम्हें जीवन भर के लिए अपना लूँगा।'—कितनी संयत भाषा में लाक्षणिक ढंग से दोनों ने एक दूसरे की बातें कह-सुन लीं। इनके मनोविश्लेषण का यह विवरण संताल-समाज के संयत एवं शिष्ट जीवन की झाँकी देता है।

'दुलड़ी' का मन अब बाँसों उछला-उछला रहता है। चंचलता बढ़ने के साथ-साथ थोड़ी विक्षिप्तता भी आ जाती है। अब घर-गृहस्थी के काम में उसका मन नहीं लगता है। हाँ, एक काम में उसका इधर बहुत अधिक मन लग रहा है। वह काँख-तले टोकरी लिए जब जी में आता, तभी 'गोयठा-अमारी' चुनने के लिए निकल जाती है। इसमें न 'लू' उसके किसी अंग को झुलसा सकती है और न भयंकर शीत ही ठिठुरा सकती है। उसके इस स्वभाव-परिवर्तन पर उसके परिवारवालों को कुछ दुःख मालूम पड़ने लगा। वे शंका करने लगे कि यह विक्षिप्त होती चली जा रही है। पर, 'दुलड़ी' की मा एक अनुभवी नारी ठहरी, साथ ही ममतामयी मा भी। अतः वह अपनी संतान को नहीं समझ सके,—यह कैसे हो सकता है! अस्तु, एक दिन उसने बड़े सुंदर ढंग से कहा—

लो लो से तोङ बिटि, गोयठा हालाङ
बाङ से तोङ में बिटि लो लो में।
ओड़ाकरे कामी बिटि नाचु मेरे
लो लो में या बिटि से तोङ में या॥

'बेटी! इतनी 'लू' चल रही है, लेकिन इसमें गोयठा चुनते तुम्हें गर्मी नहीं मालूम पड़ती है, और, मैं जब घर पर कुछ दूसरा काम करने कहती हूँ, तब तुम्हें गर्मी मालूम पड़ने लगती है।'

वह मा के मनोभाव को समझ जाती है; पर कुछ भी उत्तर देना अनुचित समझ, काँख-तले टोकरी लिए 'गोयठा' चुनने के लिए पुनः निकल जाती है। इधर मा सामाजिक बंधन, बेटी की मनमानी, अपनी गरीबी आदि पर गंभीरतापूर्वक विचारने लगती है, और, उधर वह सारी स्थितियों को अति साधारण एवं अनुकूल बनाने की चिंता करने लगती है। प्रेम का रंग कुछ गाढ़ा होता गया है। इसलिए रात-दिन में वह धीरे-धीरे कोई अंतर नहीं मानने लगी। जब जी में आता, तभी घर से निकल जाती। मा को समाज का बड़ा डर लगता है। अतः वह एक दिन वात्सल्य-भाव से पुनः कह उठती है—

ञिदा ञूता बिटीम माडांन काना
होड़ को रोड़ा बिटी लाजाव पाड़ा।

'बेटी! रात-बेरात, जहाँ मन होता है, तुम टहलने चली जाती हो! लोग मुझे लजाएँगे!'

इसके उत्तर में 'दुलड़ी' सगर्व कहती है—

बैहीरे बाबाम दुड़ुम्लेन खान—
होड़ कारोड़ सौबते हे लेञमें।

'मा! पिताजी जब-कभी सभा-पंचायती में मेरे लिए कुछ सफाई देने जायँगे, उसके पहले ही मेरा सिर उतार देना।'

'दुलड़ी' वासना को प्रेम मान लेने की भूल नहीं कर सकती। साथ ही सामाजिक व्यवस्था का तिरस्कार भी उस हद तक नहीं करना चाहती, जिस हद तक आज की विदुषी क्वाँरियाँ बेरहमी से कर डालती हैं। ऊपर की पंक्तियों से वह अपने उत्तरदायित्व के ज्ञान का इजहार करती है। साथ ही ऐसी आलोचनाओं से कभी-कभी खिन्नता भी प्रकट करती है। इसलिए जब एक दिन उसके घर के 'सीसम' वृक्ष पर पपीहा आकर 'पी कहाँ-पी कहाँ' की रट लगाने लगा तब उसकी आत्मा बिलख पड़ी और वह बड़े विनम्र शब्दों में पपीहा से कहने लगी—

नाले घाटकारे सीस! दारे
दोन आते पियो नालोम रागा।
निञ मिनाञ मोर पियो नालोम पियोय
कुवाँरी मोन पियो हाले डाले॥

'हे पपीहा! मेरे आँगन में 'सीसम' का वृक्ष है। तुम फुदुक-फुदुककर मत बोला करो। जबतक मैं क्वाँरी हूँ, तबतक पी-पी की रट न लगाया करो। क्वाँरापन 'पी-पी' की रट सुनकर विह्वल हो जाता है।' भला 'पी-पी' की रट वन-कुमारी दुलड़ी के हृदय को क्यों नहीं विह्वल कर देती होगी, जब वह नगर-कुमारियों के मन को भी विह्वल करने की क्षमता रखती है! भला 'दुलड़ी' से अधिक नगर-कुमारियाँ 'पपीहे' की रट का अर्थ क्या समझने गई!

कुछ दिनों बाद 'दुलड़ी' के प्रेमी की शादी की बात दूसरी लड़की से चलने लगी। सामाजिक व्यवस्था ठहरी। नया संबंध एक तरह से पक्का भी कर लिया गया। इधर 'दुलड़ी' की मा के विशेष आग्रह पर पिता इसका भी वर ढूँढ़ने लगे। बात फैली और 'दुलड़ी' तथा उसके प्रेमी को भी इन सबका पता लग गया। अतः, दोनों ही समाज की इस व्यवस्था से बड़े क्षुब्ध होते हैं। एक नदी के किनारे दोनों की मुलाकात होती है। नदी में बाढ़ आ गई है। इसलिए दोनों नदी के दो किनारे खड़े हैं। 'दुलड़ी' का प्रेमी बड़ा खिन्न और उदास है। 'दुलड़ी' उसकी उदासी सहन नहीं कर सकती है। मन बहलाने के ख्याल से कह उठती है—

डाँडारे चुन मोचाररे तामाखुर
ओ कोय नुयहार ते बाम तोमेत् ।

'प्यारे ! तुम्हारी कमर में 'चूना' और कपड़े के छोर में 'खैनी' बँधी है। फिर पता नहीं, तुम किसकी याद में भूले हो, जो खैनी बनाकर नहीं खा रहे हो ?'

इसके उत्तर में प्रेमी खेद प्रकट करते हुए कहता है—

इञको बहुबाञ वाड़िच गेञ आयकाब
से दाय गाते हाले—डाले ।

'मेरी शादी होनेवाली ह। इसलिए मेरा दिल उदास है। सोचता हूँ, मेरी शादी हो जाने के बाद मेरी प्रेमिका की क्या गति होगी ? वह कहीं की नहीं रह जायगी।'

अपने प्रेमी की ऐसी उक्ति सुनकर वह अपने को भी रोके नहीं रह सकी। अतः बड़े सहज भाव से बोली—

मराङ बूरू योटरे
छोरम किरिया लाङ किरिया लेना
आमदो रोबोन को बाहुबाम काना।
इञ दोरे राबोन हाले—डाले ।

'प्यारे ! उस पर्वत पर हम दोनों ने जीवन भर साथ रहने की प्रतिज्ञा ली थी, शपथ ग्रहण किया था; लेकिन रावोन, तुम्हारी शादी हो रही है। अब तो मैं सचमुच कहीं की नहीं रह जाऊँगी !'

'दुलड़ी' का प्रेमी 'रावोन' उसके इस कथन पर अधीर हो जाता है। पर अपनी प्रेमिका को धैर्य बँधाते हुए कहता है कि शादी होने के वाद भी वह अपना प्यार किसी दूसरे को नहीं दे सकता है। वह कहता है—

आम मो गाडा हाना साढीप दे
इञ दो गाड़ा नोवा साढीप रे
नोछा आताङ मेमालाञ चापात्
माला दोय रोडासे मुन्दाम दोपलोन्दाया
मादोली खान दोय जिवीय तेना ।

'तुम नदी के उस पार के टीले पर हो और मैं नदी के इस पार के टीले पर हूँ। लो, मैं माला फेंक रहा हूँ, तुम आँचल में लोक लेना। न तुम्हारी माला बोलेगी, न मुद्रिका ही हँसेगी। 'माँदुली' रहती तो दिल की धड़कन को दाबती।'

धीरे-धीरे दोनों का प्रेम उभार पर आ जाता है। अब वे एक दूसरे के बिना एक दिन भी नहीं रह सकते। इनका प्रेम नदी, तालाब, घाट-बाट—सभी जगह चर्चा का विषय बन गया है। एक दिन 'दुलड़ी' की मा अपनी वेटी से काफी उदास होकर कहती है—

डाडीर घाटे बिटी, पुखुर घाटे
होड़को रोड़ञ बिटी लाजाब पाड़ा ।

'वेटी ! पनघट में, तालाव के किनारे,—सभी मुझे शर्मिंदा करते हैं।'

इसका उत्तर अपने प्रेमी की प्रतिष्ठा के ख्याल से वह कैसे देती है—

रोड़ आचो वाको नायो,
आञजोम हाये काता कोय
कुवाँरी मोरे दोले बोसोरोम गेया ।

'मा ! उन लोगों को बोलने दो। तुम उन लोगों की वातों पर ध्यान न देना। जवतक मैं क्वाँरी हूँ तवतक निर्लज्ज ही कहलाऊँगी।'

फिर 'दुलड़ी' सुन पाती है कि उसके पिता उसकी शादी बहुत दूर के एक लड़के के साथ, जिसे वह जानती तक नहीं, वधू-शुल्क लेकर करने जा रहे हैं, तो, वह अत्यंत दुखी होती है। उससे नहीं रहा जाता है। वह उसका विरोध करती है, पर वड़े अदव के साथ, शिष्ट भाषा में। उसकी निर्भीकता का अंदाज लीजिए। वह कहती है—

सागिञ दिसोम बाबा, रेंगेंय नाड़ोक
गोनोङ टाका बाबा नालोम जो मार

'बावा ! एक तो दूर देश का वह रहनेवाला है, दूसरे गरीब और तीसरे तुम उससे वधू-शुल्क ले रहे हो। वधू-शुल्क लेकर मेरी सगाई मत करो।'

दुलड़ी के मन-प्राण पर जो गुजर रहा था, वह सिर्फ वही कह सकती है। उसका प्रेमी सिर्फ उसका होते हुए भी उसका नहीं रह सका। उसके हृदय से जो उद्गार समय-समय पर निकलते रहे, उन्हें गीतों में वाँधकर कवि ने अमर वना दिया। चूँकि 'दुलड़ी' के उद्गार आज संताल-कुमारियों के उद्गार वन चुके हैं, इसलिए उसपर रचे गए गीत सिर्फ उसके ही नहीं, वल्कि संताल-समाज की कुमारियों के गीत वन गए हैं। संताल-कुमारी 'दुलड़ी' ने जिस आदर्श प्रेम और आदर्श पुत्री-चरित्र का नमूना पेश किया है, वह सर्वथा अनुकरणीय है। भला, प्रकृति की गोद में पलनेवाले इन संतालों की सामाजिक व्यवस्था एवं आदर्श कर्त्तव्य-निष्ठा देखकर इन्हें कौन असभ्य कहने का साहस कर सकेगा ?

रूसी साहित्य के सहस्र वर्ष

[ईसवी सन् ६०० से ईसवी सन् १६१७ तक]

श्री जगनंदन

समाजवादी क्रांति से पूर्व ही रूसी साहित्य इतना समुन्नत हो चुका था कि संसार के श्रेष्ठतम साहित्यों में उसकी गणना की जाने लगी थी और कथा-साहित्य में तो आज भी किसी देश का साहित्य उस कोटि का नहीं। किंतु इतनी महान साहित्यिक प्रगति एक वर्ष अथवा एक शताब्दी की आयोजना का फल कभी नहीं हो सकती। इसके पीछे वास्तव में युग-युग के परिश्रम और प्रयासों की कहानी है तथा शताब्दियों-पूर्व की परंपराओं के विकास का इतिहास !

रूसी साहित्य के बीज वस्तुतः बहुत पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी में बोए गए थे जब देनीयर नदी के किनारे स्लाव जाति बसती थी और कीव तथा नोवोगोरोद उसके सांस्कृतिक केंद्र थे। नवीं शताब्दी में स्केंडिनेविया के शस्त्रास्त्र-सज्जित व्यापारी नार्स मैनों ने स्लाव जाति पर आक्रमण किया। राजनीतिक दृष्टि से पराजित होकर भी स्लावों ने उन्हें अपने में आत्मसात् कर लिया; पर नार्स मैन भी अपनी परंपराओं के स्पष्ट चिह्न उनकी संस्कृति पर छोड़ गए। १० वीं शताब्दी में राजा व्लादिमिर के बैजंटीन के सम्राट् की बहन से विवाह करने पर रूस ने भी बैजंटीनों का ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और इसी काल में बलगेरिया से रूस में मेसोदोनियन लिपि के आयात होने के फलस्वरूप ईसाइयत का धार्मिक तथा प्रचारात्मक साहित्य यथेष्ट मात्रा में लिखा गया; किंतु साहित्यिक महत्त्व की प्रथम कृति की रचना ११ वीं शताब्दी में हुई जब नेस्तर नामक एक व्यक्ति ने रूस की प्रथम इतिहास-पुस्तक लिखी जिसका विषय-काल सन् ८६२ ईसवी से सन् १११० ईसवी तक का है। इस पुस्तक को 'कीव का इतिहास' अथवा 'नेस्तर का इतिहास' के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि इस पुस्तक में नेस्तर (१०५६-१११४) ने दंतकथाओं एवं किंवदंतियों पर आधारित सामग्री यथेष्ट मात्रा में संकलित कर दी है, किंतु इससे इसके एक सर्वांग-सुंदर इतिहास-पुस्तक होने में कोई त्रुटि नहीं होती; क्योंकि यह जनभाषा में लिखी जनभावों और विचारों से ओत-प्रोत वास्तविक घटनाओं की यथार्थ शिला पर आधारित है और रूस के अतीतकालीन इतिहास-विषयक एकमात्र प्रामाणिक पुस्तक है। आज इसकी गणना संसार की श्रेष्ठ इतिहास-पुस्तकों में की जाती हैं।

१२ वीं शताब्दी में रूसी भाषा में एक महाकाव्य की रचना हुई, जिसकी कथा-वस्तु बहुदेवतावादी पोलोव्स्तों पर ईसाई धर्म में दीक्षित कीव के राजपुत्र इगोर का अभियान है और जिसके आधार पर ही महाकाव्य का नाम 'इगोर के अभियान का गीत' रखा गया है। वस्तुतः महाकाव्य की कथा-वस्तु रूसी इतिहास की एक सच्ची घटना है और इसकी अक्षरशः तुलना नेस्तर के इतिहास से की जा सकती। यह महाकाव्य वास्तव में होमर के इलियड और ओडेशी तथा व्यास के महाभारत की श्रेणी का है और रूसी साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य की एक अमूल्य, अनुपम तथा अमर कृति है। परंतु दुर्भाग्य से इसके कवि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं, उसका नाम तक भी मालूल नहीं। किंतु पुस्तक के पढ़ने से ऐसा लगता है कि इसके महाकवि का इस अभियान से निकट का संबंध था। वह व्लादिमिर के राजदरबार में किसी पद की शोभा वढ़ाता था। कदाचित् वह प्रधान मंत्री था अथवा राज्य का चारण !

इस भाँति दो शताब्दियों (१० वीं से १२ वीं शताब्दी तक) में ही रूसी साहित्य ने अप्रत्याशित उन्नति कर ली; किंतु कुछ राजनीतिक कारणों से प्रगति की ओर अग्रसर पाश्चात्य-जगत् से अब रूस के संबंध-विच्छेद हो जाने के कारण उसकी साहित्यिक प्रगति में भी गतिरोध उत्पन्न हो गया, जिसके परिणामस्वरूप १७ वीं शताब्दी तक के लिए रूस की सृजना-शक्ति और क्षमता कुंठित हो गई। हाँ, इस अंधकार-युग में जहाँ-तहाँ छुट-पुट प्रयासों के फलस्वरूप दो-एक ज्योतिष्कण क्षण-क्षण को अवश्य टिमटिमा उठे। इन प्रयासों में एक व्यापारी यात्री निकितिन की १४ वीं सदी के भारत की यात्रा का वर्णन है। दूसरी महत्त्व की घटना है—सन् १६६५ ईसवी के लगभग सिमियन पोलोव्स्की द्वारा सर्वप्रथम रूसी भाषा में की गई

कविता, जो कविता न होकर एक तुकबंदी मात्र ही थी। इनके अतिरिक्त १७ वीं शताब्दी में जारविच (जार की पत्नी) की जन्मतिथि पर अभिनीत होने के लिए ग्रिगोरी नामक एक व्यक्ति से एक नाटक लिखवाया गया जो फ्रेंच सिद्धांतों पर आधारित और धार्मिकता से प्रभावित था।

वस्तुतः बारहवीं से सतरहवीं शताब्दी तक की पृष्ठभूमि रूसी साहित्य के पुनर्जागृति-काल के लिए तैयार हो रही थी, और जैसे ही अठारहवीं शताब्दी में पीटर महान के प्रयत्नों से यह 'सर्वास्पृश्यता' की दीवार टूटी और रूस का पाश्चात्य जगत् से पुनः संबंध स्थापित हुआ, रूस। साहित्य में एक नई गति उत्पन्न हुई, उसमें एक नया मोड़ आया और एक सदी के परिश्रम के उपरांत ही उसने पुश्किन, लरमंतोव, गागल तथा विलिंस्की-जैसी विभूतियों को उत्पन्न किया।

पाश्चात्य जगत् के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के प्रभाव ने रूस की जमीन को दो धाराओं में बाँटकर, अपनी सृजनाशक्ति से सींचकर उपजाऊ किया। इन धाराओं में से एक का उद्‌गम-स्थल जर्मनी था और दूसरी का फ्रांस। जर्मन प्रभाव का प्रतिनिधित्व रूसी इतिहास-शास्त्र के पिता तातिश्चेव तथा रूसी भाषा के पीटर महान और मास्को-विश्वविद्यालय के संस्थापक लोमोनोसोव (१७१४-६५) ने किया, और फ्रेंच प्रभाव का प्रतिनिधि था प्रिंस कैंटिमिर (१७०८-४४), जिसने सर्वप्रथम रूसी भाषा में व्यंग्यात्मक कविता की रचना की। वह वस्तुतः एक क्रांतिकारी सुधारक था और उसपर वाल्टेयर, माँटेस्क्यो तथा दियोद्रोत का प्रभाव था।

पाश्चात्य जगत् के इस प्रभाव के कारण स्वतंत्रता की टट्टी की आड़ में रूस के अन्यायी और अत्याचारी, शोषण तथा सेंसर करनेवाले शासकों ने काफी समय तक दुःख और दर्द, कष्ट और क्लेश में जानवरों-सा जीवन बिताती रूसी जनता को सुधारों की भूलभुलैयों में फँसाए रखा, क्रांति की संभावना को कम किए रहे; किंतु जैसे ही फ्रांस के राजनीतिक जगत् में उन्होंने क्रांतिकारी तत्त्वों के अप्रत्याशित विकास को देखा, उनके मुख से स्वतंत्रता की नकाब खिसक गई, वह अपने वास्तविक प्रतिक्रियावादी प्रगतिविरोधी रूप में जनता के संमुख आ गए। इसी समय जारीना केथरीन के राज्यकाल में एक मार्के की घटना घटी। राज्य के एक तरुण अफसर रेदिश्चेव ने मास्को से पीटर्स-बर्ग की अपनी यात्रा-संबंधी एक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने जो कुछ जैसा देखा था, उसका वैसा ही वर्णन किया तथा पुस्तक को पुलिस की आज्ञा से प्रकाशित करा दिया। पुस्तक में यात्रा का यथार्थ वर्णन होने के कारण उसमें दास-प्रथा तथा सेंसर-पद्धति के दोषों का विशद चित्रण स्वयमेव हो गया था। क्रांति के बीजों को इस रूप में पुस्तक में देखकर सरकार ने रेदिश्चेव को मृत्यु-दंड की आज्ञा दी। यद्यपि बाद को उसे छोड़ दिया गया तथापि इस घटना से उसका मानसिक संतुलन इतना बिगड़ गया कि एक दिन अपने से दुखी होकर उसने आत्महत्या कर ली। वास्तव में वह रूस के साहित्य और संस्कृति की स्वतंत्रता और समानता की बलिवेदी पर प्रथम आक्रमण था।

इस घटना से रूस के विचारकों ने एक निष्कर्ष निकाला। क्रांति की संभावना की गंध पाते ही बगुला-भगत सरकार तुरंत ही गिरगिट की भाँति रंग बदलकर प्रतिक्रियावादी हो जायगी। इस कारण सामाजिक नवोदय के लिए जनजागरण और जनशिक्षा अति आवश्यक हैं। सो, आवश्यकता के अनुरूप ही १६ वीं सदी के आरंभ में क्लासिकल साहित्य के रंगमंच पर यवनिका-पतन हो गया और सांस्कृतिक क्षेत्र में नवयुग का उदय, जिसके फलस्वरूप पद्य में रोमांटिक तथा प्रगतिशील भावों—विचारों का चित्रण और गद्य में मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थवादी चरित्र-विश्लेषण होना आरंभ हुआ। और, इस भाँति रूसी साहित्य में सर्वप्रथम राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कुरीतियों पर संस्कृति की ओर से व्यवस्थित रूप में कुठाराघात आरंभ हुआ।

पुश्किन (१७६६-१८३७) के नाम पर ही इस रोमांटिक युग को कुछ आलोचक पुश्किन-युग के नाम से पुकारते हैं। वस्तुतः पुश्किन है भी इस युग का सफल प्रतिनिधि साहित्यकार, क्योंकि उसके पद्य में युग के भाव हैं और गद्य में युग के विचार। वह रूस ही नहीं, संसार के महाकवियों में अद्वितीय है और उसका महाकाव्य 'यूजिन-वनजिन' विश्व-साहित्य की सर्वोत्तम कृतियों में से है। 'कप्तान की लड़की', 'डुबरोव्स्की', 'रानी', 'पोस्टमास्टर', 'बोरिस गुदोनोव' आदि गद्य के क्षेत्र में उसकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। पद्य के क्षेत्र में पुश्किन का साहित्यिक उत्तराधिकारी लरमंतोव (१८१४-४१) है। उसकी कवित्व-शक्ति का इतनी छोटी-सी आयु में ही यथेष्ट विकास हो

चुका था। यदि वह और जीवित रहता तो अवश्य ही पुश्किन की ऊँचाई तक पहुँच जाता। यद्यपि उसकी कहानियाँ भी बहुत सफल हैं तथापि अपने एकमात्र उपन्यास 'हमारे युग का नायक' के द्वारा उसने रूसी कथा-साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात किया और सर्वप्रथम कथा के मनोवैज्ञानिक विकास तथा पात्रों के चरित्र-विश्लेषण की परिपाटी डाली।

कथा-साहित्य में पुश्किन और लरमंतोव की परंपराओं को गागल (१८०६-५२) ने निभाया। उसकी रचनाओं में रोमांस और यथार्थवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। अपनी कृति 'मृतात्माएँ' तथा 'इंसपेक्टर जनरल' द्वारा उसने रूसी कथा-साहित्य में अत्यधिक प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी तत्त्वों को विकसित किया। इसी युग में रूसी साहित्य का महान आलोचक बिलिंस्की (१८११-४८) हुआ। उसने विशृंखलित आलोचना-शास्त्र को एक संघटित रूप दिया तथा उद्देश्यात्मक आलोचना-पद्धति की नींव डाली। वह आलोचना-कार्य के संपादन में ईमानदारी, स्पष्टाभिव्यक्ति और दृढ़ता का हिमायती था।

नीति-कथा-साहित्य का इस युग में अप्रत्याशित विकास हुआ और वह ग्रीक तथा फ्रांस के नीति-कथा-साहित्य की कोटि का हो गया। इसका सारा श्रय दिमित्रीव (१७६०-१८३७) तथा क्राईलोव (१७६८-१८४४) नामक दो कवियों को है, जिनके चुटीले व्यंग्य ईसप तथा लाफाँटेन से किसी भी दशा में कम नहीं हैं। इसी युग में कारामाजिन-नामक एक व्यक्ति ने 'यूरोप का संदेशक' तथा 'मास्को-पत्रिका' नामक दो पत्रों को चलाकर रूसी पत्रकारिता के इतिहास में सर्वप्रथम उच्च कोटि की पत्रकारिता की नींव डाली। बाद में वह इतिहास-शोधन-कार्य में लग गया और 'रूसी राज्य का इतिहास'-जैसी युग-पुस्तक उसने लिखी।

इस युग के साहित्यिक विकास के परिणामस्वरूप जनता में जाग्रति फैली। वह स्वयं सोचने-समझने लगी और परिणामस्वरूप तीन विचारधाराएँ पनप उठीं। एक तो वे पाश्चात्यवादी उदारदली थे जो धर्म और दर्शन, शिक्षा और शासन में सुधारों की आवश्यकता अनुभव करते थे तथा विश्वास करते थे कि आत्मश्रेष्ठता के अहंकार तथा आत्मतुष्टि के कारण रूस का पाश्चात्य जगत् से संबंध-विच्छेद उसकी अवनति का मुख्य कारण रहा है। इस कारण प्रगति के लिए इस पृथक्तावादी नीति को छोड़ना होगा। इस विचारधारा के व्यक्ति थे जोसेफ लामेस्ट्रे, पीटर्सबर्ग के जेसुत्स तथा चेदेव। इनमें से अंतिम को सरकार ने इस विचारधारा के 'तेलिस्कोप' पत्रिका में प्रतिपादन करने के कारण पागल घोषित कर दिया और पत्रिका-संपादक को निर्वासन दे दिया। चेदेव के मुख्य शिष्य थे प्रिंस वोल्कोंस्की तथा प्रिंस रोगेरिन।

इन प्रगतिवादियों में एक दूसरा वर्ग भी था जो अपने को क्रांतिकारी कहता था। इस वर्ग का विश्वास था कि पश्चिम के दिन अब समाप्त हो गए हैं। पूर्व में ही, और विशेषरूप से रूस में, स्लाव जाति ही अब नवयुग का निर्माण करेगी। इस विचारधारा का प्रतिपादक बिलिंस्की था। वह रूस की मुक्ति के स्वप्न समाजवाद और नास्तिकता में देखता था। बिलिंस्की की मृत्यु के उपरांत इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व हर्जन-नामक एक व्यक्ति ने किया। किंतु अपनी पोलैंड-पक्षी नीति तथा अलेक्जेंडर द्वितीय की हत्या करने के असफल प्रयास की निंदा करने के कारण उसका राजनीतिक पतन हो गया।

तीसरी विचारधारावालों का विश्वास था कि रूस का ज्ञान-भंडार पाश्चात्य जगत् के ज्ञान-भंडार से भी उन्नत है तथा जो कुछ भी रूसी है, स्लाविक है, मात्र वही श्रेष्ठ है, और शेष सब निकृष्ट। इस विचारधारा के व्यक्ति अपने को स्लाववादी कहते थे और उनकी अहंकार-युक्त पृथक्तावादी नीति थी। इसके प्रतिनिधि होमयाकोव, स्लोतचेव, सर्जी अकसाकोव तथा इवान अकसाकोव थे। इन सारी राजनीतिक तथा साहित्यिक गतिविधियों को कुचलने तथा जनजाग्रति को रोकने की बात प्रतिक्रियावादी शोषकों के शासन ने तुरंत ठान ली और परिणामस्वरूप स्लाववादियों को लिखने से मना कर दिया गया तथा पाश्चात्यवादियों एवं प्रगतिशीलों को देश-निकाला दे दिया गया। इस भाँति एक दशाब्दी के लिए रूस के राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक जगत् में एक निर्जीवता छा गई। आलोचना-प्रत्यालोचना समाप्त हो गई।

किंतु बुझी राख से ही क्रांति के दीप जलते हैं और भूखे-नंगे ही नवयुग का निर्माण करते हैं। छोटी-छोटी गोष्ठियों तथा सभाओं के द्वारा राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जाग्रति फिर जंगल की आग-सी फैल उठी, जिसके फलस्वरूप साहित्य-जगत् में नवजीवन पुनः श्वास-

प्रश्वास लेने लगा। इस द्वितीय नवोदय के महान साहित्यकारों में तालस्ताय (१८२८-१९१०) है, जिसने 'अन्ना-केरिना' तथा 'युद्ध और शांति'-जैसे अपने श्रेष्ठ उपन्यासों द्वारा जागृति फैलाई। दोव्योत्स्की (१८२१-८१) ने 'भूख', 'भूमिगत के नोट्स' तथा 'कारामाजोव भाई'-जैसी कृतियों द्वारा पतितों और उपेक्षितों की प्रतिष्ठा की तथा तुर्गनेव (१८१८-८३) ने रूसी शून्यवाद, जिसका प्रचारक बाकुनिन था, का 'पिता और पुत्र' में सफल चित्रण कर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों पर एक वज्रप्रहार किया। जिस भाँति ग्राम्य जनता को तुर्गनेव ने अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए चुना, उसी भाँति गोनचारोवा ने 'हर दिन की कहानी', 'ओवलोमोव' और 'ढलवान'-जैसी कृतियों के लिए पीटर्सबर्ग के कुलीनों को पात्र बनाया। इन साहित्यकारों ने वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण कर तथा सामाजिक कुरूपता की कटु आलोचना कर साहित्य में एक नई परंपरा की प्रतिष्ठा की।

पद्य के क्षेत्र में इस युग में कोई मौलिक तथा क्रांतिकारी विकास नहीं हुआ, अतिरिक्त इसके कि रूसी साहित्य के इतिहास में प्रथम बार एक स्त्री ने एक युग के कवियों का पथ-प्रदर्शन किया। कवयित्री नेकरासोव (१८२१-७७) के गीतों में जीवन के दुख और सुख, रुदन और हास की मादक अनुभूति है। साथ ही उसमें जीवन की यथार्थता भी पर्याप्त है। दूसरे कवियों में मुख्य स्थान नेदसन, निकितिन, मायाकोव, पोलोस्की, फेट तथा अलेकसिस ताल्स्ताय का है।

व्यंग्य-साहित्यकारों में मिखेल साल्तीकोव 'शेरीदिन' (१८२६--१८८६) का स्थान मुख्य है, जिसके एक-एक शब्द में कटु व्यंग्य है और है बिच्छू के डंक-सा जहर। दूसरा विख्यात व्यंग्य-साहित्यकार लेस्कोव (१८३१-१८६५) है, जिसने शासन, समाज और साहित्य में प्रचलित कुरीतियों की ही आलोचना नहीं की, वरन् तथाकथित उदारदलियों और सुधारवादियों की त्रुटियों तथा भूलों की ओर भी इशारा करने का साहस किया। इस युग में रंगमंच का भी यथेष्ट विकास हुआ, कथावस्तु में भेदभरी चालाकियों, षड्यंत्रों तथा पर्दे के क्षण-क्षण उठने-गिरने आदि की त्रुटियों को दूर किया गया, जिसके फलस्वरूप रंगमंच सरल और सुगम बन गया। इन प्रयासों की सफलता का सारा श्रेय ओस्ट्रोवस्की को है, जिसने कथावस्तु में वास्तविकता और पृष्ठभूमि में यथार्थता लाकर अभिनय को सजीव बना दिया।

किंतु वह पहला स्लाववाद तथा पाश्चात्यवाद का झगड़ा अब भी समाप्त नहीं हुआ। इस युग में स्लाववाद का प्रतिनिधित्व केटकोव, देनिविक्की तथा स्ट्राखोव ने किया और पाश्चात्यवाद का प्रचार किया चर्नीयरवेस्की, दुबरोलिबोव तथा पिसारोव। परंतु इनके अतिरिक्त एक और विचार-धारा भी इस युग में पनप उठी, जिसका प्रतिनिधि ब्लादिमिर सोलोवीव था। शोलोवीव दोनों विचारधाराओं को अविश्वास की दृष्टि से देखता था तथा साहित्यकार के लिए यह आवश्यक समझता था कि वह किसी विचारधारा में भाग न ले, विश्वास न करे।

इधर साहित्य में क्रांतिकारी तथा क्रांति-विरोधी तत्त्वों का इस भाँति संघर्ष हो रहा था, उधर तभी सन् १९०५ ई० में क्रांति की एक चेष्टा असफल सिद्ध हुई। परिणामस्वरूप शक्तिसंपन्न जारशाही का निहत्थों पर दमनचक्र घूम चला। किंतु, पहले की भाँति इस बार भी वह क्रांति की चिनगारी को बुझा सकने में असमर्थ ही रही और इस बार साहित्य का पुनरुदय किया गोर्की (१८६८-१९३६) ने। उपन्यासों तथा कहानियों के लिए उसने विशिष्ट पात्रों को लेने के स्थान पर सड़क के साधारण व्यक्ति का चरित्र-चित्रण आरंभ कर साहित्य का साधारणीकरण किया। उसकी परंपरा की प्रतिनिधि कड़ी चेखव (१८६०-१९०४) है, जिसने अपनी लघु कथाओं के द्वारा रूसी जीवन का विशद चित्रण किया। इसके अतिरिक्त दूसरे साहित्यकार मर्जीकोव्स्की, बुनिन, कुप्रिन, ऐवर्चेन्को, ब्रिसोव, ब्लाच, जोश्चेन्को आदि हैं, जिन्होंने लिखना तो क्रांति से पहले ही आरंभ कर दिया था, किंतु वे जनता की आँखों में क्रांति के बाद ही चढ़ पाए।

इसी भाँति पद्य के क्षेत्र में मुख्य स्थान ब्लाच, सोलोगव, अन्ना अहमातोवा, ब्रिसोव आदि का है।

१९१७-१८ की समाजवादी लाल क्रांति के उपरांत जीवन के दूसरे पहलुओं की भाँति सोवियत साहित्य में भी एक अनुपम नवोदय हुआ, जिसके फलस्वरूप उसमें निर्माण की प्रतिष्ठा और न्याय की जय की गूँज हुई।

घोंघवा की मा

श्री प्रताप साहित्यालंकार

'दैया रे दैया। मार डाला राच्छ्स ने, कोई आदमी नहीं है टोले-मुहल्ले में? घोंघवा बचने नहीं देगा मुझे। यह बेटा नहीं है मेरा—काल है काल!'—घोंघवा की मा चिल्लाती हुई आँगन से आई और घर के बाहर बैठकर रोने लगी।

उसके रोने-चिल्लाने की आवाज सुन अड़ोस-पड़ोस की बहुत-सी स्त्रियाँ वहाँ जमा हो गईं और उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगीं। यद्यपि सभी स्त्रियाँ जानती थीं कि जब-कभी उसका बेटा घोंघवा उसे मारा-पीटा करता है, तथापि वे नवीन रहस्य के हेतु जिज्ञासु बनी थीं। उसने किसी को कुछ जवाब नहीं दिया। वह जोर-जोर से रो रही थी और उसकी आँखों से आँसू की मूसलधार वर्षा हो रही थी।

जब स्त्रियों के प्रश्नों के साथ चाची, दादी, दीदी, माई आदि के संबोधनों ने उसे विकल बना दिया तब वह बोली—क्या कहूँ बेटी, भीखमपुरवाली जो है, उसने घोंघवा को भेंड़ा बना लिया है। अब तो घोंघवा मेरी एक नहीं सुनता, केवल उसीके इशारे पर चलता है, जैसे मैं उसकी कोई नहीं।

तभी एक लड़की पूछ बैठी—क्या हुआ दादी?

होगा क्या? मैंने इतना ही कहा—जब अक्ल नहीं है तब मुझसे पूछ क्यों नहीं लिया कि दाल में कितना नमक डालूँ? फिर क्या था? वह मेरे सातों पुरखे को गालियाँ देने लगी—आँखों से आँसू पोंछती हुई घोंघवा की मा बोली।

भीड़ में से एक बूढ़ी औरत ने मुँह बनाकर कहा—सचमुच, भीखमपुरवाली-जैसी बहू कहीं नहीं देखी। घोर कलजुग आ गया। कहीं पतोहू भी सास को गालियाँ देती हैं।

'इसी पर मुझे क्रोध आ गया। मैं उसपर झाड़ू लेकर टूटी। घोंघवा बाहर कहीं सुन रहा था। वह आया और लात-मुक्के से मेरी मरम्मत करने लगा।'—इतना कह वह और जोर-जोर से रोने लगी—'हे भगवान, अब मैं बचकर ही क्या करूँगी?'

तभी उसकी बेटी झखिया आई और उसकी कलाई पकड़कर खींचती हुई बोली—'यहाँ रो-धोकर क्या कर रही हो? चलो, आँगन में चलें।'

घोंघवा की मा ने हाथ छुड़ाते हुए कहा—'मुझे यहीं छोड़ दो। अब मैं इस घर में पैर देनेवाली नहीं। या तो भीखमपुरवाली रहे या मैं रहूँ। जिसे मैंने नौ महीने पेट में रखा उसी के हाथ मेरी बेइज्जती! मैं जीकर क्या करूँगी झखिया?'

'चलो मा, चलो, थाली में रोटी रखी हुई है। चलकर दो कौर खा लो।'—झखिया ने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा।

'क्या कहती हो बेटी। अब मैं एक दाना भी मुँह में नहीं रखूँगी। जा, जरा मेरा हुक्का-चिलम ले आ। मैं सड़क पर अपनी जिंदगी काट लूँगी। हाय भगवान, जिसे पेट काटकर, खेते-खेत मजदूरी कर पाला-पोसा, उसी का ऐसा व्यवहार। भगवान उसका भला न करे।'—इतना कह, वह फूट-फूटकर रोने लगी।

'यह क्या कहती हो मा, भैया को न सरापो। आखिर वह तो तेरी कोख का ही जनमा है।'—झखिया मा का मुँह बंद करती हुई बोली।

'सरापूँ नहीं तो और क्या करूँ? उस चुड़ैल का भला नहीं होगा। जिस दिन वह मरेगी, उसी दिन मेरा कलेजा ठंढा होगा।'—वह बोल ही रही थी कि आँगन से घोंघवा आया और उसे लतियाते हुए, खींचकर भीतर की ओर ले चला। वह गुस्से से पागल बना था। उसकी आँखों से रक्त की चिनगारियाँ निकल रही थीं और उसके नथुने फड़क रहे थे। वह बड़बड़ाता जा रहा था—'बुढ़िया चुड़ैल है खुद, और कहती है दूसरे को। लात का देवता कहीं बात से मानता है? चल, आँगन में जाकर बैठ, वहीं अपना नखरा पसार।'

बुढ़िया के चीत्कार से आसमान फटा जा रहा था।

घोंघवा का पिता बचपन में ही मर गया था। उसे जगह-जमीन तो नहीं थी, मगर दो-चार गाय-भैंस अवश्य थीं। उसके मरते ही महाजनों ने उन्हें कर्ज में ले लिया। घोंघवा की मा का सहारा मजदूरी ही रह गया था। काम करने में कोई मर्द भी उसका मुकाबला नहीं करता। धान रोपने में वह सबसे आगे रहती। रोप का समय आते ही किसान पहले से ही उसकी खुशामद करते। बहुत तो उसे अगौआर ही, मजदूरी थमा देते। वह मकई काटती, धान रोपती, पटुआ निराती, शकरकंद उखाड़ती। जब कोई मजदूरी नहीं मिलती तब वह बाबू-लोगों के घर जा चावल कूटती और आटा पीसती। कभी ऐसा दिन नहीं आया जब उसे कुछ काम करने को नहीं हो। इसी तरह उसने अपने बेटे-बेटी को पाला-पोसा और उनका शादी-ब्याह किया।

जिस दिन बहू उसके घर आई थी, उस दिन उसकी जिंदगी भर की थकान छूमंतर हो गई थी और उसके दिल में स्फूर्ति की लहरें अठखेलियाँ करने लगी थीं। उसकी खुशी का क्या ठिकाना? जैसे बौने को चाँद मिल गया हो। मगर कुछ दिन भी नहीं बीत पाए कि बहू उसकी आँखों की किरकिरी बन गई। कहाँ उल्लास का उफनाता समुद्र और कहाँ अवसाद का झुलसा देनेवाला फूत्कार। उसका हौसला पस्त हो गया और उसके सपने का आलीशान महल टूट-फूटकर खँडहर बन गया। बहू ने ऐसा जादू किया कि उसका अपना भी पराया हो गया।

घोंघवा की इस काली करतूत की खबर जाति के मड़र (मुखिया) के कानों में पहुँची। उसकी भौंहें तन गईं। उसकी मड़री में ऐसा उत्पात! यदि घोंघवा को इस अपकर्म की सजा नहीं मिली तो टोले के सभी छोकरे मा-बाप को कुछ नहीं समझेंगे। संभव है कि उसकी मड़री पर भी आघात पहुँचे। उसने तुरंत घोंघवा और उसकी मा को बुला भेजा।

घोंघवा की मा ने कुछ भी नहीं छिपाया। उसने शुरू से आखिर तक की सारी कहानी कह सुनाई। मड़र कुछ देर चुप रहा और सावन-भादो के मेघ की तरह घुमड़ता रहा। फिर बोला—'घोंघवा ने बहुत बड़ा जुल्म किया है। जैसा ही बड़ा उसका जुर्म है, वैसी ही बड़ी उसे सजा भी मिलनी चाहिए।'

घोंघवा की मा मड़र की ओर टुकुर-टुकुर ताक रही थी। मड़र की बात सुन वह काँप उठी। उसके मुँह से एक शब्द तक न निकला।

'तुमने बहुत बड़ा जुल्म किया है।'—मड़र ने घोंघवा से पूछा—'क्यों रे घोंघवा, ठीक है न यह?'

घोंघवा ने सिर डुला दिया।

'तुमने मा को मारा और वह भी लात से! इसीलिए तुम्हें भी पच्चीस लातें लगेंगी।'—मड़र ने अपना निर्णय सुना दिया।

घोंघवा की मा हक्का-बक्का हो गई। वह रोती हुई दौड़ी और मड़र के पैरों पर गिर पड़ी। वह गिड़-गिड़ाकर बोली—'माफ कर दो मड़र। इस बार माफ कर दो।'

'यह हर्गिज नहीं हो सकता।'—मड़र ने दृढ़ स्वर में कहा।

'केवल इसी बार।'—बुढ़िया ने याचनापूर्ण वाणी में कहा—'घोंघवा नादान है। अभी इसकी उम्र ही क्या है? अभी तो इसके दूध के दाँत भी नहीं टूटे हैं। बुढ़िया पर रहम खाओ।'

मड़र असमंजस में पड़ गया। वह बहुत देर तक सोचकर बोला—'अच्छा, इस बार माफ किए देता हूँ। फिर कभी ऐसी गलती करेगा तो मैं कुछ भी नहीं सुनूँगा।'

बुढ़िया वहाँ से अपने घर की ओर चली। उसके पीछे-पीछे सिर झुकाए घोंघवा भी चला।

प्रकृति उजली और काली कूची से दिन-रात के गतिशील चित्र बना रही थी।

घोंघवा कोई काम नहीं करता। वह सदा अपने साथियों के साथ गप्प लड़ाया करता अथवा गोलचुक्का या कबड्डी खेला करता। उसकी माँ को यह बात बहुत अखरती थी। अबतक उसन कमरतोड़ मिहनत की और अब भी उसके हाथ खुरपी और हँसिया पर से न हटे तो बेटे-बहू से लाभ क्या? वह हमेशा इसी चिंता में घुलती रहती। एक दिन वह घोंघवा को अपने मालिक देवता बाबू के पास ले गई और उसे उनकी हलवाही में लगा दिया। उस समय से वह नियमित रूप से उनका हल जोतने लगा।

घोंघवा की मा देवता बाबू के परिवारवालों की आँखों में बस गई थी। जब कभी वह आँगन आती, बच्चों को दुलराती, हँसाती, खेलाती। मालकिन के मुँह से

बात निकलते ही वह उसे पूरा करने में जुट जाती। कभी ऊखल में चावल छाँट देती तो कभी शील-लोढ़े पर मशाला ही पीस देती। उसके लिए दो-चार मन दूध जुटाना या दो-चार मन आटा-चिउड़ा तैयार करवा देना साधारण काम था। रात या दोपहर—जब कभी देवता बाबू को दूध की जरूरत होती, वह सिर पर ले पहुँचा जाती।

धीरे-धीरे मड़र के कानों में उसकी बहुत-सी शिकायतें पहुँचने लगीं। उसे यह पसंद नहीं था कि घोंघवा की मा बाबू लोगों के आँगन में जाया करे और वहाँ लीपा-पोती और जूठन धोया करे। मड़र ने कई बार उसे इशारे से समझाया, मगर उसने एक न सुनी। एक दिन मड़र ने उसे बुलाया और कहा—'घोंघवा की मा, हमलोगों की न.क मत कटाओ।'

'यह क्या कहते हो? मैं ऐसा कौन-सा काम कर रही हूँ जिससे तुम्हारी नाक कट रही है?'—घोंघवा की मा ने प्रश्नोत्सुक दृष्टि से उसकी ओर देखकर पूछा।

'तुम्हें मालूम नहीं?'—मड़र ने गंभीरतापूर्वक कहा—'हमलोग छोटी जाति के हैं तो क्या? हमलोगों को भी अपनी इज्जत जुगानी है।'

'तो क्या मैं अपनी इज्जत लुटाए चलती हूँ?'

'जरा ध्यान से सुनो घोंघवा की मा! बाबूलोगों की बहू-बेटी घर में बंद रहे और हमलोगों की उनकी सेवा किया करे? तुम वहाँ जूठी थाली साफ करती हो, बर्तन माँजती हो, पानी ढोती हो, झाड़ू-बुहारू और लीपा-पोती करती हो। क्या यह हमलोगों की प्रतिष्ठा के खिलाफ नहीं है?'—मड़र उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था।

'प्रतिष्ठा धोकर पीने की चीज नहीं। बर्तन साफ करना और लीपा-पोती करना कोई बुरा काम नहीं। हाँ, जूठन खाना जरूर खराब है। यदि तुमको वहाँ मेरा जाना अखरता है तो कोई हर्ज नहीं, तुम मेरे खाने-पीने का इंतजाम कर दो; फिर देख लेना, मैं उधर कदम भी बढ़ाऊँ?'—घोंघवा की मा का जवाब सुन मड़र निरुत्तर हो गया।

जब मड़र की दाल नहीं गली, तब उसने घोंघवा को अनुशासन की कड़ी धमकी दी। घोंघवा ने मा को बहुत रोका, उसे मारा-पीटा भी, मगर उसने बाबूलोगों के घर जाना नहीं छोड़ा। वह दिन में एक बार बाबूलोगों के आँगन का चक्कर जरूर लगाती। जिस दिन वह आँगन-आँगन का चक्कर नहीं लगाती, उस दिन जैसे उसके पेट का दाना ही हजम नहीं होता।

तब अंत में घोंघवा और मड़र ने उससे कुछ कहना-सुनना ही छोड़ दिया।

उसके पड़ोस में ही दयानिधि भगत रहता था। उसकी एक छोटी-सी दूकान थी, जिसमें वह नित्य की आवश्यक वस्तुएँ, चावल-दाल-नमक से लेकर बीड़ी-सुपारी-तंबाकू तक बेचा करता। शाम-सुबह उसकी दूकान पर पूरे टोलेवालों की भीड़ लगी रहती।

उसके घर में उसकी बीबी भी थी। उसके अबतक कोई बच्चा नहीं हुआ था। वह सदा बच्चे के लिए चिंतित रहती थी। एक दिन जब उसने घोंघवा की मा से अपने दिल की बात कही तब उसने उसे काफी दिलासा दिया और दूसरे दिन ही उसकी बाड़ी में बड़ और पीपल के दो छोटे-छोटे पौधे रोपकर कहा—'देखो भगताइन, भगवान जरूर दया करेगा। तुम रोज सुबह स्नान कर इन पौधों पर जल ढाला करो।'

भगताइन ने उसके उपदेश का मन-वचन-कर्म से पालन किया। छः महीने भी नहीं बीते कि उसकी मुराद पूरी होने की सूचना मिली। जब उसने घोंघवा की मा के कानों में यह बात कही तब वह खुश होकर बोली—'भगवान निर्दय नहीं, भगताइन। वह सबकी सुधि लेनेवाला है।'

नौ महीने बीतते कोई देर नहीं लगी।

दयानिधि हाट जाने को तैयार था। उसे बिहारीगंज से दूकान के लिए सामान लाना था। उसने घोंघवा की मा को बुलाकर कहा—'देखो दीदी, मैं बाजार जा रहा हूँ, नहीं जाता हूँ तो टोलेवालों को ही तकलीफ होगी। दूकान में एक भी सामान नहीं है।'

'तो क्या कहते हो?'—घोंघवा की मा ने पूछा।

दयानिधि ने उसके कानों में कुछ धीरे से कहा। वह बोली—'कोई हर्ज नहीं। तुम बाजार जाओ। मैं तो हूँ ही। आज मैं कहीं नहीं जाऊँगी।'

भगत बाजार चला गया। घोंघवा की मा खा-पीकर निश्चिंत हुई और अपना हुक्का-चिलम ले भगत के आँगन में जा बैठी। दिन के लगभग चार बजे भगताइन के पेट में जोरों का दर्द उठा। और, कुछ देर के बाद ही एक बालिका ने जन्म लिया।

घोंघवा की मा ने जब भगत को सामने देखा तब वह चिल्ला उठी—'मुँह मीठा करो भगत। मुँह मीठा करो।'

भगत ने हर्ष-गद्‌गद स्वर में कहा—'सच !'

'हाँ भगत, तुम्हारे घर लक्ष्मी आई है। बोलो, भोज कब खिलाते हो ?'—घोंघवा की मा ने कहा।

'जभी कहोगी तभी। मैं हमेशा तैयार हूँ।'—कह, दयानिधि घोड़े पर से सामान उतारने लगा।

दयानिधि आनंद की छाँह के नीचे मीठे-मीठे सपनों का इंद्रजाल बना रहा था कि एकाएक उसका रंग बदरंग हो गया। एक दिन भगताइन को जाड़ा देकर बुखार आया और दूसरे दिन उसकी संपूर्ण देह में बड़े-बड़े फफोले निकल आए। कुछ लोगों ने उसे बीमारी बतलाई और कुछ लोगों ने डायन के अगिनबान का प्रभाव। उसके आँगन में झाड़-फूँक करनेवालों की भीड़ लग गई। तरह-तरह के उपचार किए गए और नाना भाँति के उपाय काम में लाए गए, मगर भगताइन की बीमारी में कोई सुधार नहीं हुआ। देखते-ही-देखते भगत के आनंद-सूर्य को विषाद के भयंकर राहु ने सदा के लिए ग्रस लिया।

जीवन के अंतिम क्षण में भगताइन ने आँखों में आँसू भरे कहा—'मैं तो जाती हूँ, मगर इस बच्ची पर खयाल रखना।'

'चिंता न करो बहू, जबतक उसकी दादी जीवित है, तबतक उसे कोई तकलीफ नहीं होगी'—घोंघवा की मा ने बच्ची को अपनी गोद में उठा लिया और उसे अपने घर ले गई।

जिस दिन भगताइन महानिद्रा की गोद में लुढ़क गई, उसी दिन से दयानिधि के हृदय में घनीभूत पीड़ाजन्य विरक्ति समाविष्ट हो गई। घर उसे काटने को दौड़ता, दुनिया उसे रूखी-सूखी प्रतीत होती और जीवन उसे भार-सा मालूम होता। एक दिन वह घर से भाग निकला।

अब बच्ची के पालन-पोषण का सारा भार घोंघवा की मा के ऊपर था। वह हमेशा उसे छाती से चिपकाए रहती। वह अपने पड़ोसी की बकरियाँ दूह लाती और उस बच्ची को पिलाती। इसपर भी वह बच्ची रोती तो वह भगत को सैकड़ों गालियाँ देती—'निष्ठुर को जरा-सी भी दया नहीं आई। बच्ची का ममता-मोह तोड़ भाग निकला। हाय-हाय, कसाई था वह !'

घोंघवा की मा के एक चितकबरी बकरी थी। वह हर बार चार-चार बच्चे जना करती थी और दूध भी ज्यादा दिया करती थी। जबतक चितकबरी बकरी नहीं ब्याई, तबतक घोंघवा की मा को दूध जुटाने में बड़ी तकलीफ हुई, किंतु बकरी के ब्याते ही उसके सिर का बोझ हलका हो गया। उसने एक महीने तक बच्चों को दूध पीने दिया। फिर चारों को बेच डाला। अब छोटी बच्ची को दूध की कोई तकलीफ नहीं रही।

संध्या का समय था। टोले के सभी लोग अपने गाय-बैलों को चारा-पानी दे निश्चिंत हो चुके थे। घोंघवा की मा उस छोटी बच्ची को दूध पिला उसकी देह में तेल रगड़ रही थी। तभी उसके आँगन में एक बूढ़ी औरत ने प्रवेश किया। वह औरत चेथरू की मा थी। उससे टोले के सभी लोग डरा करते थे। लोगों के दिल में यह भावना दृढ़ हो गई थी कि वह बेजोड़ डायन है। उसके लिए पेड़ हाँकना और किसी के सिर पर आफत बरपा देना साधारण बात है। उससे जो कोई लड़ाई करता, वह दूसरे दिन ही बीमार पड़ जाता। उसे देखते ही घोंघवा की मा काँप उठी कि यह चुड़ैल कहाँ से आ पहुँची ? इसी ने तो इस बच्ची की मा को अगिनबान से मार डाला है। राक्षसी इस अबोध शिशु पर भी हाथ साफ किया चाहती है। उसने उठकर उस बूढ़ी औरत का स्वागत किया और झट से हुक्का-चिलम उसकी ओर बढ़ाकर कहा—'दो दम लगा लो बहू बहन, शाम को इधर बड़ी कृपा की।'

वह बूढ़ी औरत उस बच्ची के पास बैठ गई और हुक्के को मुँह से लगाती हुई बोली—'बहुत दिनों से इस बच्ची को नहीं देखा था। दूकान से लौटी तो इच्छा हुई कि जरा बच्ची को भी देखती चलूँ। कहो, अच्छी तो है ?'

'अच्छी क्या रहेगी ? दिनभर रोती ही रहती है।'—घोंघवा की मा ने बच्ची को उसकी गोद में देते हुए कहा—'जरा इसे तुम आशीर्वाद दे दो बहन।'

उस बूढ़ी औरत ने हुक्के को दीवार में सटाकर रख दिया और बच्ची के सिर पर हाथ फेरकर बोली—'इसका नाम क्या रखा है, घोंघवा की मा ?'

'अभी तक कुछ नहीं रखा है। तुम्हीं कहो, क्या नाम रखूँ ?'—घोंघवा की मा ने उससे पूछा।

उस बूढ़ी औरत की राय के अनुसार उस बच्ची का नाम लछमी पड़ गया और उसी दिन से घोंघवा की मा लच्मी की दादी बन गई।

मैं कहीं बाहर से आ रहा था। लच्मी की दादी सिर पर टोकरी लिए जा रही थी। उसके पीछे चितकबरी बकरी भी थी। मैंने उससे पूछा—'कहाँ जा रही हो?'

'मकई काटने जा रही हूँ बाबू।'

'और यह बकरी?'

'आप नहीं जानते?'—लछमी की दादी मुसकराई, फिर बोली—'बिटिया लछमी इसी का दूध पीती है। यह उसी का दूध पिलाने दौड़ी जा रही है।'

उसने बतलाया– वह लछमी को मेड़ पर टोकरी से ढँक देती है। बकरी उसके आसपास चरती रहती है। जब लछमी भूख से रोने लगती है, तब उसकी दादी उसे बाहर निकाल बकरी के थनों से लगा देती है। बकरी चुपचाप खड़ी रहती है। जब लछमी अघाकर दूध पी लेती है, तब वह चरने को चली जाती है। किसी का क्या मजाल जो लछमी को उठा ले जाय? वह लछमी को ले जानेवाले के पीछे-पीछे 'में-में' करती हुई दौड़ पड़ती है।

जैसे घोंघवा की मा ने उस बच्ची के लिए अपने हृदय में ममत्व पाल रखा है, उसी प्रकार उस चितकबरी बकरी ने भी।

लछमी बकरी का दूध पी-पीकर खूब मोटी-ताजी हो गई, किंतु इसी समय भीषण अकाल आ पहुँचा और बकरी ने भी दूध देना बंद कर दिया। लछमी की दादी की बड़ी विचित्र दशा थी। उसके पास पैसे नहीं जो दूध खरीद सके। लछमी कुछ बड़ी हो गई थी। उसने उसे थोड़ा-थोड़ा भात खिलाना शुरू कर दिया, लेकिन अकाल के भीषण दिन में चावल का मिलना भी बहुत कठिन था। वह शकरकंद उबालकर अपना पेट भरती थी। फिर उसके लिए चावल कहाँ से लावे? वह लछमी को भी शकरकंद खिलाने लगी। पहले उसकी दशा कुछ बिगड़ी, मगर फिर वह ठीक हो गई।

एक दिन लछमी की दादी मेरे पास आई। उसकी गोद में वह बच्ची भी थी। वह बहुत दुबली-पतली हो गई थी। उसके चेहरे में खून नहीं था, आँखें भीतर धँस गई थीं और पेट आगे निकल आया था।

'प्रणाम करो बाबू को।'—कह, उसने उसे मेरे पैरों के पास रख दिया। फिर बोली—'इसे तो मैंने बचा लिया; मगर अब हिम्मत हारने लगी हूँ। सुना है, आजलक देश में कांग्रेस का राज है। राजा के पास एक दरखास्त लिख दीजिए। कहते हैं, वह गरीबों की बड़ी सहायता किया करता है।

इतना कह उसने एक लिफाफा मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने उसके नाम से एक आवेदनपत्र लिख राज्य के मुख्यमंत्री के पास भेज दिया। उस दिन से वह रोज मेरे पास यह पूछने को आती कि कांग्रेस के राजा ने क्या जवाब दिया? किंतु, जब दो महीने के बाद भी कुछ जवाब नहीं आया, तब वह सर्वदा के लिए निराश हो गई और उसने मेरे पास आना ही छोड़ दिया।

जाड़े की भयंकर रात थी। शीत से पेड़-पत्ते तो क्या, लोगों के प्राण भी सिकुड़े जा रहे थे। लछमी की दादी लछमी को छाती से सटाए सोई थी। ठंड से लछमी रो उठी। उसकी दादी उसे आग के पास ले गई और उसे सेक-साककर सुला दिया। फिर वह हुक्के पर से चिलम उतार लाई और आग निकालने के लिए कोई लकड़ी खोजने लगी। तभी किसी ने उसके हाथ में काट लिया। उसके शरीर में जैसे आग लग गई। उसने घोंघवा को उठाया और ढिबरी जलाई तो देखा—घर के कोने में एक विषधर साँप गेडुरी मारे बैठा था।

झाड़-फूँक करनेवाले बहुत आए, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। जब वह मरण-द्वार के निकट पहुँची, तब उसने भीखमपुरवाली से कहा—मुझे साँप ने नहीं, काल ने काट खाया है। अब मेरी कोई उम्मीद नहीं। तुझे क्या कहूँ बहू, जरा लछमी की देखभाल करना।

कहते-कहते उसका कंठ अवरुद्ध हो गया और सदा के लिए उसका प्राण-दीपक बुझ गया।

× × ×

कई वर्ष बीत गए हैं, मगर जब-कभी सड़क पर लछमी या चितकबरी बकरी को देखता हूँ, तब घोंघवा की मा की याद सजग हो उठती है।

भारतीय साहित्य में विदेशी विद्वानों की अभिरुचि

श्री वाचस्पति शास्त्री

भारतीय विचारधारा आदि काल से ही चिंतन-मनन-प्रधान रही है। विशुद्ध ज्ञान की छत्रच्छाया में मानवीय जीवन के जिन महान आदर्शों को उसने वाणी दी है, अविच्छिन्न रूप से विश्व के विचारकों ने आजतक उसका समादर किया है। मानवीय मस्तिष्क की गहरी उदासी एवं बोझिल विचारधारा को एक शाश्वत शांति और अपरिमित सुख प्रदान करने में भारतीय वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। उसकी सरस्वती ने व्यापक ब्रह्मांड के अणु-अणु में एक ऐसे अक्षय सौंदर्य का छींटा मारा, जिसपर विश्व की मोहलिप्सा उत्तरोत्तर प्रबलतर होती गई और फलतः उस सौंदर्यानुभूति की एकांत खोज में वह विकल हो गया। जीवन-सर्वस्व अर्पित कर देनेवाले पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत होकर इस तथ्य की एकाधिक बार पुनरावृत्ति की कि भारत से जिस ज्ञान-सरिता का उद्भव हुआ उससे अभिषिंचित होकर धरती का कोना-कोना एकबारगी ही लहलहाने लगा। भारतीय वाङ्मय की ओर विश्व के साहित्यकारों का खिंचाव लगभग आठवीं शताब्दी से सप्रमाण देखने को मिलता है। जान आफ डैमेस्कस ने आठवीं शताब्दी में जोसाफट की कहानी को ग्रीक भाषा में लिखा, जिसका आधार छठी शताब्दी में पहलवी भाषा में लिखी गई कहानी है। जोसाफट बौद्धजातक—बोधिसत्त्व—का उल्था मात्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी; क्योंकि जोसफ 'बुदसफ' बोधिसत्त्व का ही अपभ्रंश रूप है।

तदुपरांत या तत्पूर्व भी पाश्चात्य जगत् भारतीय साहित्य से अनुप्राणित होता गया। प्रायः १७ वीं शताब्दी से इस दिशा में आशातीत प्रगति हुई। ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच और अँगरेजी आदि भाषाओं में भारतीय साहित्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया। महाकवि कालिदास के शाकुंतल, विक्रमोर्वशीय एवं मालविकाग्निमित्र का तो संसार की प्रायः सभी समुन्नत भाषाओं में अनुवाद हुआ। शाकुंतल नाटक की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि यूरोपीय रंगमंच पर एकाधिक बार उसका अभिनय तक हुआ। इसी प्रकार शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' नाटक भी १९५० में पेरिस नगरी में बड़ी धूमधाम से अभिनीत हुआ। सन् १६५१ में अब्राहम रोजर ने भर्तृहरि के कुछ चुने हुए व्यवहारोपयोगी ललित श्लोकों को पुर्तगाली भाषा में बड़ी निपुणता से अनूदित किया।

विद्वान वैयाकरण पादरी हेंक्सलेडन पहला यूरोपीय व्यक्ति था, जिसने सन् १६९९ में सर्वप्रथम भारतीय व्याकरण को यूरोपीय भाषा में अनूदित किया। तदुपरांत हेंक्सलेडन के व्याकरण-ग्रंथ से अनुप्राणित होकर अर्थोलोमिया ने भी अन्य संस्कृत-ग्रंथों के अतिरिक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी पर किंचित् प्रकाश डाला। इसी प्रकार विद्याव्यसनी वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय पंडितों के द्वारा जिस 'विवादार्णव-सेतु'-नामक धर्मशास्त्र-संबंधी ग्रंथ को संकलित करवाया था, 'ए कोड आफ गेंटोला' नाम से अँगरेजी में उसको सन् १७८५ में प्रकाशित करवाया।

सर विलियम जोन्स भारतीय संस्कृति के सुविख्यात पंडित माने गए हैं। इस विद्वान का जन्म १७४६ में हुआ था। ये संस्कृत, अरबी और फारसी के अच्छे विद्वान् थे। सन् १७८३ में ये फोर्ट विलियम की बड़ी कचहरी के न्यायाधीश नियुक्त होकर कलकत्ता आए। वहाँ इन्होंने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई हिंदू-पंडित इन्हें अनधिकारी समझकर संस्कृत पढ़ाने को तैयार न हुआ। अंत में पंडित रामलोचन कविभूषण का शिष्यत्व प्राप्त कर इन्होंने भारी-भारी शर्तों पर उनसे संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया और शनैः-शनै अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण संस्कृत भाषा में इनकी अभिरुचि बढ़ती गई। सन् १७८८ में सर्वप्रथम इन्होंने अपनी 'एशियाटिक रिसर्च' नामक पुस्तक को प्रकाशित किया और तदुपरांत कालिदास के 'शाकुंतल' का इस विचक्षणता से अँगरेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया कि जिसको देखकर पाश्चात्य विद्वानों में खलबली मच गई। जर्मन कवि गेटे ने तो इस अनुवाद की प्रशंसा में अनेक उद्गार व्यक्त किए। शाकुंतल के अतिरिक्त ऋतुसंहार, हितोपदेश, महाभारत, गीता एवं मनुस्मृति आदि ग्रंथों का भी इन्होंने सफल अनुवाद प्रस्तुत

किया। लगातार ग्यारह वर्षों तक भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने के उपरांत इस विद्या-प्रेमी का सन् १७६४ में भारत में ही शरीरांत हुआ।

ईस्ट इंडिया कंपनी के एक साधारण कर्मचारी की हैसियत से सर चार्ल्स विल्किंस भारत आए। इस विद्वान् का जन्म १७५० ई० के लगभग हुआ। जोन्स ने खोज-कार्य के संपादनार्थ कलकत्ता में जिस एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की थी, विल्किंस उससे बहुत प्रभावित हुए और सर जोन्स-जैसा सहयोगी प्राप्त कर उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई। भारत में रहकर उन्होने बँगला, फारसी और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य देशी भाषा के अक्षरों के छापे निर्माण करने का है, जिससे इनकी कीर्ति भारत भर में विख्यात हुई। विल्किंस ने श्रीमद्भगवद्गीता के जिस अनुपम अनुवाद को प्रस्तुत किया, अपनी सर्वज्ञता के कारण तत्काल ही फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में उसके भाषांतर हुए। हितोपदेश, महाभारत और शाकुंतलोपाख्यान के भी इन्होंने अनुवाद किए एवं संस्कृत की आरंभिक शिक्षा के लिए एक अपूर्ण व्याकरण-ग्रंथ की भी रचना की।

विल्किंस की ही भाँति हेनरी टामस कोलब्रुक भी ईस्ट इंडिया कंपनी का कर्मचारी नियुक्त होकर भारत आए। इस यशस्वी विद्वान् का जन्म १७६५ ई० में हुआ। भारत में ये बड़े-बड़े उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहे। असिस्टेंट कलक्टरी से लेकर कलकत्ता हाईकोर्ट का जज और तदुपरांत लाट साहब की कौंसिल के सदस्य भी रहे। सर जोन्स की ही भाँति लगभग बारह वर्षों तक इन्होंने भारत में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया। न्यायाधीश होने के कारण भारतीय स्मृति-ग्रंथों का इन्होंने सूक्ष्म अनुशीलन किया और फलतः हिंदू लॉ पर अच्छा प्रकाश डाला। कोलब्रुक ने जीमूत-कृत दायभाग का एवं विज्ञानेश्वर-कृत समिताक्षरा दायभाग का एक महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किया। 'ए डाइजेस्ट ऑफ हिंदू लॉ आफ कांट्रेक्ट्स' एतद्विषयक संकलन है। इसके अतिरिक्त अमरकोष, हितोपदेश, किरातार्जुनीय एवं अष्टाध्यायी के भी इन्होंने अनुवाद किए। इंग्लैंड लौटने पर भारतीय ज्ञान-संबंधी लगभग २००० हस्तलिखित पोथियाँ इन्होंने इंडिया ऑफिस को भेंट कीं। 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जन्मदाता भी यही विद्वान् हैं, जिसको कि १८२३ ई० में इन्होंने स्थापित किया।

सन् १७६१ के लगभग जर्मन विद्वान् जार्ज फोर्स्टर ने 'शाकुंतल' का जर्मन अनुवाद प्रस्तुत किया, हर्वर्ट ने जिस अनुवाद की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आँग्ल पंडित अलक्जेंडर हैमिल्टन का नाम भी वैदिक साहित्य के शोधकार्य में उल्लेखनीय है। भारत में रहकर इन्होंने संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। संयोगवशात् सन् १८०२ में अपने सहयोगियों के साथ जब ये इंग्लैंड जा रहे थे तब रास्ते में नेपोलिय ने इन्हें कैद कर लिया। इनके साथ अनेक फ्रांसीसी भी थे। इसी कारावासी जीवन में इन्होंने अनेक फ्रांसीसियों को संस्कृत पढ़ाई, जिनमें आगस्ट श्वेगल भी एक थे। इस फ्रेंच विद्वान् ने भारतीय ज्ञान के तुलानात्मक अध्ययन पर बड़ी विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला तथा अनेक संस्कृत-ग्रंथों का सफल अनुवाद भी किया, जिनमें रामायण और महाभारत के अनुवाद उल्लेखनीय हैं। अपने सहयोगी विद्वान् बौप के सहयोग से इन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में एक 'तिङंत-प्रकरण' की भी रचना की।

भारतीय वाङ्मय के अनुशीलनकर्त्ताओं में मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों की भाँति विलियम ह्वाइट ह्विट्नी का नाम भी अमर है। इस अमेरिकी विद्वान् का जन्म ९ फरवरी, सन् १८२७ ई० में हुआ। मैक्समूलर, बौप और वेबर आदि संस्कृत-विद्वानों के चिर-सहयोग में इन्होंने संस्कृत-भाषा में अपनी ज्ञान-वृद्धि संपादित की और तदुपरांत अपना जीवन संस्कृत के अध्ययन में ही यापित किया। आपके मौलिक एवं अनूदित कुछ चुने हुए ग्रंथों में प्रिंसिपल्स आफ अथर्ववेद, सूर्यसिद्धांत का अनुवाद, अथर्ववेद प्रातिशाख्य का सटीक अनुवाद; भाषा और भाषा का अध्ययन, यजुर्वेद के तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का अनुवाद (जिसपर बर्लिन एकेडिमी ने इन्हें वोप-प्राइज-नामक पुरस्कार दिया था), लाइफ एंड ग्रोथ ऑफ लेंग्वेज, वैदिक व्याकरण, इंडेक्स वर्लरम टु द अथर्ववेद आदि उल्लेखनीय हैं। ये ग्रंथ १८५६ से लेकर १८८५ तक लिखे गए। ७ जून, १८९४ में इनका शरीरांत हुआ।

जर्मन वेः अनुवादकद्वय ग्रासमैन और लुदविग् ने १८७० ई० के लगभग ऋग्वेद का क्रमशः पद्यबद्ध और गद्यबद्ध अनुवाद किया। इन अनुवाद-ग्रंथों में यद्यपि विचार-स्वातंत्र्य एवं स्वाभिमान की छाया अधिक है तथापि

महत्त्व की दृष्टि से उनकी उपयोगिता संमान्य है। ग्रासमैन का 'संस्कृत-जर्मन कोश' ग्रंथ ऋग्वेद के रहस्यमय स्थलों की जानकारी के लिए अति उपयोगी है। दूसरे जर्मन विद्वानों में वान-हंबोल्ट, फ्रेडरिक रुकार्ट, शेलिंग, कांट और शिलर का नाम उल्लेखनीय है। हंबोल्ट ने भारतीय दर्शनों पर शोधकार्य किया; शेलिंग, कांट एवं शिलर प्रभृति विद्वान उपनिषद्-तत्त्व के अनुशीलन में अधिक सचेष्ट रहे और रुकार्ट ने एकमत होकर संस्कृत के काव्य-साहित्य पर कार्य किया।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन करनेवाले यूरोपीय विद्वानों में फ्रेडरिक-रोजन का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८३८ से लगातार पाँच वर्षों तक बिना व्यवधान के इस विद्वान ने वैदिक साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला, जिससे प्रभावित होकर रुडोल्फ आदि विद्वान् अथक उत्साह के साथ इस क्षेत्र में अवतरित हुए। तदुपरांत एच० ग्रासमैन और विलियम ने ससायणभाष्य-ऋग्वेद का एक अभूतपूर्व अनुवाद प्रस्तुत किया। इन्हीं की देखादेखी पिशल और गेल्डनकर ने 'वैदिक स्टडीज' नामक ग्रंथ लिखकर इस दिशा में विद्वानों का मार्ग ही प्रशस्त कर दिया।

महापंडित मैक्समूलर, जिनका भारतीय नाम मोक्षमूलर है, एक अभूतपूर्व विद्वान् हो गए हैं। इन्होंने अपने जीवन के ५८ वर्ष वेदों के अनुसंधान-कार्य में व्यतीत किए। ऐसा जीवट का विद्वान् कम देखने को मिला है। मैक्समूलर ने सायणभाष्य-सहित संपूर्ण ऋग्वेद को छः विशाल जिल्दों में संपादित एवं साथ ही प्रकाशित भी किया। १८४६ ई० में उन्होंने यह संपादन-कार्य प्रारंभ किया और १८७५ में जाकर समाप्त किया। इसके अतिरिक्त मूल ऋग्वेद के दशों मंडलों को सन् १८७३ के लगभग दो जिल्दों में लंदन से प्रकाशित किया। इस संस्करण की अपनी अनुपम विशेषता यह है कि प्रत्येक मंत्र के साथ संहितापाठ और पदपाठ साथ-साथ दिया हुआ है। पूर्व की पवित्र पुस्तकें (सेक्रेट बुक्स आफ द ईस्ट)-नामक सीरीज के जन्मदाता भी मैक्समूलर ही थे। इसीके आसपास विल्सन महोदय ने भी ऋग्वेद की सानुवादित छः जिल्दें प्रकाशित करवाईं एवं कतिपय पुराणों का भी संपादन किया।

ग्रासमैन का ही देशीय विद्वान् रॉथ ने महर्षि यास्क-कृत निरुक्त के संपादनांतर वेदों के शब्दार्थ समझने के लिए एक 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' की रचना की। इसी प्रकार आडफ्रेश्तको ने ऋग्वेद और ऐतरीय ब्राह्मण का विद्वत्तापूर्ण ढंग से रोमन भाषा में अनुवाद किया, जिससे प्रेरित होकर दूसरे रोमन विद्वान् एदारुफ ने ऋग्वेद पर रोमन भाषा में एक पुस्तक लिखी, जिसका तत्काल ही एक अँगरेजी संस्करण भी प्रकाशित हुआ। प्रो० ओल्देनवर्ग ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रंथों का गहरा ज्ञान प्राप्त कर दो भागों में ऋग्वेद पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखीं। इसी प्रकार प्रो० ब्लूमफील्ड ने भी अनेक स्फुट लेखों के अतिरिक्त 'वैदिक कांकार्डेन्स' और अथर्ववेद का प्रामाणिक अनुवाद किया।

संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में यूरोपीय विद्वानों का महत्त्वपूर्ण कार्य ऐतिहासिक ग्रंथों के लिखने में अधिक प्रभावोत्पादक है। सत्य तो यह है कि संस्कृत-साहित्य की धुँधली छाया को एक सौम्य स्वरूप में लाने का श्रेय इन्हीं इतिहासकारों को है। ओदेन, मैक्डानेल, कीथ, जैकोबी, वेबर, फ्रेजर, गवेन और विंटरनित्स प्रभृति इतिहासकारों का कृतित्व युग-युगांतर तक उनके पांडित्य को अमर बनाने के लिए यथेष्ट है। इन विद्वानों की संस्कृत-सेवाओं से आज जितना उपकार हो रहा है, वह अतुलनीय है। इन विद्वानों ने यद्यपि वेदों पर भी उल्लेखनीय गवेषणा-कार्य किया है और अनेक अँगरेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किए हैं तथापि सर्वोच्च मान्यता इनके इतिहास-ग्रंथों को ही दी गई है।

उक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी शताधिक साहित्यकार ऐसे हुए हैं जिन्होंने भारतीय वाङ्मय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है और आज भी जिनके कृतित्व की महनीयता बहुविश्रुत है। विदेशी विद्वानों की भारतीय ज्ञान के प्रति इतनी तन्मयता अवश्य ही उनके पांडित्य को प्रमाणित करती है और साथ ही हमारे महाप्राण मनीषियों ने जिन उदात्त विचारों की उद्भावना की है, उनमें भी असंदिग्ध रूप से असाधारण प्रतिभा समाविष्ट है। भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाने में विदेशी विद्वानों का यह सहयोग अविस्मरणीय रहेगा।

पंत की कविता

श्री राजेंद्रप्रसाद सिंह, एम० ए०

[गतांक का शेषांश]

अंतर्जीवन का निर्माण और रहस्योद्घाटन वैयक्तिक हृदय के आधार पर होता है, और वहिर्जीवन का निरूपण सामाजिक हृदय एवं परिस्थितियों के आधार पर। यों तो, दोनों ही जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक दिशाएँ प्रस्तुत करते हैं, और दोनों का विकास मूर्त्त होना चाहिए; पर 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' के अनुसार भी 'शरीरत्व' या 'वहिरंगता' की समस्या अंतस् की समस्या से अधिक तीव्र और आवश्यक होती है, जिसमें फैली बाधाएँ अंत-र्निर्माण की बाधाएँ होती हैं,—कुछ ऐसा ही विश्वास लेकर पंतजी 'गुंजन' के अंतर्मुख जीवन-दर्शन से 'युगांत' के बहिर्मुख जीवन-दर्शन की ओर प्रवृत्त हुए। पंतजी ने स्वयं 'मैं और मेरी कला' शीर्षक निबंध में लिखा है—'गुंजन-काल की रचनाओं में नित्य सत्य पर जैसे मेरा दृढ़ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।......पल्लव-कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत् जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। युगांत में मेरा वह विश्वास वाहर की दिशा में भी सक्रिय हो गया है और विकास का भी हृदय क्रांतिवादी हो गया है।......अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहले परिवर्त्तन और फिर क्रांति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में, वाहरी क्रांति की अभावात्मकता की पूर्त्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।'

किंतु, पंतजी 'युगांत' में भी अवश्य ही बाहरी क्रांति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।—'द्रुत झरो जगत् के जीर्णपत्र, हे स्रस्त-ध्वस्त, हे जीर्ण-शीर्ण'–की पुकार पंतजी की क्षुब्ध चेतना से बार-बार उठती है। कहा जा सकता है कि 'परिवर्त्तन' की महाशक्ति का दर्शन कर नवीन युग के अनुकूल उसका समाराधान पंतजी ने प्रारंभ किया है। पंतजी जिस क्रांति की कामना करते हैं,—वह वाहरी होकर भी आंतर मनुष्यता की नव-निर्मात्री होगी, इसीलिए वह ध्वंसात्मक होकर भी रचनात्मक है; उसकी खंडन-क्रिया नवीन मंडन के माध्यम का महत्त्व रखती है। वह मानव को ही सुंदरतम जीवन का अधिष्ठाता बनाना चाहती है—'सुंदर है विहग, सुमन सुंदर, मानव! तुम सबसे सुंदर-तम।' 'युगांत' में प्रकृति के सौंदर्याधेय जो काव्य-विषय बनाए गए हैं, उनमें एक तटस्थ दर्शक की भावुकता है, और प्रकृति को अपने रूप में ही ग्रहण किया गया है, जो एक यथार्थवादी प्रयास है। किंतु यथार्थवाद या क्रांति का युगानुकूल प्रभावों के बीच काव्यगत निरूपण पंतजी ने 'युगांत' में नहीं किया। इसका कारण शायद उनके मन का वाह्यादर्शों के बीच द्वंद्व है, जो एक ओर 'गर्जन कर मानव-केशरि!' का उद्बोधन-स्वर भरता और दूसरी ओर 'बापू के प्रति' मर्मांजलि अर्पित करता है—'तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल; हे चिरपुराण, हे चिरनवीन!'

नित्य और अनित्य के बीच सामंजस्य पंतजी का प्रधान लक्ष्य है। इसीलिए 'युगवाणी' के 'गीत-गद्य' में आंतरिक भाव-संगीत का आरोहावरोह और वाह्य गद्यात्मकता का स्थैर्य मूर्त्त हुआ है। और, इसीलिए व्यवस्थागत संतुलन और अवस्थागत उन्नयन की कामना 'युगवाणी' में प्रकट हुई है। भारत के सांस्कृतिक गौरव को अपने संस्कार में जीवंत रखने के कारण ही क्रांति के चेता अन्य प्रगतिवादियों की तरह पंतजी 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' को ही चरम सत्य नहीं मान सके। 'मार्क्स' और 'गाँधी'—दोनों स्वयं में अपूर्ण तथा एक दूसरे के पूरक प्रतीत हुए।

पंतजी ने निष्कर्ष दिया—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता
निश्चय हमको गाँधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की
साम्य-योजना है अविवाद।

क्रांति के संबंध में पंतजी ने स्पष्ट किया—

तुम रुद्र, प्रलय-तांडव में ही सुख पाती,
जीवन वसंत तुम, पतझर बन नित आती।

जिस माध्यम से भी संभव हो, पर निखिल क्रांति का लक्ष्य है—

आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान-ज्योति ही विश्व-स्नेह नव,
हास-अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य-मधु-पानी।

इन पंक्तियों को देखते हुए मार्क्स की मान्यता से पंतजी का हार्दिक अंतर देखा जा सकता है, जब मार्क्स 'आत्मा' या 'चेतना' को वाह्य स्थिति के ही अधीन मानता है—'Consciousness can never be anything else than conscious existence and the existense of men is their actual life process.' पंतजी ने स्वयं लिखा है—'युग-वाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रांति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती, उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

किंतु, युगवाणी का कवि अत्यंत उदार भी दीखता है। उसने 'नव संस्कृति' की स्थापना के लिए,—जिसमें—'मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति भव-मानवता में जन-जीवन-परिणति' की अभिलाषा है,—एक-एक 'युग-उपकरण' को 'नव दृष्टि' से 'धनपति', 'मध्यवर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी', 'नारी', 'मार्क्स', 'बापू', 'भूतदर्शन', 'क्रांति' और 'मानव-पशु' इत्यादि के रूप में ग्रहण कर 'जीवन-मांस' की सूक्ष्मोन्मुख मांसलता का तत्त्व-दर्शन प्रस्तुत किया है। 'चींटी', 'शिल्पी', 'दो लड़के', 'कवि', 'केलिफोर्निया पॉपी', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम' आदि रचनाओं में उपेक्षित सामाजिकता के प्रतीक विषयों में नवीन सौंदर्य का दर्शन कर पंतजी ने एक नई काव्यात्मकता का उद्‌घाटन किया है। देश की सामूहिक चेतना का उन्नति-निरत भाग जिन विश्व-प्रभावों की छाया में भारतीयता का विश्व-प्रवृत्तियों से संगम चाह रहा था, उन्हीं प्रभावों की प्रेरणा इन रचनाओं में नई 'टेकनीक' का सृजन कर रही थी। विषय की दृष्टि से यथार्थवादी और 'टेकनीक' की दृष्टि से शैलीवादी कही जानेवाली ये रचनाएँ अद्भुत हैं और इनकी योजना में कुछ वैसा ही रस मिलता है, जैसा डी० एच० लारेंस की तत्संबंधी रचनाओं में। साधारण विषयों के चित्रण में विशिष्ट युग-सत्य की संकेतात्मक भंगिमाएँ ही इन रचनाओं के प्राण हैं। कर्म का मन, रूप का मन, राग-साधना, जीवन-तम, कृष्णधन, तुम ईश्वर, युग-नृत्य आदि कविताओं में समन्वयात्मक यथार्थवाद के दार्शनिक कवि के रूप में पंतजी ने एक ही सत्य की प्रतिष्ठा की है, जो युग का रहस्य है—

मुक्त रूप का तत्त्व बनेगा
जगती का नव जीवन।
रूप-मुक्ति ही भाव-मुक्ति,
यह तात्त्विक सत्यान्वेषण।

अतः 'वीणा' से 'गुंजन' तक रूप से भाव, भाव से जीवन तक, और 'गुंजन' से युगांत तक, वे जीवन से बहिर्जीवन तक और 'युगवाणी में वे बहिर्जीवन की अनुभूति से बहिर्जीवन के रूपात्मक यथार्थवादी दर्शन की सीढ़ी पर आ गए।

पंतजी को प्रगतिवाद के अंतर्गत संकीर्ण भौतिकतावादी दायरे में समेटनेवालों के लिए 'ग्राम्या' एक चुनौती है। यों तो, हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'दूसरे उत्थान की कविताओं में वे समाजवादी आदर्शों से चालित हुए थे। 'ग्राम्या' में उन्हीं सिद्धांतों द्वारा चालित, किंतु बौद्धिक चिंतन से आयत्तीकृत भावों का सन्निवेश है।'—पंतजी ने 'ग्राम्या' के संबंध में स्वयं लिखा है—'ग्राम्या' मेरी सन् १६४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिंदी-साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद जिस प्रकार वर्ग-युद्ध की भावना के साथ दृढ़ कदम रखकर आगे बढ़ना चाहता है, उस दृष्टि से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट ही कहना पड़ेगा।' पर इस व्यंग्य में पंतजी का सत्य स्पष्ट है। वे सचमुच वर्ग-युद्ध के कवि नहीं रहे हैं और संकीर्ण भौतिकतावादियों के घेरे से बाहर भी। ग्राम्या की 'ग्राम-देवता', 'भारतमाता', 'खिड़की से', 'साँझ', 'खँडहर' आदि रचनाएँ इस तथ्य का प्रमाण रखती हैं। एक कारण और भी स्पष्ट है। पंतजी ने लिखा है—'ग्राम-जीवन में मिलकर उनके भीतर से ये (कविताएँ) अवश्य नहीं लिखी गई हैं।

ग्रामों की वर्त्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।' बहिर्जीवन के यथार्थोन्मुख समन्वयात्मक दर्शन को हृदय में विश्वस्त कर पंतजी जब अपने देश का 'यथार्थ' विश्लेषित करने लगे तब उसका प्रमुख क्षेत्र ग्रामों की भूमि ही जान पड़ा। किंतु वह यथार्थ अपनी करुणा इसीलिए कवि के प्राणों में उड़ेल सका कि उसकी अनुभूति बौद्धिक हुई। एक व्यवधान और पार्थक्य के भाव ने विवेक का अवकाश देकर कवि को विषयगत घृणा से बचा लिया और सहानुभूतिपूर्ण द्रष्टा की तटस्थता उसे प्रदान की। गाँव--'जहाँ दैन्य-जर्जर असंख्य जन, पशु जघन्य क्षण करते यापन'—'वह बुड्ढा'—'इस खँडहर में बिजली-सी उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी'—'वह ग्राम-युवती'--'धनि श्यामवरण, अति क्षिप्र चरण, अधरों से धरे पकी बाली'—'रे दो दिन का उसका यौवन, सपना छिन का रहता न स्मरण'—आदि बिखरी यथार्थानुभूतियों के पश्चात् 'ग्रामदेवता' का युगानुकूल अभिनंदन करनेवाले पंतजी अवश्य ही 'प्रगतिवादी' संकीर्णताओं से अधिक विकासवादी मानवतावाद के प्रयोक्ता प्रतीत होते हैं। 'ग्राम-देवता' रूढ़ियों की घनीभूत अमावास्या में कृषि-सभ्यता के प्रतीक राम, पूँजीवादी आदर्शवाद की सभ्यता के प्रतीक कृष्ण और सामंतवादी सभ्यता के प्रतीक मध्ययुगीन धर्मात्माओं के प्रभाव से अभिभूत होकर विद्युत् और यंत्रों के तर्क-युग में बुद्धिवादी सभ्यता के प्रति उपेक्षा लिए ग्राम-जीवन की पतनोन्मुख जड़ता में कैद-से लगते हैं, जिनके प्रति पंतजी का व्यंग्य है—

जो था, जो है, जो होगा,—सब लिख गए ग्रंथ !
विज्ञान-ज्ञान में बड़े तुम्हारे मंत्र-तंत्र ।
.. ..

हे ग्राम-देव, लो हृदय थाम ।
अब जन-स्वातंत्र्य-युद्ध की जग में धूमधाम ।
.. ..

तुम रूढ़ि-रीति की खा अफीम, लो चिर-विराम ।

इसके अतिरिक्त प्रकृति और ग्राम-सौंदर्य क सामाजिक पारखी की तरह पंतजी ने जो कलात्मक रचनाएँ ग्राम्या में ग्राम-सभ्यता की सुषमा को मूर्त करने के निमित्त प्रस्तुत की हैं, उनमें भी एक विकसित मानवतावादी स्वाद है। अतः ग्राम्या की पृष्ठभूमि राजनीतिक प्रगतिवाद से अधिक सांस्कृतिक मानवतावाद की विकास-चेतना से नवीन रूप में मंडित है। बहिर्जीवन का दर्शन निरूपित करते ही पंतजी 'ग्राम्या' में उसका प्रयोग करने के क्रम में जीवन-चित्रण से सांस्कृतिक निर्माण या अवस्था-अंकन से चेतना-संकेत की ओर बढ़ चले।

'ग्राम्या' के उपकरण, उपादान और प्रतिपादन में बहिर्जीवन का यथार्थ वहिर्दर्शन से अपनी समस्याओं का समाधान नहीं खोजता, यथातथ्य चित्रित होकर चेतना के पतन का क्षोभ लक्षित करता है। पंतजी का अंतस्संकेत सदा ही चेतना-च्युत स्तर को फोड़कर उन्नयन की ओर हुआ है। सामूहिक चेतना की निम्नता जो ग्राम-परिवेश में वे देखते हैं, प्रायः, उसी का विवर्त उन्हें विश्व-परिवेश में भी दीख पड़ा। 'ग्राम्या' में पंतजी के ऐसे लक्षण राष्ट्रीयता-पूर्ण होकर भी प्रगतिवादी रूसी कविताओं की इस प्रकृति के अनुरूप नहीं पड़ते—'Though Russian poetry owes something to impulses and examples from abroad, and at times turns to thirrrus from remote times or places and gives a new meaning to them; in the end, it comes back to its own country and draws strength again from that illimitable landscape and that passionate soul' (C.M. Bowra, A book of Russiau verse.), प्रत्युत पंतजी के लक्षण टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' में प्रकट हुए काव्यलक्षण के अनुरूप हैं—'In the modern Waste Land—'April is the cruellest month, breedingg Lilacs out of the dead land.'—but bringing no quickening to the human spirit.' (F. R Leavis New bearings in E. Poctry) ऐसा इसलिए कि 'ग्राम्या' तक पंतजी के काव्य-विषय में राष्ट्रीयता का चित्रण औपचारिक ही रह गया और उसके माध्यम से चेतना के सामूहिक जड़त्व पर क्षुब्ध होकर एक क्रांतिकारी स्फोट की भूमिका में वे प्रवृत्त हो गए।

श्री इलाचंद्र जोशी ने 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचना को 'पंतजी की चेतना में क्रांतिकारी स्फोट' माना है। वे लिखते हैं—'मैंने पंतजी की नई भाव-धारा को 'समन्वयात्मक प्रगतिवाद' नाम दिया है।.........मेरा

ऐसा विश्वास है कि इस नए प्रगतिवाद में वे सब प्रगतिशील तत्त्व निहित हैं जो आधुनिक युग में विश्वव्यापी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संघर्षों के फलस्वरूप नए तात्त्विक मानों के रूप में परिस्फुटित हुए हैं। पर साथ ही यह नया प्रगतिवाद उन सांस्कृतिक अंतर्धाराओं को भी परिपूर्ण रूप से अपनाता है, जो उन भौतिक मानों के मूल प्रेरक शक्ति उत्स हैं, और जो मानवीय उत्थान-पतन के इतिहास में युगों से, अलक्ष्य में विकसित होते हुए, आज एक पूर्णतः नई मांगलिक दिशा की ओर मानवीय अंतरात्मा को प्रेरित कर रहे हैं।' सच ही, पंतजी की नवीनतम विचार-धारा, जो उनके श्रमिक अंतर्विकास की साक्षिणी है,—इस प्रस्ताव का संकेत करती है कि मानवीय अंतश्चेतना में परस्पर अविच्छिन्न सामूहिक अवचेतन और सामूहिक उर्ध्वचेतन के चारों ओर राजनीतिक और आर्थिक वैषम्य से परंपरित संघर्ष, व्यवधानों के अंधकार की तरह छाया है; किंतु उसी अंधकार की यथार्थमूलकता के आधार पर दिव्य हार्दिक प्रयास से जीवन का स्वर्गीय रूप समन्वित के सेतु की तरह प्रतिष्ठित होकर अंतश्चेतना की अज्ञेय गतिविधि को अधीन कर सर्वजयी हो सकता है। वही अवस्था विगत युगों की मानवीय पराजय का निराकरण कर समंजस अभ्युदय की श्री को विश्वजनीन कर सकती है।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'कवि इधर अरविंद के आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन से प्रभावित हुआ है और उसे उसमें सांस्कृतिक अभ्युत्थान का स्वर्णप्रभात दिखाई दिया है। पंत की कविता की अंतिम परिणति इसी आध्यात्मिक उल्लास में हुई है।' तजी ने स्वयं भी स्वीकार किया है—'नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूपरेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो, इस संबंध में मेरे मन में ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय में श्री अरविंद के जीवन-दर्शन के संपर्क में आ गया और मेरी 'ज्योत्स्ना'-काल की चेतना एक नवीन युग-प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी, जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से 'स्वर्ण-चेतना' कहा है।

किंतु, पंतजी पूर्णतः 'अरविंदवाद' से न आच्छन्न हुए हैं, और न अरविंद-दर्शन के मूल प्रश्नों और समाधानों को स्वर दे सके हैं। वे अरविंद के 'दिव्य जीवन' की कल्पनाओं से अभिभूत प्रतीत होते हैं, पर अति मानसिक चेतना को स्वीकृत और अभिनंदित करने की अपनी भंगिमाओं में ही उन्होंने अपनी सीमाएँ प्रकट की हैं। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की कविताओं में अरविंद के द्वारा निर्दिष्ट अति-मानसिक जीवन की कल्पना और तद्गत चेतना का सौंदर्य-वैभव ही प्रतिबिंबित हुआ है; उसकी उपलब्धि की प्रक्रिया या अवस्थाएँ प्रतिबिंबित नहीं हुईं। शायद पंतजी ने अरविंद के द्वारा दिग्दर्शित योगपथ को मानवीय ऊर्ध्व क्रांति के लिए स्वीकार नहीं किया है, वे केवल उस क्रांति के फलस्वरूप उतरनेवाले जीवन-जगत् का अभिनंदन और उसकी आवश्यकता, बहुमूल्यता आदि पर आस्था प्रकट करनेवाला विवेचन कर पाए हैं। श्री अरविंद ने लिखा है—'सत्ता के सभी प्रश्न सारतः समस्वरता के प्रश्न होते हैं।' (द लाइफ डिवाइन, भा० १, पृ०३) साथ ही श्री अरविंद की धारणा है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय की चारों स्थितियों में मनुष्य जिसका भी अनुभव प्राप्त करता है, उसमें किसी भी अनुभूत द्रव्य को हम मिथ्या नहीं कह सकते। उसका स्थूल या सूक्ष्म रूप में कुछ तो अस्तित्व है। वह अस्तित्व आत्मगत मूल्य के साथ परिज्ञेय होना चाहिए, मिथ्या नहीं। जागृति की जड़ानुभूति और तुरीय की आत्मानुभूति—दोनों के आधारों को सत्य मानकर अरविंद ब्रह्म और जगत्, दोनों को सत्य मानते हैं। दोनों का समन्वय ही अरविंद-दर्शन का मूल प्रश्न है। समाधान के सिलसिले में, ब्रह्म को सत्ता का चरम स्तर माना गया है, जिसकी स्थिति जगत् के सभी द्वैतानुभवों का आधार और द्वैत की पूरक-भाव-गत परिणति का आधेय है। ब्रह्म आत्मोपलब्धि के लिए, आनंद-प्रद आत्माभिव्यक्ति करता और इसी क्रम में अहंकार और आनंद से युक्त होता है। ब्रह्म की इस क्रिया में जगत् आत्मावरण, आत्मान्वेषण और आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है और व्यक्ति इस प्रक्रिया को वहन करनेवाली इकाई। ब्रह्म के दो कार्य-क्रम हैं—'निवर्त्तन' द्वारा जड़ जगत् में व्याप्त अवचेतना में बँटकर गुप्त हो जाना और पुनः विवर्त्तन द्वारा क्रमशः आत्मान्वेषण से आत्मोपलब्धि करना। आनंद इस संपूर्ण प्रक्रिया के मूल से शीर्ष तक व्याप्त है। ब्रह्म-जैसी अगम्य सत्ता की धारणा के लिए मानव 'ईश्वर' की कल्पना करता है, जो अपेक्षया अवर सत्ता का प्रतीक, फिर भी सच्चिदानंद और ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का अधिष्ठाता है। पर, मानवी चेतना का साक्षात् संबंध निरपेक्ष सत्ता-ग्रहण से ही है। अरविंद की दृष्टि में दूसरी समस्या है, कि ज्ञान, आनंद

और जीवन की पूर्णता चाहनेवाला मनुष्य वर्त्तमान जीवन में फैले—'पूर्णता के प्रत्यक्ष निषेध' की व्यवस्था का पार कर कैसे दिव्य जीवन पा सकता है। मानव-जीवन की वर्त्तमान अवस्था और उसके समयातीत अनिवार्य आदर्शों में समन्वय कैसे हो? वे आदर्श इतिहास-प्रवाह में बार-बार मुमूर्षु होकर भी जीवित रहे हैं,—जीवंत हुए हैं। स्पष्टतः इसी समस्या का प्रभाव पंतजी की विचार-धारा पर है और वे इसके समाधान को आंशिक रूप में ही स्वीकार करते हैं। अरविंद ने माना है कि प्रतीकता व्यक्ति में और वस्तुतः ब्रह्म में विकसनशीलता होने के कारण सत्ता के आठ स्तर हैं–जड़, प्राण, मन, अंतरात्मा, अतिमानस, आनंद, चित् और सत्। ब्रह्म की प्रक्रिया का विकास-क्रम जगत् की सूक्ष्म स्थिति का ही विकास-क्रम है। अभीतक ब्रह्म का सूक्ष्म सृष्टिगत विकास 'मन' तक हुआ है। संसार के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में इसका लंघन होकर अंतरात्मा का स्तर भी मूर्त्त हुआ है। प्रतीत होता है कि यह विकासक्रम जागतिक माध्यम से अंतरात्मा और अतिमानस या चेतना की ओर हो रहा है। पंतजी ने अपने काव्य में इस अनुमान पर आस्था रखी है और इसीके आधार पर अतिमानसी चेतना के अवतरण का अभिनंदन किया है–"हँसी, लो, स्वर्ण-किरण! शिखर आलोकवरण।' पर यथार्थतः वह स्वर्ण-किरण अभी उत्तुंग शिखर पर ही मात्र आलोक-रेखा-सी स्यात् उतरी है, वस्तु-सत्य की भूमि पर उसका आभास भी नहीं। पंतजी ने उसका स्वागत बहुत सवेरे शुरू किया है,—शायद कल्पना की भूमि में ही। किंतु पंतजी ने कहीं आभास नहीं दिया कि मानव विकास का अग्रदूत होकर योग-क्रिया से शीघ्रतर उसे चरितार्थ कर सकता है, जो अरविंद मानते हैं।

पंतजी ने 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्ण-धूलि' की रचना तक अतिमानसिक चेतना की उपलब्धि के लिए कोई समष्टिगत माध्यम नहीं पाया था और न व्यष्टिगत योगाचार के माध्यम पर वे विश्वास कर सक थे। इसीलिए आकाश-वेलि की तरह फैली उनकी स्वर्ण-कल्पना क प्रति प्रगतिवादियों ने कटु विचार रखे। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा—'यथार्थ संसार में कल्पनालोक क इस नकली सोने की टक सेर भी पूछ नहीं है। पूँजीवादी परिस्थितियों से पैदा होनेवाली गरीबी में यह सोना एक जून का भोजन भी नहीं दे सकता।' किंतु इस सोने की अपनी आगमें कीमत है और भविष्य की दृष्टि से यह सारे मूल्यों का सूत्रधार भी हो सकता है, यह विश्वास मानवता के भविष्य पर ही विश्वास होगा। अतिमानसिक चेतना की अवस्था का विश्वास पाने और माध्यम के निरूपण की चिंतना के क्रम में पंतजी ने अनेकानेक प्रश्नों के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है, जो युगीन और युगातीत भी हैं।

अपने नवीनतम दृष्टिकोण से पंतजी ने 'हिमाद्रि' को 'पृथव्या इव मानदण्डः' के समदिक्प्रसार का गौरव-पुंज मानकर भी 'पुण्यधरा के स्वर्गारोहण' के रूप में स्वीकार किया है। वह अपनी शीतलता, गरिमा और उच्चता के कारण ही महाप्राण ऊर्ध्वचेतन मानव का प्रतीक दीखता है।—'घनीभूत आध्यात्म-तत्त्व से, जिससे ज्योति-सरित शत-निःसृत। प्राणों की हरियाली से स्थित पृथ्वी तुमसे महिमा-मंडित।' वर्त्तमान आशंकाओं के कठोर काल में 'कुरुक्षेत्र' के कवि 'दिनकर' की तरह पंतजी ने भी प्रश्न उठाया है कि मनुष्य युद्ध का कीड़ा बनेगा या शक्ति का रसज्ञ?—'धरा बनेगी शांति-धाम, या रक्त-क्षेत्र रण-जर्जर? अमृत व्योम से बरसेगा, विष-वह्नि विनाश भयंकर?'—(इंद्रधनुष), किंतु इसी प्रश्न की सूक्ष्म जड़ में पैठकर विवेचन करते हुए 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में श्रद्धा के मुख से समाधान का संकेत दिया था—'सुख को सीमित कर अपने में, केवल दुख छोड़ोगे। इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुख मोड़ोगे।' पर 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने तो यह समाधान भी नहीं, समाधान के उतरने की मंगल-आशा प्रकट की। हाँ, पंतजी ने अवश्य ही संक्षेप में एक सामाजिक विधान देने की चेष्टा की है, जिसके चरितार्थ होने में उन्हें नवीन दिव्य मानवता के अवतरण की आशा है। श्रम की विस्तृत तत्परता से उत्पादन कर नग्नता और बुभुक्षा का निराकरण तथा नारी-पुरुष के संबंधों में उन्मुक्त हार्दिक प्रीति को प्रश्रय देनेवाली अवस्था, पंतजी ने प्राथमिक योजना मानी है। जन-शिक्षा के प्रश्न को सर्वाधिक आवश्यक मानते हुए नई शिक्षा का शिलान्यास वे आवश्यक समझते हैं, जिसमें आत्मैक्य और व्यक्ति-मुक्ति का समन्वय हो, जिसका अभाव वर्त्तमान है—'भौतिक वैभव, और आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित। दशन और विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित।' पंतजी की दृष्टि में इस अभाव-की पूर्त्ति आवश्यक है। व्यक्ति और समाज के मूल्यों को फिर से जाँचकर अपने नए दृष्टिकोण के अनुसार

व्यक्ति को पंतजी आत्मिक उन्नयन और समाज को व्यावहारिक पूर्णता की इकाई मानते हैं—'उर्ध्व संचरण में रे! व्यक्ति निखिल समाज का नायक। समदिग् गति में सामाजिकता जनगण-भाग्य-विधायक।' इन दो निरूपणों के बाद ही पंतजी ने 'ऊर्ध्वसंचरण' की राह में प्राप्त होनेवाले चेतनागत रहस्य की दृष्टि से सौंदर्य की दिव्य अर्थगर्भिता का अभिव्यंजन प्रारंभ कर दिया है। ऊर्ध्व चेतना के अंतर्गत जन्म लेनेवाली अनुभूति के सौंदर्य और पवित्रता से आपूर्ण दृष्टिकोण व्यक्ति-मानस, जीवनावस्था और प्रकृति एवं व्यवस्था का सौंदर्य तो पंतजी अंकित करते गए हैं, पर उन्होंने न इन प्रश्नों का निश्चित उत्तर ही दिया कि श्रम और उत्पादन की राह के रोड़े कैसे दूर होंगे, 'पतत् प्रकर्ष' का संस्कार रखनेवाले नारी-पुरुष का संबंध कैसे शुद्ध प्रेम का स्थायित्व लेगा, जन-शिक्षा की व्यवस्था सभ्यता के व्यावसायिक युग में आध्यात्मिक कैसे होगी और विश्वासहीन समष्टि को अंतर उन्नयन के व्यष्टि-दूतों पर विश्वास क्यों कर होगा? इतिहास के प्रवाह में जो मानवीय संस्कार के विकार बद्धमूल होने के कारण अपने कुप्रभाव की विषमता से मानव-जीवन के वांछनीय आदर्शों को दुर्बल कर बार-बार अंधकार-मग्न करते आए हैं; वे मानव-संस्कार से उखाड़े कैसे जायँगे कि क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के अनिश्चित विस्तार का जाल समंजस होकर समस्वरता पाए? पंतजी ने इन्हीं संश्लिष्ट समस्याओं के समाधान की संभावना-पूर्ण उपलब्धि नहीं की है।

विश्व-मानवता के नवोन अभ्युदय, व्यवस्था के संतुलन और जीवन की समस्वरता के लक्ष्य के विरुद्ध उपर्युक्त संश्लिष्ट समस्या वर्त्तमान संसार के भविष्य को अपनी अनिश्चित कुंडली से आवृत किए है और चेतना के इस महासंकटपूर्ण गतिरोध को तोड़ने का बुरा या भला कोई कार्यक्रम मार्क्सवादियों के सिवा किसी चिंतन-मार्गी के पास नहीं प्रतीत होता। टी० एस० इलियट भी अपने 'फोरक्वार्टरेट्स' की परिणति में मात्र प्रतीक्षा और आशा का संदेश देकर चुप हो गया है। किंतु पंतजी ऐसी प्रयोजित कामना और अधूरी योजना देते हैं कि स्वर्ण-किरण की, चेतना-तत्त्व-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देनेवाली कविता,—'अशोक-वन'—विकसित व्यक्ति जीवन के चित्रण में विकसित सामाजिक जीवन की प्राणवत्ता उरेहनेवाली रचना—प्रबंधात्मक—'स्वर्णोदय' और चेतना के ऊर्ध्वतम शृंगों पर बसे व्यक्ति-विश्व-समन्वित मनःस्वर्ग की कल्पना को मूर्त्त करनेवाली कृति 'ऊषा' भी, प्रबंधायमान कला की प्रकृति लेकर भी, स्वाभाविक और संभव किसी माध्यम की संश्लिष्ट संस्कार-भेदक शक्ति का उद्घाटन नहीं करती।

'स्वर्ण-धूलि' में पंतजी ने 'स्वर्ण-किरण' के अंतर्गत 'इंद्रधनुष' के द्वारा निरूपित निर्माण-योजना की दिशा में प्रयास किया है। यह प्रयास विश्लेषणात्मक है, और पूर्व-योजना के कुछ पहलुओं का छोड़ भी दिया गया है। पूर्व-योजना स्वयं अधूरी भी थी। 'पतिता', 'परकीया', 'ग्रामीण' आदि सामाजिक रूढ़ियों की विशिष्टता से गर्भित रचनाओं में पंतजी ने रूढ़ियों की दीवारें उदारता की दृष्टि देकर तोड़ने की चेष्टा की है। 'लोक-सत्य', 'स्वप्न-निर्बल', 'चौथी भूख', 'नरक में स्वर्ग' आदि रचनाओं में 'स्वर्ण-किरण' में ही प्राप्त चेतना-दर्शन की अभिव्यक्ति सामाजिक उपकरणों के वातावरण में करने की चेष्टा है। अंतिम रूपक 'मानसी' में नारी-पुरुष की प्रेम-समस्या का समाधान आत्मिक आदर्श को सामाजिक आदर्श बना लेने के रूप में किया गया है। पंतजी की पूर्व-योजना की अधूरी ही व्याख्या 'स्वर्ण-धूलि' में संभव हुई। 'आर्ष वाणी' के नाम से वैदिक ऋचाओं और उपकरणों पर अवलंबित कविताएँ आदिम भावों की वक्रिमा और पवित्रता का हिंदी-साहित्य में नया नमूना रखती हैं। प्रेरणात्मक तुष्टि इन कविताओं से होती है और प्रयोगवाद के कुछ कवियों ने ऐसी रचनाओं की परंपरा भी आगे बढ़ाई है।

'युगपथ' में कुछ 'युगांत' की रचनाएँ हैं और कुछ 'खादी के फूल' की वे कविताएँ जो बच्चन की रचनाओं के साथ प्रकाशित हुई थीं और गाँधीजी के स्वर्गारोहण के बाद लिखी गई थीं। व्यक्ति, देश और विश्व के नव-निर्माण की पृष्ठभूमि पर गाँधी-अवसान का यथेष्ट मूल्यांकन और भावात्मक शोकानुभूति पंतजी ने प्रस्तुत की है।

'उत्तरा' की कविताओं में पंतजी ने 'स्वर्ण-किरण' के ही विषय को विश्लिष्ट सैद्धांतिकता से अभिव्यक्त किया है। 'उत्तरा' में पंत की नव-परिष्कृत काव्य-शैली की ऐश्वर्य-पूर्णता में भाव की दृष्टि से विश्व-जीवन की जड़ चेतना का उर्ध्वचेतना के प्रति उन्मुख होकर शाश्वत समर्पण व्यक्त है। उत्तरा की भूमिका पल्लव की भूमिका से कम महत्त्वपूर्ण नहीं, जिसमें अन्य तत्त्वदर्शी ऊँट और श्री अरविंद पहाड़ सिद्ध हुए हैं।

पंतजी की दो नवीनतम पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं–'रजत शिखर' और 'शिल्पी'। दोनों काव्य-रूपकों के संग्रह हैं। दोनों की अधिकांश रचनाओं का प्रसारण आकाशवाणी के द्वारा हुआ है। उपयोग का ध्यान रखकर छंद-चयन और अभिव्यक्तियों में पंतजी ने विशिष्टता और अनुकूलता ला दी है। टी० एस० इलियट ने भी कुछ Poetc Drama लिखे हैं, पर उनमें और पंतजी के काव्य-रूपकों में भाषासंयोजन का अंतर भी है। इलियट ने पात्रों के अनुसार भाषा के लक्षण बदले हैं, पर पंतजी के सभी पात्र प्रतीकात्मक या मानसोद्भूत हैं। अतः अपनी एक-सूत्रता के फलस्वरूप भाषा में भी एकरसता आ गई है। शैली भी प्रायः एक-गुण ही है। विषय और प्रतिपादन की दृष्टि से पंतजी की विशिष्टता प्रायः इलियट के समकक्ष ही शक्तिमती और प्राणवती हो सकी है,—यह हिंदी के लिए हर्ष का विषय है। पंतजी के ही शब्दों में परिचय दें, तो–'रजत-शिखर' मनुष्य की अंतश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है।......मानव-मन के विकास की वर्त्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।'–यह निश्चय ही 'अरविंद-दर्शन' से विलग पंत के चेतना-दर्शन का नया चरण है। काव्यात्मक औदात्त्य भी चित्रण की भावात्मक चरमता से समन्वित है––

अतल गर्त नीचे, ऊपर दुर्लंघ्य शिखर है।
नीचे इंद्रिय रौंद रहीं निर्मम चरणों से,
दुरारोह निर्जनता ऊपर द्वैत शून्य है!
सहज एक बहु की स्थिति का आकांक्षी है मन!
जल-जल उठते शीत स्वच्छता से इच्छा-पग,
कँप उठता उर हरित ऊष्मता के अभाव से।
ज्यों-ज्यों आरोहण करता मन मौन शांति में
धरती का क्रंदन ही ऊपर स्वर-संगति पा
बन जाता संगीत सुनहली झंकारों का।

निश्चय, यह व्यक्ति का ही आरोहण है। क्रिया और प्रतिक्रिया की संश्लिष्ट सांस्कारिक अनिवार्यता के वैषम्य में बद्ध समूह की प्रत्येक इकाई कैसे इस पथ पर बढ़ेगी? उर्ध्व के अवरोहण की स्थिति भी यदि यह है—

आओ, हम दोनों मिल प्राणों की घाटी में
विस्थापित मानव का फिर घर-द्वार बसायें;

तो, वह समतल के आरोहण से अधिक अंतर नहीं रखता। अतः प्रणाली की समस्या फिर सामूहिक मनोविज्ञान के आधार पर उठकर एक बड़ा शंका-चिह्न बना देती है। 'फूलों का देश'-शीर्षक रूपक में पंतजी अपने ही शब्दों में, अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, आदर्शवाद, वस्तुवाद आदि विरोधी वाद-युग्मों के संघर्ष की अभिव्यक्ति; समन्वय की चेष्टा और व्याख्या के द्वारा विश्व-जीवन में वहिरंतर संतुलन लाने का उपयोग सिद्ध कर रहे हैं। पुरुष, स्त्री, कवि, जनगण, वैज्ञानिक इत्यादि के सहयोग से पूर्ण होने-वाला यह रूपक पंतजी के समन्वयवाद का वौद्धिक निरूपण करता है। 'उत्तरशती', 'शुभ्र पुरुष', 'विद्युद्वसना'–तीनों सामयिकता और एकदेशिकता की सीमा में युग-सत्य के विवेचन, अभ्यर्थन और मंगलार्चन के लक्ष्य से पूर्ण हुई रचनाएँ हैं। 'शरद्-चेतना' प्रकृति-सौंदर्य का कल्पनात्मक रूपक है जिसमें 'ज्योत्स्ना' के प्रकृति-चेतना-दर्शन की विकसित भूमि और अतिमानसिक चेतना के दिव्य प्रतीक शरत्काल का अभिनंदन है।

'शिल्पी' में प्रथम काव्य-रूपक 'शिल्पी' कलाकार के अंतस्संघर्ष को चित्रित करनेवाला आत्मनिर्माण-संबंधी काव्य-रूपक है, जिसकी वैषयिकता और शैली की सचाई से पंतजी की ईमानदारी का पता चलता है। विश्व-शांति की मंगलमयी मनोमूर्त्ति के निर्माण में सारी प्रचलित मान्य-ताओं का समन्वय कर कलाकार ने उसे मातृ-चेतना, लोक-शक्ति या नवयुग-श्री के रूप में उद्घाटित किया है, जो—

युग-जीवन के अंधकार को अमृत-स्पर्श से
नव प्रभात में बदल रही यह स्वर्णिम चेतन।

किंतु इस नवयुग-श्री की सामाजिक व्याप्ति या सामूहिक प्रतिष्ठा 'ध्वंस-शेष' रूपक में नवजीवन-निर्माण का स्वप्न बनकर मूर्त्त हुई है। अणु-युद्ध की अनिवार्यता का दुःस्वप्न जब अपने प्रलयंकर आक्रोश से राजनीति, धर्म, अर्थनीति, व्यवसाय, समाज, व्यक्ति, जीवन और प्रयोगों को आक्रांत कर विश्व-सभ्यता को विनाश के खँडहरों में बदल देता है; तभी नवीन संस्कृति और नई चेतना की मंगल-श्री का अभिषेक होता है। कवि का यह नव्यतर विश्वास भी अभी आस्था नहीं पा सका है, दुःस्वप्नमात्र है। अतः चिंता की बात नहीं। पंतजी ऊर्ध्व चेतना के लक्ष्य तक समूह को ले जाने की प्रणाली निश्चित करनेवाली कोई योजना पा लेंगे, इसमें संदेह नहीं।

मुंशीजी !

श्री सरयूपंडा गौड़

मुंशीजी हमारे गाँव के एक जाने-माने व्यक्ति हैं। इनकी उमर अभी बहुत ही थोड़ी है—महज पचहत्तर साल !—अर्थात् 'साठा तब पाठा'—कहावत के अनुसार मुंशीजी को जवान हुए कुल पंद्रह साल हुए हैं ! और, अपनी इसी उठती जवानी के जोश में मुंशीजी परसाल पाँचवीं पत्नी उठा लाए, जिसके संबंध में मुंशीजी कहा करते हैं—वह इंद्र के अखाड़े की परी-जैसी सुंदरी, गुलबकावली के फूल की तरह लुभावनी और चाँदनी की तरह सुहावनी है।

अच्छी चीज पर खतरे का खौफ हमेशा बना रहता है। अतः, मुंशीजी अपनी हसीन बीवी की देख-रेख में हमेशा हुशियार रहते। यों तो मुंशीजी भी कम खूबसूरत नहीं थे। उनकी जुल्फ कमाल की थी ! साधारणतः सबके सिर में ही जुल्फ होती है, मगर हमारे मुंशीजी तो सिर से लेकर पाँव तक जुल्फों से लदे थे। मतलब यह कि सारे शरीर में एक-एक अंगुल के बाल बरसात की दूब की तरह खूब लहलहा रहे थे, जिनमें कम-से-कम एक सौ 'कनगोजर' बड़े आनंद से निवास कर सकते हैं, और, क्या मजाल जो उस बाल की लहलहाती खेती में कनगोजरों का तनिक भी पता चल जाय !

आप सबको निर्विवाद मानना होगा, कि हमारे मुंशीजी इस घोर कलियुग में भी महाबली भगवान राम के महामंत्री जामवंत के साक्षात् अवतार हैं। यद्यपि लोगों को तो क्या, उनकी विगत तथा वर्तमान पति-प्राणा पत्नी को भी उनके इस बाल-बाहुल्य से काफी नफरत तथा चिढ़ रही, तथापि मुंशीजी को अपने शरीर की इस जामवंती-शोभा पर प्रचुर गर्व एवं पर्याप्त गौरव है। वे कहते—'बार (बाल) दिलदार आदमी को होता है। कहावत है कि 'जिस मर्द के सीने और शरीर में न हो बार, उसका कभी मत करो एतबार !'

मुंशीजी के मुख-मंडल की जो सबसे प्रिय, दर्शनीय तथा आकर्षक शोभा की वस्तु थी, वह थी उनकी मनमोहिनी नाक। उनकी नाक को ब्रह्मा बाबा ने रच-रच के बनाया-सँवारा था। उस नाक को नाक नहीं कहकर, उसकी महत्ता तथा विशालता के द्योतक 'नकं' कहा जाय, तो भी उस 'महानकं' की बड़ाई का वर्णन अत्यंत अधूरा ही रह जायगा।

मुंशीजी की नाक ललाट से बित्ते भर ऊँची और तलहथी भर चिपटी, भ्रू-प्रदेश से भागती-भागती नीचे के होठ तक आ पहुँची थी। लगता, जैसे उस चतुर कारीगर ने मुखरूपी दरवाजे पर उस 'महानकं' की सुंदर छाजनी लगा दी हो, जिससे दंत-विहीन मुख-विवर आँधी, बवंडर या वर्षा की झटास से रक्षित रहे !

मुंशीजी की नासिका गरुड़ की-सी थी, यानी आपको गरुड़-नासिका मिली थी। अतः, इस मानी में हमारे मुंशीजी भगवान विष्णु के वाहन गरुड़ के अवतार थे। और, केवल शारीरिक दृष्टि से ही मुंशीजी गरुड़ के अवतार नहीं, नैसर्गिक दृष्टि से भी गरुड़ के ही अवतार थे। आपकी दृष्टि गरुड़ से भी तीव्र थी ! जिसे भी अपने मकान के पास देखते, झट ताड़ जाते,—अवश्य यह हमारी सुंदरी पत्नी के फिराक में आया है ! मुवक्किलों की टेंट में रखे पैसे को तो वे तुरंत अपनी गृध्र-दृष्टि से देख लेते और झट उसपर गीध की तरह मँड़राने लगते।

और, जिस प्रकार गरुड़ महाराज वैष्णव होते हुए भी पंच मकार—मांस, मुद्रा, मीन आदि से वंचित नहीं थे, उसी प्रकार हमारे मुंशीजी भी पंच मकार से संबंध-विच्छेद नहीं कर सके थे।

और, महाबली भगवान हनुमान के तो महाभक्त थे मुंशीजी। उनका 'हनुमान-चालीसा' का पाठ चालीस कोस तक विदित था। चालीसा का पाठ वे नित्य नियमपूर्वक करते। और, इधर ज्योंही उनके मुखारविंद से चालीसा की प्रथम चौपाई 'जय हनुमान ज्ञान-गुन-सागर' निकलती, त्योंही कड़ाही में मछली छनाक् से छौंकी जाती। कारण कि, 'पाठ' से उठते ही मुंशीजी को तुरंत

भोजन मिलना चाहिए, नहीं तो मुंशीजी घर फूँक दें। पाठ करने में परिश्रम भी तो कम नहीं पड़ता! घंटों बर्राना! सो, मुंशीजी का पाठ सारे संसार के पाठ-कर्त्ताओं के पाठ से निराला था! इतना चिल्लाते, इतना चिल्लाते, मानों इनके घर में डाका पड़ रहा हो। और, यह परम सौभाग्य की बात थी, कि मुंशीजी का 'महापाठ' दिन में ही होता, यदि यह रात्रि में भी हुआ करता, तो फिर पड़ोसियों की शामत थी। इस गर्दभ-पुकार से या तो वे रात भर 'रतजगा' का आनंद लाभ करते या बार-बार लाठी-डंडे फटकारते घर से बाहर निकल पड़ते कि कहीं डकैती तो नहीं हो रही है।

हाँ, तो, इस पाठ-क्रम तथा श्री बजरंगबली के ध्यान-पूजन के साथ-साथ मछली-पाक का भी ध्यान मुंशीजी को पूरा रहता। शायद नौकर गाफिल हो जाय, और मछली अधपकी या जलकर स्वाहा हो जाय, तो सब गुड़ गोबर! अतः मुंशीजी चार-चार चौपाई का 'इंटरवल' देकर उसी जोश से चिल्ला पड़ते-'अरे घुरफेंकना, घुरफेंकना! अरे, मर गया क्या! जरा उलट-पलट भी करता जा! नहीं तो एक ओर सब जल जायगी और दूसरी ओर सब कच्ची रह जायगी! समझा रे! अरे भकुवा, कुछ सुना रे?'

मुंशीजी के परम सौभाग्य से या घोर दुर्भाग्य से, उनको सेवक घुरफेंकना भी विचित्र ही मिला था। उमर में मुंशीजी से भी छः साल बड़ा और बिलकुल वज्र-वधिर! सौ वार गला फाड़-फाड़कर, कलेजे की सारी ताकत कंठ में उतारकर चिल्लाइए, तो कदाचित् घुरफेंकनराम के श्रवण-रंध्र में कुछ सुनाई पड़े, तो पड़े! मुंशीजी तबाह थे। पर करें तो क्या, लाचारी थी। कारण कि इस अखिल विश्व-ब्रह्मांड में केवल घुरफेंकनराम ही ऐसे जीवट के आदमी प्रमाणित हो सके जो मुंशीजी की सेवा में समुपस्थित रह सकते थे। नहीं तो संसार के सारे भृत्य-जीवियों की परीक्षा मुंशीजी के सेवारूपी गरमागरम तवे पर हो चुकी थी, और सब-के-सब घोर असफल सिद्ध हुए थे!

और मैं समझता हूँ, घुरफेंकन भी असफल ही सिद्ध होता, परंतु उसकी सफलता का सारा श्रेय उसके घोर वज्र-वधिर कानों की कृपा पर है। क्योंकि वधिर होने के कारण मुंशीजी की फरमाइश पर आज्ञा-पालन से भी बच जाता और दिमाग भिन्नानेवाली उनकी गालियाँ भी नहीं सुन पाता। और, मुंशीजी भी यह समझकर संतोष कर लेते कि बहरा है। इसके अलावा, इसे यदि हटा दें तो दूसरा सेवक कहाँ से लावें! इधर घुरफेंकनराम भी समझे बैठे थे कि मैं पाई सेर भी मँहगा हूँ। एक तो बूढ़ा, दूसरे बहरा, मुझे अपना सिर मारने को रखेगा कौन? गोया, विवशता दोनों तरफ थी। और, इसी विवशता की टुटही गाड़ी पर नौकरी नाक धुनती चल रही थी।

मालिक के इस गज-चिग्घाड़ पर घुरफेंकन घोड़े की तरह कान खड़ा कर सुनता और बड़ी मुस्तैदी से बोलता-'आँच पूरी है सरकार! लकड़ी खूब लहक रही है। रहिए और ईंधन दे देता हूँ।' फिर घुरफेंकनराम दो-चार लकड़ी और चूल्हे में ठूस मारते! और मुंशीजी बिल्कुल बेअख्तियार हो, बदहवासे, चौपाई बड़बड़ाते, चूल्हे के पास पहुँच जाते, और चिल्ला-चिल्लाकर कहते—'अरे बदमाश, गधा, सब जलाकर खाक कर देगा क्या रे! इतनी आँच? इतना ईंधन! हवन हो रहा है क्या रे! निकाल लकड़ी! उलट, उलट जल्दी, नहीं तो सब सत्यानाश हुआ! बदतमीज! बेहूदा! सूअर!!'

मछली उलटवाकर मुंशीजी पुनः पूजा के आसन पर आसीन होते, और फिर वही चार चौपाई का 'इंटर-वल' देकर चिल्लाते—'नमक दे, नमक! जल्दी कर!' और घुरफेंकनराम पानी डालने के लिए लोटा उठाते तो मुंशीजी बेचारे को फिर आसन से उठकर चूल्हा के पास पहुँचना पड़ता, और चिल्लाना पड़ता—'पानी नहीं रे, अहमक! नमक दे, नमक, रे नामाकूल!'

रोज का यही धंधा था, यही नियम था, और यही पूजा-पाठ का क्रम था!

मछली तैयार होते ही मुंशीजी का पाठ समाप्त हो जाता। मुंशीजी झटपट भोजन करते, फिर अपना चितकबरा बस्ता काँख में दबाए मुवक्किलों की टोह में कचहरी चले जाते। और घुरफेंकन को चेताए जाते—'देखना, दरवाजे से पलभर भी नहीं हटना, और कोई दो मिनट भी दरवाजे पर रुके, तो उसे रुकने मत देना। अगर वह नहीं माने तो तुरंत मुझे खबर देना। समझा?'

परंतु जब-जब मुंशीजी कचहरी की समाप्ति पर घर आकर सबसे पहला प्रश्न घुरफेंकन से यह करते—'क्यों रे घुरफेंकना, कोई रुका था दरवाजे पर?' तब-तब घुरफेंकन

नकारात्मक ही उत्तर देता और मारे क्रोध के मुंशीजी बौखला उठते। कहते—'झूठा! रोज झूठ बोलता है! एक दिन भी हमारे दरवाजे पर कोई नहीं रुका! यह मैं कभी नहीं मानूँगा! तुम या तो झूठ बोलते हो या मेरे जाने के बाद तुम भी दरवाजे से गायब हो जाते हो! अब तुम्हें निकाल-बाहर करूँगा! समझ गया, तू नंबरी झूठा है!'

× × ×

एक दिन घुरफेंकन गिरता-पड़ता, हाँफता, दौड़ता, कचहरी पहुँचा और घबराई हुई आवाज में बोला—'अरे, गजब हो गया सरकार! अभी, आपके जाने के कुछ ही छन बाद, एक गोरा-चिट्टा-सा जवान आया और दरवाजे पर खड़ा हो गया। उसके खड़ा होते ही मैंने कड़ककर पूछा—'क्या है जी! तुम यहाँ खड़े क्यों हो?'

वह बोला—'काम है!'

मैंने जरा और कड़ी आवाज में कहा—'काम है? किससे काम है? मालिक तो कचहरी गए हैं। बस सीधे यहाँ से रास्ता लो, वर्ना गजब हो जायगा।'

वह मुझसे भी ज्यादा जोर से चिल्लाकर बोला—'बस, चुप रहो, एक लफ्ज भी बोलोगे तो जीभ खींच लूँगा।'

इसपर मैं भी चिल्लाया सरकार—'मैं भी मारे डंडों के भुरकुस कर दूँगा!'

फिर वह चिल्लाया तो मैंने झट डंडा तान लिया, और, ज्यों ही मैं मारने दौड़ा कि दरवाजे पर मालकिन आ गईं। आते ही उन्होंने मुझे डाँट दिया और उसे अंदर बुला लिया।

'..ऐं..! उ-उ-उ-उसे, अ-अ-अंदर बुला लिया...!' मुंशीजी बीच में ही बेअख्तियार हो चीख उठे। मारे क्रोध के उनकी आवाज लटपटाने लगी—'तो-तो वह जवान भीतर चला गया!'

घुरफेंकन बोला—जी, जी, ई, ई...!'

मुंशीजी आँखें तरेरकर बोले—'एकदम अंदर, बिल्कुल भीतर, घर में चला गया?'

घुरफेंकन—'जी, एकदम अंदर, एकदम भीतर, बिल्कुल बेरोक सड़सड़ाते हुए चला गया।'

मुंशीजी और घबराकर बोले—'अयँ! सड़सड़ाते हुए भीतर चला गया और मालकिन कुछ न बोलीं?'

घुरफेंकन—'वह क्या बोलतीं सरकार! वही तो उसे अंदर लिवा गईं! और हँस-हँसकर लिवा गईं!'

'हाँ! उसे हँस-हँसकर अंदर लिवा गईं!'—मुंशीजी मौत के झूले पर झूलते हुए बोले।

घुरफेंकन उसी मुस्तैदी से बोला—'जी, जी, जी, ई-ई-ई—!!'

मुंशीजी सक्रोध बोले—'अच्छा, बता तो उस साले का नाम। अभी बारह आने का सवाल देता हूँ, एस० डी० ओ० के कोर्ट में 'ट्रेस-पासिंग' का। तुरंत साले को भेजवाता हूँ जेल।

घुर०—'नाम मुझे नहीं मालूम उसका सरकार!'

मुंशी—'कैसा था?'

घुर०—'गोरा था।'

मुंशी—'अरे गोरा क्या?'

घुर०—'वही, गोरा कैसा होता है, सरकार! वैसा ही था!'

मुंशीजी चिढ़कर बोले—'अरे, नामाकूल का बच्चा! गोरा क्या? गोरा अँगरेज था?'

घूर०—'नहीं सरकार, रँगरेज नहीं था, गोरा था।

मुंशी—'अच्छा, चल दौड़, जल्द घर चल। अभी तो वह घर में ही होगा?'

घुर०—'जी, जी, जी!'

मुंशीजी हाँफते हुए घर पहुँचे और जाते ही पत्नी से बोले—'वह गोरा-गोरा, कौन साला अभी आया था, जिसे तुम अंदर लिवा गईं और वह घुरफेंकन को मारने दौड़ा था। बताओ, वह कहाँ है? अगर वह अपने बाप का बेटा है, तो फिर आ जाय हमारे सामने!'

मुंशीजी की पत्नी ने कहा—'यहाँ गोरा, काला, कोई नहीं आया था।'

मुंशीजी चिल्लाकर बोले—'चुप रहो! मैं तुम्हारी जाति के प्रपंचों, पाखंडों से पूरा वाकिफ हूँ। श्री रामायणजी को मैंने लाखों बार पढ़ा है। उसमें तुम्हारी जाति का जैसा बखान है, वह जग-जाहिर है। झूठ की खान, छल की मोटरी, और माया की महा गठरी तुम औरत जाति हो। सच कहो, वह गोरा शख्स कौन था? क्यों आया और आया तो साला भागा कहाँ?'

मुंशिआइन शांत, सुदृढ़ स्वर में बोलीं—'वह मेरे मृत पिताजी की आत्मा थी। मुझे लेने आई थी। तुम मुझे मेरे मायके नहीं भेजते, इसीसे पिताजी की आत्मा बहुत

दुखी है। वह बिना मुझे लिए नहीं जायगी। वह कह गई है, रात में बारह बजे वह फिर आयगी।'

मुंशीजी गंभीर स्वर में बोले--'हूँ! अच्छा तो उस आत्मा को भी आज नानी याद आ जायगी! वह प्रेत, और मैं प्रेत-पिशाचों के महान संहार-कर्त्ता भगवान महावीर का महाभक्त! आज इसका फैसला हो जायगा कि तुम्हारे मृत बाप की आत्मा बली है या बजरंगबली का भक्त!'

फिर मुंशीजी अपने परम आज्ञाकारी एवं सुचतुर सेवक घुरफेंकन से बोले—'घुरफेंकन, आज इनके बाप की आत्मा इन्हें लिवाने आयँगी, समझा! आते ही मारो, खूब मारो, खूब मारो! इतना मारो कि साली आत्मा का खात्मा हो जाय! फिर आने का नाम न ले। खबरदार, अगर इसमें चूकोगे तो बस, सदा के लिए बर्खास्त!'

घुरफेंकन बड़ी वीरता तथा दृढ़ता से बोला—'सरकार, भागवान करे कि वह आत्मा आवे, फिर देखिए, अपने इस सेवक घुरफेंकन के डंडे की करतब! मारके कचूमर नहीं निकाल दूँ तो मेरा नाम…!'

मुंशीजी दाद देते हुए बोले-'शाबाश पट्ठे! शाबाश!!'

फिर नौकर-मालिक, दोनों साठ-साठ बरस के पट्ठे पोरसे-पोरसे भर का लट्ठ लिए आत्मा के शुभागमन की प्रतीक्षा करते रहे। ठीक साढ़े दस बजे इन दोनों पट्ठों की आँखों पर निद्रा महारानी की घनघोर चढ़ाई हुई और दोनों सो गए,—मुंशी अपनी खाट पर, घुरफेंकन ओसारे में अपनी टाट पर!

एकाएक बारह बजे घुरफेंकन की छाती पर एक बिल्ली ऊपर छप्पर से मूस पकड़े कूदी और भागती हुई मुंशीजीवाले कमरे में चली गई! घुरफेंकन हड़बड़ाकर उठा, धड़फड़ाकर मुंशीजी के कमरे में पहुँचा और लगा दनादन लाठियाँ चलाने। मुंशीजी धड़फड़ाके उठे कि घुरफेंकन ने सड़सड़ाकर दो लाठी और लगाई। मुंशीजी औंधे मुँह खाट पर गिरे, और घुरफेंकन का डंडा उनकी पीठ पर बरसने लगा।

मुंशीजी ज्यों-ज्यों जोर-जोर से हनुमानचालीसा की चौपाई चिल्लाते, घुरफेंकन का लट्ठ त्यों-त्यों जोर-जोर से और जल्दी-जल्दी उनकी पीठ पर पड़ता। मुंशीजी समझ गए, यह ससुर की आत्मा श्री महावीर स्वामी से भी महाबली है, तो लगे घिघियाने-'हे हमारे ससुरजी की महाबली आत्मा, मैं मान गया, आप महावीर से भी महाबली हैं। मेरा अपराध क्षमा हो! आप अभी अपनी सुपुत्री को घर ले जाइए और जन्म भर मत भेजिए। मगर मुझे बख्श दीजिए, नहीं तो, मैं तो मर ही जाऊँगा, साथ ही आपकी परम प्रिय सुपुत्री भी विधवा हो जायगी। अब मत मारिए, मत मारिए, नहीं तो मर जाऊँगा, मर जाऊँगा!!'

डंडे मारते-मारते घुरफेंकन का हाथ दुख गया था। बहरा होने के कारण वह मुंशीजी की बोली सुन नहीं सका था। उसने समझा, इतनी मार पर भला आत्मा क्या खाकर जिन्दा रहेगी? जरूर वह मर गई होगी! चलो, अब आराम करो और सवेरे मालिक से इनाम लो।

मारे पीड़ा के मुंशीजी सारी रात कराहते रहे और मारे खुशी के घुरफेंकन सारी रात तिल्लाना गाता रहा। बड़े सवेरे वह मुंशीजी की खाट के पास पहुँचा और बड़े गर्व से बोला--'सरकार, रात तो ससुरजी की आत्मा को इतनी मार मारी, इतनी मार मारी, कि उसका बोखार छूट गया होगा। हा-हा-हा-हा! सुना सरकार, पहले वह हमारी छाती पर कूदी, फिर इस खाट पर आकर सो रही! मगर मैं कब चूकनेवाला था! तुरंत लट्ठ लिए पहुँचा और इतना मारा कि बस, पूछिए मत!'

मुंशीजी चौंककर उठ बैठे। अब उनकी समझ में आई, मेरा भुर्ता बनानेवाला मेरे ससुर की आत्मा नहीं, बल्कि यह मेरा नामाकूल नौकर घुरफेंकना है। वह बोले-'घुरफेंकन, तुम अब अपने घर जाओ।' फिर अपनी पत्नी के पास जाकर बोले—'महारानी, तुम अपने बाप के घर जाओ।' फिर वे अपने परमाराध्य इष्टदेव महावीर की मूर्ति की गर्दन पकड़कर उसे कुआँ में डालते हुए बोले—'महावीर स्वामी, तुम अब बहुत बूढ़े हो गए, अतः तुम भी आराम करने के लिए अपने बेटे मकरध्वज के पास पाताल जाओ! मुंशी अब अकेले रहेगा। हटाओ झमेला यहाँ से।'



भारतीय वाङ्मय

१ बँगला

आधुनिक बंगाल की चित्रकला

भारतीय चित्र-शिल्प की समृद्धि में बंगाल के कलाकारों ने काफी हाथ बटाया है और उस दिशा में उनके कृतित्व के दर्शन होते हैं। किंतु आज वहाँ चित्र-शिल्प-साधना में एक गतिरोध नजर आ रहा है। 'प्रवासी' के ताजे अंक में श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने आधुनिक चित्र-साधना की इस समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है। शिल्पगुरु अवनींद्रनाथ ने एक पुस्तक में लिखा है—

काली कलम मन।
लिखे तीन जन ॥

(स्याही, तूलिका और मन, यही तीन लिखते हैं।) चित्रकला, और जो भी ललित कला हैं, वे सब कलाकार के कल्पना-राज्य में विहार करने की क्षमता और उसके मन की आँखों की शक्ति के विस्तार की परिचायिका होती हैं। चित्रकार का व्यक्तित्व, उसके हाथ का नैपुण्य—अँगरेजी में जिसे टेकनिक कहते हैं—और चित्र में एकरस की धारा, इन्हीं तीनों से चित्रकला का विचार किया जाता है। जिस चित्र में चित्रकार का व्यक्तित्व प्रस्फुटित न हुआ हो, उसे चित्र तो कह सकते हैं, पर चित्रकला की पंक्ति में उसे नहीं रखा जा सकता। इसके साथ ही चित्र को जाति-च्युत होने से बचाने के लिए उसमें रसवैशिष्ट्य तथा कला-कुशलता भी चाहिए। चित्र में देश की सनातन दृष्टि और संस्कृति की छाप भी होनी चाहिए, जो यह बताए कि शिल्पी कहाँ का, किस माटी-पानी का पला मनुष्य है। इन सबके सिवा उस कुशलता में उस अपार्थिव रस की भी झाँकी मिलनी चाहिए, जिसे क्लाइव बेल ने कहा है सिगनिफिसेंट फार्म यानी ललित कला का प्राण। ललित कला की ये तीन कसौटियाँ हैं।

इस कसौटी पर कसने से आधुनिक बंगाल की चित्र-कला की अवस्था वैसी आशाप्रद नहीं प्रतीत होती। इसके कारण-विचार का अवकाश तो यहाँ नहीं, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि बंगाल में रुचि विकार जैसा बढ़ा है, वैसी ही एक ऐसी अवस्था भी पुष्ट हो आई है, जिसमें यथार्थ जगत् में जीने की समस्या जटिल-तर हो गई है, उससे रूप-रस-ज्ञान की गुंजाइश बहुत ही थोड़ी हो सकती है। संक्षेप में बंगाल की आधुनिक चित्रकला में लकीर की फकीरी और एक जड़ता-सी आ गई है। अज्ञात का अनुसंधान, नित्य-नूतन की खोज, सुंदर का आकर्षण—ये जीवंत चित्रकला के निदर्शन हैं, किंतु इन गुणों की समष्टि किसी-किसी ही कलाकार की कृति में मिलती है।

प्राचीन गोष्ठी (स्कूल) के लोगों में से जिनके पथ-प्रदर्शक कि अवनींद्रनाथ और गगनेंद्रनाथ रहे, प्रायः लोग या तो चल बसे या स्थविर-से हो गए। उस पथ पर कुछ नए जो पथिक आए हैं, उनमें से अधिकांश में ही प्रतिभा और कल्पना के उस जादू की झलक नहीं मिलती। दो-एक ऐसे जरूर हैं जिनमें कभी-कभी वैसी किरण चमक-कर अँधेरे पथ पर रोशनी के दर्शन दे जाती है। शांति-निकेतन के कला-भवन का वह प्रदीप अब भी जल रहा है, गोकि नंदलाल बसु की तूलिका ने विश्राम ले लिया है।

एक कलाकार हैं, जो अपनी साधना में वैसे ही लीन हैं। वे बंगाल के अत्यंत गूढ़, अत्यंत निजी चित्र-शिल्प के पुजारी और भंडारी हैं। उनके घट का प्रदीप आज भी जाज्वल्यमान है। उनकी वर्णमयी तूलिका रूपकथा के पक्षिराज घोड़े की तरह रसिकों को अनेक अनजाने-अनचीन्हें पथ पर ले जाने में आज भी समर्थ है। मगर वे अकेले ही होता, उद्गाता और यज्ञ के अधिकारी हैं। उनका स्कूल कहने के लिए उनका कोई संगी-साथी नहीं दीखता। बगाल के यामिनी राय अब भी अकेले ही हैं।

एक और भी स्कूल है, जिसके कलाकारों का परिचय कलकत्ते के नाम से है। उनमें से चार में शक्ति, कल्पना और व्यक्तित्व—सब-कुछ है। इन तीन कला-स्कूलों के बाहर भी अनेक शिल्पी हैं, किंतु उनमें कारीगरी की ही प्रधानता है। चित्रों में वह ज्योति, वह प्राण नहीं है।

तो क्या बंगाल की चित्रकला मृत्यु के पथ पर अग्र-सर हो रही है? यह कहना शायद ठीक न हो, पर उसमें

जड़ता आ गई है, स्थिरता आ गई है, जो ललित कला का भयंकर रोग है।

अजाने राज्य का अभियान, अचीन्हें से परिचय, अज्ञात की खोज में रूप के लहराए सागर पर कल्पना तरी से यात्रा--यही तो कवि और कलाकार का प्रकृत परिचय है। चालीस साल पहले प्रसिद्ध कलाकार पिकासो का मैंने भाषण सुना था। उन्होंने परंपरागत चित्र-शिल्प पर ताने कसे थे। भाषण के बाद एक प्रसिद्ध चित्रकार का नाम लेकर किसीने उनसे पूछा--तो उन्हें भी चित्रकार नहीं कहा जा सकता? पिकासो ने कहा--मैं स्वीकार करता हूँ कि उनकी तूलिका की कारीगरी और वर्ण-योजना बहुत सुंदर है, किंतु अज्ञात का अभियान उनमें कहाँ है? अँगरेजी में उन्होंने कहा--ह्वेयर इज हिज मगनिफिसेंट लीप इन टु द अननोन?

बंगाल का गोष्ठी-संगीत

बंगाल में पल्ली-गीतिका का वैभव और वैविध्य बहुत है। अगर इनके कीर्त्तन को भी ग्राम-संगीत में ही गिना जाय, तो कहा जा सकता है कि वहाँ की सारी संगीत निधि पल्ली-गीतिका के ही प्रकार हैं। सारे बंगाल के शस्य-श्यामल गाँव साँझ-विहान स्वर-वैचित्र्य से मुखरित रहते हैं। खेत-खलिहान, नौका-नदी जहाँ देखिए, वही गूँज। इसका भी बहुत बड़ा प्रभाव वहाँ की गीतिकाव्य-साधना पर पड़ा है। श्री जयदेव राय एम० ए०, बी० कॉम ने 'भारतवर्ष' के इस अंक में इसपर एक अच्छा लेख लिखा है।

शहरों में ग्राम्य गीतों का शुरू-शुरू प्रचलन अँगरेजी राज्य के प्रथम युग में जमींदारों की बैठकों में हुआ। उस गीत का नाम था--कवि-गान। इसमें कवित्व और सुर होता था गौण, प्रधान था नोक-झोंक। रस-विनोद की उत्तेजना और उद्दीपन ही उस प्रतियोगिता का मुख्य अंग था। गाँव में कवि-गान की गोष्ठी का एक और भी रूप प्रचलित था--तर्जा। वहाँ नागरिकता की मामूली शिष्टता का भी शासन नहीं रहता--आमने-सामने गाली-गलौज और तुकवाजी में तू-तू मैं-मैं। शहरों में यात्रा (पर्दा-विहीन नाटक) और पांचाली गान की बैठकी। किंतु इस प्रकार के गीतों में काव्य-कला की कृत्रिमता आ घुसी थी, सुर का स्वाभाविक विकास भी नहीं था। बंगाल के स्वाभाविक लोक-जीवन से उनका कोई घनिष्ठ योग नहीं था। किसी मौके पर ऐसे आयोजन होते थे, भीड़ भी जमा होती थी, परंतु लोगों को उन गीतों में प्राणों का स्पंदन नहीं मिलता था। बल्कि बाउल संगीत (इकतारे पर गाए जानेवाले एक खास साधु-संप्रदाय के गीत), भटियाली, मर्शिया आदि गीतों में सुर की कारीगरी के साथ-साथ संगीत-रस और दर्शन का पुट होने से वे सर्वसाधारण के आनंदोत्सव के आवश्यक अंग नहीं हो सके थे। इन सबके अलावा बंगाल के ग्रामों में और एक प्रकार के गीत प्रचलित थे, जिनसे ग्रामवासियों के जीवन का संयोग रहा है। बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, भद्र-इतर--सबमें उसका समान प्रचलन है--वह है 'गोष्ठी-संगीत।' ऐसे गीतों का साहित्यिक मूल्य खास नहीं है, उनमें निर्दिष्ट काव्य-रीति और पद्धतियों का निर्वाह भी नहीं मिलता, फिर भी वे बंगाल की जातीय संपत्ति हैं।

बंगाल के गाँवों में आज नागरिक सभ्यता तेजी से बढ़ रही है। यांत्रिक संगीतों का प्रादुर्भाव हो रहा है। बाहर से आनेवाले नित्य नए सुर गाँववालों को मोह रहे हैं। फलस्वरूप गोष्ठी-संगीतों की लोकप्रियता घटती जा रही है और वह लुप्त होता जा रहा है। घेंटू के गीत, कुलमागन के गीत, वन-बीवी के गान, पूस-पार्वन के गान आदि कभी बंगालियों के बड़े ही प्रिय आनुष्ठानिक संगीत थे, जो अब लुप्त हो रहे हैं। इन गीतों से आचार-अनुष्ठान का जो एक वातावरण बनता था, उसका गार्हस्थ्य-जीवन पर कम प्रभाव नहीं था।

घेंटू के गीत दक्षिण बंगाल का विशिष्ट गोष्ठी-संगीत है। २४ परगना, हुगली और हावड़ा के ग्रामों में इसका आज भी प्रचार है। घेंटू घंटाकर्ण का विकृत रूप है। कहा जाता है, घंटाकर्ण एक असुर था। कृष्ण का नाम न सुने, इसके लिए वह कान में घंटा बाँधे रहता था। यह त्योहार उसीका व्यंग्य है। यह पर्व फागुन की संक्रांति को होता है। फागुन भर लड़के स्वांग बनाते हैं और घर-घर गीत गाते फिरते हैं। एक कोई घेंटू बनता है, और लोग गीतों में उसको मुँह चिढ़ाते हैं। घेंटू के गीतों में अब देश की वर्त्तमान स्थितियों के भी चित्र लाए गए हैं। कुछ पंक्तियाँ--

भाग्यवान काटाय पुकुर चंडाले काटे माटी
कुमोरेर कलसी, काँसारिर घटी,
जल शुद्ध, स्थल शुद्ध, शुद्ध महामाया
हरिनाम करिले परे शुद्ध हय काया।

पूष-पार्वन में जहाँ-तहाँ पिकनिक और गीतोत्सव होता है। खलिहानों में धान का ढेर लगा रहता है। लोग खुशहाल होते हैं। प्रत्येक साँझ को लड़के गाते-बजाते घर-घर माँगन के गीत गाते हैं। इन गीतों के रचनेवाले अज्ञात हैं। इन गीतों में सहज भाषा में उनके दैनंदिन जीवन के चित्र आ जाते हैं। समाज-चेतना-मूलक संकेत, ग्राम-संस्कार और वैज्ञानिक युक्ति का भी समावेश रहता है। जैसे नीचे की पंक्तियों में एक 'टागइ' शब्द आया है। यह एक प्रकार का विदेशी पौधा है, जो बेतरह फैलता है और बड़ी क्षति करता है। ग्रामोन्नति के लिए उनकी बुनियाद उखाड़ फेंकने का प्रेरक संदेश ऐसे गीतों में है।

आचंबिते टागइ देशे एलो। देश लुटे खेलो।
जतों छिलो हेले चाषा माठे चोले गेलो
खेतेरे मध्ये टागइ देखे बाड़ी फिरे एलो।

यानी सहसा यह पौधा यहाँ आया और देश को बर्बाद कर गया। खेतिहर हल लेकर खेतों में गए और वहाँ टागइ का राज देखकर माथा ठोंक लौट आए।

ऐसे ही ग्वालवालों के गीत भी बड़े मधुर और सजीव हैं। उनमें व्रज और गोप-गोपिकाओं के ही वर्णन नहीं हैं सामयिक चेतना भी है। वात्सल्य, गो-प्रेम, मच्छड़ विनाश आदि भी ऐसे गीतों में आया है। मैमनसिंह-गीतिका में लौकिक प्रेम के जैसे गीत मिलते हैं, वैसे गीत भी गोष्ठी-संगीत में हैं। जैसे—

घरेर कोनाय थाकिबे आमि तुमि थाकोरे माठे।
काठ फाटा रौदे रे तोमार माथा फाटे।
तोमार लागिया बंधुरे आमि छोंआई पाइबे ताप।
कि जानि कोन जन्मे रे बंधु, कोइराछिलाम पाप।
शाउनेर रैइदेरे बन्धु निमेर पाता तिता।
विच्छेद होइते अनेक भालो होंइतो काठेर चिता।

एक किसान पत्नी के वियोग-दुःख का मार्मिक वर्णन इसमें है। वह कहती है, बंधु, मैं घर के कोने में रहती हूँ और तुम खुले खेतों में सर ठनकानेवाली धूप झेलते हो। सो, तुम्हारे लिए मुझे अपनी यह छाया भी ताप देती है। नहीं जानती, किस जन्म में कौन-सा पाप किया था। सावन की धूप में नीम के पत्तों की कड़वाहट है। इस जुदाई से तो लकड़ी की चिता भली थी।

—हंसकुमार तिवारी

२. तमिल

सुब्रह्मण्य भारती—सुब्रह्मण्य भारती परतंत्र भारत की एक अनुपम देन के समान पैदा हुए। उनका जन्म एट्टयपुरम् में हुआ था। उनकी रचनाओं से एक नूतन जन-जागरण का संदेश मिलता है। उनके जोश भरे गीतों ने, खास कर उनके स्वर्गारोहण के बाद, जनता को उत्तेजित किया है। उनके राष्ट्रीय गीत विश्व भर के गुलाम मुल्कों को प्रेरणा देनेवाले हैं। उनके पद्य साम्राज्यवाद पर ही नहीं, बल्कि साम्राज्यवादी मनोभावना पर भी चेतावनी देते हैं।

भारती सन् १९०२१ ई० में दिवंगत हुए। उन्होंने एक वर्गहीन समाज की कल्पना की थी, एक असांप्रदायिक समाज का स्वप्न देखा था। वे मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई द्वंद्व मानने को तैयार नहीं थे। वे एक वर्गहीन, जातिहीन जन-राज्य के आकांक्षी थे। वे दूर-द्रष्टा बनकर, आजादी के आने पर भारतवासियों में होनेवाले आनंदोत्साह के दृश्यों तक का वर्णन करके चले गए। वे राजनीति में अग्रगामी रहे। भारतीजी, स्वदेशी जहाज-कंपनी के जन्म-दाता कर्मठ देशभक्त चिदंबरम् पिल्लै और सुब्रह्मण्य शिव उस जमाने में दक्षिण के वीरत्रय थे। महर्षि व० वे० सु० ऐयर भारती के साथी थे। भारती श्री अरविंद के संपर्क में आए और उनसे प्रभावित भी हुए थे।

भारती ने राष्ट्रीय गीतों के अलावा भी कई रचनाएँ की हैं। उनके गीत राष्ट्रीय, दार्शनिक, स्तोत्र आदि भिन्न-भिन्न शीर्षकों में विभाजित हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, कृष्ण, गणेश, स्कंद एवं अन्य देवताओं पर भी उन्होंने कविताएँ की हैं। अल्लाह, यीशु ख्रिस्त को भी उन्होंने छोड़ा नहीं है। वे शक्ति के उपासक थे। उन्होंने शक्ति पर कई कविताएँ की हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि वे शक्तिभक्त होकर, स्त्रियों के अधिकारों के भी जबर्दस्त पक्षपाती रहे।

विविध रूपों में 'कण्णन्' या कृष्ण की कल्पना करके उन्होंने गीत रचे हैं। 'पांचाली-शपथ' नामक एक खंड-काव्य भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। 'कुयिल्' (कोयल) उनकी रसपूर्ण रचनाओं में एक है। भारती ने फुटकर रचनाएँ भी बेशुमार की हैं।

वर्तमान कवि—भारती के बाद कविता-क्षेत्र में उनके समान कोई कवि पैदा नहीं हुआ। वे एक ज्योतिर्मय

सूर्य की भाँति आए और चले गए। सूर्य डूबने के बाद जैसे चारों ओर अँधेरा दीख पड़ता है, उसी भाँति महाकवि भारती के बाद कविता-क्षेत्र भी धुँधला दिखाई देता है। लेकिन इस दशा का कारण वर्तमान कवियों की कमी नहीं, वरन् भारती की असाधारण प्रतिभा और अद्भुत महिमा है। क्या किसी भाषा की हर पीढ़ी में कोई-न-कोई महाकवि पैदा होता है?

तामिलनाडु के वर्तमान कवियों में देशिकविनायकम् पिल्लै, नामक्कल् रामलिंगम् पिल्लै, भारतीदासन् और शुद्धानंद भारती अव्वल के नाम प्रसिद्ध हैं।

देशिकविनायकम् पिल्लै को तमिल लोगों ने 'कविमणि' की उपाधि दी है। उनकी कई कविताएँ 'मलरुम् मालैयुम्' (पुष्प और हार) नाम के ग्रंथ में संगृहीत हैं। उन्होंने बरसात, नदी, चाँदनी, गाय, समुद्र, साईकिल आदि पर बालोपयोगी कविताएँ भी की हैं। अस्पृश्यता, खद्दर, गरीबी आदि सामाजिक विषयों पर भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं।

उन्होंने कई सफल पद्यानुवाद किए हैं। उमर खैयाम की रुबाइयों के आधार पर उन्होंने तामिल में भी कई कविताएँ की हैं। भागवान बुद्ध पर एडविन आर्नाल्ड-कृत 'दि लाइट आफ एशिया' का जो अनुवाद उन्होंने किया है, वह है 'आशिय ज्योति।'

रामलिंगम् पिल्लै गांधीवादी कवि कहलाते हैं। 'अवलुम् अवनुम्' उनका एक खंड-काव्य है। उनकी भाषा सरल और विचार ऊँचे होते हैं। महात्मा गांधी और उनके दर्शन पर श्रद्धांजलियाँ 'गांधी-अंजलि' पुस्तक में संगृहीत हैं। उनकी तरह गांधीवादी दर्शन को कविता-रूप में और कोई रख नहीं सका। सत्याग्रह-आंदोलन के जमाने में उनकी कविताएँ प्रेरणा देनेवाली और उत्साहवर्धक रहीं।

उनके कविता-संग्रह हैं 'शंगोलि' (शंखध्वनि), परित्त पूकल् (संगृहीत फूल) आदि। वे मद्रास-राज्य के आस्थान-कवि रह चुके हैं।

शुद्धानंद भारती का 'भारत शक्ति-महाकाव्यम्' एक बड़ा ग्रंथ है। उन्होंने राष्ट्रीय, भक्तिपूर्ण तथा बालोपयोगी, सभी किस्म की कविताएँ की हैं। उनकी रचनाओं की संख्या बड़ी है। वे पांडिचेरी के अरविंदाश्रम में बहुत दिनों तक रह चुके हैं, बहुश्रुत हैं और कई विभिन्न विषयों की जानकारी रखते हैं।

भारतीदासन का नाम कनकसुब्बुरत्नम् है। वे सुब्रह्मण्य भारती के संपर्क में आए और अपना उपनाम रख लिया 'भारतीदासन'। 'पांडियन् परिशु' उनका एक खंड-काव्य है। भारतीदासन पाड़ल्गल् (भारती-दासन की कविताएँ), 'अलगिन् शिरिप्पु' (सौंदर्य की हँसी), कुटुंब विलक्कु, (कुटुंब का दीप) उनके कविता-संग्रह हैं। प्रकृति की मोहक छवि उनकी कविताओं में कूट-कूट-कर भरी है।

वे प्रगतिवादी हैं। उनकी भाषा सुरीली और कल्पना ओजपूर्ण है। कवित्व उनमें पर्याप्त मात्रा में है। पर, वे नास्तिकवाद के गायक भी हैं।

अन्य कवियों में सर्वश्री सुब्रह्मण्य योगी, कलैवाणन्, सोमु, कंबदासन आदि हैं। श्री योगी की रचनाएँ कुछ-कुछ रहस्यवादी और कंबदासन की समाजवादी होती हैं। 'सोमु' की पुस्तक 'इलवेनिल्' उल्लेखनीय कविता संग्रह है। कलैवाणन् की कृतियों में एक गहरी साहित्यिकता है।

लोकगीत—तमिल भाषा में लोकगीतों को 'नाट्टुप्पाड़ल्गल' कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है—ग्राम्य गीत। लोकगीतों की ओर हाल में ही ध्यान आकृष्ट हुआ है। सर्वश्री कि० वा० जगन्नाथन्, ति० ना० सुब्रह्मण्यम्, मु० अरुणाचलम् आदि सज्जनों ने ग्राम्य गीतों के कई संग्रह प्रस्तुत किए हैं। रेडियो से भी समय-समय पर लोकगीत प्रसारित होते हैं।

ऐसे लोकगीत हमारे गाँवों के समुच्चय जीवन की जानकारी पेश करते हैं। सास-बहू के तर्क-वितर्क से लेकर स्थानीय देवताओं तक के लोकगीत प्रचलित हैं। इनके द्वारा कई ऐतिहासिक बातों की भी जानकारी होती है।

श्रमिक-मजदूर पसीना बहाकर काम करते समय अपनी मेहनत के असर को भूलने के लिए कुछ गाते हैं, कोई धुन उनके मुँह से निकलती ही रहती है। ऐसे कई गीत भी संगृहीत हैं। कावड़िच्चिंदु, नोड़िच्चिंदु, किलिक्कण्णि आदि तमिल लोकगीत के राग हैं। कुम्मि, कोलाट्टम् वगैरह ताल-राग युक्त नृत्य हैं और ये स्त्रियों की अपनी चीज हैं। चंद्रमती-विलाप, प्रह्लाद-कथा, नल्ल्तंगाल् वगैरह लोक-नाटक उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे और मंदिरों में उत्सव के समय दर्शाये जाते थे।

बोम्मलाट्टम् एक ग्राम्य कला है। पर्दे के पीछे आदमी खड़ा होकर वेश-भूषा से सजे-सजाए खिलौनों को

महीन धागे से हिला-हिलाकर नाटक सा दिखाते हैं। पीछे से आवाज होती है और, लावणी, विल्लुप्पाट्टु, मजलिसें भी हुआ करती हैं। काम-दहन की पौराणिक घटना को लेकर गाँवों में वाद-विवाद भी होते हैं।

आजकल ग्राम्य गीतों के रागों में भी कुछ लोग कविता करते हैं। इनमें अग्रगण्य हैं कोत्तमंगलम् सुब्बु। इनके गीत अच्छे हैं। 'गांधी महान कथा' नामक ग्रंथ उन्होंने ग्राम्य छंदों में ही लिखा है, जिसमें गांधीजी को नायक बनाकर राष्ट्रीय संग्राम का ब्यौरा दिया गया है। श्री सुब्बु के ढग पर ही सुरभिजी भी कविता करते हैं।

बाल-साहित्य—विदेशों से बालकों के लिए जैसी आकर्षक पुस्तकें आती हैं, वैसी ही पुस्तकें तमिल में भी दिखाई पड़ने लगी हैं। छोटी-मोटी किताबें असंख्य प्रकाशित हुई हैं। बालकों के लिए कविताएँ लिखनेवालों में श्री वल्लियप्पा और विद्वान् उमैताणु पिल्लै मुख्य हैं। श्री पे० ना० अप्पुस्वामी भी बाल-साहित्य के क्षेत्र में योजना बनाकर काम करते हैं।

बालकों की कुछ पत्रिकाएँ सफल और सुदृढ़ हैं। करीब हरएक पत्रिका में बालकों के लिए कुछ अंश सुरक्षित रहता है। बाल-साहित्यकारों का एक सघ भी स्थापित है, जिसकी ओर से बाल-साहित्य-संबंधी प्रदर्शनी हर साल होने लगी है।

अन्य क्षेत्र—यात्रा-साहित्य तमिल में रोज बढ़ रहा है। श्री ए० के० चेट्टियार ने कुछ किताबें इस दिशा में दी हैं। श्री सोम० ल० लक्ष्मणन् चेट्टियार के यात्रा-लेख भी बहुत सरस हैं। अलावा इनके, सिंहल और हिमांचल-यात्रियों की किताबें भी हैं।

हास्य-लेखकों में स्व० श्री एस० वी० वी० का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने मध्यवर्गीय परिवारों में होनेवाली आम घटनाओं को लेकर सरस लघु लेख लिखे हैं। इस वर्ग के अन्य लेखक हैं सर्वश्री 'कलिक', 'नाड़ोड़ी', 'तुमिलन्' आदि। 'कलिक' की एक लेखमाला है 'एट्टिक्कुप्पोट्टि'। 'नाड़ोड़ी' ने हास्य-रस-प्रधान बीस-पचीस किताबें लिखी हैं। 'पुनजन्म' हास्य-रस-प्रधान उपन्यास है और उसके लेखक हैं तुमिलन्।

धर्म-संबंधी साहित्यकारों में स्व० तिरु० वि० क० और स्व० स्वा० वेदाचलम् अग्रगण्य माने जा सकते हैं। तिरु० वि० क० ने शैवधर्म तथा सर्व-धर्म-समन्वय पर लिखा है। वेदाचलम्जी कट्टर शैव थे। शैवधर्म पर उनके दिए कई भाषण पुस्तक-रूप में मिलते हैं। भारती ने भी आध्यात्मिक विषयों पर खूब लिखा है।

राजाजी का नाम यहाँ उल्लेखनीय है। भगवद्गीता, उपनिषद्, रामकृष्ण परमहंस के उपदेश और शंकराचार्य-विरचित 'भज-गोविंदम्' उनके विषय रहे हैं। उन्होंने महाभारत को छोटी-छोटी कहानियों के रूप में लिखा है।

कलाओं के क्षेत्र में, श्री देवशिखामणि आचार्यार का ग्रंथ 'मेड़ै-तमिल' एक उपयोगी रचना है। श्री कलिक ने अपनी पुस्तक 'संगीतयोगम्' में समकालीन संगीत का समालोचनात्मक विवेचन किया है। 'इंदिय-शिलपंगल' श्रीमती आर० एस० रुक्मणि की पुस्तक है, जिसमें हमारे कुछ मुख्य स्थानों के शिल्प-सौंदर्य का शास्त्रीय विवरण मिलता है। श्री कोदंड रामन् ने 'तमिलर इशैक्करुविगल्' में कुछ वाद्यों के बारे में लिखा है।

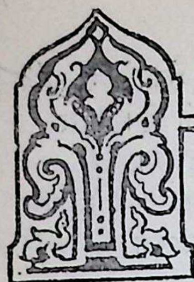
इतर भाषाओं से तमिल में काफी रचनाएँ अनूदित हुई हैं। तमिल-भाषियों के सुपरिचित विदेशी लेखकों में विकटर ह्यूगो, मोंपासाँ, टाल्स्टाय, गोर्की, डिक्कन्स्, चेखव आदि मुख्य हैं; शेक्सपियर तो हैं ही।

स्वदेशी कथाकारों में सर्वश्री शरच्चंद्र, बंकिमचंद्र, रवींद्रनाथ, द्विजेंद्रलाल राय, खांडेकर, फड़के, प्रेमचंद और सुदर्शन तमिलभाषी लोगों के प्रिय लेखक हैं। सर्वश्री मुंशी, मुल्कराज आनंद, के० एस० वेंकट रमण, मंजेरि ईश्वरन, अब्बास और आर० के० नारायण की अँगरेजी कहानियाँ भी तमिल भाषा में रूपांतरित हुई हैं।

अनुवादकों में सर्वश्री व० रा०, शुद्धानंद भारती, त० ना० कुमारस्वामी, का० श्री० श्री०, रा० वी० लिनाथन्, त० ना० सेनापति आदि सज्जनों के नाम पहले आते हैं। तमिल में से अन्य भाषाओं में अधिक रचनाएँ अनूदित नहीं हुई हैं। अभी-अभी तमिल से कुछ रचनाएँ हिंदी में प्रविष्ट हुई हैं। स्व० व० वे० सु० ऐयर ने अँगरेजी में Kamba Ramayana—a Study लिखकर अच्छा स्थान पाया है। ऐयरजी ने उस किताब को मोहक भाषा और उच्च शैली में लिखा है। उन्होंने 'तिरुक्कुरळ' का भी अँगरेजी अनुवाद किया है। तमिल साहित्य के ऐतिहासिक अंशों पर कई सज्जनों ने अँगरेजी में भी लिखा है।

ऐसी पृष्ठभूमि में, तमिल भाषा के भविष्य की बड़ी आशा है।

—उदयसूर्य



विचार-संचयन

१. रघुवीरी शब्दों के विरोध का मूल कारण

'अवंतिका' के दिसंबर, १९५३ ई० तथा जुलाई, १९५४ ई० के अंकों में रघुवीरी शब्दकोश के समर्थन में संपादकीय टिप्पणियाँ पढ़ने का अवसर मिला। आज हिंदी-जगत् ही नहीं, भारत के अन्य विद्वानों की ओर से भी डा० रघुवीर के पारिभाषिक शब्दों के विरोध में आवाज आ रही है। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि किसी का उनसे व्यक्तिगत विरोध या द्वेष है, बल्कि सरल, सुबोध और प्रचलित शब्दों के स्थान पर नए-नए कठिन और क्लिष्ट शब्दों का निर्माण ही कारण है। हाथ-कंगन को आरसी क्या ? निम्न शब्द देखिए—

अँगरेजो	रघुवीरी	पूर्व-प्रचलित
कापीराइट	प्रतिक-स्वत्व	सर्वाधिकार, प्रतिलिपि-अधिकार
टाइपराइटर	मुद्रलिख	लेखनयंत्र
सप्लाई	प्रादाय	उपलब्धि
डिपोजिट	निक्षेप	जमा करना, धरोहर रखना
डेट	दिनांक	तारीख, तिथि
फिनांस, या फाइनेंस	वित्त	अर्थ
ट्रेड यूनियन	कर्मिक संघ	मजदूर-संघ, श्रमिक-संघ
मार्केट	विपणी	बाजार, मंडी, हाट
क्वालिफिकेशन	अर्हता	योग्यता, पात्रता
लीगल टेंडर मनी	विधिग्राह्य मुद्रा	चलनी सिक्का, चलनी मुद्रा
डिफेक्ट काइन	विकृत टंक	विकृत सिक्का, रद्दी सिक्का
गवर्नमेंट	शासन	सरकार
लॉ	विधि	कानून
नेकटाई	कंठ लंगोट	कठबंध
सेल्स जर्नल	विक्रय-पंजी	बिक्री बही
सेल्स लेजर	विक्रय-प्रपंजी	बिक्री खाता-बही
पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट	लोक कर्म-विभाग	सार्वजनिक निर्माण-विभाग, सरकारी निर्माण विभाग

हिंदी के पाठकों की एक बहुत बड़ी संख्या अर्द्धशिक्षित अथवा साक्षरमात्र है, जो अपने अक्षरज्ञान के आधार पर किसी प्रकार पढ़ लेती है। वास्तव में देखा जाय तो ऐसे ही लोगों की सुख-सुविधा के लिए हिंदी या भारतीय पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो रहा है, न कि विद्वत्समुदाय के लिए। पर इस रघुवीरी शब्दावली के आधार पर अनूदित विधि-विधानों की हिंदी उनके लिए तो आकाश-कुसुम की तरह उतनी ही कठिन है, जितनी अँगरेजी।

आज केंद्रीय और विभिन्न राज्य-सरकारों के अनुवाद-विभागों में रघुवीरी शब्दों का जो व्यवहार हो रहा है, वह सरलता-सुबोधता के कारण नहीं, बल्कि इसका मूल कारण तो विवशता ही है; क्योंकि अन्य पारिभाषिक शब्द उपलब्ध नहीं हैं। कई अनुवादाध्यक्ष स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि अनुवाद की भाषा स्वयं अनुवादकों का समझ में भी नहीं आती। वे बेचारे तो पेट के लिए 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' भर रख देते हैं।

उस दिन जब लोकसभा में अर्थमंत्री श्री चिंतामणि देशमुख ने एक प्रश्न का उत्तर रघुवीरी हिंदी में दिया था तब सारा सदन हँसी से गूँज उठा था। स्वयं हिंदीभाषी सदस्य भी उसका अर्थ समझने में असमर्थ थे। सदस्यों की प्रश्नसूचक मुद्रा को देखकर अर्थमंत्री ने घोषित किया कि यह अनुवाद-विभाग द्वारा हिंदी में तैयार किया गया है।

इसी प्रकार उड़ीसा के एक सदस्य ने जब लोकसभा में हिंदी में प्रश्न किया तब सभी अवाक् रह गए। किसी ने पूछा कि 'क्या यह प्रश्न उड़िया में तो नहीं है ?'

तो, प्रश्न-कर्ता सदस्य ने बाअदब कहा कि मैं तो हिंदी में प्रश्न कर रहा हूँ।

२५ सितंबर, ५४ को श्रीमती तारकेश्वरी सिंहा ने लोकसभा में हिंदी-विधि-आयोग की नियुक्ति के लिए प्रस्ताव रखा था। उसपर जो बहस हुई थी, वह निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है। सभी ने एक स्वर से विधि-विधानों के वर्तमान हिंदी अनुवादों से अपना असंतोष व्यक्त किया था, जिसमें विधिमंत्री श्री चारुचंद्र विश्वास भी हैं। काका गाडगिल ने कहा—'अनुवाद के शब्द सरल, शुद्ध और स्वाभाविक होने चाहिए न कि क्लिष्ट।'

क्या ये घटनाएँ रघुवीरी शब्दावली की कठिनता को चुनौती नहीं हैं? इस प्रकार की हिंदी से तो कहीं यह अच्छा होता—यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा बनाई जाती, जिससे उन शास्त्रियों के तो सुदिन आ ही जाते, जिन बेचारों न घोर परिश्रम कर संस्कृत की आराधना में दरिद्रता को अंगीकार किया।

मध्यप्रदेश-सरकार का राज्याश्रय पाकर रघुवीरी शब्दों का प्रकाशन धड़ल्ले के साथ हो रहा है, तथा अन्य साधन-सुविधाएँ भी आज उन्हें प्राप्त हैं, जो दूसरों को उपलब्ध नहीं हैं। प्रचार-कला में स्वयं डा॰ रघुवीर प्रवीण हैं। स्थान-स्थान पर संवाद-संमेलन कर वे अपने कार्य का ढिंढोरा बड़ी खूबी से पीटकर पत्रकारों पर यह प्रभाव जमाने का प्रयत्न करते हैं कि हिंदी तो क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में भी पारिभाषिक शब्द-निर्माण का कार्य इससे पूर्व हुआ ही नहीं है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है।

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में तो बड़ौदा-कलाभवन के प्रो॰ गज्जर, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा तथा प्रयाग की विज्ञान-परिषद् क्रमशः अग्रणी है। परिषद् ने १९१३ से मासिक 'विज्ञान' का प्रकाशन और अनेक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक पुस्तकों का सृजन तथा प्रकाशन कर उन वैज्ञानिकों की धारणाओं को चूर-चूर कर दिया जो यह कहते थे कि हिंदी वैज्ञानिक शिक्षण और साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं है। हिंदी में अनक वैज्ञानिक लेखक भी तैयार किए। आचार्य रामदास गौड़ का तो हिंदी के वैज्ञानिक साहित्य में वही स्थान है जो हिंदी-साहित्य-गगन में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का है।

जुलाई अंक में पृष्ठ ६ पर भौतिक विज्ञान क कुछ शब्दों का नमूना दिया गया है, जो विज्ञान-परिषद् द्वारा सं॰ १९८७ वि॰ में प्रकाशित और डॉ॰ सत्यप्रकाश द्वारा संपादित 'वैज्ञानिक शब्द' में देखा जा सकता है। हमें पता नहीं कि डॉ॰ रघुवीर ने अपने शब्दकोष में कहीं भी उन्हें स्मरण किया हो, क्योंकि उनकी पिछली हैदराबाद-यात्रा में जब इन पंक्तियों के लेखक ने इस ओर उनका ध्यान दिलाया तब वे एकदम चुप हो गए थे।

Phosphorus क लिए अबतक हिंदी के वैज्ञानिक लेखक 'स्फुरित' का प्रयोग करते आ रहे हैं। उनके लिए डॉ॰ रघुवीर न 'भास्वर' शब्द रखा है। अब Centrifugal को लीजिए। इसके लिए रघुवीरजी ने 'केंद्रापग' बनाया है, परंतु विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में इसके अलग-अलग अर्थ होते हैं; यथा—कार्बनिक रसायन में 'केंद्रगर्वित', भौतिक रसायन में 'मथना', भौतिक प्रकाश में 'केंद्रावसारी', जो आज हिंदी के वैज्ञानिक साहित्य में प्रचलित हैं। क्या विज्ञान की सभी शाखाओं के लिए 'केंद्रापग' उपयुक्त है और आजतक प्रचलित शब्द अनुपयुक्त और अनुपयोगी हैं? यह एक गंभीर और विचारणीय प्रश्न है।

विज्ञान अपनी विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित है तथा एक ही शब्द विभिन्न शाखाओं में निराला ही अर्थ रखता है, जिसका सूक्ष्म ज्ञान तद्-विषयक वैज्ञानिक को ही हो सकता है, न कि सर्वभाषा-विज्ञ डॉ॰ रघुवीर, या किसी अन्य को। अतः यदि डॉ॰ रघुवीर की वैज्ञानिक शब्दावली को लोग अनधिकार चेष्टा न कहें तो क्या कहें!

सर्वभाषाविज्ञता की एक और बानगी देखिए। मोनोटाइप और लाइनोटाइप के लिए डॉ॰ रघुवीर ने क्रमशः 'एकमुद्र' और 'पंक्तिमुद्र' बनाए हैं। मुद्रण-कला का साधारण ज्ञान रखनेवाला भी यह जानता है कि मोनोटाइप और लाइनोटाइप छापने के नहीं, अपितु संयोजनयंत्र (कंपोजिंग मशीनें) हैं। पता नहीं, इस प्रकार कितने शब्दों के साथ डॉ॰ रघुवीर न खिलवाड़ की है।

हिंदी में डॉ॰ रघुवीर उसकी पुनरावृत्तिमात्र कर रहे हैं जो उर्दू में हो चुकी है, जिसका हिंदी-जगत् को पता नहीं है। निजाम सरकार ने अपने शासनकाल में लाखों रुपया खर्च कर उस्मानिया विश्वविद्यालय में उर्दू-पारि-

भाषिक शब्दावली तैयार कराई थी, जिसका नमूना यह रहा—

प्रचलित उर्दू	उर्दू के नए शब्द
खजांची	खाजिन
मिठाई	शिरनी
हलवाई	शिरनीफरोश
कपड़ा	पारचा
पैखाना	बैतुलखलां
दीवान	सदरुलमुहाम, सदरे आजम

बस, इसी प्रकार के हजारों शब्द थे, जो अपनी कठिनता के कारण किताबों में ही रह गए। जनसाधारण तो क्या, स्वयं उस्मानिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों और विद्यार्थियों ने भी उन्हें नहीं अपनाया।

जर्मनी और जापान की दुहाई देकर अपन कार्य का औचित्य सिद्ध करना ठीक नहीं है। वहाँ की शिक्षा का मानदंड बहुत ही ऊँचा है। और, हमारे देश में तो शिक्षा के नाम पर कवल अक्षरज्ञान है। हमें उन्हीं के बौद्धिक विकास क लिए सब-कुछ करना है। कहीं ऐसा न हो कि दो की—कठिनता और सरलता की लड़ाई में तीसरा ही बाजी मार ले जाय और आज का अँगरेजी के ज्ञान से परिपूर्ण सुशिक्षित समाज केंद्रीय शिक्षामंत्री का साथ दे बैठे और अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली को स्वीकार कर ले।

डॉ० रघुवीर के शब्द सरल हैं या कठिन,—इस प्रश्न की उत्तर-प्राप्ति का व्यावहारिक तो उपाय यही है कि 'अवंतिका' के प्रत्येक अंक में २-३ पृष्ठ शब्द छापे जायँ तथा इनपर राय एवं एवज में प्रचलित सरल-सुबोध शब्द आमंत्रित किए जायँ। हिंदी ही नहीं, अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी ऐसे अनेक शब्द मिल सकते हैं जो सरलता से अखिलभारतीय रूप में खप सकते हैं।

इससे एक लाभ यह भी होगा कि एक ही शब्द के जो अनेक पर्याय आज विभिन्न पत्रों और पुस्तकों में देखने में आते हैं, उनमें एकरूपता आ जायगी। पाठकों की एक बहुत बड़ी कठिनाई हल हो जायगी। आशा है, 'अवंतिका' द्वारा इसका श्रीगणेश होगा। इस संक्रमण-काल में इस ओर अत्यंत सावधानी की आवश्यकता है। अन्यथा आज की हमारी जरा-सी गलती भावी पीढ़ी को संकट में डाल सकती है। जापान का उदाहरण हमारे सामने है, जहाँ कि अनुवाद की जरा-सी भूल न हीरोशिमा पर परमाणु बम की विनाशकारी लीला को आमंत्रित कर अमेरिका को अजय शक्ति प्रदान की, जिसका फल आज समस्त एशिया भोग रहा है और उसकी सुख-शांति अमेरिका की कृपा पर निर्भर हो रही है।

—वंकटलाल ओझा

२. भट्टजी के नवीन सामाजिक एकांकी

हिंदी-एकांकी-जगत् में पं० उदयशंकर भट्ट अपने पौराणिक-सांस्कृतिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके भाव-नाट्यों में गीति-तत्त्व के अतिरिक्त प्राणों का स्पंदन, नारी-हृदय की निगूढ़तम अंतर्वृत्तियों का अध्ययन, शृंगार एवं अध्यात्म का विवेचन और मधुर भाव-व्यंजना उपलब्ध है। 'पर्दे के पीछे' भट्टजी के नवीनतम सामाजिक एकांकियों का संग्रह है। इसमें आठ नए सामाजिक एकांकी संगृहीत हैं, जिनमें भट्टजी ने समाज की नई मान्यताओं, नवयुवक-युवतियों के पारस्परिक संबंधों, अर्थ-प्रधान संस्कृति के नए आदर्शों और मूल्यों पर व्यंग्य किया है। कटु व्यंग्य का प्रौढ़तम स्वरूप इन नाटकों में स्पष्ट हुआ है। इनमें आधुनिक सभ्यता तथा मूल्यों की विवेचना है।

'नई बात' में एक कवि क जीवन तथा समाज में उसकी स्थिति, आज की अर्थप्रधान प्रदर्शनप्रिय संस्कृति पर व्यंग्य और यूरोपीय संस्कृति पर चोट है। हम आज उसी व्यक्ति का मूल्य आँकते हैं, जिसके पास भौतिक प्रदर्शन के बहु साधन हैं, जो रुपया बखेरता और दूसरे पर टीपटाप कर शान जमाता है। नाटक की प्रधान पात्री सुनंदा और उसके पति की आर्थिक सुदृढ़ता, टीपटाप वैभव और शान तथा कुंतल के पति की प्रतिभाशाली होते हुए भी आर्थिक हीनता, गरीबी—ये सब हमारे सामने एक चुभता-चीखता चित्र उपस्थित करते हैं। क्या प्रतिभाशाली कवि के लिए समाज में क्लर्की बदी है ? सरकारी अफसर साधारण योग्यता क होकर भी, शासन की क्रूरता की रस्सियों को मजबूत करनेवाले पुर्जे होकर भी, जहाँ कानून की भूमि पर कुछ लोगों के विलास और नृत्य का आयोजन होता है—मजे करते हैं, जबकि समाज को सही मार्ग पर लगाने, जनरुचि का परिष्कार करनेवाले कवि तिरस्कृत रहते हैं। सरकारी अफसर किशोरीलाल के ये शब्द देखिए—

'मैं कविता को 'लग्जरी' मानता हूँ और कवि को व्यर्थ का मनुष्य। इसके अलावा हिंदी में कवि हैं कहाँ ? और हिंदी में भी क्या है ?'

धीरे-धीरे कवि विश्वभूषण का महत्त्व अन्य व्यक्ति समझते हैं। किशोरीलाल की पत्नी सुनंदा तो उनकी शिष्या तक होना चाहती है। उनके जीवन-निर्वाह क लिए रुपया देती है, लेकिन कवि उन नोटों को भिखारियों में वितरित कर देता है। उसकी दृष्टि में जरूरतमंद गरीबों को आर्थिक सहायता देना ही रुपयों का सदुपयोग है। कवि स्वयं भूखा रहकर दूसरों को भोजन कराने में अधिक आत्म-संतोष का अनुभव करता है। घोर भौतिक सांसारिकता पर मानववाद की विजय चित्रित कर कवि-जीवन की महत्ता चित्रित करना ही एकांकीकार का लक्ष्य रहा है। हमारे युग के सामाजिक मूल्यों पर अच्छा प्रहार है। हम आज रुपये के मद में सांस्कृतिक एवं बौद्धिक मूल्यों को नगण्य समझने लगे हैं। इसी पतन की ओर संकेत किया गया है।

'बाबूजी' में हमारे नए परिवारों के संघर्ष, नए-पुराने आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन, आधुनिक सामाजिक रहन-सहन का खोखलापन, पिता की अप्रतिष्ठा, भौतिक मूल्यों की संकुचितता दिखाई गई है। जिन बाबूजी ने पुत्रों को प्यार से पाला, शिक्षित और विवाहित किया, सुंदर मकान बनाया, वृद्धावस्था में उन्हीं को नीम की छाया में मरने के लिए प्यासा डाल दिया गया है। घर के बुजुर्ग से एक मेहमान का अधिक मान दिखाया गया है। हमारे पारिवारिक जीवन भी कैसे स्वार्थ, कटुता और निर्ममता से भर गए हैं! हमारी नैतिकता कहाँ विलुप्त हो गई है! इस नाटक को पढ़कर हमें सामाजिक दिखावे पर तरस आता है!

'यह स्वतंत्रता का युग' में नारी-स्वच्छंदता, विषय-लोलुपता और पाश्चात्य जगत् में व्याप्त उन्मुक्त प्रेम, सौंदर्य-प्रतियोगिता, फेमिली प्लेंनिग, रेसकोर्स आदि में दिल-चस्पी रखनेवाली एक आधुनिका का जीवन-चित्र है। वह एक मामूली लेकचरर की पत्नी है। लेकिन उसकी मित्र-मंडली बढ़ी-चढ़ी है। उसे अपने बीमार बच्चे की, जो उसका प्यार पाने को तड़प रहा है, कोई परवाह नहीं है, अपने पति का कोई ध्यान नहीं है। मित्रों और चाहनेवालों के उपहार वह लेती है। घर-गृहस्थी से उसे कोई सरोकार नहीं। एक धनी मित्र के साथ सैर-सपाटे के लिए वह बीस दिन के लिए मसूरी जाना अधिक पसंद करती है! अपने पति को वह यह उत्तर देती है—

मीना—...मैं तो फेमिली प्लेनिंग के पक्ष में हूँ। मुझे नहीं चाहिए यह चिल-पिल तुम्हारी। हाँ, नहीं तो अरे! तुम चुप हो? गंभीर हो गए। क्या बात है? तुम चिंता मत करो। मैं रेस से जीतकर सरला का रुपया चुका दूँगी...मैं खुद घोड़े रखूँगी और रेस में दौड़ाऊँगी। इधर मेरा ख्याल है, ब्यूटी कंटेस्ट में भी चुन ली जाऊँगी। मैंने तुम्हें बताया नहीं कि ब्यूटी एसोसिएशनवाले मेरे पीछे पड़ रहे हैं!

विवाह-संबंध में मीना अति आधुनिका है। वह पुराने नैतिक मूल्यों को धिक्कारती है। पति-पत्नी की बातचीत का मार्मिक एक अंश इस प्रकार है—

मीना—...क्या घर में पिसते रहना जिंदगी है...आज नारी का दृष्टिकोण बदल गया है। वह शादी को अब एक कंट्रैक्ट मानती है, जबतक भी निभे।

जयंत—...शायद तुमने अनुभव नहीं किया कि कंट्रैक्ट में व्यावहारिकता है, हार्दिकता नहीं; शरीर है, प्राण नहीं।'

मीना—...यदि तुम मेरे पति हो, तो मैं तुम्हें सब कुछ नहीं दे सकती। मेरी इच्छाएँ हैं,'मेरा शौक है। मैं मजबूर नहीं हूँ कि एक ही दूकान से हमेशा खरीदती रहूँ। तुमन मुझे अपरूप भी कर दिया है। मेरी इच्छाओं को भी कुचल डाला है...।

'मायोपिया' में आधुनिक नारी की विवाह-विषयक धारणाएँ विवेचन का विषय बनी हैं। आज की नारी केवल प्रेम, ऊपरी रोमांस, सौंदर्य या अर्थस्वातंत्र्य पर सफल, जीवन व्यतीत करना चाहती है। कुछ स्त्रियाँ पुरुष से हटकर स्वतंत्र रूप से जीवन-निर्माण करना चाहती हैं। नारी-सुलभ मधुर वृत्तियों—सेवा, सहयोग इत्यादि को भुला-कर पुरुष की तरह स्वच्छंदता से तृप्ति नहीं, उच्छृंखलता ही बढ़ती है। जिस शिक्षा से नारी के स्वाभाविक गुण विकसित नहीं होते, वह व्यर्थ है। सुधी केशव का तिर-स्कार कर पछताती है। वह अपने को अधूरी और अपूर्ण पाती है। मधु के निम्न शब्दों में लेखक ने सही दृष्टिकोण प्रकट किया है—

'स्त्री-पुरुष का संबंध निश्चल भाव से एक दूसरे को देने के लिए है। जो कुछ स्त्री के पास है, यदि वह पुरुष को दे डाले, तो कोई कारण नहीं कि पुरुष से वह उतना या उससे अधिक न प्राप्त कर सके।'

केशव के निम्न शब्द आज की कुंठाओं और मिथ्या धारणाओं की ग्रंथियों से ग्रसित आधुनिकाओं के लिए पथप्रदर्शक हो सकते हैं—

'जीवन केवल प्रेम-सौंदर्य के बल पर ही नहीं चलता, वहाँ जीवन की गाड़ी को सुंदर ढंग से चलाने के लिए तत्परता, सहयोग, सदाशयता की भी आवश्यकता है। तुम्हारे (सुधी के) भीतर मनुष्य के प्रति अहंकार, ज्ञान के प्रति जागरूकता का भाव कभी उभरकर तुम्हें विद्रोही बना सकता है। यह मेरी भूल थी जो मैंने केवल सौंदर्य और ज्ञान के सहारे तुमसे जीवन की भिक्षा माँगी थी। वह भूल थी सुधी। विवाह विनिमय नहीं चाहता, वह हृदय देखता है। वह एक दूसरे की सहानुभूति चाहता है। वह जीवन की नाव चलाने में एक दूसरे की सहायता चाहता ह···।'

'बार्गेन' में विवाह-पक्ष का द्वितीय पहलू अर्थात् आज के नवयुवकों के विवाह, प्रेम, जीवन और आनंद-संबंधी नए विचारों के नाना पक्षों का विश्लेषण है। कैलास नामक एक सुशिक्षित संपादक दो युवतियों से प्रेम-संबंध स्थापित करता है। एक के उससे गर्भ भी रह जाता है, पर वह भौंरे की वृत्ति का व्यक्ति है। उसे छोड़ दूसरी पर हाथ साफ करना चाहता है। विवाह को एक साधारण सामाजिक संबंध समझता है, जिसमें उत्तरदायित्व किसी का नहीं है। विवाह को निरर्थक मानता है, परिवार-नियोजन का पोषक है। यदि समाज के नैतिक बंधन टूट जायँ, तो कैसा भ्रष्टाचार, स्वच्छंदता, वैषम्य और प्रवंचना फैल सकती है,—इसका व्यंग्यपूर्ण चित्र इस एकांकी में अंकित किया गया है। भौतिक मूल्यों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया है।

'ग्रहदशा' में नारी-मनोविज्ञान, छोटी-छोटी बातों पर झगड़े-बहस, बकवास तथा उससे होनेवाली हानियों का दिग्दर्शन कराया गया है। रमा अपनी पुत्री का विवाह पड़ोसी के पुत्र से करना चाहती है, पर बातों-बातों में दोनों की गर्मागर्म बातचीत होती है। तू-तू मैं-मैं, होने लगती है। इसी प्रकार गिरिधारी और कृष्णमनोहर जो कन्या और वर-पक्षों के पिता हैं, व्यर्थ की झंझट पर झगड़ बैठते हैं और तयशुदा विवाह-संबंध टूट जाता है। आज भी ऐसे पिछड़े अदूरदर्शी विवाहित जोड़े हमें मिल जाते हैं, जो नाक के नीचे ही देखते हैं और अपनी हानि कर लेते हैं। इसे वे कुटिल ग्रहदशा का दुष्प्रभाव समझते हैं।

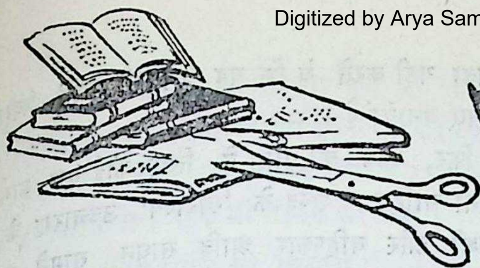
'पर्दे के पीछे' में सामाजिक व्यंग्य है। इस नाटक का क्षेत्र व्यापक है। बड़े-बड़े पूँजीपति इनकमटैक्स बचाने के लिए क्या-क्या करतूतें करते हैं? धर्म और समाज-सेवा के ढोंग कैसे बनाए जाते हैं? अपने प्रदर्शन के लिए कैसे अस्पताल खोलकर विज्ञापन द्वारा जनता को ठगा जाता है। अखबार इत्यादि भी प्रायः अपना स्वार्थ देख पूँजीपतियों के दास बने रहते हैं। उधर मध्यवर्ग और निम्नवर्ग पिसता जा रहा है, महँगाई, गरीबी और शोषण से परेशान है। बेईमानी, रिश्वत, झूठ-कपट, मायाचार सर्वत्र फैल रहे हैं। लोगों को नए तरीके से लूटना धर्म रह गया है। नाटक में हमारी दूषित समाज-व्यवस्था की कमजोरी चित्रित की गई है। कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की भी पोल खोल दी गई है। सर्वोदय-समाज, देशभक्ति, स्वदेशी-प्रचार आज चंदा एकत्र करने के फंदे मात्र रह गए हैं; उनमें असलियत गायब है। पूँजीपति सेठ के ये वचन कटु सत्यता और व्यंग्य से परिपूर्ण हैं—

'ये हैं कांग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थलोलुप। इनके भी वैसे ही ठाट हैं, मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर! फिर मजा यह कि काम कुछ भी नहीं करते। व्यापार कुछ नहीं करते; तो क्या रुपया आकाश से फट पड़ता है?······मैं आज ही खद्दर खरीदकर कपड़े बनवा लूँगा···पहनने होंगे। यही युग का, समय का तकाजा है···।

···सारा मामला इन क्लर्कों के हाथों में ही होता है। अफसर तो सरकार की प्रेस्टिज-प्रकाश का बल्ब है, जो अपनी पावर के अनुसार चमकता है। कोई पाँच का, कोई दस का, कोई पचीस का।···लोग कहते हैं कि हमलोग ब्लैकमार्केट करते हैं···गरीबों का खून चूसकर मोटे हुए हैं। कितनी गलत बात है। क्या हमने गरीबी पैदा की है? जिसमें योग्यता हो, वह आवे?'

इन एकांकियों में आधुनिक समाज के प्रायः सभी पहलू किसी-न-किसी प्रकार व्यंग्य का निशाना बनाए गए हैं। पं० उदयशंकर भट्ट की प्रतिभा, सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति और वर्तमान सामाजिक मूल्य (Values) मार्मिकता से प्रकट हुए हैं। ये हमारे समाज के जीते-जागते चित्र हैं। लेखक की पैनी दृष्टि ने इन नाटकों का सृजन करने से पूर्व समाज तथा उसकी व्यवस्था को निकट से देखा है।

—रामचरण महेंद्र



सार-संकलन

१. सर्वोदय की सिद्धि का त्रिविध विचार

मानव के विकास का इतिहास

हर जमाने में मनुष्य के सामने कोई-न-कोई ध्येय होता है और उस ध्येय के अनुसार ही उसका जीवन-प्रवाह चलता है। प्रत्येक जमाने में उस-उस समाज के सामने क्या ध्येय था, इसका दर्शन जब हम करते हैं, तब ज्ञात होता है कि एक ध्येय के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा आया और समाज का उत्कर्ष होता चला गया। इतिहास फिर इसीका बनता है। 'इतिहास देह-विकास के क्रम का नहीं होता ! गाय पैदा होती है, घास खाती है, बछड़े पैदा करती है, दूध देती है; फिर कुछ दिनों के बाद मर जाती है। ऐसी घटनाओं का इतिहास नहीं बनता। समझने की जरूरत है कि मनुष्य केवल जानवर के समान जीवन व्यतीत करने नहीं आया है। उसके जीवन के सामने कुछ ध्येय रहे हैं।

सिद्धांतों से भरा जीवन

अभी हमने स्वतंत्रता प्राप्त की। करीब सौ बरस तक स्वराज्य का ध्येय हमारे देश के सामने रहा और उसके लिए हिंदुस्तान काम करता रहा। फिर बुद्धिमान् नेताओं द्वारा उस ध्येय का विकास होता गया। कहना तो यह चाहिए कि जब से अँगरेजी हुकूमत हिंदुस्तान में कायम हुई, तभी से देश को स्वराज्य की लगन थी और उसके लिए प्रयत्न होते रहे। सन् '५७ का विप्लव भी उसीके निमित्त था। फिर १९०६ में कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी द्वारा 'स्वराज्य' के मंत्र का प्रत्यक्ष उच्चारण हुआ और उसके लिए देश ने पराक्रम किया। बाद में स्वराज्य की प्राप्ति हुई। इस तरह के भिन्न-भिन्न कालों के इतिहास से पता चलेगा कि कहीं भक्ति-मार्ग का, कहीं धर्म-प्रेरणा का, कहीं विवाह-संस्था का विकास चल रहा है, तो कहीं यह कोशिश हो रही है कि प्राणिमात्र को, जैसे कुत्ता, घोड़ा, गदहे, हाथी आदि को, किस प्रकार वश में किया जाय ? कहीं सृष्टि के साथ संघर्ष चल रहा है, तो कहीं समाज में धर्म-भावना बढ़ाने का प्रयत्न चल रहा है। हमारे यहाँ भी कपिल मुनि ने सांख्य-दर्शन में एक कल्पना बताई और उसके अनुसार समाज-शास्त्र बनाया गया। उसी तरह आजकल मार्क्स की एक आर्थिक पद्धति या सिद्धांत है, आइन्सटाइन का भी एक भौतिक सिद्धांत है। ऐसे ही तरह-तरह के सिद्धांतों को लेकर जीवन बनता है।

स्वराज्य के पश्चात्

तो अब, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी कोई ध्येय हमारे सामने है या नहीं ? या हम ऐसे ही जानवरों का-सा जीवन बिताते रहेंगे ? मानव-समाज कभी ध्येय-विहीन तो रह नहीं सकता। वैसा रहा भी, तो केवल संधिकाल में ही रह सकता है। पर यह संधिकाल भी यदि लंबा चला तो समाज नीरस बनेगा, समाज में प्रेरणाएँ ही नहीं रहेंगी। जीवन में कोई आनंद तक नहीं रहेगा। जीवन का आनंद भोगने में नहीं होता है, ध्येय के साथ एकरूप होने में होता है। धर्म और कर्त्तव्य के साथ भोगने में ही आनंद आता है। इसलिए अगर ध्येय क्या है, इसका पता समाज को न चला या संधिकाल में समय ज्यादा निकल गया, तो मानना चाहिए कि समाज खतरे में है और उतनी मुद्दत तक मानव जानवर की स्थिति में रहनेवाला है।

सर्वोदय

लेकिन ईश्वर की कृपा है कि हिंदुस्तान को स्वराज्य का एक ध्येय जहाँ समाप्त हुआ, वहाँ फौरन ही दूसरा ध्येय उसके सामने आ गया, सर्वोदय का। और जहाँ वह चला, तो ऐसे वेग से कि होटलवाला भी 'सर्वोदय-होटल' खोलने लगा ! किसी दूसरे नाम का इतना आकर्षण नहीं हुआ। अगर सर्वोदय का नाम समाज को, जमाने की आवश्यकता के मुताबिक प्राप्त नहीं हुआ होता तो यह नाम चल ही नहीं सकता था। आज कोई कहेगा कल्याण-राज्य प्रिय है, तो कोई कहेगा समाजवाद। कोई साम्यवाद कहेगा, तो कोई भारतीय संस्कृति। फिर भी सर्वोदय नाम सबको प्यारा है। उस नाम को कोई इन्कार नहीं करेगा, क्योंकि

वह इस युग का नाम है, हमारे समाज के लिए वह ध्येय-वाक्य है। एक अवतार-समाप्ति के बाद दूसरे अवतार तक बहुत समय बीच में चला जाता है, तो न मालूम, उसमें कितनी गिरावट आ जाती है, जैसे कि रामचंद्रजी के बाद हुआ। पर परशुराम के बाद ही राम का अवतार हो गया, तो समाज का विकास हुआ। इसी तरह स्वराज्य-प्राप्ति के पहले ही 'सर्वोदय' सामने आ गया था। सर्वोदय के अवतार की तैयारी, स्वराज्य के अवतार की समाप्ति के पहले ही हो गई थी। यह खादी, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रम, जो पहले से ही जुट गए थे, मानों इसीके लिए थे।

बीच का फासला अधिक न हो

मनु महाराज ने कहा था कि बिना आश्रम के मनुष्य को एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य जहाँ समाप्त हुआ, वहीं गृहस्थाश्रम में प्रवेश हुआ। लेकिन जहाँ गृहस्थाश्रम नहीं शुरू हुआ और ब्रह्मचर्याश्रम भी पूरा हो गया, या उसको निबाहने की इच्छा नहीं है, तो जीवन बिगड़ गया। बीच में फासला कहीं चार-पाँच साल का भी रहा, तो वह भी हानिकारक सिद्ध होगा और लंबे फासले से तो मनुष्य की दुर्दशा ही होती है।

ध्येय-विहीन क्षण मृत्यु है!

यही न्याय समाज को लागू होता है। जहाँ स्वराज्य-प्राप्ति कर ली, वहाँ सर्वोदय-प्राप्ति भी करनी ही है। यदि ऐसा शब्द नहीं मिलता, तो कितना अनर्थ हो सकता था? शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य जब पुरानी देह छोड़ता है, तब नई देह पहले से ही तय हो चुकी रहती है। हम तो यह कह नहीं सकते, शास्त्रकार ही कह सकते हैं। लेकिन जँचता यह ठीक है। वरना, वह मनुष्य कहाँ-कहाँ भटकेगा! सार यह है कि ध्येय-विहीन अवस्था में समाज का एक क्षण भी नहीं जाना चाहिए।

ध्येय यानी प्रेरक वस्तु। खाते-पीते समय भी मनुष्य एक नाम ले सके, ऐसा राम-नाम चाहिए। स्वराज्य के पहले व्यायाम करनेवाले लड़के भी कहते थे कि स्वराज्य के लिए हम कसरत कर रहे हैं! ऐसा उत्साह उनमें था। कालेज में 'स्वराज्य' पर डिबेटिंग करते थे। उससे वक्तृत्व-प्राप्ति होती थी, ज्ञान मिलता था, भाषा की जानकारी होती थी और 'स्वराज्य' का स्वाद भी लगता था! छोटे-छोटे व्यापारी अगर साबुन भी बनाते, तो वे दावा यही करते थे कि यह 'स्वदेशी माल' 'स्वराज्य' के लिए बनाया है!

फिर, ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई एक मार्ग भी मिलना चाहिए। शब्द के 'स्वराज्य' उच्चारण के बाद स्वदेशी और बहिष्कार आदि साधन सामने आए। स्वराज्य के ध्येय के साथ ही लोगों को मार्ग सूझता गया। बाद में गांधीजी ने आगे बढ़कर नए साधन बताए, जैसे स्वदेशी की जगह खादी, बहिष्कार की जगह सत्याग्रह इत्यादि।

उत्पादन की दृष्टि

अब हम सर्वोदय करना चाहते हैं। सर्वोदय का साधन 'सर्व' शब्द में है। पैदावार बढ़ाओ और जो कुछ करो, सबमें बाँटो! गरीबी है, तो वह भी बँटनी चाहिए और जितना भी उत्कर्ष होता जाय, उसका भी बँटवारा होना चाहिए। यह चीज कम्युनिटी-प्रोजेक्ट के साथ भी जोड़नी पड़ेगी। उत्पादन-वृद्धि तो अमेरिका में भी है, रूस में भी है। यूरोप के बहुत-से देश हिंदुस्तान से ज्यादा उत्पादन करते हैं। तो क्या हम यह समझें कि सर्वोदय के मार्ग में वे हमसे आगे हैं? उत्पादन तो हम भी बढ़ाएँगे, लेकिन अमेरिका के जैसे नहीं। हम अपना बल बढ़ाना चाहेंगे, पर यह नहीं कहेंगे कि 'रावण' की जैसी ताकत भी पैदा करेंगे! हम तो 'हनुमान' की मिसाल सामने रखेंगे। आज हनुमान कहीं दीख नहीं रहा है, 'सर्वोदय' के ध्येय को सामने रखकर उत्पादन नहीं बढ़ाया जा रहा है। सर्वोदय अपने देश का स्वतंत्र मंत्र है। इसकी पूर्ति भी अपने विचार से ही करनी होगी, अपने ही साधन ढूँढ़ने होंगे। उत्पादन बढ़ाने के लिए जो साधन अमेरिका ने बनाए, रूस ने बनाए, वे ले लेने से हमारा काम नहीं चलेगा। वह सर्वोदय की साधना नहीं है।

साधन और ध्येय

जमीन का समान बँटवारा कर लो, यह सर्वोदय की साधना का एक हिस्सा है। जैसे 'स्वराज्य हरएक का जन्म-सिद्ध हक' है, वैसे ही हर कोई काश्त करनेवाला कह सकता है कि जमीन पर हमारा जन्म-सिद्ध हक है। पर महज जमीन का बँटवारा ही सर्वोदय की साधना नहीं है। बँटवारा तो और जगह भी हुआ है। पर, उसका जो साधन हमको मिला है, वह है अहिंसा के ढंग से,

प्रेमपूर्वक, अपनी जमीन का हिस्सा खुद ही समर्पण करने का। जमीन जब 'छीनी' जाती है, तब सर्वोदय नहीं, लेकिन जब 'दी' जाती है, तब सर्वोदय होता है। इस तरह साधन भी मिल गया। ध्येय भी सामने आ गया।

ध्येय-प्राप्ति की त्रिसूत्री

इन दोनों की प्राप्ति के लिए विचार चाहिए। वह है अपरिग्रह, अस्तेय और शरीर-श्रम। अपरिग्रह का मतलब है, संग्रह घर में नहीं, समाज में ही होगा। संपत्ति समाज को समर्पण करनी ही होगी। अस्तेय के मानी है, चोरी नहीं करना। पर वह 'रातवाली चोरी' नहीं, जिसे तो हरएक ने मना किया ही है। न उसमें कोई विविधता ही है। चोरी तो 'दिनवाली' मिटनी चाहिए। यह बड़ी सूक्ष्म होती है, बड़ी सफाई के साथ होती है। सूर्यनारायण के प्रकाश के सामने होती है और ये जा चोर होते हैं, वे साहूकार माने जाते हैं तथा जो गुनहगार होते हैं, वे न्यायमूर्त्ति जज, वकील और कोतवाल आदि कहे जाते हैं। और शरीर-श्रम के मानी क्या? कुछ लोग तो उत्पादन का काम करें और दिन-रात कड़ी मिहनत करें एवं बाकी बैठे-बैठे खाया करें, यह अब नहीं चलेगा। कुछ-न-कुछ उत्पादन हरएक को करना होगा। आठ घंटे नहीं, तो दो घंटे तो उत्पादन का काम करना ही होगा। गांधीजी सूत कातने के लिए कहते थे। उसके साथ और भी उत्पादन के तथा शरीर-श्रम के काम सबको करने होंगे। फिर चाहे वे वकील हों, व्यापारी हों, ज्ञानी हों, कवि हों, भक्त हों, विद्यार्थी हों, राजनीतिज्ञ हों या नेता हों। जो भी मनुष्य खाए, वह उत्पादन करे। जब शारीरिक जीवन नहीं टलता, तो उसका बोझ भी सर्वथा दूसरों पर क्यों डाला जाय?

यह नवयुग का विचार है, त्रिविध विचार है। अपरिग्रह, अस्तेय और शरीर-श्रम के आधार पर समाज-रचना करने का यह विचार ही सर्वोदय की सिद्धि में सहायक हो सकता है।

—विनोबा ['सर्वोदय' से साभार]

२. ३६ करोड़ समस्याओं का समाधान कैसे?

हमने पंचवर्षीय योजना बनाई और अब दूसरी पंचवर्षीय योजना बनाने जा रहे हैं। इसके पीछे एक विशेष अभिप्राय एवं उद्देश्य है। इनसे हमें केवल आँकड़े ही नहीं दिखाने हैं कि हमने पहले की अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी या चौगुनी औद्योगिक शक्ति प्राप्त कर ली है। अवश्य ही इनसे हमारी बढ़ती हुई कार्य-शक्ति एवं क्षमता का परिचय मिलता है। हमने सिंचाई का काम कितना आगे बढ़ाया और हमने कितना लोहा अथवा अन्य चीजें उत्पादित कीं आदि, पर ये सभी कार्य एक विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिए है। यदि अधिकाधिक लोहा उत्पादन का संबंध मानवता के हित-संपादन में न हुआ तो उससे क्या लाभ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह तथ्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। अतः हमें अपनी समस्याओं के संपूर्ण स्वरूप पर विचार करना है, जो अंत में मानव की सामाजिक समस्या का रूप ग्रहण कर लेती है।

३६ करोड़ समस्याएँ

इसलिए हमारे संमुख एक नहीं, अपितु ३६ करोड़ मनुष्यों की समस्याएँ है।

एक बार मुझसे किसीने प्रश्न किया—'आपकी मुख्य समस्या क्या है, आपको कितनी समस्याएँ हल करनी हैं?'

मैंने उत्तर दिया कि भारत में ३६ करोड़ समस्याएँ हैं।

इसे सुनकर लोग हँस पड़े, पर मैं कहता हूँ कि यह बात पूर्ण सत्य है। हमें अपनी समस्याओं को ३६ करोड़ व्यक्तियों के दृष्टिकोण से देखना है और हल करना है। पत्रों में निकलनेवाले आँकड़ों तथा ग्राफों से काम न चलेगा। उनका अपना महत्त्व है—इसमें संदेह नहीं, पर हमें प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख का ध्यान मुख्यतः रखना होगा।

हमारी आधारभूत समस्या

यह हमारी आधारभूत समस्या है। अब हम भारत के ३६ करोड़ ममुष्यों के लिए योजना बनाने जा रहे हैं। इस मौके पर हम-आप बैठकर इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार एवं तर्क कर सकते हैं। आप या हम कह सकते हैं कि इसे कार्यरूप देने में समाजवादी, साम्यवादी अथवा गांधीवादी प्रणाली प्रयुक्त की जाय। इसी प्रकार और अनेक वादों के नाम भी गिनाए जा सकते हैं। लेकिन उक्त शब्दों में, जिनमें कभी एक विशेष अर्थ था, क्रमशः अब वह अर्थ नहीं रहा। नई भावनाओं, नए संघर्षों तथा नवीन आकांक्षाओं में उनका पुराना अर्थ नहीं रह गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि शब्दों से हमें सावधान रहना चाहिए, चाहे भले ही वे कितने महान क्यों न हों।

हमारी नीति क्या हो ?

आखिर हम चाहते क्या हैं ? समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद या अन्य कोई 'वाद' हो, इनसे आगे बढ़कर हमें यह स्पष्ट करना होगा कि हम क्या चाहते हैं और हमारी ३६ करोड़ जनता क्या चाहती है। वे जो चाहते हैं, उनकी सूची बनाई जा सकती है और उसपर मतभेद भी हो सकता है। लेकिन यह बात तो बिलकुल साफ है कि वे भोजन, वस्त्र, निवास तथा स्वस्थ जीवन चाहते हैं, चाहे हमारी आर्थिक और सामाजिक नीति कुछ भी क्यों न हो।

इसलिए मेरा सुझाव है कि हमारी केवल यही नीति होनी चाहिए कि हमें ३६ करोड़ जनता के लिए काम करना है। समस्त लोगों की उन्नति हमें करनी है और सभी को समान स्तर पर लाना है।

आत्मनिर्भरता जरूरी

इसे ध्यान में रख हमें देखना होगा कि उनकी आवश्यकताएँ क्या हैं। इनकी पूर्ति कैसे की जाय। स्पष्टतः हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं उत्पादन एवं निर्माण द्वारा करेंगे, न कि विदेशों से मँगाकर। इसके बाद का हमारा कदम उत्पादन करने का हो जाता है और हम देखें कि उत्पादन के लिए किस चीज की जरूरत होती है। हम देखेंगे, इसके लिए मानव-श्रम, कुछ यंत्र अथवा औजार आवश्यक होंगे। यह भले ही सूती वस्त्र की मिल हो या चरखा हो। सदा बड़े या छोटे, किसी-न-किसी यंत्र की आवश्यकता होती ही है। इससे उत्पादन होता है और आगे का क्रम चलता है। इस प्रकार हमारी योजना क्रमशः सफल होती आगे बढ़ती है। पहले सबसे जरूरी चीजें, फिर उनका उत्पादन और तत्पश्चात् अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन। यह क्रम तबतक चलता है जबतक हम अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर नहीं हो जाते।

विकास के मूलभूत साधन

दो चीजें आधारभूत रूप में बहुत आवश्यक हैं। एक तो भूमि और कृषि तथा दूसरी शक्ति। देश के विकास में इन मूलभूत बातों का बहुत महत्त्व है और ये दोनों वस्तुएँ हमारी नदी-घाटी-योजनाओं में निहित हैं। कृषि को ही लीजिए। हमने एक पुरानी उक्ति सुनी होगी कि भारत का आय-व्ययक और हमारी आर्थिक स्थिति वर्षा पर निर्भर है। यदि ठीक समय पर वर्षा सम्यक् रूप से हुई तो हम उस वर्ष संपन्न रहेंगे। किंतु वर्षा न हुई तो देश में सूखा पड़ेगा, देश अभावग्रस्त होगा और इससे उत्पन्न होनेवाली सभी बुराइयाँ सामने आयेंगी। प्रश्न है, हम इसपर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं। स्पष्टतः इसका यही उत्तर है कि समुचित सिंचाई के साधनों द्वारा। हमारे देश में सिंचाई की व्यापक व्यवस्था है। हमें इसका विस्तार करना है। इस दृष्टि से सबसे भाग्यवान प्रदेश भारत में पंजाब है। यहाँ प्रत्येक प्रकार के उद्योग का विकास हो सकता है। यहाँ इस कार्य के निमित्त पर्याप्त विद्युत्-शक्ति का स्रोत है।

अगली मंजिल और शीघ्रता से

विगत वर्षों में हमने अनेक बड़ी योजनाएँ हाथ में लीं, और मैं कह सकता हूँ कि उनमें हमें उल्लेख्य सफलता मिली है। हमने गलतियाँ कीं और काफी अपव्यय भी हुआ। इसके लिए हमारी प्रायः आलोचना होती रही है। मेरा खयाल है कि आलोचना अच्छी चीज है। इससे हमें सुधरने का सदा अवसर मिलता रहता है। इन आलोचनाओं के बावजूद यदि हम संपूर्ण चित्र पर दृष्टि डालें तो हमें विदित होगा कि वस्तुतः हमने जिन महान योजनाओं को कार्यान्वित किया उनके लिए प्रयत्न करने का निश्चय ही बड़े साहस एवं शक्ति का कार्य है। हम इन्हें कार्यान्वित कर रहे हैं और शनैः-शनैः उनके पूर्ण होने का समय पहुँच रहा है। योजना के कार्यान्वितव होने के बाद के लाभ के अतिरिक्त यही बात हमारी शक्ति की वृद्धि करती है। किसी भी राष्ट्र का आत्मविश्वास एक महान वस्तु है और अंत में यही चीज बड़े महत्त्व की सिद्ध होती है। हम वह अनुभव, वह योग्यता प्राप्त कर रहे हैं। यह केवल सिद्धांत द्वारा प्राप्त होनेवाली नहीं, अपितु व्यवहार एवं कार्य द्वारा उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। अब हम अपनी अगली मंजिल अधिक आश्वस्त होकर तथा द्रुतगति से चलकर पूरी करेंगे। हमें महान कार्य पूरे करने हैं और अपने देश तथा बढ़ती हुई जन-संख्या की संवृद्धि की योजना से बढ़कर कौन-सी चीज महान हो सकती है। हमें इसी भावना से देश के निर्माण-कार्य को आगे बढ़ाना है। इस महान कार्य के द्वारा ही हम भारत का नक्शा बदल सकते हैं और कर सकते हैं भारत की ३६ करोड़ जनता का कल्याण-संपादन।

—जवाहरलाल नेहरू ['आज' से साभार]

३. आयुर्वेद में शरद्-ऋतुचर्या

सर्दी, गर्मी तथा वर्षा—इनसे लक्षित होनेवाली छः ऋतुएँ चंद्रमा और सूर्य के काल-विभाग के कारण उत्तरायण तथा दक्षिणायन इन दो अयनों में विभक्त होती हैं। मकर संक्रांति से कर्क संक्रांति तक ६ मास का समय उत्तरायण तथा कर्क संक्रांति से मकर संक्रांति तक ६ मास का समय दक्षिणायन कहा जाता है। ऋतु-विभाग के अनुसार शिशिर, वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु की गणना उत्तरायण में और वर्षा, शरद् तथा हेमंत ऋतु की गणना दक्षिणायन में होती है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार उत्तरायण—आदान-काल तथा दक्षिणायन—विसर्ग-काल कहलाता है।

आदान-काल—उत्तरायण में भगवान् सूर्य बलवान रहते हैं, क्योंकि दिन बड़े होते हैं तथा सूर्य का आग्नेय प्रभाव पृथ्वी पर अधिक समय तक विद्यमान रहता है। अतएव, शिशिर, वसंत तथा ग्रीष्म—इन तीन ऋतुओं में तिक्त, कषाय तथा कटु रस क्रमशः बलवान होते हैं और प्राणियों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है।

विसर्गकाल—दक्षिणायन में भगवान् सूर्य शक्तिहीन हो जाते हैं और चंद्रमा का बल बढ़ जाता है। दिन छोटे होने के कारण सूर्य का आग्नेय प्रभाव अल्प समय तक ही रहता है और रात बड़ी हो जाने से चंद्रमा का शीतल प्रभाव विशेष काल तक रहता है। वृष्टि के कारण पृथ्वी का संताप दूर हो जाता है और स्निग्ध तथा शीतल वायु के प्रभाव से दक्षिणायन में अम्ल, लवण तथा मधुर रस बलवान होते हैं और इन रसों के बल से प्राणियों की शक्ति में वृद्धि होने लगती है।

आयुर्वेद के मतानुसार आश्विन तथा कार्तिक—ये दो मास शरद् ऋतु के अंतर्गत माने जाते हैं। कुछ आचार्य कार्तिक तथा मार्गशीर्ष अथवा तुला और वृश्चिक संक्रांति में शरद् ऋतु मानते हैं।

शरद् ऋतु में सूर्य पिंगलवर्ण तथा उष्ण होता है, आकाश निर्मल और यत्र-तत्र श्वेतवर्ण-मेघ-युक्त रहता है। सरोवरों की शोभा हंसों-सहित कमलों के द्वारा बढ़ जाती है। भूमि कीचड़-मुक्त, सूखी तथा चींटियों से युक्त एवं कुरटक, सप्तपर्ण, दुपहरिया, कास और विजय-सार प्रभृति वृक्षों से सुशोभित हो जाती है।

श्वेत वर्ण के मेघों के कारण आकाश निर्मल हो जाता है और निर्मल नभ में चंद्र तथा तारागणों का प्रतिबिंब स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। नदियों तथा तालाबों का गंदा जल सज्जन पुरुषों के मन के सदृश स्वच्छ हो जाता है।

इस ऋतु में वायव्य (पश्चिमोत्तर) दिशा की वायु बहने लगती है। यह स्वच्छ तथा कषाय-प्रधान रस का शोषण करनेवाली है। यह वायु-वातकारक तथा शोथ एवं व्रण-रोगियों के लिए उपयोगी है। साथ ही, यह ऋतु हलकी और अनभिष्यंदी होती है और इससे उष्णता, पित्त तथा मध्य बल की उत्पत्ति होती है।

शरद् ऋतु में आकाश-मंडल मेघ-रहित रहता है और संचित पित्त सूर्य की किरणों के द्वारा शरीर में व्याप्त होने के कारण पैत्तिक रोगों की उत्पत्ति करता है। वर्षा ऋतु में संचित पित्त शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है, क्योंकि वर्षा ऋतु की प्राकृतिक शीतलता के संयोग से शरीर में शीतलता रहती है। वर्षा ऋतु में वायु तथा वर्षा-जल की शीतलता से प्राणी शीत-सहन करने के अभ्यासी हो जाते हैं, अर्थात् उनका शरीर शीतसह हो जाता है। इसी शीतलता के कारण वर्षा ऋतु में पित्त संचित हो जाता है, दब जाता है और शरद् ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों से सहसा शरीर के संतप्त होने पर आंतरिक उष्णता बाहर आ जाती है और इसी को पित्त-प्रकोप कहते हैं।

वर्षा ऋतु में अम्ल-विपाक होने के कारण जो पित्त दूषित हो जाता है, वही शरद् ऋतु में कुपित होता है। ग्रीष्म तथा शरद्—ये दोनों ऋतुएँ सम-स्वभाववाली होती हैं; अतएव इनमें पित्ताधिक्य होता है। ग्रीष्म में पित्त बाल्यावस्था में रहता है तथा शरद् में वही पूर्णतया युवा होकर बल प्रदर्शित करने लगता है। अतएव इसकी शांति के लिए सर्वप्रथम विरेचन तथा किंचित् तिक्त, पित्त-शामक, मीठे, हल्के और शीतल पदार्थों का सेवन करना लाभदायक है। रक्तदोष होने पर शारीरिक दूषित रक्त निकलवाना चाहिए और क्षुधा प्रतीत होने पर तिक्त, मधुर तथा कषाय-रस-प्रधान लघु आहार ग्रहण करना चाहिए। बलवान व्यक्तियों के लिए ही अशुद्ध रक्त निकलवाने की क्रिया उपयोगी है। चीनी, मूँग, परवल, चावल, मधु, नींबू तथा जंगली जीवों के मांस का सेवन इस ऋतु में अच्छा है। इसके अतिरिक्त मिश्री अथवा चीनी मिलाकर हर्रे का चूर्ण, मिश्री के साथ आँवले का चूर्ण, गुड़ में हर्रे, धनिया, सेंधा नमक, आँवला, गावजवाँ अथवा

बनगोभी, कमलगट्टा, भसींड़ा, घृत और मुनक्का मिलाकर लेना चाहिए। इस ऋतु में नारियल का सेवन भी हितकारी है।

शरद् ऋतु में विश्राम अपेक्षित है। इस ऋतु में सुहृद्-मित्रों के साथ बैठकर मधुर वार्तालाप करना, सुगंधित पुष्पों की माला धारण करना और नदी का जल पीना चाहिए।

शरद् ऋतु में हंसोदक पान की बड़ी उपयोगिता है। इस ऋतु में सरोवरों का जल अथवा अन्य जल, जो दिन भर सूर्य की किरणों से तपकर, रात्रि में चंद्रमा और नक्षत्र-राशि की शीतल किरणों से अनवरत शीतल होता रहता है तथा अगस्त्य नक्षत्र के उदय के प्रभाव से स्वयं ही स्वच्छ तथा विष-रहित हो जाता है, वही पवित्र जल 'हंसोदक' है। हंस सदा अत्यंत शुद्ध जल ही ग्रहण करते हैं; अतएव जल की विशुद्धता को दृष्टि में रखकर ही इसे 'हंसोदक' संज्ञा दी गई है। केवल पीने में ही नहीं, अपितु स्नान तथा विशेष काल तक इस जल में रहने से भी यह अमृत-तुल्य गुणदायक है। इसके सेवन से समस्त मल-दोष, विशेषतः पित्त, कफ नष्ट हो जाता है। यह न तो रूक्ष होता है और न अभिष्यंदी ही। इसीलिए इसके सेवन से वायु भी कुपित नहीं होती और अमृत-तुल्य गुण लाभ होता है।

इस ऋतु में श्वेत वस्त्र तथा कपूर, चंदन, खस, मोती और शीतल-सुगंधित पुष्पों की माला धारण करना तथा छिटकी हुई चाँदनी में बैठना चाहिए। ओस पड़ने के पूर्व वहाँ से हट जाना उचित है; क्योंकि इस ऋतु की ओस से ज्वर तथा जुकाम की शिकायत हो जाती है। आहार में क्षार-प्रधान पदार्थों,—तेल, दही और चरबी के पदार्थों का समावेश नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस ऋतु में उष्णता तथा पित्त उत्पन्न करनेवाले पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। पीपल, मिर्च, भंग, सौंफ, लहसुन, हींग, छाछ, खिचड़ी, हर्रे, सरसों का तेल, उड़द के पदार्थ, मदिरा, मछली तथा तीक्ष्ण, खट्टे, कड़वे और उष्ण पदार्थों का सेवन हानिकारक है। साथ ही धूप, व्यायाम, पुरवाई हवा, दिवा-शयन, रात्रि-जागरण, अति परिश्रम तथा क्रोध और भरपेट भोजन से बचना चाहिए। कार्तिक के अंतिम आठ दिन तथा मार्गशीर्ष के आरंभिक आठ दिन अर्थात् इन सोलह दिनों को 'यम-दंष्ट्रा'—यमराज की दाढ़ की संज्ञा दी गई है। इन दिनों में स्वल्पाहार ही करना चाहिए। कहा गया है—

वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः।
यमदंष्ट्रा स्वसा प्रोक्ता हितभुङ् मितभुङ् नरः॥

इसका आशय यही है कि शरद् ऋतु में रोगों का प्रसार अधिक होता है और उसका प्रभाव सर्व-साधारण पर बहुत बुरा पड़ता है। रोगों के भय से ग्रस्त प्राणियों की धारणा ने ऐसा रूप धारण कर लिया था कि जो शरद् ऋतु में जीवित रह गया, उसका जीवन आगामी शरद् ऋतु तक के लिए सुरक्षित हो गया। 'जीवेम शरदः शतम्'—इस प्रसिद्ध ऋचा से भी यही ध्वनि आभासित होती है। अन्यान्य ऋतुओं का नामोल्लेख न कर, शरद् का विशेष रूप से उल्लेख करने का यही आशय है, यही रहस्य है। यदि हम इसे समझें और अपने जीवन में उतार सकें तो वस्तुतः शतायु होना कठिन नहीं।

—गौरीशंकर गुप्त ['सचित्र आयुर्वेद' से साभार]

४. गांधीजी का जीवन-दर्शन

गाँधीजी भारतीय राष्ट्र के एक अनुपम निर्माता हैं। उन्होंने देश में एक उच्चकोटि का संगठन खड़ा कर दिया, ऐसा अलौकिक कृत्य किया, विशेषतः जबकि वह पूर्ण अहिंसात्मक था—जोकि इतिहास में अद्वितीय है। इस क्रूर विश्व में वे 'नैतिकता' के महान् प्रचारक थे और सदा रहेंगे। उनकी सफलताओं का अंत नहीं। वस्तुतः उनकी सफलताओं से उनके जिस व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जाता है, वे उससे भी महान थे।

बिना किसी प्रयास के और अनजाने में उन्होंने मानवजाति पर जो प्रभाव डाला, उसे वे स्वयं भी नहीं जानते थे। यह सफलता किसी मनुष्य के लिए संभव नहीं है, फिर वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। श्रद्धामय वातावरण उत्पन्न करने की रहस्यमयी शक्ति किसी योगी में ही संभव हो सकती है, अथवा ऐसे व्यक्ति के लिए संभव हो सकती है जो अपनी शक्ति किसी उच्च सत्ता से प्राप्त करता हो।

× × ×

१९४७ की एशियन कांफ्रेंस के समय मैं फिलिपाइन के प्रतिनिधि के साथ बैठा हुआ था। वह गाँधीजी के

आने की प्रतीक्षा कर रहा था और उसकी उत्सुकता उसके चेहरे से टपकी पड़ती थी।

गाँधीजी आए। वह प्रतिनिधि हर्ष से विभोर हो उठा, उसकी आँखें उस दुबली-पतली आकृति पर जाकर स्थिर हो गईं। कुछ मिनट बाद वह उठा, मंच की ओर बढ़ा और अपनी इस श्रद्धा-मूर्ति के साथ हाथ मिलाए! जब वह अपने स्थान पर लौटा तब वह इतना उत्तेजित हो गया था कि उसका चेहरा लाल हो गया था। 'इस व्यक्ति से हाथ मिलाकर मैंने अपनी ६ हजार मील की यात्रा सार्थक कर ली है।'—मुड़कर उसने मुझसे कहा। उसने मानवीय महत्ता के साकार रूप में दर्शन कर लिए थे।

एक बार वर्धा में मैंने दो छोटी लड़कियों को फूट-फूटकर रोते देखा। बात यह थी कि गाँधीजी ने सदा अपने साथ रहनेवाला जो छोटा-सा परिवार बना रखा था, वे भी उसका एक अंग थीं। मुझे लगा कि उनके साथ कोई बहुत बड़ी दुर्घटना घट गई है। मैंने उनसे पूछा कि क्या बात है? वे बोलीं—'बापू बंबई जा रहे हैं और हमें यहाँ छोड़े जा रहे हैं।'

लगभग एक या दो साल तक मेरी छोटी लड़की भी इस परिवार की सदस्या रह चुकी है। बीच-बीच में जब वह हमारे पास आती तो उसे मैंने सदा उसी प्रेम में सना पाया। वह बताती कि बापू ने उससे क्या बातें की हैं, किस प्रकार उसके सुंदर घुँघराले बालों की तारीफ की है, किस प्रकार वह उनकी पसंद का खाना लेकर उनके पास गई और किस प्रकार बापू ने उसे पसंद किया। उसने अपने बिस्तरे के ऊपर बापू का फोटो इस ढंग से लगाया जिससे वह उसे प्रति रात्रि देख सके।

× × ×

जनसाधारण के हृदयों में गाँधीजी किस प्रकार घुसकर बैठ गए थे, यह वे स्वयं भी नहीं जानते थे। सामान्य रूप से लोगों ने गाँधीजी को न केवल देखा तक नहीं था, अपितु केवल उनके नाम के अतिरिक्त वे लोग उनके बारे में और कुछ जानते भी नहीं थे।

जब मैं बंबई राज्य के बीजापुर जेल में १९३२-३३ में बंद था, तब मेरे सिर पर राजनीतिक बंदियों की देखभाल आ पड़ी। इन दो सौ लोगों की धमा-चौकड़ी कभी-कभी नाक में दम करनेवाली होती थी। सबसे बढ़कर कष्ट की बात यह थी कि वहाँ उत्तर भारत का लगभग २५ वर्ष का एक अशिक्षित युवक था। उसका शुगुल यह था कि मस्त साँड की तरह अपना सिर नीचा करता और किसी साथी की टाँगों में डालकर उसे ऊपर उठाने की कोशिश करता। वह उसे ऊपर उठा पाता या नहीं, परंतु वह व्यक्ति निरपवाद रूप से नीचे गिर पड़ता।

मैंने अधिकारियों को यह आश्वासन दे रखा था कि मैं अपने साथियों में अनुशासन बनाए रखूँगा। इस घटना से स्वभावतः मेरी चिंता बढ़ गई। एक दिन इस दुर्धर्ष युवक को बुलाया और पूर्ण शांति के साथ उससे कहा कि वह जो व्यवहार करता है, उसकी शिकायत मैं गाँधीजी को लिख रहा हूँ। साथ ही मैंने उससे यह भी कह दिया कि किसी गाँधीवादी को ऐसा नहीं करना चाहिए।

'तो बापू क्या करेंगे?'—उसने पूछा।

'वे उपवास करेंगे।'—मैंने कहा।

'उपवास! अच्छा, तो कितने दिन तक?'

'जबतक तुम अपना व्यवहार न बदल लो।'

'और यदि मैं न बदलूँ?'

'तो उन्हें आमरण उपवास करना पड़ेगा!'—मैंने कुछ बिगड़कर चतुराईपूर्वक उत्तर दिया।

वह युवक बड़े असमंजस में पड़ा। वह थोड़ी देर में चला गया, परंतु फिर वह अगले दिन प्रातः आया और कहने लगा—'आप कृपा करके गाँधीजी को यह मत लिखिएगा! मैं फिर ऐसा न करूँगा।'

वह युवक गाँधीजी से उनके नाम के अतिरिक्त किसी प्रकार भी परिचित नहीं था, परंतु उसे वह नाम भगवान के सदृश प्यारा था। उसने यह खेल फिर कभी नहीं खेला।

× × ×

प्रो० भंसाली को हमलोग बाबाजी कहा करते थे। वे एकदम निस्पृह व्यक्ति थे। १९४२ में उन्होंने चिमूर कांड की सार्वजनिक जाँच के लिए जो आमरण अनशन किया था, उसके लिए उत्तरदायी मैं ही था। 'भारत छोड़ो' आंदोलन को दबाने के लिए कुछ गोरे सिपाहियों ने चिमूर में स्त्रियों के साथ बलात्कार किया था। इसके विरुद्ध जाँच के लिए बाबाजी ने ४० दिन तक उपवास किया। अंत में अधिकारियों ने इस संबंध में बातचीत शुरू की और मैं इसमें मध्यस्थ बना।

मृत्यु-शय्या पर पड़े बाबाजी ने मुझे जो अंतिम आदेश दिया था, उसके शब्द थे—'मेरी ओर से बातचीत करने की तुम्हें स्वतंत्रता है, मेरे शरीर की बिल्कुल चिंता न करना। परंतु, ध्यान रखना कि बापू की प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार की आँच न आने पाए।' बाबाजी की गाँधीजी में अगाध विश्वास देखकर मेरी आँखों में आँसू आ गए।

× × ×

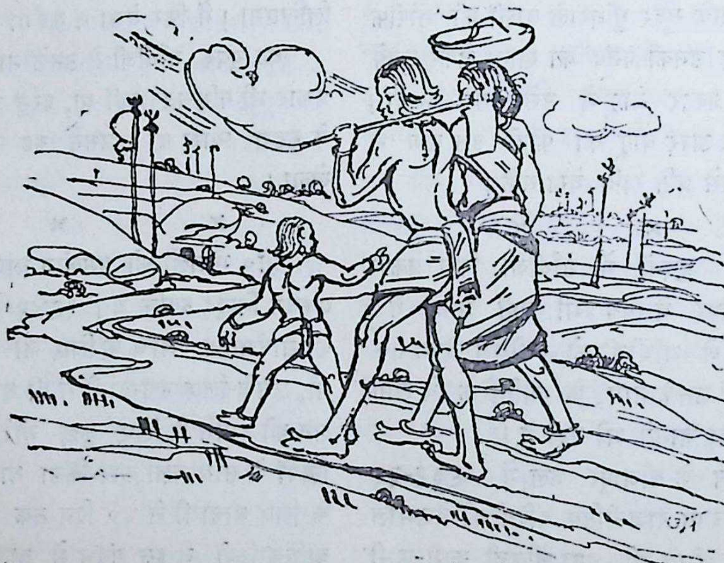
क्योंकि गांधीजी पूर्णरूप से मनुष्य थे, इसलिए वे अतिमानव थे। मैंने उन्हें क्रोध में भी देखा है, और पल भर में अपने-आपको नियंत्रित करते भी देखा है। मैंने उन्हें अप्रसन्न मुद्रा में भी देखा है और उन्हें भगवान से शक्ति-प्राप्ति की प्रार्थना करते भी देखा है। और, यदि वे चट्टान की तरह अडिग और दृढ़ थे तो अपनी स्नेहशील वृत्ति के कारण किसी भी स्त्री से कम न थे।

'क' नाम के एक सज्जन गांधीजी के दृढ़ अनुयायी थे और अन्य लोगों की अपेक्षा उनके अधिक निकट भी। उनके हाथ में एक बहुत बड़ा संगठन था। विवाहित होते हुए भी वे एक अविवाहित लड़की के प्रेम में फँस गए। गांधीजी ने स्वयं यह घटना सुनाते हुए मुझे बताया कि उन्होंने 'क' के साथ कैसा व्यवहार किया।

'मैंने उससे सत्य बात को स्वीकार कर लेने के लिए कहा। अंत में उसने स्वीकार कर लिया। अगले दिन एक सार्वजनिक सभा में मैंने 'क' के व्यवहार के संबंध में चर्चा की। परंतु मैंने उसे आश्वासन दिया कि मैं उसका परित्याग नहीं करूँगा। मैंने लड़की को अपने संरक्षण में ले लिया है। अब वह अस्पताल में है और वहाँ उसने एक बच्चे को जन्म दिया है। बच्चे और मा की देखभाल मैं करूँगा। 'क' भी यहीं मेरे पास है और वह मेरी देखभाल करता है। वह किसी भी अन्य तरीके से सार्वजनिक रोष से नहीं बचाया जा सकता। प्रेम नाम की वस्तु ऐसी गाँठ नहीं है जिसे तलवार से काट दिया जा सके।'

जैसे ही वे बोले, मेरे कानों में भगवान के एक अन्य दूत के वचन गूँज उठे, जिनमें उसने मेरी मैगडेलीन के पापों को क्षमा कर दिया था।

—क० मा० मुंशी ['अमृत' से साभार]



विश्व वार्ता

१. भारत

भारत के प्रधान मंत्री की चीन-यात्रा की ओर विश्व की आँखें लगी हुई हैं और कूटनीतिक क्षेत्रों में इस यात्रा के संबंध में तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगाई जा रही हैं। यद्यपि श्री नेहरू ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि इस यात्रा में कोई कूटनीतिक रहस्य नहीं तथापि अमेरिकी कूटनीतिज्ञ काफी चौकन्ना हो उठे हैं और तरह-तरह के अनुमान लगाने से बाज नहीं आते। इसका कारण भी है। अमेरिका, रूस और चीन के मित्रों या समर्थकों को संदेहात्मक दृष्टि से देखने के आदी हो गए हैं। श्री नेहरू ने २३ अक्टूबर को पेकिंग में साफ शब्दों में कह दिया है कि मैं चीन में शांति और सद्भावना का दूत बनकर आया हूँ।

पेकिंग में भारतीय प्रधान मंत्री का भव्य स्वागत हुआ, और, वहाँ की रचनात्मक प्रगति से श्री नेहरू काफी प्रभावित भी हुए हैं। गत २७ अक्टूबर को पेकिंग-रेडियो से भाषण करते हुए प्रधान मंत्री नेहरू ने कहा कि चीन और भारत दोनों विभिन्न मार्गों से स्वाधीनता की एक ही मंजिल पर पहुँचे हैं और अपने देश की सुख-समृद्धि के प्रयास में निरंतर लगे हुए हैं।

श्री नेहरू ने कहा कि आज हम जिस मंजिल पर पहुँचे हैं वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जहाँ पहुँचकर हम स्वाधीन एवं प्रभुता-संपन्न राष्ट्र की हैसियत से कार्य कर सकते हैं। लेकिन यह एक मंजिल-मात्र है—हमें आगे बढ़ना है और अनगिनत व्यक्तियों के लिए सुख-समृद्धि प्राप्त करनी है जो उनका अधिकार है। इसलिए दोनों ही देश इस महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हैं, और मैं समझता हूँ कि दोनों देश एक दूसरे से बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

आपने कहा कि मैं भारत जाकर अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों में लग जाऊँगा, लेकिन चीनी जनता के मधुर स्नेह की स्मृति मुझे नहीं भूलेगी। इस स्मृति से मुझे शक्ति और प्रेरणा मिलती रहेगी।

२. पाकिस्तान

पाकिस्तान में इधर सहसा जो राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, उनकी उपेक्षा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नहीं की जा सकती। समाचारों से पाकिस्तान की आंतरिक स्थिति के संबंध में जो संकेत मिल रहा है वह बड़ा ही सनसनी-खेज है। डेली एक्सप्रेस के संवाददाता श्री रसेल स्पर्र की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि इस समय पाकिस्तान में फौजी शासन लागू होने-जैसा वातावरण है। कराची में सर्वत्र सैनिकों की तैनाती है। राजनीतिज्ञों के मकान में लगे टेलीफोन की लाइनें भी काट दी गई हैं।

रिपोर्ट में बताया गया है कि जब पाकिस्तान के प्रधान मंत्री श्री मोहम्मद अली अमेरिका की यात्रा समाप्त कर कराची पहुँचे तब गवर्नर जनरल गुलाम मोहम्मद से मिलने उनके निवासस्थान पर गए। चार घंटों तक प्रधान मंत्री गवर्नर जनरल के समक्ष रोते रहे, किंतु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। गवर्नर जनरल ने दो शर्तें प्रधान मंत्री के सम्मुख रखीं और यह भी कहा कि यदि ये शर्तें पूरी नहीं होंगी तो प्रधान मंत्री के साथ उनके सभी साथियों को भी गिरफ्तार कर लिया जायगा।

समाचार में बताया गया है कि सर्वप्रथम तो प्रधान मंत्री श्री मोहम्मद अली ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया और विक्षिप्तावस्था में घर लौटे। घर लौटकर उन्होंने कहा कि मैं आत्म-हत्या कर लूँगा, किंतु इन शर्तों को नहीं मानूँगा। बाद में जब प्रधान मंत्री ने अपनी संकटापन्न स्थिति पर विचार किया तो वे विचलित हो गए। चार घंटे तक गवर्नर जनरल के सामने जो उनकी दयनीय स्थिति रही उसकी कल्पना की भयानकता ने श्री मोहम्मद अली की हिम्मत तोड़ दी। वे दूसरी बार पुनः गवर्नर जनरल के पास दौड़ पड़े और आत्म-समर्पण कर दिया।

समाचार में बताया गया है कि एक बंद कार में प्रधान मंत्री को स्टूडियो पहुँचाया गया और वहाँ पहुँचने पर

उन्हें एक स्क्रिप्ट दिया गया जो पहले से ही तैयार करके रखा था। बाध्य होकर उस लिखित स्क्रिप्ट को श्री मोहम्मद अली ने रुँधे कंठ से ब्राडकास्ट किया।

एक ताजे समाचार में बताया गया है कि उत्तर-पश्चिम सीमांत-प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मंत्री डाक्टर खान साहब को भी पाकिस्तान के केंद्रीय मंत्रिमंडल में रखा गया है और खान साहब ने शपथ-ग्रहण भी कर लिया है।

कराची अवामी लीग के अध्यक्ष श्री एम० एच० उस्मानी ने २८ अक्टूबर को पत्रकारों के समक्ष बताया कि मैंने सुहरावर्दी के पास इस आशय का तार भेजा है कि वे अतिशीघ्र पाकिस्तान लौट आएँ और जनता का नेतृत्व करें।

उसी दिन एक दूसरे समाचार में बताया गया कि पूर्वी पाकिस्तान अवामी लीग के उपाध्यक्ष श्री ए० रहमान श्री सुहरावर्दी को बुलाने के लिए ज़ुरिच रवाना हो चुके हैं।

अवामी लीग के नेताओं ने इस बात की भी संभावना व्यक्त की है कि पूर्वी पाकिस्तान में अब वैधानिक सरकार संघटित होगी।

समाचारों से पता चलता है कि पाकिस्तान के गवर्नर जनरल ने जो रुख लिया है उसकी प्रतिक्रिया दोनों तरह की हुई है। कराची टाइम्स ने लिखा है कि गवर्नर जनरल की घोषणा ऐतिहासिक महत्त्व की हुई है। पाकिस्तानी पार्लमेंट के विरोधी दल के भूतपूर्व नेता श्री चट्टोपाध्याय ने भी इस कारवाई पर प्रसन्नता प्रकट की है। खबर है कि खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ ने भी कह दिया है कि इस कार्रवाई से मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। किंतु ऐसे समाचारपत्र भी हैं जिन्होंने इस कार्रवाई पर वैधानिक प्रश्न उठाए हैं। मुस्लिम लीगी सदस्यों में भी मतैक्य नहीं है और वे दो दलों में बँट गए हैं। यह तो भविष्य ही बताएगा कि इसकी प्रतिक्रिया आगे कौन-सा रूप ग्रहण करती है।

३. नेपाल

नपाल से जो समाचार प्राप्त हो रहे हैं, उनसे इस बात का स्पष्ट संकेत मिल रहा है कि वहाँ के वर्त्तमान शासन से लोग काफी क्षुब्ध हैं। जनता में शासन के प्रति निरंतर फैलनेवाले असंतोष से वहाँ के राजनीतिक दल अनुचित लाभ उठाने की कोशिश में भी लगे हुए हैं। किसान-संघ की आड़ में तो कम्युनिस्ट पहले से ही काफी सक्रिय हैं और अपनी तिकड़म से बाज नहीं आते; किंतु अब तो ऐसा देखन में आ रहा है कि अन्य राजनीतिक दल भी जनता में फैले हुए व्यापक विक्षोभ को और प्रज्वलित करने में ही अपना लाभ देख रहे हैं। यही कारण है कि कुछ दिन पूर्व तराई नेपाली काँग्रेस ने भी सत्याग्रह की धमकी दे डाली थी। नेपाली काँग्रेस की कार्यसमिति ने भी तराई काँग्रेस के उक्त निश्चय का समर्थन किया है।

प्रेस ट्रस्ट के एक समाचार में बताया गया है कि नेपाली प्रधान मंत्री की राष्ट्रीय प्रजापार्टी ने पश्चिम नेपाल के भैरवा जिले में गत ७ अक्टूबर से ही आंदोलन छेड़ रखा है और इस आंदोलन के सिलसिले में राष्ट्रीय प्रजापार्टी के कई कायकर्त्ता गिरफ्तार भी हो चुके हैं। यहाँ तक ही नहीं, बल्कि नेपाल-परामर्शदात्री सभा के एक सदस्य और एक अन्य प्रमुख कार्यकर्त्ता को भी गत १३ अक्टूबर को गिरफ्तार कर लिया गया, क्योंकि वे लोग सरकार के विरुद्ध घृणा का प्रचार कर रहे थे। इस गिरफ्तारी के प्रतिक्रिया - स्वरूप प्रदर्शन प्रारंभ हो गया। प्रदर्शनकारियों पर पुलिस को लाठियाँ भी चलानी पड़ीं जिसमें कई व्यक्ति घायल भी हुए। सरकार की इस दमन-नीति ने आग में घी का काम किया और प्रदर्शन का रूप बढ़ता ही गया। फलस्वरूप दूसरे दिन भी प्रदर्शन हुआ और कचहरी के सामने किसानों का सत्याग्रह प्रारंभ हो गया जिसमें पाँच व्यक्ति गिरफ्तार किए गए।

इन सारे घटना-चक्रों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नेपाल की आंतरिक स्थिति बहुत ही गंभीर है और वर्त्तमान प्रधान मंत्री श्री मातृकाप्रसाद कोइराला का अपने दल पर भी अब कोई प्रभाव नहीं रह गया है। यदि स्थिति नियंत्रित नहीं हुई और वह उग्रतर ही होती गई तो इसका परिणाम नेपाल के भविष्य के लिए कभी हितकर नहीं समझा जाना चाहिए।

४. फ्रांस

भारत-स्थित फ्रांसीसी बस्तियों के भारत में विलय के प्रश्न पर फ्रांस तथा भारत में समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार १ नवम्बर को फ्रांसीसी बस्तियों पर भारत का अधिकार हो जायगा। फ्रांसीसी कमिश्नर के स्थान पर अब वहाँ भारतीय कमिश्नर की नियुक्ति होगी और इन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो फ्रांसीसी

कमिश्नर को प्राप्त थे। श्री केवल सिंह जो इस समय पांडिचेरी में भारतीय कांउसलर हैं, यहाँ के प्रथम चीफ कमिश्नर होंगे।

भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने इस समझौते के संबंध में कहा है कि इस समझौते से अन्य बस्तियों के संबंध में भी भारत के पक्ष को बल प्राप्त होगा।

पांडिचेरी में १ नवंबर को होनेवाले हस्तांतरण-समारोह की सफलता के लिए अभी से ही जोरदार तैयारियाँ प्रारंभ हो गई हैं। पहली नवंबर को फ्रांसीसी बस्तियों के सरकारी भवनों पर फ्रांसीसी झंडों की जगह भारतीय राष्ट्र-ध्वज फहराए जायँगे और फ्रांसीसी बस्तियों का कोना-कोना भारतीय राष्ट्र-गीत 'जन-गन-मन' के गान से गूँज उठेगा।

५. मिस्र

पाकिस्तान की तरह मिस्र की राजनीति भी कब कौन मोड़ लेगी और लेती है, कहना मुश्किल है। वर्त्तमान प्रधान मंत्री के विरुद्ध भी इधर षड्यंत्र प्रारंभ हो गया है और विद्रोह के स्फुलिंग इधर-उधर देखने में आने लगे हैं। मिस्र के प्रधान मंत्री कर्नल गमेल अब्देल नसीर की हत्या का जो प्रयास किया गया था, उसके विरोध में क्रुद्ध प्रदर्शनकारियों के दल ने २७ अक्टूबर को मुसलिम भ्रातृत्व-संघ के प्रधान कार्यालय पर आक्रमण कर दिया और उसमें आग लगा दी।

स्मरण रहे कि भ्रातृत्व-संघ राजनीतिक-धार्मिक विचारों के कुछ व्यक्तियों का एक दल है। यह दल वर्त्तमान सरकार का प्रमुख विरोधी दल है। इस वर्ष के प्रारभ तक इस दल पर प्रतिबंध लगा हुआ था।

अलेक्जेंड्रिया की एक रैली में ही प्रधान मंत्री पर गोली चलाई गई और उसके बाद शीघ्र ही पुलिस ने भ्रातृत्व-संघ के प्रधान कार्यालय को घेर लिया। एक सदस्य को गिरफ्तार भी कर लिया गया, जिसके संबंध में कहा जाता है कि गोली चलान में उसका भी हाथ है। इसके अतिरिक्त चार व्यक्तियों पर भी हत्या का अभियोग है।

६. दक्षिण अफ्रिका

दक्षिण अफ्रिका की वर्णभेद-नीति से अफ्रिका की आंतरिक स्थिति और उसका अंतरराष्ट्रीय संबंध—दोनों ही संकटापन्न बन गए हैं।

दक्षिण अफ्रिका की रंग-भेद-जन्य स्थिति की जाँच के लिए तीन व्यक्तियों का राष्ट्रसंघीय आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में बताया है कि वर्ण-विद्वेष को दूर करने का प्रयास दक्षिण अफ्रिका की ओर से ही होना चाहिए। आयोग ने बताया है कि वर्ण-भेद की नीति से अफ्रिका पर आंतरिक और बाह्य,--दोनों दृष्टियों से खतरा है।

प्रतिवेदन में आगे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वहाँ की स्थिति में सुधार लाने के लिए एक पक्ष को जातीय श्रेष्ठता की भावना का त्याग करना होगा। साथ ही वयस्कों के लिए मौलिक शिक्षा-योजना, वर्णभेद का अंत तथा समता के आधार पर श्रम-पंचायतों में संमिलित होने का अधिकार प्रदान करने आदि कई सुझाव भी आयोग ने अपने प्रतिवेदन में उपस्थित किए हैं।

आयोग ने इसे साफ कर दिया है कि यूरोपीय, बांटू और अश्वेत—सभी अनिवार्यतः एक साथ मिलकर रहें; क्योंकि उन्हें एक साथ ही एक समुदाय के रूप में विकसित होना है।

स्मरणीय है कि गत वर्ष दिसंबर में आयोग की नियुक्ति की गई थी और वर्ण विद्वेष के कारणों के अनुसंधान के साथ ही उसे मिटाने के लिए सुझाव उपस्थित करने का भी दायित्व इस आयोग पर सौंपा गया था। इस आयोग के सदस्य हैं श्री हरमन संत क्रूज (चीली) अध्यक्ष, श्री दांते बेलिगार्ड (हैटी) और हेनरी लौजियर (फ्रांस)।

—दिनेशप्रसाद सिंह



पुस्तकालोचन

बाबा बटेसरनाथ—लेखक—श्री नागार्जुन; प्रकाशक—राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली; आकार, डबल क्राउन सोलह-पेजी; पृ० सं० डेढ़ सौ के लगभग; अजिल्द पुस्तक का मूल्य—१।।।=)

इस पुस्तक को उपन्यास न कहकर यदि भानमती का पिटारा कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। देहातों की परंपरा, उनके दैनिक जीवन की बातें, उनकी रहन-सहन, वहाँ का रस्म-रिवाज, उनका आस-विश्वास, सबकी झलक इस पुस्तक में मिलती है। जो लोग दरभंगा जिले क उस अंचल का प्राकृतिक भूगोल जानना चाहें, उन्हें इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री मिल सकेगी।

असहयोग-आंदोलन का तो यह संक्षिप्त इतिहास ही है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की वर्तमान दशा, कांग्रेसी मंत्रिमंडल तथा विधान-सभा के सदस्यों के रवैयों का भी संक्षिप्त चित्रण इस पुस्तक में है।

चूँकि पुस्तक कम्यूनिस्ट विचारों के प्रचार की दृष्टि से लिखी गई है, इसलिए पात्रों के चरित्र-चित्रण की तरफ लेखक का जरा भी ध्यान नहीं रहा है। विषय के प्रतिपादन पर ही उन्होंने ज्यादा जोर दिया है और कम्यूनिस्ट विचारधारा की श्रेष्ठता साबित करने के लिए अपने छोटे-से दायरे में वे जो कुछ भी लिख सकते थे, उसे लिखने में उनकी लेखनी ने कहीं भी संकोच से काम नहीं लिया।

कथोपकथन के रूप में सारी बातें लिखी गई हैं, इसीलिए इसे उपन्यास कहा जा सकता है, अन्यथा उपन्यास के कोई भी गुण इस पुस्तक में नहीं है। यह पुस्तक इतिहास को उपन्यास की अपेक्षा अधिक छूती है।

जो भी हो, पुस्तक कम पढ़े-लिखे लोगों के लिए बहुत ही उपादेय है। बहुत-सी बातों की जानकारी उन्हें हो जायगी इस पुस्तक से।

—छविनाथ पांडेय

राष्ट्रभाषा-शिक्षक—लेखक तथा प्रकाशक—श्री सुधीरचंद्र मजुमदार, प्रधानाध्यापक—रामदयालु हाई स्कूल; बिहार के लिए एजेंट—श्रीअजंता प्रेस लिमिटेड, पटना—४; पृष्ठ-संख्या १२+११८; मूल्य—१।)

आलोच्य पुस्तक बँगला माध्यम से लिखी गई है। बंगाली शिक्षार्थियों के हिंदी सीखने के लिए पुस्तक बहुत उपयोगी है। ग्रंथकार दीर्घकाल से बिहार के शिक्षा-विभाग में काम करते आए हैं तथा उनकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी प्रकाशित हैं। अतः अपने प्रांत की जनता को राष्ट्रभाषा सिखलाने की योग्यता उनमें पर्याप्त है। प्रसंगतः बँगला, हिंदी तथा उर्दू की तुलनात्मक आलोचनाओं से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। पुस्तक से यह भी पता लगता है कि ग्रंथकार को भाषातत्त्व की गहरी जानकारी है। बच्चों की अपेक्षा बालिग बंगभाषियों के लिए पुस्तक अधिक उपयोगी है। पुस्तक के अंत में एक दीर्घ शुद्धिपत्र भी है। ऐसी पुस्तक में अशुद्धियाँ रहना बहुत खराब है। आशा है, अगले संस्करण में ये त्रुटियाँ दूर कर दी जायँगी।

—हंसकुमार तिवारी

भारतमाता—लेखक-श्री रघुवीरशरण 'मित्र'; प्रकाशक-भारतीय साहित्य-प्रकाशन, २३२ स्वराज्य-पथ, मेरठ; पृष्ठ-संख्या १०४; मूल्य—२)

प्रस्तुत पुस्तक में देश के कतिपय अमर शहीदों की बलिदान-गाथा को नाटकीय रूप देने का उपक्रम किया गया है। उपक्रम सफल रहा, यह तो कहा जा सकता है; किंतु वह नाटक नहीं बन सका। देश में हिंसा और अहिंसा की जो दो विपरीत विचार-धाराएँ जागीं, उन्हें एक साथ करने का प्रयास सफल नहीं हो सका है,—यह हमारी ध्रुव-धारणा है। प्रस्तुत नाटक की असफलता का यही कारण है। पुस्तक की भाषा निर्जीव मालूम पड़ती है। स्थान-स्थान पर गालियों का प्रयोग बड़ा ही जघन्य है। हाँ, पुस्तक में आए गीत सुंदर हैं। यह दूसरी बात है कि इन गीतों का उपयोग उपयुक्त स्थान पर न हुआ है। फिर भी, हम कहेंगे

कि इन भूलों और कमियों के रहते हुए भी पुस्तक पठनीय है। छपाई-सफाई भी बुरी नहीं है। हाँ, पुस्तक का मूल्य अधिक है।

—सत्येंद्र नारायण

स्वप्न और सत्य—श्री भगवंतशरण जौहरी; प्रकाशक—लायल बुक डिपो, सरस्वती-सदन, लश्कर, ग्वालियर; पृष्ठ-संख्या—८७; मूल्य—३)

श्री भगवंत शरण जौहरी की इक्यावन कविताओं का यह संग्रह 'स्वप्न और सत्य' के नाम से प्रकाशित हुआ है। कवि को वाणी का वरदान प्राप्त है। उसकी कल्पना और भाषा—दोनों सुंदर हैं। कवि की रचनाएँ स्वप्न-जगत् की होकर भी सत्य हैं और कवि का सत्य स्वप्न बनकर भी नर्तन-रत है। संग्रह की कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो तथाकथित प्रगतिशील हैं। ऐसी रचनाएँ किसी भी कवि का फूहड़पन प्रकट करती हैं। प्रगतिशीलता के नाम पर जीनेवाले कवियों की संगति से श्री जौहरी-जैसे प्राकृत कवि भी नहीं बच सके,—यह बड़े दुःख की बात है। प्रार्थना और पूजा के फल गलीज पर फेंकने के लिए नहीं होते। आशा है, जौहरीजी संयम और साधना से काम लेंगे। पुस्तक की छपाई-सफाई सुंदर है, किंतु मूल्य अधिक है।

—सत्येंद्र नारायण

रश्मि-बाण—लेखक—श्री सूर्यकुमार शास्त्री; प्रकाशक—राजकुमार-आभाधाम, सोनपुर (सारन); पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य—१।)

रश्मिबाण श्री सूर्यकुमारजी के ४१ गीतों का संग्रह है। ये गीत समय-समय पर करीब एक दशाब्द में लिखे गए हैं और बाद में इन्हें एक साथ प्रकाशित कर दिया गया है। हम यह स्वीकार करते हैं कि ये रचनाएँ उच्च कोटि की नहीं हैं; न तो इनमें कल्पना की उड़ान है और न शब्द-परिष्कार की लहरियाँ। किंतु विशेषता यह है कि इन रचनाओं में कवि की आकांक्षा जोर-शोर से बोल रही है। वाणी के प्रति जो कवि का आग्रह है, उसीको छंद बनाकर कागज पर कलम से उतार दिया है और ऐसा कवि ने आत्मसंतोष के साथ किया है। साथ ही, पिछले एक युग में भारतीय जीवन में जो एक परिवर्त्तन हुआ है, कवि ने उसे अपने गीतों में लिपिबद्ध किया है। यही कारण है कि कवि और देश-प्रेमी दोनों ही इस रश्मि-बाण को पसंद करेंगे; इसमें कोई संदेह नहीं।

—सत्येंद्र नारायण

पटना-अस्पताल (मौलिक उपन्यास)—लेखक—श्री सुरेंद्रप्रसाद गुप्त 'विकल'; प्रकाशक—लक्ष्मी-पुस्तक-भंडार; सहरसा; मूल्य—३)

'पटना-अस्पताल' नामकरण से तात्पर्य यह नहीं कि वहाँ रोगियों की चिकित्सा की जाती है; फिर भी लेखक का उद्देश्य इससे कुछ जुदा नहीं। सामाजिक रोगों का निराकरण उपन्यास की कथावस्तु से परिलक्षित है। किंतु, इसकी 'डॉक्टरी' में लेखक कहाँ तक सफल हुआ है, इसकी ओर दृष्टिपात करने पर बरबस होठों पर पान की लाली आ जाती है; जिसमें जर्दे का कड़ुआपन भी घुला हुआ है। अस्पताल में दो प्रेमियों की प्रेमलीला का प्रदर्शन किया गया है। पुनः उनके दिल की गाँठ समाज के क्रूर हाथों से खोल दी जाती है। पता नहीं, यह किसी उलझी हुई समस्या का समाधान है या एक प्राण का दो प्राणों के रूप में बँटवारा।

अभिव्यक्ति में साधारणीकरण का गुण अवश्य भासित है, मगर लेखक का उद्देश्य कहाँ तक सुलझा हुआ है, अपनी बात कहने में वह कहाँ तक सफल है—यह देखने पर एकाएक विस्मित हो जाना पड़ता है।

लेखक में प्रेमचंद की सरलता, सामाजिकता और सुदर्शन की मार्मिकता तथा यशपाल का पौरुष स्पष्ट है। यह इनके भविष्य के सामंजस्यवादी साहित्य का सूचक ही है।

सब मिलाकर देखने से लेखक का लक्ष्य-विंदु तो स्थिर नहीं किया जा सकता, फिर भी प्रयास बहुत सुंदर है। छपाई-सफाई बहुत अच्छी है।

—नंदकिशोर 'नवल'

सुहृद—लेखक—डॉ० कौशलकिशोर, एम० ए०, पी० एच०डी० (लंडन); प्राप्ति-स्थान—पुस्तक-भंडार, पटना-४; मूल्य—२।।)

प्रस्तुत पुस्तक में श्री 'सुहृद' की जीवनी एवं उनके साहित्य पर समीक्षा पेश की गई है। प्रारंभ में लेखक द्वारा जीवन के वृत्तों का रेखा-चित्र है, जिसमें सुहृदजी के त्यागपूर्ण राजनीतिक जीवन एवं उनके ऊपर किए गए अत्याचारों का परिचय है। बाद में हिंदी के प्रसिद्ध कवि-लेखकों द्वारा लिखित [illegible]

प्रसाद द्विवेदी, काका कालेलकर, डा० राजेंद्र प्रसाद, जयप्रकाश नारायण, दिनकर, शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी और सुधांशु द्वारा लिखे गए संस्मरण अत्यंत उपयोगी हैं। १०० पृष्ठों तक जीवनी एवं १५० पृष्ठों तक सुहृदजी पर लिखे गए फुटकर निबंध हैं। साहित्य एवं राजनीति के नेताओं के साथ लिए गए १६ चित्र भी हैं। कविताओं में सर्वश्री 'महेश', 'रुद्र' एवं 'मुकुर' की रचनाओं से इनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। श्री महामाया प्रसाद का एक सुंदर लेख सुहृद-नगर पर है, जो सुहृदजी के नाम पर बसाया गया है। यह बेगूसराय (मुँगेर) रेलवे स्टेशन से उत्तर की ओर स्थित है। किसी कवि के नाम पर यह पहला नगर है।

इस पुस्तक के द्वारा साहित्यिक व्यक्तियों के व्यक्तित्व-प्रकाशन का एक नया अध्याय शुरू होता है। छपाई-सफाई हृदय-हारिणी। आवरण नयनाभिराम।

—नंदकिशोर 'नवल'

काव्य-मीमांसा—अनुवादक—पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत, प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; पृष्ठ-संख्या—३१४+४+४६; मूल्य—८), सजिल्द—९॥)

राजशेखर अपने युग के एकबारगी ही चोटी के नाटककार, अति आदृत महाकवि, गंभीर विचारक और बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् हो गए हैं। काव्यशास्त्र पर लिखा गया उनका ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' न केवल संस्कृत-साहित्य का, प्रत्युत विश्व-साहित्य का अपूर्व ग्रंथ है। यह कविराज की अंतिम कृति है। फलतः यह प्रौढ़ कलाकार की सभी विशेषताओं से मंडित है। ग्रंथ की प्राप्ति अधूरे रूप में हुई है। ऐसा मालूम होता है कि कवि इसे समाप्त करने के पूर्व ही स्वर्ग सिधार गया। किंतु जो अधूरा प्राप्त हुआ है, वही ग्रंथ की गुरुता और गंभीरता को पुकार-पुकारकर कह रहा है। काश! साहित्य-संसार को यह पूरा ग्रंथ प्राप्त होता···। केदारनाथजी ने इसी काव्य-मीमांसा का अनुवाद हिंदी गद्य में किया है। अनुवाद पंडिताऊ नहीं है। कही हुई बात समझ में आवे,—अनुवादक का इस ओर पूरा ध्यान रहा है। भाषा संस्कृतनिष्ठ होने पर भी स्पष्ट और सबल है। एक भाषा से दूसरी भाषा में किया गया अनुवाद तभी सफल समझा जाता है जबकि उसमें पहली भाषा का शाब्दिक और भाविक अनुवाद हो एवं दूसरी भाषा

अनुवाद नहीं, प्रत्युत कोई मौलिक चीज पढ़ रहा है। हमें यह कहते प्रसन्नता होती है कि प्रस्तुत अनुवाद में यह गुण बहुत अंशों में उपस्थित है। इस अनुवाद द्वारा शर्माजी ने संस्कृत-साहित्य का वह द्वार खोला है जिससे चलने में विद्वज्जन भी आना-कानी करते हैं। यही नहीं, हमारा विश्वास है कि इसको पढ़ने के बाद पाठकों में इस तरह के 'पंडित-पछाड़' ग्रंथ के पढ़ने की भूख जगेगी। ऐसी अवस्था में स्वभावतः यही आशा होती है कि इस तरह के ग्रंथ इसी तरह अनुवादित होकर सामने आवें। एक अनुरोध! प्रूफ-संशोधन में सतत जागरूकता वांछनीय है। साथ ही शब्दों और चिह्नों के प्रयोग और लिखावट में एकरूपता होनी चाहिए। क्या यह अच्छा लगता है कि आवरण पर काव्य-मीमांसा और भीतर कहीं काव्य-मीमांसा और कहीं काव्य मीमांसा हो! ग्रंथ अनुवादक के ज्ञान, विद्वत्ता और अध्ययनशीलता को व्यक्त करनेवाला है। ४६ पृष्ठों की अनुवादकाय भूमिका ने ग्रंथ में चार चाँद लगा दिए हैं। संक्षेप में हमारे साहित्य का यह गौरव-ग्रंथ है। ग्रंथ की छपाई-सफाई परिषदीय स्तर की है।

—माहेश्वरी सिंह 'महेश'

संत कवि दरिया—एक अनुशीलन; लेखक—डा० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री; प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; पृष्ठ-संख्या २६४ + २५६ + ६ + ४; मूल्य—अजिल्द—१२॥), सजिल्द—१४)

अन्य संतों की तरह दरिया नाम के कई संत विभिन्न युगों में हो चुके हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का संबंध बिहारवाले दरिया साहब से है। लेखक के शब्दों में—'संत-कवि दरिया—एक अनुशीलन' नामक इस ग्रंथ का लक्ष्य बिहार के शाहाबाद जिले के धरकंधा ग्राम में ईसा की अठारहवीं शताब्दी में आविर्भूत निर्गुण संत कवि दरिया साहब के जीवन, दर्शन और साहित्य का प्रस्तवण और विवेचन है। इस ग्रंथ को तैयार करने में लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है, बड़ा कष्ट उठाया है, बड़ा समय लगाया है और बड़ा व्यय किया है। संतोष और प्रसन्नता की बात है कि लेखक की यह कठोर साधना पुरस्कृत हुई उपाधि से और पुस्तक-प्रकाशन से।

यह ग्रंथ पाँच खंडों में विभाजित है। प्रथम चार खंडों

कवित्व और भाषा है। अंतिम खंड में मूल ग्रंथों के उद्धरण हैं। प्रथम चार खंडों के प्रस्तुत करने में निजी मान्यताओं से काम लिया है। फलतः इसका निष्कर्ष भी निजी है जो स्वाभाविक ही है। इस संबंध में एक से अधिक शैलियाँ हो सकती हैं और एक से अधिक मत भी हो सकते हैं। किंतु हम इस विभिन्नता की शिकायत नहीं करते हैं। हम तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि लेखक ने पूरी ईमानदारी से, अपने दृष्टि-कोण से, अपनी पैठ और स्पर्श के अनुकूल अपना कृतित्व प्रस्तुत किया है। ऐसा करने में उसे पूरी सफलता मिली है। मुमकिन है कि थोड़ा और परिश्रम, थोड़ा और अध्ययन एवं थोड़ा और अनुशीलन कोई दूसरा स्वरूप प्रदान करता। ग्रंथ का तीसरा खंड (कवित्व) कुछ अधिक कम-जोर हो गया है। शायद लेखक का इस ओर ध्यान नहीं था। पंचम खंड में मूल ग्रथ के उद्धरण देते हुए लेखक ने लिखा है -'यद्यपि उद्धरण मूल हस्तलिखित पोथियों से लिए गए हैं, तथापि वे मात्रा की दृष्टि से अविकल नहीं हैं। छंद आदि का ध्यान रखते हुए ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्राओं में अपेक्षित संशोधन कर दिया गया है।' हमारे विचार में लेखक को ऐसा संशोधन नहीं करना चाहिए था। ऐसा प्रयत्न अनुशीलन के मूल्य को घटानेवाला होता है। अनुशीलनकर्त्ता को विभिन्न पाठांतर प्रस्तुत कर इतना कहकर संतोष करना चाहिए कि अमुक पाठ ही उसके विचार में ग्राह्य है। हम आलोचक संगीत और छंद-ज्ञान की कमी के कारण इन संत कवियों की रचनाओं में वर्णों और मात्राओं की अशुद्धियाँ देख बैठते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि संयोग से ये सभी संत कवि थे और गायक थे—ऐसा कवि जो पिंगल जानता था, ऐसा गायक जिसे संगीत का शास्त्रीय ज्ञान था। लेखक ने स्वीकार किया है और बहुत ठीक स्वीकार किया है—'दरिया साहब ने लगभग चालीस प्रकार के विभिन्न छंदों का प्रयोग किया है। यह स्वयं ही एक चमत्कार है। इसके अतिरिक्त जितने रागों में उन्होंने अपने पदों की रचना की है, उनसे उनके गायक होने की सूचना मिलती है।' छंद की सूची में ३६ छंदों के नाम भी दिए गए हैं। ऐसी अवस्था में क्या यह संभव है कि वर्णों और मात्राओं की भूलें हुई हैं? हम तो चाहेंगे कि विद्वान लेखक इस खंड के दूसरे संस्करण में तथा दूसरे खंड में मूल पाठ और पाठांतर ही प्रकाशित करें।

एक बात चित्र के संबंध में। इन चित्रों से ग्रंथ का मूल्य बढ़ने के बजाय घटा है। विभिन्न आसनवाले चित्र बड़े ही हास्यास्पद हैं। संत दरिया का चित्र गीता प्रेस किंवा रामायण की कुछ प्रतियों में प्रकाशित चित्रों से भरती का चित्र मालूम पड़ता है। आभार के चित्रों के प्रकाशन का युग लद चुका है। आशा है, अगले संस्करण में इन चित्रों के प्रकाशन के लोभ का संवरण होगा।

अपने इस विचार के बावजूद भी हम ब्रह्मचारीजी के इस ग्रंथ को हिंदी-जगत् के अनुशीलन-क्षेत्र का एक अभूतपूर्व ग्रंथ मानते हैं। इसमें लेखक के चिंतन, अनुशीलन और ज्ञान की त्रिवेणी बही है। यह ग्रंथ ज्ञान-विज्ञान का वह जोतिस्तंभ है जिसके प्रकाश में आज और कल के विद्वान अपने और अपने साहित्य को अधिक-से-अधिक समझ सकेंगे, और, उस दिशा में जिसका संकेत इसमें है, पूर्णतः दक्षता और सफलता के साथ बढ़ते चलेंगे। यह महान ग्रंथ लिखकर और प्रकाशित कर लेखक और प्रकाशक दोनों ही हमारे बहुत-बहुत धन्यवाद और शत-शत बधाइयों के पात्र बने हैं।

—माहेश्वरी सिंह 'महेश'

मैला आँचल—सामाजिक उपन्यास, लेखक—श्री फणीश्वर-नाथ 'रेणु', प्रकाशक, समता प्रकाशन, पटना।

हिंदी-जगत् में उपन्यासों की बाढ़ आ गई है। भला ऐसा क्यों न हो, जबकि प्रकाशकों का दल उपन्यास का ही तकाजा लेखकों से कर रहा है! चाहे किसी प्रकार का उपन्यास हो, प्रकाशक को इसकी परवाह नहीं। उपन्यास से उपन्यास-साहित्य को बल मिल रहा है या नहीं, राष्ट्र या मानवता का कल्याण हो रहा है या नहीं, उपन्यास की भाषा स्टैंडर्ड की है या नहीं, प्रकाशक को इसकी चिंता नहीं; वह तो बस उपन्यास छापना चाहता है, क्योंकि उसे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि वह जो कुछ भी उपन्यास के नाम पर छापेगा, रुपए में चार अठन्नियाँ पैदा ही कर लेगा। ऐसा करना शायद जायज भी हो!

जब हिंदी के प्रकाशकों का रवैया यही है, तब फिर हिंदी में आए दिन प्रकाशित होनेवाले उपन्यासों का मूल्यांकन भी किससे छिपा रहेगा! हिंदी के पाठकों ने

जहाँ प्रेमचंद, प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, कौशिक, चतुसेन शास्त्री, जैनेंद्र, यशपाल, सुदर्शन, अनूपलाल मंडल, शिवपूजनसहाय आदि के स्टैंडर्ड उपन्यास पढ़े, वहीं आज उपन्यास के नाम पर मनोवैज्ञानिक मानसिक मैथुन, सेक्स के नाम पर घोर अश्लीलता और अनैतिकता की बेतरतीब कहानियाँ पढ़नी पड़ती हैं। किंतु, मुझे श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' देखने और समझने का अवसर मिला। रेणुजी इसके पूर्व स्फुट रचनाएँ ही करते रहे और यह उपन्यास हिंदी-जगत् को उनकी प्रथम भेंट है।

इस उपन्यास का कथांचल है पूर्णिया का ही एक गाँव। एक क्षेत्र-विशेष पर लिखा गया यह उपन्यास अपने-आपमें पूर्ण है। संपूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके लेखक—रेणुजी—को अपने अंचल का पूर्ण ज्ञान है। ग्रामीण वातावरण, ग्रामीण मुहावरे, ग्रामीण शब्दावली,—सब मिलकर ऐसा दृश्य उपस्थित कर देते हैं कि पाठक बरबस कथा-स्थल की सजीव कल्पना कर उठता है। गाँव की अच्छाइयाँ, बुराइयाँ, वहाँ की रूढ़िवादिता, आतिथ्य आदि लेखक ने बड़े ही सुंदर ढंग से रखे हैं।

लेखक को सामाजिक विषमताओं के प्रति घोर विरोध है, जो वाजिब है। भारत को समृद्ध देश बनाने के लिए भारत के गाँवों को स्वर्ग बनाना ही होगा। लेखक ने इसी उद्देश्य से प्रस्तुत उपन्यास की रचना की और लेखक को अपने इस उद्देश्य के प्रतिपादन में बहुत-कुछ सफलता भी मिली है। किंतु, कई स्थलों पर लेखक के सिद्धांत खुले लफ्जों में लेक्चर करने लगते हैं। लेक्चरबाजी किसी भी कला के लिए अच्छी चीज नहीं होती। हाँ, सिद्धांत की पुष्टि तो होनी ही चाहिए, किंतु कला की मर्यादा के अंतर्गत ही। अंत में तहसीलदार साहब (एक पात्र) गाँववालों के बीच जमीन का बटवारा कर देते हैं; इसका आभास स्पष्ट रूप से इसके पूर्व नहीं मिलता। यह जरा खटक जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास के सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण अपने-आपमें मुकम्मल हैं। बलदेव, बामनदास और डाक्टर के चरित्र तो बोलते-से हैं। लेखक ने बड़ी दक्षता से इसमें हास्य, बीभत्स, कारुण्य आदि रसों का समावेश किया है।

हाँ, इसमें कोरा आदर्शवाद ही नहीं, वरन् मानव की संभव कमजोरियों का भी जिक्र है। भाषा भी बड़ी सुंदर, सुथरी और साफ है। इसकी शैली को आप चाहें तो शब्दचित्र कहें या रिपोर्ताज। लेकिन मेरी समझ में इसे रिपोर्ताज ही कहना ठीक होगा। शैली में चुस्ती, रवानी और कुछ चासनी भी आपको मिलेगी। किंतु, लेखक को मेरी समझ में, भाषा के संबंध में और भी सतर्क होने की जरूरत है। छपाई-सफाई और गेटअप तो बहुत ही अच्छे उतरे हैं। रेणुजी को उनके प्रथम उपन्यास 'मैला आँचल' पर मैं हार्दिक बधाई दिए बिना कैसे रह जाऊँ!

—नरेंद्रनारायण लाल

इंसान की जिंदगी—लेखक—श्यामलकिशोर झा, बी० ए०; प्रकाशक—भारती - प्रकाशन, भगवान - पुस्तकालय, भागलपुर—२; पृष्ठ-संख्या १०४; छपाई, सफाई, गेटअप बहुत सुंदर; मूल्य—१)

आठ कहानियों के इस संग्रह की भूमिका हिंदी के प्रगतिवादी साहित्यकार श्री अमृतराय ने लिखी है। डॉ० रामविलास शर्मा, नागार्जुन एवं डॉ० महादेव साहा प्रभृति विद्वानों ने इसपर अपनी सुंदर सम्मतियाँ प्रदान की हैं। वास्तव में श्यामलजी की इन कहानियों में जीवन का वास्तविक रूप उभरकर सामने आया है। लेखक की तीक्ष्ण और स्वस्थ निगाह सारी परिस्थितियों को देखती है और उसके परिवर्तन एवं सुधार के लिए प्रयत्नशील है। आज हिंदी कहानियों की कुंठाग्रस्त स्थिति में इस प्रकार के सोद्देश्य कलात्मक कहानियों को देखकर काफी आशा बँधती है, और, तब मुझे हठात् नागार्जुनजी के शब्दों में कहना पड़ता है कि झाजी के रूप में एक समर्थ कलाकार का आविर्भाव उत्तर बिहार में होने जा रहा है।

लेखक की भाषा-शैली इनके भावों के अनुसार चलती है। उनकी विषय-वस्तु और वातावरण से उत्पन्न भाषा ही इन कहानियों की कला एवं सौंदर्य है। कहानी में कलात्मकता भी काफी निखर कर आई है। पुस्तक पठनीय है।

—अनुज

अनमोल साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुष	पं० छविनाथ पाण्डेय	३॥)
माँ की ममता	"	२॥)
कैदी की पत्नी	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
मीमांसा	श्री अनूपलाल मंडल	२॥)
दर्द की तस्वीरें	"	२)
समाज की वेदी पर	"	१॥)
बुझने न पाय	"	४)
वे अभागे	"	५)
[illegible]-रेखा	"	१॥)
सविता	"	३)
साकी	"	१॥)
बूचड़खाना	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)
लहरों के बीच	श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त	२॥)
अविरल आँसू	महंत धनराजपुरी	५)
सरस्वती की आत्महत्या	श्री रमण	२)

कहानी

लाल तारा	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
संसार की मनोरम कहानियाँ	"	१॥)
माटी की मूरतें	"	१॥)
प्रतिमा	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२॥)
रात की रानी	सुश्री उषादेवी मित्रा	२)
भीखू की टोली	सुश्री शारदा वेदालंकार	१)
हरदम आग	श्री कृष्णनन्दन सिनहा	२॥)
समानान्तर रेखाएँ	श्री राधाकृष्णप्रसाद, एम० ए०	२॥)
गोने की विदा	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	२)
मूरतें और सूरतें	प्रो० कपिल	१)
आज का प्रेम	श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'	२॥)

प्रहसन

दो घड़ी	श्री शिवपूजन सहाय	॥।)
कहकहा	श्री सरयूपंडा गौड़	१।)
ससुराल की होली	"	२॥)
हँसो-हँसाओ	"	१॥)

नाटक

अम्बपाली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
तथागत	"	[illegible]
वर्धमान महावीर	श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)

पारिजात-मंजरी	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	१॥)
संस्कृति की झलक	श्री रमण	१॥)
जय	श्री रासविहारी लाल	२)
नवयुग का प्रभात	श्री उग्रमोहन झा	२)

यात्रा

भूमण्डल-यात्रा	श्री गोपाल नेवटिया	१॥।)
आज का जापान	भदंत आनंद कौसल्यायन	२॥)

प्रबन्ध-साहित्य

संस्कृत का अध्ययन	राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	२)
आगे बढ़ो	पं० छविनाथ पाण्डेय	१॥)
जीवन की सफलता	"	॥=)
साहित्य-समीक्षा	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	२॥।)
दुग्ध-विज्ञान	श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'	१।)
बौद्धधर्म के उपदेश	धर्मरक्षित	२)
निर्माण के चित्र	श्री रमण	१।)
प्राणों की बाजी	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय	१॥)
हमारी सांस्कृतिक एकता	श्री रामधारी सिंह दिनकर	१॥।)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)

संकलन

गाँधी-अमृतवाणी	श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	१॥।)
संस्कृत-लोकोक्ति-सुधा	श्री जगदम्बाशरण राय	१॥:)

जीवनी

आत्म-कथा	राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	१२)
कार्ल मार्क्स	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)

काव्य

कैकेयी	श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'	३)
कर्ण	"	१॥)
रश्मिरथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५)
धूप और धुआँ	"	२॥)
इतिहास के आँसू	"	३)
मधुबिन्दु	श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर'	१)
नारायणी	श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
[illegible]	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	१॥)
प्रेम-गीत	श्री आरसीप्रसाद सिंह	२)

संस्मरण

बापू के कदमों में — राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद — ५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान — प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र — ६)
भारतीय संविधान और शासन — प्रो० विमलाप्रसाद — ६।।)

नीति-शास्त्र

नीति-शास्त्र — श्री क्षेमधारी सिंह — २।।)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक-शास्त्र — प्रो० दिवाकर झा — ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास — प्रो० मोतीचन्द गोविल — ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास — " — २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास — माननीय श्री रामचरित्र सिंह — २।।)
विश्वज्ञान-भारती — श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' — १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में — श्री शिवपूजन सहाय — १।।)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा — संपादक-मंडल — ।।=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है — " — ।।=)
हमें जानना चाहिए — " — ।।=)
किसान और मजदूर — " — ।।=)
हमारा कर्त्तव्य — " — ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा — " — ।।)
पशुपालन और भारत का पशुधन — " — ।।)
बिहार-पंचायत-राज और उसके अधिकार — " — ।।)
फल तथा सब्जीसंरक्षण — श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा — १।।)
फलोत्पादन — " — १।।)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना — प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव — २।।)
काव्य और कल्पना — प्रो० रामखेलावन पाण्डेय — ३।।)
निर्गुण काव्यदर्शन — प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी — ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ — चित्रकार—श्यामलानन्द — २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग — प्रो० हरिमोहन झा — १।।)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।।)
नवरत्न — " — ।।।)
कथा-कहानी — " — ।।।)
सीख की बातें — " — ।।।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ — श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' — १।)
मूर्खों की कहानियाँ — " — १।)
मनोरंजक कहानियाँ — " — १)
समुद्र के मोती — " — १।)
शेर का शिकारी — श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — ।।।)
लहरदार पूँछ — श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
नकली सिंह — " — ।।।)
ऊँचे ऊँट — " — ।।।)
साँढ़ और बेंग — " — ।।।)
चोर राजा — श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
दालिम कुमार — श्री शिवस्वरूप वर्मा — ।।।)
सीत-बसंत — " — ।।।)
हितोपदेश की कहानियाँ — श्री शशिनाथ झा — १।।)
मामाजी — " — ।।।)
रूसो जीवट की कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १।।।)
मत्तू में भैंस — सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी — ।।।)
जादू की वंशी — श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त — १)
जादू का थैला — श्री जगदानन्द झा — ।।।)
काजी घोड़ा — " — ।)
कासिम का चप्पल — " — ।।)
चालाक मुर्गी — " — ।।)
सियार का न्याय — " — ।।)
चाँद का दूत — " — ।=)

दादा का ढोल — श्री जगदानन्द झा — ।=)
गधे की सूझ — " — ।=)
समझदार मेढ़क — " — ।=)
बेटे हों तो ऐसे — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — ।।।)
बेटियाँ हों तो ऐसी — " — ।।।)
अनोखा संसार — " — ।।=)
रोचक कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १।)
राजकुमारी का व्याह — श्री दयाभानु 'अलख' — १)
अनोखे देश में — श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग' — ।।।)
किंगकांग — " — ।।।)
सोने का कीड़ा — " — ।।।)
रिपवान विंकिल — " — ।।।)
जंगल बोलता है — " — १)
घरौंदा — श्री गोविन्दशरण, एम० ए० — १।।)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ — श्री अनूपलाल मण्डल —भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=); भाग, ३ ।।=); भाग, ४ ।।=)
इनके चरण-चिह्नों पर — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — ।।।)
माँ के सपूत — श्री शिवपूजन सहाय — ।।-)

भौगोलिक कहानी

अपना देश श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।=, भाग २-।।)

चित्रित कहानी

गोल-गपोड़े — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
ताक-धिनाधिन — " — ।।।)

चित्रित लोरी

आ री निंदिया — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
हँसी-खुशी — " — ।।।)

ऐतिहासिक कहानी

रत्नाकर — श्री शशिनाथ झा — १)
अष्टदल (दो भाग) प्रत्येक भाग — " — ।=)
संक्षिप्त-रामायण-कथा — श्री नागार्जुन — १।।)
बाल-महाभारत — श्री चन्द्रमाराय शर्मा — १)
चित्तौड़ का सांका — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' — ।।।)

अमर कथाएँ — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=), भाग, ३ ।=), भाग, ४ ।=)
हम इनकी संतान हैं — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
दो भाग, प्रत्येक भाग ।।-)

सामान्य ज्ञान

छात्र-जीवन — श्री फूलदेवसहाय वर्मा — १।)
क्यों और कैसे ? — श्री जगदानन्द झा — १।।)
प्रकृति पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।।=)
भाग २-।।=)।।

यात्रा-वर्णन

सिन्दबाद की समुद्र-यात्रा — श्री जगदानन्द झा — १)
पृथ्वी पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।।-)।।
भाग २-।।=)।।
विचित्र यात्रा — श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा — १)

कविता

मिर्च का मजा — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' — ।।।)
पेटू पाँड़े — श्री व्रजकिशोर 'नारायण' — ।।।)
खट्टे हैं अंगूर — श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' — ।।।)
वीर बालक — श्री गंगाप्रसाद 'कौशल' — १)

उपन्यास

आदमी — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।)
देशद्रोही — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।)

रेखाचित्र

कुछ सच्चे सपने पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ।।=)

जीवनी

चाणक्य — श्री मथुराप्रसाद दीक्षित — ।=)
अशोक — श्री वीरेन्द्र नारायण — ।=)
शिवाजी — " — ।=)
लोकमान्य तिलक — श्री शुकदेव राय — ।।)
लाला लाजपतराय — " — ।।)
हिन्दी के प्राचीन कवि — " — ।।)

Regd. No. P. 784 AVANTIKA NOVEMBER, 1954

Annual Subs. Rs. 10/- This Issue Rs. 1/-

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

की

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१. अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दों में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२. अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है।

३. अवन्तिका का वर्षारंभ जनवरी से होता है।

४. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

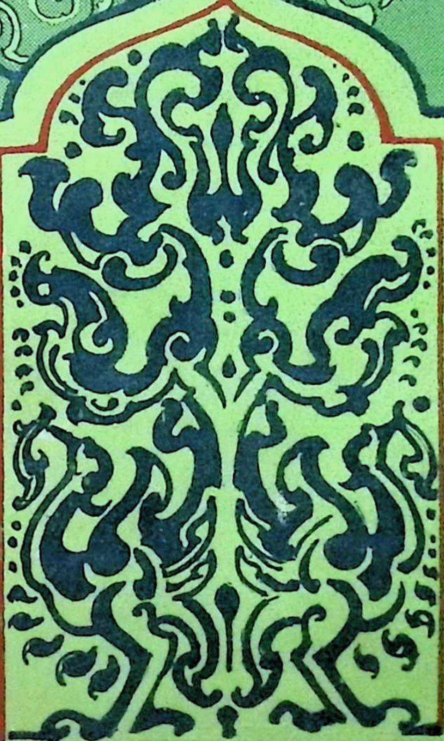
७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

अवन्तिका

दिसंबर
१९५४ ई०



वार्षिक
१०)

संपादक
लक्ष्मीनारायण सुधांशु

एक प्रति
१)

अवन्तिका की नियमावली

संपादन-विभाग

१. अवन्तिका प्रतिमास अँगरेजी महीने की पहली तारीख को प्रकाशित हुआ करेगी।

२. अवन्तिका में सार-संकलन के अतिरिक्त केवल मौलिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जायँगी। अन्यत्र प्रकाशित या रेडियो द्वारा प्रसारित रचनाएँ अवन्तिका में प्रकाशित नहीं की जायँगी।

३. किसी भी रचना को प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को रहेगा।

४. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ दूसरे पत्रों को न भेजी जानी चाहिए।

५. अवन्तिका में साहित्य, संगीत, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के लेख प्रकाशित हुआ करेंगे।

६. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी जानेवाली रचनाओं की प्रतिलिपि लेखकों को अपने पास अवश्य रख लेनी चाहिए।

७. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ कागज के एक ही पृष्ठ पर, यथेष्ट उपांत छोड़कर, साफ-साफ लिखी रहनी चाहिए।

८. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं के संबंध में निश्चित रूप से यह बताना संभव नहीं है कि कौन रचना किस अंक में प्रकाशित हो सकेगी।

९. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ, परिवर्तनार्थ पत्र-पत्रिकाएँ और आलोचनार्थ पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के नाम ३१५, आर० ब्लॉक, पटना के पते पर भेजी जानी चाहिए।

प्रबंध-विभाग

१. अवन्तिका का वार्षिक चन्दा १०) दस रुपए और एक अंक का १) एक रुपया तथा विदेशों के लिए १७ शिलिंग है।

२. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बनाया जाता है।

३. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

४. कम-से-कम ५ प्रतियाँ मँगानेवाले को एजेंट नियुक्त किया जायगा।

५. नमूने का अंक मुफ्त भेजने की प्रथा नहीं है।

प्रकाशक
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

तप्तगृह पर सम्मतियाँ

आपका प्रेमोपहार मिल गया था। धन्यवाद! आपकी प्रौढ़ि का क्या कहना? सबल लेखनी ही ऐसा चित्रण कर सकती है कि आपके भिक्षु और कोणक दोनों सम्मुख दिखाई पड़ने लगते हैं।

—राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त

मुझे आपकी रचना बहुत अच्छी लगी। सच मानिये, यह काव्य हिंदी में बिलकुल नये ढंग का है। मैं तो आपका काव्य मिलते ही पी गया था। सचमुच आप प्रतिभा के धनी हैं।

—उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

हिन्दी-साहित्य के बारह अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—ले० आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। पृ० १३२, मूल्य २॥।), सजिल्द ३)।
२. यूरोपीय दर्शन—ले० स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। पृ० सं० ११५, मूल्य ३।) सजिल्द।
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल। दो तिरंगे और लगभग १८८ इकरंगे, आर्ट पेपर पर छपे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र भी। पृ० २७४, मूल्य ९॥) सजिल्द।
४. विश्वधर्म-दर्शन—ले० श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा। पृ० सं० ५०२, एक चित्र भी। मूल्य १३॥) सजिल्द।
५. सार्थवाह—ले० डॉ० मोतीचन्द्र। आर्ट पेपर पर छपे १०० अलभ्य ऐतिहासिक चित्र तथा व्यापार-पथ के दुरंगे मानचित्र भी। पृ० सं० ३१४, मूल्य ११) सजिल्द।
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—ले० डा० सत्यप्रकाश (प्रयाग विश्व-विद्यालय) पृ० सं० २८२, मूल्य ८) सजिल्द।
७. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—ले० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पी०-एच० डी०। बढ़िया आर्ट पेपर पर सात तिरंगे और बारह पृष्ठ इकरंगे चित्र भी। पृ० सं० ५३६, मूल्य १४) सजिल्द।
८. काव्यमीमांसा (राजशेखर-कृत)—अनुवादक पं० श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत; 'सुप्रभातम्' - सम्पादक। गवेषणापूर्ण प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट के साथ। पृ० संख्या ३६२, मूल्य ९॥) सजिल्द।
९. श्री रामावतार शर्मा निबन्धावली—ले० स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। पृ० सं० ३३०, मूल्य ८॥) सजिल्द।
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—ले० डॉ० देवसहाय त्रिवेद, पी०-एच० डी० प्राङ्मौर्यकालीन बिहार के मानचित्र के साथ ग्यारह इकरंगे ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण चित्र भी। पृ० सं० २२२, मूल्य ७।) सजिल्द।
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—ले० अनन्त सदाशिव अलतेकर। आर्ट पेपर पर गुप्तकालीन मुद्राओं और लिपियों के सत्ताइस सविवरण फलक भी। पृ० सं० २४०, मूल्य ९॥) सजिल्द।
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—ले० डॉ० उदयनारायण तिवारी। पृ० ६३० मूल्य, १३॥) सजिल्द।

रायल अठपेजी साइज। जिल्दों पर रंगीन सचित्र रैपर बड़े आकर्षक हैं

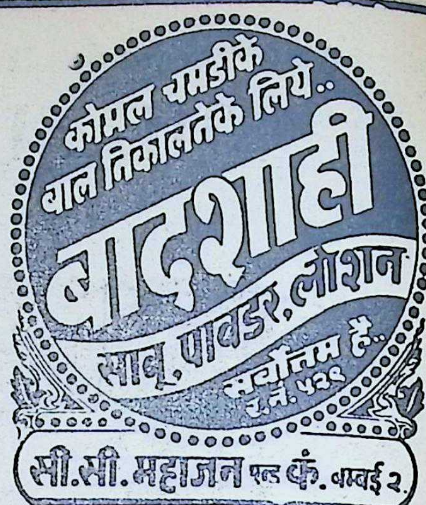
बिहार - राष्ट्रभाषा - परिषद्, सम्मेलन - भवन, पटना-३



आप नहीं जान सकते
कि आप क्या खो रहे हैं जब तक
आप यह सिगारेट न पीयें।



तीन पीढ़ियों से मशहूर



कोमल चमड़ीके
बाल निकालनेके लिये..
बादशाही
साबू, पावडर, लोशन
सर्वोत्तम है..
सी.सी. महाजन एन्ड कं. बम्बई २.

वार्षिक १०) विदेश के लिए सतरह शिलिंग

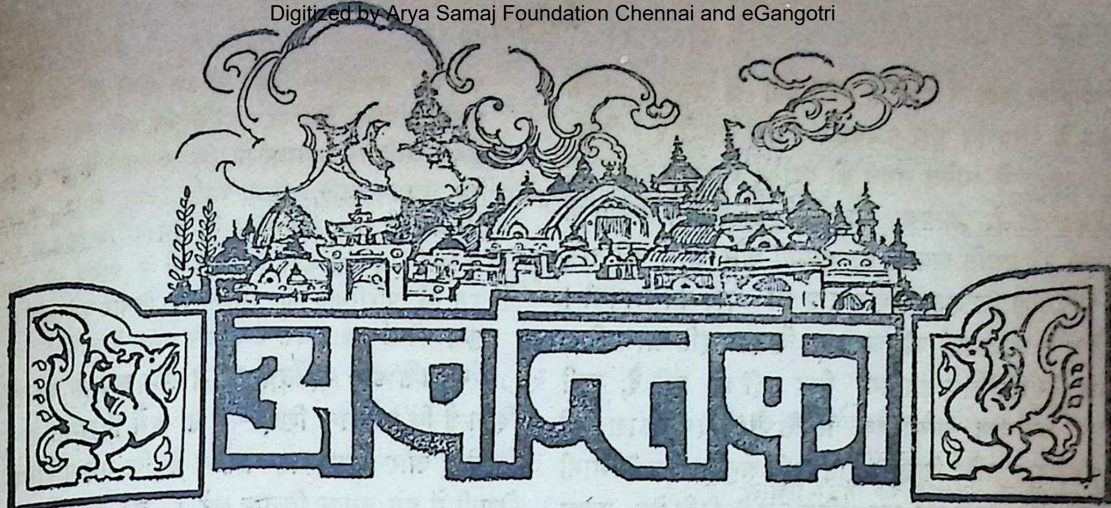
अवन्तिका

[विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश, पेप्सू तथा बिहार की सरकारों द्वारा कॉलेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

एक प्रति १) विदेश के लिए डेढ़ शिलिंग

विषय-सूची : दिसंबर, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड २] पटना, दिसम्बर १९५४ ई० :: अग्रहायण, २०११ वि० [अंक ६ : पूर्णांक २४

संपादकीय

१. शिक्षा-पद्धति के परिवर्त्तन का स्वरूप

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध भारत में उसी दिन से आवाज उठने लगी जिस दिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जुए को अपने देश के कंधे पर से उठाकर फेंकने की भावना भारतीय हृदय में उत्पन्न हुई। ज्यों-ज्यों जागृति की भावना पुष्ट होती गई त्यों-त्यों लॉर्ड मेकॉले की बनाई हुई अँगरेजी शिक्षा-पद्धति के प्रतिकूल देश में एक वातावरण बनता गया। आज जब हमारा राष्ट्र स्वाधीन है और हम अपनी इच्छा के अनुसार राष्ट्र के अंतरंग शासन में पूर्णत: स्वतंत्र हैं, वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्त्तन का प्रश्न, अपनी महत्ता और आवश्यकता को लेकर, हमारे सामने उपस्थित है। एक साधारण शिक्षा-प्रेमी से लेकर राष्ट्र के प्रधान मंत्री तथा राष्ट्रपति तक इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, किंतु बाधाएँ किस दिशा में हैं, यह विचारणीय है।

हमारी समझ में प्रश्न का एक पहलू जितना सरल है, दूसरा उतना ही जटिल। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्त्तन होना चाहिए—प्रश्न का यह एक पहलू है जो अब प्रायः निर्विवाद-सा है, किंतु शिक्षा-पद्धति का स्वरूप कैसा होना चाहिए, यह प्रश्न का दूसरा पहलू है जो बहुत जटिल तथा विवादग्रस्त है। देश को पराधीनता के बंधन से उन्मुक्त करने की सक्रिय भावना जिस महापुरुष के हृदय में जगी उसी राष्ट्रपिता बापू ने वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्त्तन कर उसके नये स्वरूप का संकेत किया। आधार शिक्षा या बुनियादी तालीम शिक्षा का वह स्वरूप है जिसको अब केवल प्रयोगात्मक रूप में ही नहीं, सार्वजनिक रूप से उपयोग की आवश्यकता है। हम यहाँ यह भूलना नहीं चाहते कि आधार शिक्षा की अपनी एक सीमा है, और उसका एक स्वरूप है। राष्ट्र के बहुविध विकास के लिए आधार शिक्षा का एकमात्र अवलंबन नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक तथा विभिन्न तांत्रिक शिक्षाओं के लिए आधार शिक्षा का सूत्र अधिक दूर तक नहीं बढ़ सकता, लेकिन विशेषज्ञों के लिए भी प्रारंभिक रूप से आधार शिक्षा का अवलंबन आवश्यक माना जा सकता है।

शिक्षा का स्वरूप कैसा हो, यह कोई निपरेक्ष प्रश्न नहीं है। प्रत्येक विचारशील शिक्षाशास्त्री की यह मान्यता है कि राष्ट्र तथा समाज की परिवर्त्तित परिस्थितियों के अनुसार ही शिक्षा के स्वरूप का अवलंबन किया जाना चाहिए। एक ही प्रकार की शिक्षा-पद्धति अनंत काल तक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती, समय-समय पर राष्ट्र की

आवश्यकता तथा सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल उसके स्वरूप में परिवर्त्तन और परिवर्द्धन करना जरूरी है। शिक्षा तथा समाज के सापेक्ष संबंध को बराबर ध्यान में रखने की आवश्यकता है, अन्यथा सामंजस्य के अभाव में राष्ट्र के विकास की प्रगति अवरुद्ध हो जायगी और आज की तरह ही अधिकांश शिक्षित समुदाय राष्ट्र का भार बन जायगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अनुस्यूत शिक्षा-पद्धति आज जिस प्रकार हमारे लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो रही है, उसी प्रकार वर्त्तमान सामाजिक स्थिति में वैदिक काल की अनुष्ठित गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति भी अनुकूल नहीं मानी जा सकती। काल-भेद स्वाभाविक रूप से विधि-भेद उत्पन्न करता है। युग-धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाता है, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि वस्तु को उसके अपने काल की संकुचित अवधि में ही रखकर देखती है। दृष्टि-भेद के महत्त्व को न समझकर किसी वस्तु की समीक्षा करना कभी-कभी बड़ा अनर्थकारी हो जाता है। मनुष्य को संस्कृत बनाने के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता है, निश्चय ही केवल उससे अच्छे डॉक्टर या इंजीनियर नहीं बनाय जा सकते। हमें यह मानकर आगे बढ़ना होगा कि भारतीय शिक्षा-पद्धति का चाहे जो स्वरूप निर्धारित किया जाय, उसका पहला दायित्व राष्ट्रीय आकांक्षा से प्रतिफलित योग्य नागरिक उत्पन्न करना है और दूसरा राष्ट्रीय अभाव को परिपूरित करनेवाले कुशल विशेषज्ञ। जन-साधारण की शिक्षा का जो स्वरूप निर्धारित किया जायगा, वह हमारी नवीन शिक्षा-पद्धति का एक पक्ष होगा और राष्ट्र-निर्माण के लिए जो तांत्रिक तथा विशेषज्ञ तैयार किए जायँगे, वह उसका दूसरा पक्ष होगा। कहना व्यर्थ है कि हमें अपनी नवीन शिक्षा-पद्धति में इन दोनों मुख्य स्वरूपों को समाविष्ट करना पड़ेगा।

विगत १३ नवंबर '५४ को सनोसरा (सौराष्ट्र) में अखिलभारतीय आधार शिक्षा-सम्मेलन के अवसर पर राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने शिक्षा-पद्धति के संबंध में जो उद्‌गार प्रकट किए हैं, उनपर विचार कीजिए। उन्होंने कहा—

"यह एक मानी हुई बात है कि जो पद्धति आज प्राथमिक वर्ग से लेकर यूनिवर्सिटियों की उच्चतम कक्षा तक प्रचलित है, वह वही पद्धति है जिसको ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इस देश में चलाया था और स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी अभी तक हम उसमें कहीं कोई मौलिक परिवर्तन नहीं कर पाए हैं। उसके लिए किसी को हम दोषी भी नहीं ठहरा सकते, क्योंकि जिस तरह शांतिपूर्वक हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ, उसमें यह अनिवार्य था कि स्वराज्य के साथ-साथ वह शासन-पद्धति, शिक्षा-पद्धति तथा सारा उपक्रम जो अँगरेजी राज्य में प्रचलित थे, हमको विरासत के रूप में मिलें। हमारा काम है कि उनमें से प्रत्येक को लेकर हम नई परिस्थिति की रोशनी में विचार करें और जो कुछ परिवर्तन आवश्यक जँचे, उसे अमल में लावें।"

राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति हमें विरासत के रूप में मिली है और हमारा यह कर्त्तव्य है कि नई परिस्थिति की रोशनी में हम उसपर विचार करें। यह सच है कि हमने अबतक शिक्षा-पद्धति के परिवर्त्तन के संबंध में जितना विचार किया है उतना उसके स्वरूप-निर्माण पर नहीं। राजेंद्र बाबू ने फिर कहा —

"महात्मा गांधीजी ने इस आनेवाली परिस्थिति को देख लिया था और यह देखा था कि अगर इस देश में अमीर और गरीब प्रत्येक भारतवासी के लिए शिक्षा आवश्यक है तो इस पद्धति से वह नहीं दी जा सकेगी, क्योंकि इसमें खर्च इतना है कि यह देश उस भार को नहीं उठा सकेगा। इन्हीं दोनों विचारों से उन्होंने नई तालीम की पद्धति निकाली जिसको अन्य देशों के उच्च-कोटि के शिक्षा-शास्त्रियों ने भी शास्त्रीय ढंग से विचार करके उपयोगी और लाभदायक ठहराया। महात्माजी के विचार से जहाँ तक मैं उसको समझ सकता हूँ, इस पद्धति में अपने दो मौलिक तथ्य थे। एक तो इसमें शिक्षा केवल पुस्तकों के द्वारा ही न दी जाकर किसी-न-किसी प्रकार के काम के द्वारा दी जाय जिसमें बच्चों को जो ज्ञान प्राप्त हो वह अनुभव से प्राप्त हो, न कि केवल स्मरणशक्ति पर भरोसा करके रटंत के नतीजे से हो। उन्होंने सोचा था, और यही विचार उच्चतम शिक्षा-शास्त्रियों का भी है कि उस प्रकार से प्राप्त ज्ञान बच्चों में जागरूकता, कार्यकुशलता, स्वतंत्र भावना पैदा करता है जो इस जीवन के संग्राम में बहुत मदद कर सकती है। दूसरा मौलिक विचार उनका यह था कि इस प्रकार की शिक्षा इस देश के लिए अनुकूल ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है; क्योंकि जो कुछ भी काम बच्चों से कराया जाय वह उत्पादक काम हो और उससे जो कुछ भी पैदा हो, उससे शिक्षा का खर्च अगर पूरा-पूरा नहीं तो अधिकांश निकल सके; क्योंकि अगर शिक्षा का खर्च दूसरे प्रकार से निकालने का प्रयत्न किया जायगा तो वह बोझ इतना भारी होगा कि शिक्षा सार्वजनिक नहीं बन सकेगी।"

शिक्षा-पद्धति का एक स्वरूप—आधार शिक्षा या बुनियादी तालीम—हमारे सामने लगभग पिछले पंद्रह वर्षों से है और देश में यत्र-तत्र इसकी प्रयोगात्मक परीक्षा भी हो रही है। इस दिशा में भारतीय राज्यों में सर्वाधिक बिहार-राज्य ने प्रगति की है। किंतु बिहार-राज्य में आधार शिक्षा-पद्धति की जो कुछ प्रगति हुई है वह आर्थिक दृष्टि से संतोषजनक नहीं है। राजेंद्र बाबू ने महात्मा गांधी के विचार का उल्लेख करते हुए कहा कि इस पद्धति से जो कुछ भी पैदा हो, उससे शिक्षा का खर्च अगर पूरा-पूरा नहीं, अधिकांश भी निकल सके तो इसमें प्रगति हो सकेगी और शिक्षा का यह स्वरूप सार्वजनिक बन सकेगा। दुर्भाग्य की बात यह हुई कि इस नवीन शिक्षा-पद्धति की ओर जन-साधारण का ध्यान अपेक्षित रूप से आकर्षित नहीं हुआ और इसके लिए नया उच्चतर वेतन-क्रम बनाकर शिक्षकों को तथा निःशुल्क शिक्षा देकर विद्यार्थियों को आकर्षित किया गया। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि अत्यधिक व्यय-साध्य होने के कारण बिहार में आधार शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध हो गई। नये विद्यालयों को आंशिक आर्थिक सहायता देकर उन्हें शैक्षणिक मान्यता राज्य-सरकार दे सकती है, पर उनकी पूरी व्यवस्था अपने हाथ में नहीं ले सकती। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों ने आरंभ में ही गांधीजी से कहा था कि शिक्षा-पद्धति का आर्थिक स्वावलंबन संभव नहीं हो सकता। गांधीजी की दृढ़ धारणा थी कि जो शिक्षा-पद्धति आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी नहीं होगी वह भारत-जैसे निर्धन देश में सार्वजनिक नहीं हो सकेगी। किसी भी राज्य-सरकार की आर्थिक शक्ति सीमित होती है, वह प्रत्येक गाँव में पाठशाला खोल सकने में समर्थ नहीं हो सकती। प्रश्न केवल आवश्यकता का ही नहीं, समर्थता का भी है। शिक्षा को पूर्णतः या अंशतः स्वावलंबी बनाने का विचार गांधीजी ने इसी कारण प्रकट किया था कि इससे शिक्षा का व्यापक प्रसार होगा और सरकार के ऊपर कम-से-कम आर्थिक बोझ पड़ेगा। आगे चलकर यदि कभी शिक्षा-पद्धति आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी हो सकेगी तो वह निश्चय ही राज्य के नियंत्रण से बाहर निकलकर विशुद्ध शिक्षा-शास्त्रियों तथा शिक्षकों के तत्त्वावधान में संचालित होगी। शिक्षा के लिए वह बड़ा शुभ दिन होगा।

शिक्षा का संचालन राज्य की ओर से हो या किसी दूसरी स्वतंत्र संस्था से, शासन-तंत्र के साथ शिक्षा के स्वरूप का संबंध किसी-न-किसी प्रकार बनाये रखना जरूरी है। बात चाहे जितनी बुरी हो, लेकिन मनुष्य की प्रवृत्तियों पर विचार कर शिक्षा-पद्धति के साथ राजकीय सेवाओं का सामंजस्य बनाये रखना पड़ेगा। आज यदि सरकार वस्तुतः आधार शिक्षा का व्यापक प्रसार करना चाहती है तो उसे ऐसा नियम बना देना चाहिए जिससे बुनियादी तालीम पाए हुए युवकों के लिए सरकारी नौकरियों के सारे दरवाजे खुले मिल सकें। फिर इस शिक्षा-पद्धति के लिए किसी दूसरी सिफारिश की जरूरत नहीं पड़ेगी।

हम यह कदापि नहीं चाहते कि एक ब्रिटिश नौकरशाही शिक्षा-पद्धति को बदलकर हम दूसरी बुनियादी नौकरशाही शिक्षा-पद्धति चलावें। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि नवीन शिक्षा-पद्धति का जो स्वरूप निर्धारित हो वह राज्य या शासनतंत्र से निरपेक्ष न हो। केवल नौकरशाही के साँचे में शिक्षा को ढालने से बेकारी बढ़ेगी, अनुशासनहीनता तथा उद्दंडता को जोर मिलेगा। आज हमारे लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय प्रश्न है कि नवजात राष्ट्र के निर्माण के लिए हमारी नवीन शिक्षा-पद्धति का क्या स्वरूप होना चाहिए। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में जिन विजातीय तत्त्वों की प्रधानता है, वहाँ तक उनको हटाकर हम अपनी नवीन शिक्षा-पद्धति को भारतीय संस्कृति तथा आकांक्षा के निकट ला सकेंगे, यह हमारा एक राष्ट्रीय प्रश्न है।

२. नवीनजी का अभिभाषण

उत्तरप्रदेशीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के बस्ती-अधिवेशन के अवसर पर अध्यक्षपद से विगत ६ नवंबर '५४ को हिंदी के प्रसिद्ध तथा यशस्वी साहित्यकार श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपना जो अभिभाषण किया उससे राष्ट्रभाषा हिंदी की कई समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। नवीनजी के प्रत्येक विचार से सहमत होना आवश्यक नहीं है, किंतु जिस शक्ति तथा आग्रह के साथ उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी की समस्याओं का समाधान उपस्थित किया है, वह प्रशंसनीय है। केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय की शिक्षा-नीति, विशेषतः राष्ट्रभाषा हिंदी की कुंठित प्रचार-नीति, हिंदी-प्रेमियों के लिए खेदजनक ही नहीं, क्षोभ-कारक भी रही है। नवीनजी ने अपने अभिभाषण में शिक्षा-मंत्रालय की इस दुर्नीति की बड़ी भर्त्सना की है—

"मुझे केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय के कार्यों से असंतोष है। जान में अथवा अनजान में, समय-समय पर इस मंत्रालय द्वारा जो काम हुए हैं, वे सब मुझे 'पुरफ़रेब तवय्युल' से प्रेरित जान पड़े। संभव है, यह मेरी भूल हो। पर मन की बात कहना आवश्यक है। आप मित्रों से क्या छिपाऊँ? मुझे तो ऐसा लगता है कि हिंदी के संबंध में और भारतीय संस्कृति एवं भारतीय देशज शब्दावली के संबंध में यह मंत्रालय सदा 'उदासीनवदासीनम्' की नीति का अवलंबन ही नहीं, उसका विरोध भी करता रहा है। यदि इसके कुछ कार्यों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह संदेह स्पष्ट रीति से हमारे सम्मुख मूर्त रूप धारण करके आ खड़ा होगा।"

नवीनजी ने 'पुरफ़रेब तवय्युल' का प्रयोग कर राष्ट्र-भाषा हिंदी के राजकीय इतिहास में उसको अंकित कराने की चेष्टा की है। ये शब्द उस दिन की याद दिलाते हैं जब राजर्षि टंडन की उक्तियों से क्षुब्ध होकर मौलाना आजाद ने इनका उपयोग किया था। पारिभाषिक शब्दों के संबंध में शिक्षा-मंत्रालय की जो नीति है उसपर नवीनजी ने विस्तार-पूर्वक विचार किया है। भारतीय संविधान ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा। संविधान के इस अनुच्छेद का उल्लेख करते हुए नवीनजी ने कहा—

"इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हिंदी भाषा में जिन-जिन पारिभाषिक शब्दों का बनाना वांछनीय अथवा आवश्यक समझा जाय, वे सब मुख्यतः संस्कृत के आधार पर बनें। गौण रूप से अन्य भाषाओं से भी शब्दों को ग्रहण करने की छूट दी गई है।

"ऐसी अवस्था में यदि हमारे केंद्र का कोई भी मंत्रणालय अथवा कोई भी केंद्रीय परामर्शदातृ-मंडल यह प्रस्ताव करे कि अंतर-राष्ट्रीय वैज्ञानिक और शिल्प-कला-विषयक पारिभाषिक शब्द भारतीय राजभाषा में ग्रहण कर लिए जायँ तो मेरी सम्मति में उसका यह प्रस्ताव इस संविधान-अनुच्छेद की आज्ञा के विपरीत होगा। विदेशी भाषाओं से शब्दों को ज्यों-के-त्यों उठा लेने की आज्ञा हमें नहीं है। यह मान भी लिया जाय कि 'अन्य भाषाओं' से हम शब्द ले सकते हैं, तब भी ऐसा करने के पूर्व हमें इस प्रकार के शब्द ग्रहण करने की 'आवश्यकता' या 'वांछनीयता' सिद्ध करनी पड़ेगी।

"अब देखिए कि शिक्षा-मंत्रणालय ने क्या किया? केंद्र में एक केंद्रीय शिक्षा-परामर्श-दातृ-मंडल है। उसने एक प्रस्ताव किया कि वैज्ञानिक तथा शिल्पशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द वे ही ग्रहण कर लिए जायँ जो अंतरराष्ट्रीय हैं। और, शिक्षा-मंत्रणालय ने सन् १९५० में एक वैज्ञानिक शब्दावली-मंडल संघटित कर दिया। इसे यह कार्य सौंपा गया कि यह केंद्रीय शिक्षा-परामर्शदातृ-मंडल के अंतर-राष्ट्रीय शब्दों के ग्रहण करनेवाले प्रस्ताव की कार्यपूर्ति करे।

"मेरा निवेदन है कि शिक्षा-मंत्रणालय के ये दोनों कार्य संविधान के ३५१ वें अनुच्छेद की अवहेलना करनेवाले हैं। क्या शिक्षा-मंत्रणालय ने इस बात की 'आवश्यकता' और 'वांछनीयता' जाँच ली थी कि हमें तो विदेशी शब्द लेने ही हैं? यदि हाँ, तो किन महानुभावों द्वारा यह जाँच कराई गई?

"विदेशी भाषा के वैज्ञानिक अथवा शिल्प-शास्त्रीय शब्द लिए जायँ अथवा न लिए जायँ, यह एक विवादास्पद विषय है। अंतरराष्ट्रीयता के नाम पर धोखेधड़ी चल रही है। क्या आंग्ल-भाषा के वैज्ञानिक शब्द अंतरराष्ट्रीय हैं? क्या वे चीन, जापान, हिंदेशिया, स्याम, रूस, जेकोस्लोवेकिया, रूमानिया, बलगेरिया, जर्मनी, स्केंडीनेवियन देश आदि में प्रचलित हैं? यदि नहीं, तो वे शब्द अंतरराष्ट्रीय कैसे हो गए? मेरा निश्चित मत है कि हमारी वैज्ञानिक, शिल्प-शास्त्रीय, वैश्यकार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक,

मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक आदि शब्दावलियाँ संस्कृत तथा एतद्देशीय ऐतिहासिक भाषाओं की आत्मीयता, उनके अंतस् के आधार पर ही निर्मित होनी चाहिए।''

अंतरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों को हिंदी में आत्मसात् कराने के बहाने भारत में अँगरेजी भाषा की आयु बढ़ाई जा रही है। जो शिक्षा-विशेषज्ञ हमें यह बतलाते हैं कि अँगरेजी अंतरराष्ट्रीय भाषा है, इसलिए उसके पारिभाषिक शब्दों को हिंदी के शब्द-भंडार में सम्मिलित कर लेना चाहिए, क्या वे यह नहीं जानते कि अँगरेजी ही एकमात्र अंतरराष्ट्रीय भाषा नहीं, बल्कि संसार की लगभग आधा दर्जन भाषाओं को यह पद प्राप्त है! अँगरेजी भाषा के साथ हमारा कुछ संबंध रहा है, इसी कारण अँगरेजी को हमारे ऊपर लदने का अधिकार मिल गया है। अँगरेजी के अधिकांश पारिभाषिक शब्द ग्रीक या लैटिन मूल से निकले हुए हैं। प्रत्येक विषय के अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं और उस विषय की विशेषता प्राप्त करने के लिए उन शब्दों की जानकारी जरूरी है। यों तो भारत में साक्षरों की संख्या प्रतिशत १५ से अधिक नहीं है, और अँगरेजी जाननेवाले एक प्रतिशत भी नहीं हैं, फिर किस बल पर अँगरेजी के परिभाषिक शब्दों की शिक्षा भारत के युवक-समुदाय पर लादी जा रही है! हमारा वह भविष्य बहुत दूर नहीं है जब हिंदी भाषा को भी अंतरराष्ट्रीय भाषा का पद प्राप्त होगा और अपनी भाषा की विशेषता तथा वैभव दिखाने का हमें अवसर मिलेगा। दूसरी भाषाओं के भारत-व्यापी शब्दों को, चाहे वे अँगरेजी के हों या अन्य किसी भाषा के, हिंदी के शब्द-भंडार में रखना हमें अस्वीकार नहीं है, पर विचारणीय विषय यह है कि क्या ऐसे मृत शब्दों—'डेड वर्ड्स्'—से हमारी भाषा की समृद्धि संभव है! मृत शब्दों से हमारा तात्पर्य उन विदेशी शब्दों से है जो हमारी भाषा की प्रकृति—धातु—से मेल नहीं रखते, उसके उपसर्ग-प्रत्यय का आवरण नहीं ले सकते और जो हमारी भाषा के व्याकरण के संधि-समास के साथ अपना सामंजस्य बिठा सकने में असमर्थ हैं। जीवित भाषा के लिए जीवित शब्द ही श्रेयस्कर माने जा सकते हैं। विदेशी भाषा के तत्सम शब्दों को हिंदी में तद्भव बनाकर रखने में कोई खास लाभ नहीं है। इससे उनकी हुलिया बिगड़ जायगी और तथाकथित अंतरराष्ट्रीय जगत् में वे अपरिचित या अर्धपरिचित-जैसे मालूम पड़ेंगे। इससे अधिक युक्तिसंगत बात यह है कि हम अपनी भाषा के संस्कृतमूलक पारिभाषिक शब्दों को ही उपयोग में लावें।

हिंदी में उर्दू के शब्दों के ग्रहण के संबंध में नवीनजी ने अपने अभिभाषण में कहा—

"हमारे ऊपर यह आक्षेप लगाया जा रहा है कि हम अनुदारता बरत रहे हैं। हम हिंदी से उर्दू शब्दों को निकालकर बाहर फेंकने का प्रयास कर रहे हैं। हिंदी में यह आंदोलन क्यों हो जबकि अन्य प्रादेशिक भाषाओं में यह आंदोलन नहीं चल रहा है? मुझे, हिंदीभाषी होते हुए भी उस आंदोलन का पता नहीं है। हाँ, मैं एक ऐसा व्यक्ति अवश्य हूँ जो अनावश्यक उर्दू शब्दों की ठूँस-ठाँस को कुरुचिपूर्ण, अस्वादु एवं असाधु मानता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि मैं 'जहर' क्यों पियूँ जबकि मैं 'गरल', 'विष', 'हलाहल', जांगुल', जो चाहूँ, पी सकता हूँ? यह भी मैं नहीं समझ पाता कि मैं 'शबनम' क्यों चाहूँ जबकि मैं 'तुषार-कण', 'शशि-शीकर', 'नीहार-मुक्ता' और 'ओसबिंदु' पी सकता हूँ? मैं 'निगाहे दीदे तलब' क्यों बनूँ जबकि मैं 'दर्शनोत्सुक' बना रह सकता हूँ। मैं 'रंजोगम' के चक्कर में क्यों पड़ूँ जबकि मुझे 'शोक', 'दुख', 'खेद', 'क्लेश', 'संताप', 'आर्ति', 'व्यथा', 'वेदना', 'अवसाद', 'उद्विग्नता', 'विषाद', 'औदासीन्य' सब प्राप्त हो सकते हैं। और फिर, 'गुनहगार' ही गले क्यों मढ़ा जाय जबकि 'अपराधी', 'दोषी', 'पातकी', 'दोषग्रस्त' आदि मेरे पीछे हैं? पर, हिंदी में कोई ऐसा आंदोलन अभी चला नहीं है। मेरी इच्छा यह अवश्य है कि अनावश्यक शब्द जो फारसी या अरबी से आए हैं, हिंदी से निकाल-बाहर कर दिए जायँ।'

हिंदी में संस्कृतनिष्ठ शैली के अतिरिक्त एक दूसरी शैली है जो उर्दू शब्दों को मिलाकर चलती है। शब्द-विन्यास तथा वाक्य-विन्यास शैलीगत रुचि-भेद पर निर्भर करता है। नवीनजी के इस विचार का हम समर्थन करते

हैं कि वे हिंदी से उर्दू शब्दों को निकाल-बाहर करने का कोई आंदोलन खड़ा करना नहीं पसंद करते, पर वे अनावश्यक उर्दू शब्दों की ठूँस-ठाँस को कुरुचिपूर्ण, अस्वादु तथा असाधु मानते हैं। जहाँ तक अनावश्यक उर्दू शब्दों के व्यवहार की बात है, व्यक्तिगत रुचि तथा शैली नवीनजी के 'अनावश्यक' को आवश्यक मान सकती है। इस प्रश्न का निपटारा सहज ही संभव नहीं। पारिभाषिक शब्दों की समस्या के साथ इस प्रश्न का न तो कुछ संबंध है और न कुछ बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। लोक-व्यवहार में केवल उर्दू के ही नहीं, अनेक भाषाओं के नाना शब्द प्रचलित होते रहेंगे। हिंदी भाषा के सामान्य रूप पर ऐसे शब्दों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा और पड़ना भी चाहिए, अन्यथा बंद कमरे में हिंदी भाषा का दम घुट जायगा।

३. मौलाना आजाद का हिंदी-प्रचार

नव संगठित शिक्षा-समिति की पहली बैठक में भाषण करते हुए विगत ५ नवंबर को केंद्रीय शिक्षा-मंत्री मौलाना आजाद ने राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार के सबंध में कहा—

"समिति के सदस्य १९६१ के लक्ष्य को अपने ध्यान में बनाये रखें जो इसलिए निर्धारित किया गया है कि तब तक देश हिंदी का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर ले ताकि उसके बादवाले पाँच वर्षों के भीतर ठीक अँगरेजी के साथ-ही-साथ हिंदी का भी व्यवहार बढ़ता चला जाय। बस केवल यही तरीका है जिससे हिंदी को १९६५-६६ तक अँगरेजी के आसन पर विठाया जा सकता है।

"अधिकतर गैर हिंदी राज्यों में हिंदी एक आवश्यक विषय के रूप में लागू की जा चुकी है। इसके अलावा दक्षिण में पिछले तीस वर्षों से भी अधिक समय से दक्षिण भारत-हिंदी-प्रचार-सभा प्रशंसनीय काम करती आ रही है। अब बंगाल, असम और उड़ीसा में विस्तृत पैमाने पर काम किए जाने की जरूरत है। केंद्र की नीति यही है कि राज्य-सरकारों को अपने क्षेत्रों में हिंदी-प्रचार के लिए पूरी तरह जिम्मेवार बनाया जाय।"

मौलाना आजाद के वक्तव्य पर विशेष टिप्पणी करने की जरूरत नहीं। उन्होंने अँगरेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा को आसीन करने का जो काल-क्रम बनाया है वह हिंदी-प्रेमियों को संतोषप्रद नहीं जँचा है। जो काल-क्रम निर्धारित किया गया है उसके अनुसार भी काम नहीं हो रहा है। भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार का मुख्य दायित्व केंद्रीय सरकार पर है, परंतु मौलाना आजाद राज्य-सरकारों को ही इसके लिए जिम्मेवार बनाना चाहते हैं। राज्य-सरकारों को जिम्मेवार बनाने के बाद भी यदि हिंदी प्रचार के लिए वे आवश्यक धन की सहायता करें तो इस काम में प्रगति हो सकती है। वर्धा की राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति बड़े पैमाने पर अहिंदी राज्यों में हिंदी-प्रचार का काम कर रही है, किंतु मौलाना आजाद को इस समिति के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है, यहाँ तक कि इस समिति के नाम का भी उल्लेख उन्होंने अपने भाषण में नहीं किया।

४. माध्यमिक शिक्षा का स्तर

भारतीय माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा का स्तर कैसे ऊँचा हो, इसकी जाँच कर अंतरराष्ट्रीय विशेषज्ञ-समिति ने अपना प्रतिवेदन भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रणालय को दे दिया है। इस समिति का संगठन भारत-सरकार तथा अमेरिकी फोर्ड फाँउडेशन ने मिलकर किया था जिसमें भारत के चार, अमेरिका के दो, ब्रिटेन के एक और स्कैनडिनेविया के एक विशेषज्ञ थे। अपने प्रतिवेदन में इस समिति ने भारत-सरकार को यह सुझाव दिया है कि केंद्रीय तथा राज्य-सरकारों को इस बात की घोषणा कर देनी चाहिए कि अन्य कामों में लगे समान योग्यतावालों से कम वेतन शिक्षकों को नहीं मिलेगा। यह सच है कि इस 'ऐतिहासिक अन्याय' का अंत तत्काल किया जाना संभव नहीं है, क्योंकि सरकार के साधन सीमित हैं। लेकिन शिक्षकों का आर्थिक स्तर ऊँचा करने के लिए काम शुरू किया जा सकता है और इस संबंध में सरकार को अविलंब घोषणा कर देनी चाहिए। इससे शिक्षकों का उत्साह बढ़ेगा और वे मन से काम करेंगे।

प्रतिवेदन में इस बात को स्वीकार किया गया है कि भारत में शिक्षकों का वेतन अपेक्षाकृत बहुत कम है और जबतक वेतन बढ़ाया नहीं जाता तबतक शैक्षिक स्तर को ऊँचा करना संभव नहीं है। शिक्षकों को दयनीय आर्थिक स्थिति में रखकर उन्हें 'गुरु' कहकर संबोधित करना लज्जाजनक है! शिक्षकों को उनके कर्त्तव्य की शिक्षा देना भी हास्यप्रद है! उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया जाता और प्रतिदिन उनका उत्तरदायित्व बढ़ता जाता है। आधुनिक जीवन जटिल होता जा रहा है। सुयोग्य नागरिक तैयार करना एक कठिन व्यापार हो रहा है। इस महान् उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए शिक्षकों का

स्थान सच्चे अर्थ में ऊँचा करना पड़ेगा। दरिद्रता में आकंठ डूबे हुए शिक्षकों से यह आशा ही कैसे की जा सकती है कि देश की समस्याओं पर वे गंभीरता-पूर्वक विचार कर सकेंगे। शिक्षकों को त्यागी कहकर उनकी माँगों को टालना अनुचित है। शिक्षकों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि सभी शिक्षक त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर ही काम करेंगे। शिक्षक अपने श्रम का मूल्य चाहेंगे और यदि उन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं मिला तो वे दिल खोलकर काम नहीं कर सकेंगे।

जहाँ तक शिक्षकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रश्न है, समिति ने काफी जोर के साथ अपना प्रतिवेदन दिया है। कुछ लोग यह समझते हैं कि वेतन-वृद्धि के साथ शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने का कोई संबंध नहीं है। इसकी पहली प्रतिक्रिया तो ठीक है, पर थोड़ा गंभीर होकर इस समस्या पर विचार करने के बाद संबंध स्पष्ट हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे कितने शिक्षक हैं जो पचास रु० मासिक वेतन पर जितना और जैसा काम करते हैं, उससे अधिक और अच्छा काम उन्हें पाँच सौ रु० मासिक देने से भी नहीं हो सकेगा। अधिक रु० से उनकी योग्यता अधिक नहीं बढ़ जायगी। वे जैसे योग्य या अयोग्य हैं, न्यूनाधिक वेतन से भी वे वैसे ही बने रहेंगे। इस धारणा में थोड़ी सत्यता जरूर है, किंतु विचार करने के लिए समस्या के अनेक पहलुओं को उलट-पुलटकर देखने की आवश्यकता होती है। ऐसे अनेक शिक्षक हैं जो अपनी तथा अपने परिवार की जीविका के लिए शिक्षा-विभाग से मिलनेवाले अल्प वेतन पर निर्भर नहीं कर सकते। उन्हें जीविका के लिए दूसरे साधन ढूँढ़ने पड़ते हैं और इसके लिए उन्हें प्रकट या अप्रकट रूप से समय भी देना पड़ता है। अध्यापन के लिए उनका मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता। दौड़ते हुए वे विद्यालय पहुँचते हैं और भागते हुए घर आते हैं। विद्यालय में वे यंत्र की तरह अपने कर्त्तव्य का 'पार्ट' अदा करते हैं। आर्थिक सुविधा प्राप्त होने पर अनेक शिक्षक जो आज अयोग्य समझे जाते हैं, वे कल अपने अध्यवसाय तथा स्वाध्याय से योग्य बन सकते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होगी कि अच्छा वेतनक्रम मिलने पर योग्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों को शिक्षा का क्षेत्र नीरस नहीं मालूम पड़ेगा। वे इस ओर आकर्षित होंगे और अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से शिक्षा के मानदंड को पर्याप्त ऊँचा उठा सकने में समर्थ हो सकेंगे।

विशेषज्ञ-समिति ने शिक्षकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के कई तरीके बताए हैं। जबतक वेतनक्रम में पर्याप्त परिवर्द्धन नहीं होता तबतक शिक्षकों को कुछ अन्यथा आर्थिक सुविधाएँ अवश्य दी जानी चाहिए। समिति ने सिफारिश की है कि शिक्षकों का स्वास्थ्य-बीमा कराया जाय, उन्हें बिना किराये के घर मिलें, उनकी निःशुल्क चिकित्सा का प्रबंध किया जाय, यात्रा के लिए उन्हें आर्थिक रियायतें दी जायँ, साठ वर्ष के पूर्व उनसे अवकाश ग्रहण न कराया जाय और यदि संभव हो तो स्वास्थ्य अनुकूल रहने पर जन-शिक्षा के निर्देशक की स्वीकृति पर उनका कार्यकाल बढ़ा दिया जाय। यदि सरकार शिक्षकों को उपर्युक्त सुविधाएँ देने को तैयार हो जाय तो शिक्षा के क्षेत्र में निस्संदेह एक नया आकर्षण उत्पन्न हो जायगा जो शिक्षकों की सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक भी होगा। हम चाहते हैं कि इस दिशा में केंद्र तथा राज्य-सरकारों को जल्द कदम बढ़ाना चाहिए।

समिति ने अपने प्रतिवेदन में योग्य युवकों को चुन-चुनकर शिक्षा-क्षेत्र में लाने की सलाह दी है और इसके लिए प्रत्येक राज्य में एक परामर्शदात्री समिति के गठन की आवश्यकता बताई है। राष्ट्रभाषा हिंदी तथा प्रादेशिक या क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन और प्रशिक्षण के संबंध में भी विस्तार के साथ समिति ने अपने विचार प्रकट किए हैं। हमारा आग्रह है, सरकार यथासंभव शीघ्र समिति के सुझावों पर विचार कर उन्हें कार्यान्वित करे।

५. आंध्र-राज्य—एक ज्वलंत पाठ

आंध्र-राज्य को स्थापित हुए कुल तेरह महीने ही बीत पाए कि उसके मंत्रिमंडल का पतन हुआ और वहाँ के शासन-सूत्र को राष्ट्रपति ने ग्रहण किया। कुछ दिन पूर्व भाषाधार राज्य-संगठन की चर्चा आंध्र में इस तरह बढ़ी कि वहाँ अकांड तांडव हो गया। तेलुगू भाषा-भाषियों को अपना एक आंध्र-राज्य मिला, किंतु किस एकता के लिए! जो उठा-पटक मद्रास में चलती थी वह कर्नूल में बंद नहीं हो सकी। राजनैतिक दलबंदियाँ प्रजातंत्र की सहजात होती हैं। अतः जहाँ राजनीति प्रधान रहती है वहाँ दूसरा कुछ पनप नहीं सकता। भाषा की एकता

राजनीति के लिए ही राजनीति को सहायता दे सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं।

आंध्र-राज्य में ठोंक-पीटकर काँग्रेस ने अपना मंत्रिमंडल बनाया। आंध्र-राज्य का सपना देखनेवाले वयोवृद्ध प्रकाशम् को मुख्य मंत्री बनने के लिए प्रजा-समाजवादी दल से अपना दामन छुड़ाना पड़ा। राजनैतिक आकांक्षाएँ मनुष्य को कहाँ-से-कहाँ ले जाकर पटकती हैं!

मद्य-निषेध के संबंध में राममूर्ति-समिति की सिफारिशों पर विधान-सभा ने बहुमत से अपना जो निर्णय दिया उसके विरुद्ध मंत्रिमंडल ने अपना विचार प्रकट किया। परिणाम-स्वरूप मंत्रिमंडल की हार हुई। विधान-सभा के निश्चय को कार्यान्वित करना मंत्रिमंडल का नैतिक कर्त्तव्य है, किंतु सभा-भवन में ही श्री संजीव रेड्डी, उपमुख्यमंत्री ने दुस्साहसपूर्वक कहा कि उनका मंत्रिमंडल सभा के निश्चय को मानने के लिए बाध्य नहीं है। मुख्य मंत्री श्रीप्रकाशम् को अपने पद की चिंता अधिक थी। उन्होंने अपने सहयोगी के विचार का ही समर्थन किया। बात आगे बढ़ी और संवैधानिक अड़चनों के कारण आंध्र-मंत्रिमंडल को पद-त्याग करना पड़ा। कुल तेरह महीने के भीतर मंत्रिमंडल को विधान-सभा में कुल पाँच बार मुँह की खानी पड़ी है।

आंध्र-राज्य में साम्यवादी दल का अच्छा जोर है। यों एक दल के रूप में काँग्रेस का ही बहुमत है, पर साम्यवादी, प्रजा - समाजवादी तथा कृषक - प्रजा - दल के सदस्यों की सम्मिलित संख्या के सम्मुख काँग्रेस-मंत्रिमंडल के भंग होने पर आंध्र - राज्य में साम्यवादियों ने बड़े उत्सव मनाए। साधारण राजनीति में प्रजा-समाजवादी और साम्यवादी दलों में बड़ा विभेद है, किंतु अवसर आने पर प्रजा-समाजवादियों ने साम्यवादियों के साथ खूब जम-कर हाथ मिलाया है। इस बार भी काँग्रेस-मंत्रिमंडल को पदच्युत करने के लिए प्रजा-समाजवादियों ने साम्यवादियों के हाथ को मजबूत किया। लोक-सभा में जब आंध्र-राज्य के संबंध में वाद-विवाद होने लगा तब प्रजा-समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ने कहा कि मैं पहले भी इस मत का था और अब भी इस मत का हूँ कि आंध्र-विधान-सभा भंग कर देनी चाहिए थी। परंतु, इस प्रकार की सलाह देने के बाद मंत्रिमंडल को कोई अधिकार नहीं था कि वह त्याग-पत्र दे और राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे कि कोई मंत्रिमंडल ही न रहे और राज्यपाल का निरंकुश शासन स्थापित हो जाय। श्री मेहता ने कहा कि राज्यपाल को नया चुनाव कराने की सलाह कोई मंत्रिमंडल ही दे सकता है और त्यागपत्र दे देने के बाद मंत्रियों को यह अधिकार नहीं रहता कि वे इस प्रकार का परामर्श दें। इसलिए प्रकाशम्-मंत्रिमंडल को पद पर बने रहना चाहिए था। यदि इस दायित्व को सँभालने के लिए मंत्रिमंडल तैयार नहीं था, तो उसको चुपचाप त्यागपत्र देकर हट जाना चाहिए था। इसके बाद राज्यपाल को केवल यह हक था कि वे विरोधी-दल के नेता को बुलाकर मंत्रिमंडल बनाने के लिए कहते। विरोधी दल के नेता ही नया चुनाव कराने की सिफारिश कर सकते थे, जिससे वह जनता में अपने मत का समर्थन प्राप्त कर सकते थे। श्री मेहता ने बड़ी दृढ़ता के साथ यह कहा कि आंध्र में कोई भी वैधानिक संकट नहीं उठा था, वैधानिक यंत्र ठीक था और राष्ट्रपति द्वारा शासन ग्रहण करने की कोई आवश्कता नहीं थी। गृहमंत्री श्री काटजू के वक्तव्य की उन्होंने बड़ी कड़ी आलो-चना की। उन्होंने कहा कि गृहमंत्री के विचार से इस शासन में इस बात की गारंटी रहेगी कि अगला चुनाव स्वतंत्रता और निष्पक्षता के वातावरण में होगा। श्री मेहता ने व्यंग्यात्मक ढंग से कहा कि इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि किसी मंत्रिमंडल के शासन से नौकरशाही का शासन अधिक अच्छा और ईमानदार था। साम्यवादी सदस्य श्री सुंदरैया ने भी अपने भाषण में काँग्रेस-शासन की बड़ी भर्त्सना की। उन्होंने काँग्रेस के इस दावे की बड़ी खिल्ली उड़ाई कि काँग्रेस मद्य-निषेध चाहती है और महात्मा गाँधी के विचारों का पालन करती है। उन्होंने बतलाया कि आंध्र-विधानसभा की बैठक में पराजित हो चुकने के बाद कामचलाऊ रूप में काम करनेवाले प्रकाशम्-मंत्रिमंडल ने बिना डॉक्टरी प्रमाण-पत्रों के ही विदेशी मद्य का अनुमति-पत्र पाने की छूट कानून में दे डाली। उन्होंने ललकारकर यह कहा कि क्या यही गाँधीजी का उपदेश था?

आंध्र के अगले चुनाव में ऊँट किस करवट बैठता है, यह कहना कठिन है। इसमें संदेह नहीं, कि काँग्रेस सर-कार ने अपने बहुत-से कारनामों से जनता की सहानुभूति को खो दिया है; फिर भी यह उम्मीद रखना कि आंध्र में साम्यवादियों का बहुमत हो जायगा, संदेह से खाली नहीं है।

गीत

श्री रामगोपाल 'रुद्र'

ज्योति-करों से स्पर्श करो हे; काँपें तम के तार !

नील कुसुम जो कुम्हलाए हैं,
धरती पर धुलने आए हैं;
चरणोदक भर दो इनमें तो अर्घ्य करे संसार !

आँखों में बंदी भ्रम का मन
खोले पाँख, खिले दर्शन बन;
काँटों पर कलियाँ बलि जाएँ, कलियों पर गुंजार !

फूटे मन के अस्फुट व्यंजन—
कुछ मुँह में, कुछ लोचन के धन—
तुम स्वर से बाँधो तो ये भी पा जाएँ आधार !

गीत : श्री रमण

साधना के पथ पर का फूल,
शूल - सा लगता है तो क्या ?

प्रेरणा-पीड़ा की जो टीस, तृप्ति की पहली झीनी छाँह
और पथ पर की फिसलन एक, स्नेह को मिलती ज्यों प्रिय-बाँह ।
ज्ञान के झिलमिल करते दीप, व्योम के तारों-से निष्काम,
चेतना का विस्तृत दो पाट, कूल-सा लगता है तो क्या ?
साधना के पथ पर का शूल, ...

इष्ट तो इच्छा-निर्मित स्वप्न, जागरण से ही आविर्भूत,
प्राप्ति के पा झूठे संकेत, तत्त्व बन जाता ज्योतिर्दूत ।
पूजता है घट-घट के देव, प्राप्त कर हाड़-मांस की आँख,
अर्चना का पावन प्रतिबिंब, मूल-सा लगता है तो क्या ?
साधना के पथ पर का फूल, ...

चोर कर तम की छाती देख, ज्योति का कैसा जलता दीप,
और खारे जल में ही दृष्टि, पालती कितने मोती-सीप ।
मर्म के सह कितने आघात, पंक्तियाँ मन में आतीं हाय !
मूर्च्छना का आध्यात्मिक सत्य, स्थूल-सा लगता है तो क्या ?

साधना के पथ पर का फूल,
शूल - सा लगता है तो क्या ?

महाभारत-युद्धकाल

डॉ० देवसहाय त्रिवेद, एम० ए०, पी-एच० डी०

महाभारत-युद्ध कब हुआ—इस विषय पर अनेक दशकों से विद्वानों में घोर मतभेद चला आ रहा है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक सिद्ध करना चाहा कि महाभारत नाम का युद्ध हुआ ही नहीं। यह कुरुओं और पांचालों का साधारण गृहयुद्ध मात्र था, जिसे कवि ने अपनी कल्पना से महाभारत-महाकाव्य का रूप दिया। श्री थडानी का भी यही मत है।[1] उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि महाभारत भारतीय षड्दर्शन का विवाददर्शन है, जिसमें वेदांत की अंतिम विजय हुई है। किंतु भारतीय परंपरा जो अगणित दशकों से भारतीय जनता के हृदय को प्रभावित करती रही है, तबतक निरर्थक नहीं मानी जा सकती, जबतक उसके प्रतिकूल कुछ भी ठोस प्रमाण न मिले। यह भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि हमारी पराधीनता के काल में विदेशी शासकों ने हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को धूल में मिलाने के लिए हमारे देश के सभी मान्य परंपराओं को असत्य सिद्ध करना चाहा। सर मानियर विलियम अपने संस्कृत-आंग्ल-कोष में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अँगरेजों ने भारतीय वैदिक साहित्य का अध्ययन इसीलिए आरंभ किया जिससे यहाँ के प्राचीनतम ग्रंथों का छिद्रान्वेषण कर यहाँ के लोगों के हृदय में उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न की जाय। इससे ईसाई धर्म के प्रचार में विशेष सहायता मिलेगी और ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ दृढ़ होगी।[2]

अँगरेजों के पूर्व मुसलमान शासकों ने तो केवल धर्मस्थानों को नष्ट किया, पुस्तकों को जलाया और मंदिरों की अगाध संपत्ति को लूटकर अपना पेट भरा। इस प्रकार मुसलमानों ने केवल फुनगी को काटा, किंतु अँगरेजों ने तो भारतीय सभ्यता की जड़ को ही नष्ट करना चाहा। यदि किसी पुस्तक में एक भी अशुद्धि सिद्ध हो जाय तो फिर किस आधार पर शेष को सत्य ही माना जाय। खेद है कि भारत के अनेक धुरंधर विद्वान भी अपने पाश्चात्य गुरुओं के उच्छिष्ट-सेवी हो गए और जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन उन्होंने किया, उनके अंध चेलों ने भी उन्हीं का जोरों से प्रचार किया। आजकल हमारे देश के स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय इत्यादि के छात्रों को भी भारतीय परंपरा के प्रतिकूल प्रचलित सिद्धांतों का घूँट बार-बार पिलाया जाता है। इस दशा में यदि भारतीयता का कोई पोषक भारतीय सिद्धांतों का प्रचार करनेवाला विद्रोही माना जाय तो क्या आश्चर्य?

महाभारत-युद्ध की अखंड परंपरा ही इस बात का द्योतक है कि युद्ध अवश्य हुआ था। और, यह परंपरा निराधार नहीं कही जा सकती। इस महाकाव्य के कुछ वीरों का वर्णन ब्राह्मण-ग्रंथों[1] में तथा उपनिषदों[2] में पाया जाता है। पाणिनि[3] के सूत्रों में, कात्यायन के

१. मिस्ट्री आफ दी महाभारत, श्री थडानी-रचित, भाग १-४, कराची १९३१-३४

२. संस्कृत-आंग्ल-कोष, भूमिका

१. अबध्नादश्वं सारगं जनमेजय इति ।।२।। एते एव पूर्वेऽहनि। ज्योतिरतिरात्रस्तेन भीमसेनमेते एव पूर्वेऽहनि गौरतिरात्रस्तेनोग्रसेनमेते एव पूर्वेऽहनि आपुरतिरात्रस्तेन श्रुतसेनमित्येते पारीक्षितीयास्तदेतद् गाथयाभिगीतं पारीक्षित यजमाना अश्वमेधैः परोऽवरमजहुः कर्ममापकं पुरुषाः पुण्येन कर्मणा ।।

—शतपथब्राह्मण १-३-५-४

२. (क) तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय क्त्वोवाचापिपास। —छान्दोग्योपनिषद् ३-११-७-६

(ख) कुरुपांचालानां ब्राह्मणानत्यवादीः। —बृहदारण्यक ३-९-१९

(ग) कुरुपांचालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः। —वहीं ३-१-१

(घ) पारीक्षिता अभवन्निति क्व पारीक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारीक्षिता अभवन्निति। —वहीं ३-३-१

३. (क) भीमादयोपादाने—पाणिनि ३.४.७४

(ख) स्त्रियामवन्तीकुन्तीकुरुभ्यश्च—पाणिनि ४.१.१७६

(ग) कुरुनादिभ्योण्यः—पाणिनि ४.१.१७८

(घ) वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ्—पाणिनि ४.३.९८

(ङ) गावियुधिभ्यां स्थिरः—पाणिनि ८.३.९५

वार्तिकों[1] में तथा पतंजलि के महाभाष्य[2] में भी इनका उल्लेख है।

अनेक राजाओं ने इसका उल्लेख अपने अभिलेखों[3] में किया है और कवियों ने इसके आधार पर अनेक काव्यों तथा रूपकों की रचना[4] की है।

अपितु यदि होमर, सफोक्लिज़, अचिलिस युरिपिडीस के ग्रंथों के आधार पर ट्रोजन[5]-युद्ध की सत्यता का ढोल पीटा जा सकता है तो क्या कारण है कि महाभारत-युद्ध की सत्यता के बारे में संदेह किया जाय। भारतीय परंपरा के सामने पाश्चात्य विद्वानों को भी सिर झुकाना पड़ा है और कहना पड़ा है—'भारतीय परंपरा प्रायेण अंधविश्वासी सभ्य जनों की परंपरा से विभिन्न माने गए हैं। वे अत्यंत विचारणीय तथा अन्वेषणीय हैं।'

महाभारत-युद्ध की परंपरा-तिथि

भारतीय परंपरा के अनुसार महाभारत-युद्ध कलि के प्रारंभ होने के पूर्व ही हुआ। कलि का प्रारंभ विक्रम-संवत् से ३०४४ वर्ष पूर्व तथा खीष्ट-संवत् से ३१०१ वर्ष पूर्व हुआ। मैं इन पृष्ठों में यह दिखाने का यत्न करूँगा कि ऐतिहासिक आधारों पर, जिनकी सत्यता का कोई भी निरादर नहीं कर सकता, महाभारत-युद्ध के संबंध में भारतीय प्रचलित परंपरा की तिथि ही मान्य हो सकती है। यद्यपि इस विषय पर प्राच्य तथा पाश्चात्य अनेक विद्वानों में सिद्धांत का घोर मतभेद रहा है तथा परंपरा से उनका मत एकदम मेल नहीं खाता, तथापि हमें भारतीय परंपरा को ही तबतक मान्यता देनी चाहिए जबतक आधुनिक विद्वान सभी प्रचलित सिद्धांतों का समन्वय न कर सकें तथा भारतीय परंपरा के प्रतिकूल कोई ठोस प्रमाण न मिले। विभिन्न विद्वानों और प्रमाणकों के विचारों को हम मोटे तौर से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(क) आधुनिक विद्वान्

पार्जिटर[1] का मत है कि नवनंदों का काल प्रायः ४०२ खीष्टपूर्व (३२२+८०) या ३४५ विक्रमपूर्व में आरंभ हुआ। नंद के राज्यारोहण के वाद समकालीन राजाओं के विनाश में प्रायः २० वर्ष लग गए होंगे। अतः उनका विनाश-काल ३८२ खीष्टपूर्व (४०२ – २०) या ३२५ विक्रमपूर्व हुआ। दस समकालीन राजाओं का राज्यकाल, जिनका नंद ने विनाश किया, ४६८ वर्ष (२६×१८) होता है। अतः अधिसीम कृष्ण, दिवाकर और सेनजित्[2] का राज्यारंभकाल ८५० खीष्टपूर्व या ७६३ विक्रमपूर्व (३२५+४६८) होता है। महाभारत-युद्धकाल जानने के लिए हमें इन राजाओं का राजवर्ष जोड़ना चाहिए, जो सेनजित् के पहले पाँच पौरव राजा (युधिष्ठिर मिलाकर) हो गए हैं। अतः हमें महाभारत-युद्ध का काल जानने के लिए १०० वर्ष (२०×५) और जोड़ना चाहिए और इस आधार पर महाभारत-युद्ध का काल खीष्टपूर्व ६५० या विक्रमपूर्व ८६३ (७६३+१००) हमें मानना होगा।

डाक्टर सीतानाथ प्रधान[3] बृहद्रथवंश के अंतिम राजा रिपुंजय का राज्यारोहण-काल खीष्टपूर्व ५६३ मानते हैं। वह प्रतिराज २८ वर्ष मध्यमान गणना कर महाभारत-युद्धकाल खीष्टपूर्व ११५१ (५६३+५८८) (२८×२१) अर्थात् विक्रम-पूर्व १०६६ मानते हैं।

१. (क) व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानां चेति वक्तव्यम्—पाणिनि ४-१-९७ का वार्तिक

(ख) पाण्डोर्ड्यण्—पाणिनि ५-१-१६८ का वार्तिक

२. (क) कंसवधमाचष्टे—पाणिनि ३-१-२६ का भाष्य

(ख) साधुः कृष्णो मातरि असाधुर्मातुले —पाणिनि २-३-३६ का भाष्य

(ग) यजति स्म युधिष्ठिरः—पाणिनि ३-२-११८ का भाष्य

३. फ्लीट-संपादित गुप्त-अभिलेख, भाग ३, कलकत्ता, १८८८.

(क) अभिलेख-संख्या २६ पंक्ति १३, संख्या २७ पंक्ति १५, संख्या २८ पंक्ति २२, संख्या ३० पंक्ति ३ से तुलना करें—

उक्तं च महाभारते भगवता वेदव्यासेन व्यासेन।

(ख) अभिलेख-संख्या ३१ पंक्ति १९ से तुलना करें—

उक्तं च महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां परमर्षिणा पराशरसुतेन वेदव्यासेन व्यासेन।

४. शकुंतला, बालचरित, बालभारत, पंचरात्र, उरुभंग, नैषध।

५. हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड, भाग २, पृष्ठ-संख्या ४९५

१. एंशियंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, लंदन, १९२२, पृष्ठ १७९

२. क्रानोलाजी आफ एंशियंट इंडिया, कलकत्ता, १९२७, पृष्ठ २४

३. सिविलिजेशन इन ऐंसियंट, इंडिया, कलकत्ता, भाग १८ पृष्ठ १०'

रमेशचंद्र दत्त के अनुसार कुरु-पांचाल-युद्धकाल से लेकर भगवान बुद्ध के समय[१] तक जो खीष्टपूर्व छठी सदी में हुए, कुल ३५ राजा हुए। प्रतिराज का काल २० वर्ष मानने से महाभारत-युद्धकाल खीष्ट-पूर्व १३ वीं सदी में मानना होगा।

डाक्टर शाम शास्त्री[२] कहते हैं—दुष्यंत-पुत्र भरत ने अतिरात्र सत्र[३] किया। अतः भरत का काल कलिसंवत् १४८८ (३७२ × ४) या खीष्ट-संवत् १६१३ होता है। विष्णुपुराण में प्रदत्त राजसूची के अनुसार महाभारत के नायक युधिष्ठिर जो श्रीकृष्ण के समकालीन थे, भरत की २५ वीं पीढ़ी में आते हैं और इनका अंत खीष्ट-पूर्व १२६० में हुआ। इस आधार पर भरत और युधिष्ठिर का मध्यकाल प्रायेण ३५० वर्ष (१६१३-१२६०) होता है। यदि राजसूची ठीक मानें तो हमें मानना होगा कि प्रतिराज मध्यमान प्रायः १४ वर्ष होता है। परीक्षित युधिष्ठिर का पौत्र है। मत्स्यपुराण के अनुसार नंद और परीक्षित का अभ्यंतर काल १५० वर्ष कम एक सहस्र वर्ष या ८५० वर्ष है। अतः नंद खीष्ट-पूर्व चतुर्थ सदी में सिंहासन पर बैठा (१२६०—८५०=४१० खीष्ट-पूर्व)।

होरेस हेमन विलसन[४] लिखता है—कर्नल विल्फर्ड की गणना[५] के अनुसार महाभारत-युद्ध खीष्ट-पूर्व १३७० में हुआ। बुकानन का अंदाज है कि युद्ध खीष्ट-पूर्व १३ वीं सदी में हुआ। कोलब्रूक ज्योतिर्गणना से बतलाता है कि वेदों का संपादन खीष्ट-पूर्व १४ वीं सदी में हुआ। वेंटलें पांडव युधिष्ठिर का काल ५७५ खीष्ट-पूर्व खींच लाता है। किंतु प्रमाणों का झुकाव १३ वीं या १४ वीं सदी खीष्ट-पूर्व के पक्ष में है जब महाभारत का युद्ध हुआ या ख्यात कलि का प्रारंभ हुआ।

डाक्टर हेमचंद्रराय चौधुरी[६] के अनुसार परीक्षित का जन्म खीष्ट-पूर्व १४१२ (३२२+४०+१०५०) में हुआ, किंतु डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल[१] का सिद्धांत है कि महापद्म के पिता महानंद का राज्यारोहणकाल खीष्ट-पूर्व ४०६ है। अतः परीक्षित का जन्म या महाभारत-युद्ध का अंत खीष्ट-पूव १४२४ (४०६+१०१५) में हुआ। किंतु महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण तथा ललितमोहन कार[२] कुरुक्षेत्र-युद्ध का काल खीष्ट-पूर्व १६२२ वर्ष (३२२+१००+१५००) मानते हैं।

(ख) अन्य प्राचीन परंपरा के पोषक

राजतरंगिणी, सत्यव्रत[३] भट्टाचार्य तथा प्रबोधचंद्र सेनगुप्त[४] एक दूसरी परंपरा को प्रामाण्य मानते हैं। इन सबका आधार एक ही श्लोक है जिसे कल्हण से लोग अक्षरशः उद्धृत करते हैं और कल्हण के उसी श्लोक को अन्य विद्वान् ठीक मानते हैं। इसके अनुसार कलि के ६५३ वर्ष बीत जाने पर कौरव-पांडव[५] हुए अर्थात् २४४८ खीष्ट-पूर्व (३१०१—६५३)। भट्टाचार्य के अनुसार युद्ध २४०० खीष्ट-पूर्व तथा सेनगुप्त के अनुसार २४४८ खीष्ट-पूर्व में हुआ।

युद्ध मिथ्या नहीं

अतः महाभारत-युद्ध-तिथि के विषय में विद्वानों के उपर्युक्त परस्परविरोधी सिद्धांतों से प्रकट है कि भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना के संबंध में लोगों ने किस प्रकार निराधार आधारों पर कपोल-कल्पना[६] करने का यत्न किया है। इस दशा में महाभारत-युद्ध की तिथि को हम निराधार या मिथ्या कहकर नहीं टाल सकते। और, मिथ्या (मिथ) भी बिना किसी तथ्य की पृष्ठभूमि

१. लेखक के अनुसार बुद्ध का निर्वाण खीष्टपूर्व १७९३ या कलिसंवत् १३०८ है।

२. गवामयनम्, दी वैदिक एरा, पृ० १५५

३. आश्वलायनगृह्यसूत्र १०. ५. ८

४. विष्णुपुराण, विल्सन-संपादित, ४. २३२

५. एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ९, क्रानोलाजिकल टेबल्स, पृ० ११६

६. पालिटीकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इंडिया, कलकत्ता, १९२७, पृष्ठ २५

१. जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी भाग १, संख्या १, पृष्ठ १०९ से आगे।

२. सेक्रेड आफ दी हिंदूज, मत्स्यपुराण, इलाहाबाद, १९१६, भूमिका, पृ० १४

३. निरुक्त, भट्टाचार्य-संपादित, कलकत्ता, १८०४ शक-संवत्, भाग ४, भूमिका।

४. जर्नल रायल एशियाटिक सोशायटी आफ बंगाल, भारत बैटल ट्रेडिशनस् भाग ४, १९३८, पृ० ३६३-४१३

५. शतेषु षट्सु सार्द्धेषु अधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः॥
—राजतरंगिणी १-५१

६. हिस्टोरियनस् हिस्ट्री आफ वर्ल्ड, भाग २, पृष्ठ ३६८

नहीं होता। बिना अग्नि के धूम्र नहीं होता,—यह कथन इतिहासकार को नहीं भूलना चाहिए। माइकेल टेंपुल कहता है[1] कि अब हमलोग धीरे-धीरे समझने लगे हैं कि सब प्राचीन परंपरा के पीछे कुछ सत्यता अवश्य होती है। परंपराएँ शून्य से प्रकट नहीं होतीं; क्योंकि किसी भी चीज की उत्पत्ति के लिए कुछ आधार होना आवश्यक है। बीज आवश्यक है जिससे पौधा पैदा हुआ, भले ही पौधा ने वह रूप धारण कर लिया हो जो बीज से विभिन्न एक अपरिचित रूप में प्रकट हो गया हो।

यह भारतीय इतिहास का अभिशाप है कि हमारे इतिहास पर विदेशी विद्वान् मनमानी कल्पना करके हमारा तिथि-क्रम ठीक कर दें और उन सिद्धांतों का निराकरण करने के लिए हमें माथापच्ची करनी पड़े।[2] उचित तो यह है कि हम भारतीयों को अपनी प्रचलित प्राचीन परंपरा के प्रतिकूल किसी भी नूतन कथित सिद्धांत को तबतक स्थान नहीं देना चाहिए जबतक वे सत्यता की कसौटी पर पूर्णरूपेण कसे न जायँ। पहले हमारे देश के संस्कृत-पंडित प्राचीन परिपाटी के अनुयायी थे। वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने उनका हृदय भी इस परंपरा के प्रतिकूल डुलाना आरंभ कर दिया है।

विभिन्न मतों की समालोचना

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि किस प्रकार लोग प्रतिराज मध्यमान १४ से २८ वर्ष तक मनमानी स्वीकार करके महाभारत-युद्ध की तिथि निश्चित करते हैं। नंदवंश का काल भी लोग २८ वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक अपनी इच्छा के अनुकूल ही स्वीकार करते हैं, यद्यपि पुराण एकमत हैं कि नंदवंश ने १०० वर्ष राज्य किया। पार्जिटर युधिष्ठिर से नंदाभिषेक-काल तक ३१ पीढ़ी गिनता है और कभी १८ वर्ष और कभी २० वर्ष प्रतिराज मध्यमान मानता है, किंतु कोई कारण नहीं देता। इसे अंधेरखाता के सिवा और क्या कहा जा सकता है। डाक्टर प्रधान महाभारत युद्ध-काल से रिपुंजय तक २१ पीढ़ी की गणना करते हैं, किंतु रमेशचंद्र दत्त उसी अवधि के लिए ३५ राजाओं की सूची स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने एक ही श्लोक का अर्थ ८५०, १०१५, १०५०, १११५ या १५०० वर्ष स्वीकार किया है और इस आधार पर महाभारत-युद्ध की तिथि निश्चित करने का यत्न किया है।[1]

यह कहना असंगत न होगा कि आधुनिक भारतीय इतिहास की सारी पृष्ठभूमि सिकंदर-चंद्रगुप्त की मिथ्या समकालीनता पर निर्भर है और भूल से लोगों ने चंद्रगुप्त को चंद्रगुप्त मौर्य मान लिया है। सत्यतः सिकंदर का समकालीन भारतीय गुप्तवंशी नरेश समुद्रगुप्त या चंद्रगुप्त था, न कि चंद्रगुप्त मौर्य।[2]

कश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने एक श्लोक[3] की व्याख्या करते हुए महान भूल की, जब इसने कहा कि कौरव-पांडव कलि के ६५३ वर्ष बाद हुए। कल्हण इस श्लोक को अपने पूर्वाचार्य गर्ग और वराहमिहिर से अक्षरशः उद्धृत करता है जो कहते हैं कि युधिष्ठिर का काल जानने के लिए शककाल[4] में २५२६ वर्ष जोड़ना चाहिए। गर्गाचार्य एवं वराहमिहिर ने शालिवाहन-शक से भिन्न एक आंध्र-शक[5] का प्रयोग किया है, जिसका प्रारंभ-काल ५५० खीष्टपूर्व या कलि-संवत् २५५१ है। कल्हण को शालिवाहन-शक के सिवा अन्य शक-संवत् का ज्ञान ही न था। अतः इसने अपनी राज-वंशावली ठीक करने के लिए कह दिया कि कौरव-पांडव कलि के प्रारंभ होने के ६५३ वर्ष बाद हुए। यद्यपि कल्हण को विस्मृतिसागरमग्न ३५ राजाओं का ज्ञान नहीं था तथापि

१. वहीं

२. इंग्लिशमैन, कलकत्ता, फरवरी ७, १९२७.

१. आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्ष-सहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्॥
—श्रीमद्भागवत १२-२-२६

इस श्लोक की विशद व्याख्या के लिए 'नंदपरीक्षिताभ्यन्तर-काल' जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, मद्रास, भाग १९, पृष्ठ १-१९ देखें।

२. (क) दी सीट एँवर आफ इंडियन हिस्ट्री, अनाल्स ऑफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट का रजतांक, पूणा, १९४२, भाग २३, पृष्ठ ५८२—५९१
(ख) भारतीय इतिहास का शिलान्यास, अनुग्रह-अभिनंदनग्रंथ, पटना, १९४९, पृष्ठ २०२—२१५,

३. आसन्मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्यस्य॥
—राजतरंगिणी १-४५०.

४. जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग २८, पृष्ठ १०३-११०

५. 'आंध्रांक' [illegible] [illegible]टाचार्य-लिखित देखें।

उसे विवश होकर कहना[१] पड़ा कि लोग इस काल-संख्या को झूठा समझते हैं, क्योंकि भारत-युद्ध द्वापर के अंत में हुआ। महाभारत-युद्ध-तिथि-निर्णय के लिए राजतरंगिणी का प्रमाण अन्यत्र[२] देखें।

किंतु क्या हमें केवल परंपरा पर ही आश्रित रहना होगा? नहीं; हमारे पास ठोस प्रमाण है कि युद्ध खीष्ट-पूर्व ३२ वीं सदी में हुआ। ऊपर भारतीय परंपरा के प्रतिकूल प्रचलित कथित सिद्धांतों का निराकरण करने के बाद हम अनेक ऐतिहासिक, साहित्यिक और ज्योतिर्गणना के आधार पर यह दिखाने का यत्न करेंगे कि महाभारत-युद्ध के संबंध में भारतीय परंपरा की तिथि ही ठीक है, क्योंकि अन्य प्रचलित तिथियाँ दोषों से भरपूर हैं। भारतीय परंपरा के प्रतिकूल हमें एक भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता जिसके कारण हम भारतीय परंपरा को ताक पर रखकर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रचारित मिथ्या सिद्धांत को अपनावें।

ऐहोल-शिलालेख

पुलकेशी द्वितीय का शिलालेख[३] ५५६ शक-काल, तदनुसार ६३४ खीष्ट-सन् (५५६+७८) में लिखा गया था। इसी अभिलेख में यह भी लिखा गया है कि उस काल तक कलि-संवत् के ३७३५ वर्ष (३०+३०००+७००+५) बीत चुके थे। दोनों के समन्वय करने से स्पष्ट हो जाता है कि कलि का प्रारंभ ३१७६ शक-पूर्व (३७३५-५५६) या ३१०१ खीष्ट-पूर्व में हुआ।

१. भारतं द्वापरांतेऽभूद्वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे॥
—राजतरंगिणी १-४६

२. (क) कश्मीर की संशोधित राजवंशावली, विज्ञान, प्रयाग, कुंभाकं १९६३
(ख) रिवाइज्ड क्रानोलाजी आफ कश्मीर किंग्स, जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग १८, पृष्ठ ४६-६३.

३. त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु॥
(३०+३०००+७००+५)=३७३५
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥
(५०+६+५००)=५५६
इंडियन ऐंटीक्वेरी, [illegible] देखें।

ज्योतिर्ग्रंथ

इस शिलालेख के कथन की पुष्टि सिद्धांतशिरोमणि[१], ब्रह्मस्फुटसिद्धांत[२] तथा ज्योतिर्मकरंद[३] से भी होती है।

हिंदुओं की ज्योतिर्गणना के अनुसार संसार के आधुनिक कलियुग का आरंभ खीष्ट-जन्म के ३१०१ वर्ष पूर्व २० फरवरी को २ बजकर २७ मिनट ३० सेकेंड पर हुआ। उनका कथन है कि उस समय ग्रहयोग था और उनकी सारणी से यह ग्रहयोग प्रकट है। बेली (फ्रांस का विख्यात ज्योतिर्विद्) कहता है[४] कि बृहस्पति तथा शुक्र सूर्यमंडल की सम दूरी पर थे, मंगल आठ अंश तथा शनि सात अंश की दूरी पर था। अतः यह निश्चित है कि जिस समय ब्राह्मण लोग कलि का प्रारंभ बताते हैं, उस समय सूर्य के प्रकाश से उपर्युक्त चारों ग्रह--क्रमशः शनि, मंगल, बृहस्पति तथा शुक्र, लुप्त हो गए थे। अतः वे एक ही राशि में थे। यद्यपि बुध स्पष्ट नहीं था, तथापि यह कहना स्वाभाविक है कि उस समय ग्रहयोग था। ब्राह्मणों की गणना हमारी आधुनिक ज्योतिःसारणी से इतना मेल खाती है कि साक्षात् के बिना इतना शुद्ध फल हो ही नहीं सकता।

कलि-द्वापर-संक्रांति

महाभारत-युद्ध कलि के प्रारंभ होने के पहले ही कलि-द्वापर-संधिकाल में हुआ,[५]—यह अंतरंग एवं बहिरंग प्रमाणों से सिद्ध है। उपर्युक्त ऐहोल-शिलालेख से भी प्रकट है कि भारताहव तथा कलिकाल प्रायः समकालीन हैं। महाभारत कहता है कि युद्ध कलि-द्वापर के अंतः

१ नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः ६७१३
—सिद्धान्तशिरोमणि, बनारस, १९१७, पृ० ८९

२ गोऽगैकगुणाः शकान्तेऽब्दाः ६७१३ —ब्रह्मस्फुटसिद्धांत

३ शाको नवागेन्दुकृशानुयुक्तः कलेर्भवत्यब्दगणो युगस्य। अंकानां वामतो गतिः। अतः ३१७९ वर्ष शक-कालपूर्व कलि का प्रारंभ होता है।

४ थियोगनी आफ दी हिंदूज काउंट जान्सटर्न-लिखित, अविनाशचंद्र दास द्वारा ऋग्वैदिक इंडिया, कलकत्ता, १९२० में उद्धृत।

५ अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं-कुरु-पाण्डव-सेनयोः॥
—महाभारत १-५-१३

काल में हुआ। अन्यत्र भी कलि का आगमन स्पष्ट उल्लिखित है।[1]

कलि के ३६ वर्ष-पूर्व

किंतु हम महाभारत-युद्ध काल का अध्ययन और भी अधिक सान्निध्य से कर सकते हैं। महाभारत कहता है[2]—युधिष्ठिर ने ३६ वें वर्ष में विपरीत दशा देखी। महाभारत में लिखा है कि श्रीकृष्ण ज्ञाति, अमात्य और पुत्र-रहित होकर ३६ वें वर्ष में जंगल में विचरण करते हुए कुत्सित उपाय से स्वर्ग सिधारे।[3] इसका पूर्ण विवरण श्रीमद्भागवत में पाया जाता है कि किस प्रकार जंगल में एक वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण योगाभ्यास के लिए बैठ गए और एक व्याधे ने उनके पैर से प्रज्वलित तेज को हिरण की आँख की ज्योति समझकर तीर चलाया जिससे श्रीकृष्ण का अंत हो गया। श्रीकृष्ण के अंत होने पर पांडव तीर्थ-यात्रा को निकले। विष्णुपुराण कहता है कि जिस दिन, जिस क्षण, वसुदेव के कुल में उत्पन्न विष्णु भगवान श्रीकृष्ण का अंत हुआ, उसी क्षण, उसी दिन, कलि का प्रादुर्भाव हुआ।[4] श्रीमद्भागवत कहता है कि जबतक श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी पर पैर रखा, कलि की एक भी न चली। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का अंत महाभारत-युद्ध के ३६ वर्ष बाद हुआ। पांडवों ने भी यथाशीघ्र ही राज-पाट त्याग दिया,।[5] श्रीकृष्ण के अंत होने पर कलि प्रकट हो गया, किंतु श्रीकृष्ण के ज्वलंत तेज के कारण अपना प्रभुत्व स्थिर करने में असमर्थ रहा। कलि-संवत् का प्रारंभ ३१०१ वर्ष खीष्ट-पूर्व होता है। अतः, मैं इसे कलि के प्रभुत्व का काल मानता हूँ। श्रीकृष्ण का गोलोकवास खीष्ट-पूर्व ३१०१ वर्ष या आज से ५०५४ (३१७९+१८७५) वर्ष पहले हुआ। अतः महाभारत का युद्ध आज से ५०९० वर्ष पहले या खीष्ट-पूर्व ३१३७ में हुआ।

१ (क) प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च।
(ख) एतत्कलियुगं नाम अचिराद् यत्प्रवर्तते॥

२ षड्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दन।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥
—महाभारत, मुषलपर्व १-२

३. (क) त्वमप्युपस्थिते वर्षे षड्त्रिंशे मधुसूदन।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचर॥
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि॥
—महाभारत, स्त्रीपर्व २५-१४

(ख) षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान्।
अन्योन्यं मुषलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः॥
—महाभारत, मुषलपर्व १-३

४. यदैव भगवद्विष्णोरंशो यातो दिवं द्विज।
वसुदेवकुलोद्भूतस्तदैव कलिरागतः॥
—विष्णुपुराण ४-२४-१४

५. विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवंगतः
तदाविशत्कलिर्लोकं पापे यद् रमते जनः॥
—श्रीमद्भागवत १२-२-२९

निधानपुर का ताम्रलेख

इस तिथि की पुष्टि मोटे तौर पर कान्यकुब्ज के राजा हर्षवर्द्धन के समकालीन भास्कर वर्मा के निधानपुर-ताम्राभिलेख[1] से भी होती है। यह ५९० खीष्ट-सन् में उत्कीर्ण हुआ था। इसमें निम्न वंश-क्रम पाया जाता है।

नरक
|
भगदत्त—जो अर्जुन से लड़ा
|
वज्रदत्त
|
पुष्यवर्मा—वज्रदत्त के ३००० वर्ष बाद
|
भास्करवर्मा—पुष्यवर्मा के बाद १२ वाँ राजा

ताम्राभिलेख कहता है कि उस नरक से, जिसने नरक कभी नहीं देखा, भगदत्त उत्पन्न हुआ। यह राजा भगदत्त इंद्र का मित्र था और ख्यातविजय अर्जुन से इसने लोहा लिया। शत्रुओं के विनाश करनेवाले इस राजा का पुत्र वज्रदत्त हुआ जिसकी गति वज्र के समान थी। इस महाप्रतापी वज्रदत्त ने युद्ध में अनेक बार इंद्र को प्रसन्न किया। इसी राजवंश में तीन सहस्र वर्ष बीत जाने पर पुष्यवर्मा उत्पन्न हुआ।

महाभारत के अनुसार प्राग्ज्योतिष (आसाम=अश्याय) का राजा भगदत्त कौरवों का मित्र था तथा युद्धक्षेत्र

१. एपिग्राफिया इंडिका, भाग ७, पृ० ६५
तस्मादद्दष्टनरकादजनिष्ट नृपतिरिन्द्रसखः।
भगदत्तः ख्यावजयं विजयं युधि यः समाह्वयत्॥
तस्यात्मजः क्षतारेर्वज्रगतिर्वज्रनामाभूत्।
शतमखमखण्डलबलगतिरतोषयद् यः सदा संख्ये॥
वंश्येषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्रत्रयं पदमवाप्य।
यातेषु देवभूयं क्षितीश्वरः पुष्यवर्माऽभूत्॥

में मारा गया।[1] उसके दो पुत्र थे—कृतप्रज्ञ और वज्रदत्त। भगदत्त का अर्जुन और कृतप्रज्ञ का नकुल ने वध किया। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत का युद्ध आज से ५०९० वर्ष पहले हुआ।

आइने-अकबरी

उपर्युक्त शिलालेखों के सिवा अकबर के एक नवरत्न और संस्कृत-फारसी के विद्वान् अबुलफजल का आइने-अकबरी भी कम प्रामाणिक नहीं है। वह कहता है—'इस युग के आरंभ में राजा युधिष्ठिर ने विश्वविजय किया और एक युग की समाप्ति होने के कारण अपने राज्यकाल के समय से एक संवत् चलाया। उस काल से आजतक जो दीन इलाही का ४० वाँ वर्ष है, ४६९६ वर्ष बीत गए।'[2]

दीन इलाही सन् की स्थापना अकबर के राज्यारोहण-वर्ष से होता है।[3] अकबर २७–२८ रवि द्वितीय ९६३ हिजरी सन् (तदनुसार ११ मार्च, १५५६ खीष्टसन्) को गद्दी पर बैठा। दीन इलाही सन् सौर वर्ष था। सिंहासनारूढ़ होने के काल से नवरात्र (नौरोज) के आरंभ तक २५ दिन का ही एक वर्ष माना गया। अतः दीन इलाही का ४० वाँ वर्ष १५९५ खीष्ट-सन् होता है[4] (१५५५+४०)

१. (क) ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम्।
पाण्डूनां भगदत्तेन त्रयराष्ट्रविवर्द्धनम्॥
—महाभारत ६-९५-२५

(ख) ततः प्रागज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान्वै चतुर्दश।
—महाभारत ६-९५-४८

२. आइने अकबरी, मूल फारसी से कर्नल जारेट द्वारा अनूदित, कलकत्ता, १८९१ भाग ३, पृ० १५

दरसरे आगाज इ राजा जुधिष्ठिर हमगइ जहांदर कुशाद व सरापाय तारीख फरा रसीद फरमा रवाए खेश रा शर आगाज गरोनीद व दरी हाल चेहलुम इलाही चहार हजार षष षद वनवद वषष अजो गुजस्तं।

३. अकबर दी ग्रेट मोगल, विसेंट आर्थर स्मिथ-कृत देखें; आक्सफोर्ड १९१९, पृ० ४४८-४९

४. हिजरी सन् को खीष्ट-सन् में परिवर्तन करने के लिए निम्न सत्र काम में लाया जा सकता है—

$$\left(\text{६२२} + \text{ह} - \frac{\text{३ ह}}{\text{१००}}\right) = \text{विक्रम-संवत्।}$$

ह से हिजरी समझें। अतः अकबर विक्रम-संवत् १६१२ या खीष्ट-सन् १५५६ में गद्दी पर बैठा।

जब युधिष्ठिर-संवत् के जो कलि-संवत् का पर्याय है, ४०९६ वर्ष बीत चुके थे। इस कथन से पांडवों के अस्तित्व की और कुरुपांचाल युद्ध की भी सिद्धि होती है। अतः इस प्रमाण से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत-युद्ध आज से ५०९० वर्ष पूर्व हुआ अथवा खीष्ट-सन् से ३१३७ वर्ष पहले।

निश्चित तिथि की गणना

हम महाभारत-युद्ध का निश्चित वर्ष ही नहीं, किंतु निश्चित तिथि की भी गणना कर सकते हैं। कौरव-सेनापति भीष्म कहते हैं—'हे युधिष्ठर! तीक्ष्ण बाणों की शय्या पर सोए हुए मेरे ५८ दिन सौ वर्ष के समान बीत गए। माघ का यह सुंदर मास पहुँच गया। यह शुक्लपक्ष होना चाहिए जिसके तीन भाग बीत चुके हैं।'[1]

भीष्म युद्धभूमि से दशवें दिन विश्राम के लिए अलग हो गए।[2] अतः जिस दिन भीष्म ने उपर्युक्त वाक्य कहा, उस दिन युद्ध के प्रारंभ-काल से ६८ दिन (५८+१०) बीत चुके थे। 'त्रिभागशेषः पक्षः' का अर्थ शुक्लपक्ष करना चाहिए जिसके तीन भाग शेष हो चुके हों। होड़ाचक्र के अनुसार पक्ष पाँच भागों में विभाजित होता है; यथा नंदा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा।[3] अतः शुक्लपक्ष की नवमी व्यतीत हो रही थी ($\frac{१५}{५}$ × ३)। माघ-शुक्लपक्ष-अष्टमी को ही भीष्माष्टमी मनाते हैं। अतः पूर्व-गणना-क्रम से हम मार्गशीर्ष-शुक्ल-प्रतिपद् पर पहुँचते हैं, जब महाभारत-युद्ध का प्रारंभ हुआ। यह तिथि मंगलवार को पड़ता है। (९+१५+३०+१४)=६८। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत का युद्ध आज से ५०९० वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष-शुक्लपक्ष-प्रतिपद् मंगलवार को आरंभ हुआ।

१. अष्टपञ्चाशतं राज्यः शयानस्याद्य मे गताः।
शरेषु निषिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा॥
माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति॥
—महाभारत, १३-२७३-२८

२. अहनि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित्।
—महाभारत, १-२-३०

३. नंदाभद्राजयारिक्तापूर्णाश्च तिथयः क्रमात्।
—होड़ाचक्र

उपसंहार

आधुनिक कुछ इतिहासकार कहते हैं कि ये शिलालेख, ताम्रपत्र या साहित्यिक प्रमाण केवल यही सिद्ध करते हैं कि उस काल में प्रचलित परंपरा के अनुसार महाभारत-युद्ध को हुए आज प्रायः ५ हजार वर्ष बीत गए। आधुनिक समालोचना के युग में हम उस काल की परंपरा का इतने सुदूर काल की घटना-तिथि निश्चित करने के लिए प्रामाणिक नहीं मान सकते। यह कहना असंगत न होगा कि आधुनिक भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अंध शिष्यों ने हमारे सामने रखा है, वह केवल १५० वर्ष पहले सर विलियम जोन्स के सुझाव का फल है, जिसने १७६३ खीष्ट-सन् में जनता के विचार के लिए रखा। किंतु महाभारत-युद्ध की परंपरा सदियों से नहीं, सहस्रों वर्षों से केवल भारतवर्ष में ही नहीं, किंतु सारे विश्व के इतिहास की परंपरा में, निहित है और डंके की चोट कहती है कि यह महाभारत-युद्ध-काल केवल भारतीय इतिहास की ही नहीं, किंतु विश्व-इतिहास की आरंभ-तिथि है। इसी तिथि से सारे संसार के इतिहास-क्रम का आरंभ होना चाहिए। इस परंपरा के आगे कोई भी परंपरा नहीं टिक सकती और हमें इसी परंपरा-तिथि को सर्वमान्य समझकर भारतीय इतिहास की रूपरेखा तैयार करनी चाहिए।

प्रोफेसर डाक्टर स्टेनकोनो कहते हैं कि उस काल में भारतवर्ष में आर्य-जाति थी ही नहीं।[1] हमने अन्यत्र[2] दिखाने का यत्न किया है कि भारतीय विदेशी आक्रमक नहीं हैं। संसार का प्रथम मनुष्य ब्राह्मण देविका नदी के तट पर मूलस्थान (=मुलतान) में हुआ। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत का युद्ध भारतीय परंपरा के अनुसार ठीक है। इसकी पुष्टि अंतरंग तथा वहिरंग प्रमाणों से भी होती है। यह युद्ध आज से ५०६० वर्ष पूर्व या ३१३७ खीष्ट-पूर्व अथवा ३०८० विक्रम-पूर्व हुआ। हमें इसी परंपरा को मानदंड मानकर अन्य पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रचारित सिद्धांतों को कसौटी पर कसना चाहिए।*

१. एनाल्स भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूणा, भाग २०, पृ० ४८-६७

२. ओरिजिनल होम आफ दी आर्यनस्—त्रिवेद

* म० म० पं० गोपीनाथ कविराज के अवधान में लिखित निबंध। —लेखक

गीत : श्री दुर्गाप्रसाद खवाड़े

फिर भी तो मैं गाए जाता, ढुलते आँसू, ढलता जीवन

पीड़ा का पत्थर प्राणों पर, लेकिन गीत नहीं दब पाए
जितनी बार मसकता अंतर, उतनी बार अधर ने गाए
ओ मधुवन के पापी, मरु की हूक अमानत सौंप गए तो
अब दो टूक हिए को स्वर की धार प्राण के पार बहाए
माना, तिनके चुन पंछी उड़ गया, अखरता सूना आँगन
फिर भी तो मैं गाए जाता, ढुलते आँसू, ढलता जीवन

विसराए जीवन दानी की सुधि ही फकत निशानी-सी है
झरती घायल मीरा बूँदों में अब जलन कहानी-सी है
आए, आकर चले गए, दो दिल के पाहुन, उजड़ी बगिया
यह दुखते भावों की दुलहन कितनी बनी सयानी-सी है
सच है, उगती-सी आशा की साँसें कुचल गए मनभावन
फिर भी तो मैं गाए जाता, ढुलते आँसू, ढलता जीवन

मैथिली-काव्य का संक्षिप्त परिचय

श्री कमलनारायण झा 'कमलेश'

उत्तर-वैदिक काल में भारतीय आर्यों की भाषा दो विभिन्न शाखाओं में बँट गई। साहित्यकारों की भाषा सुसंस्कृत और परिमार्जित होने के कारण लोक-भाषा से पृथक् हो गई। यह 'संस्कृत' के नाम से आजतक विद्यमान है। लोक-भाषा को 'प्राकृत' कहते हैं जिसके स्थान और समय के परिवर्त्तन के साथ ही विभिन्न भाषाओं के रूप में हमें दर्शन होते रहे हैं। 'उदीच्य, प्रतीच्य, मध्य, प्राच्य और दाक्षिणात्य' इसके आदिकालीन भेद थे। भगवान बुद्ध के अमर उपदेशों का संग्रह प्राच्य प्राकृत में है। इसी प्राच्य प्राकृत से 'मागधी' और 'अर्द्ध-मागधी' का जन्म हुआ, जो छठी और सातवीं शताब्दी के अभ्यंतर अपने वास्तविक रूप में रह सकीं। पीछे उनके रूप में स्थान और समय के अनुसार विकार आते गए जो कई अपभ्रंश भाषाओं के जन्म के कारण हुए। बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम की वर्त्तमान भाषाओं का मूल स्रोत 'मागधी' है और 'अवधी', 'बघेली', 'छत्तीसगढ़ी' आदि पूर्वी हिंदी का जन्म 'अर्द्ध-मागधी' से है।

आदिकाल

तत्त्व-चिंतन में निरत रहनेवाले राजाओं और ब्राह्मणों की जन्मभूमि 'मिथिला' सदा से प्राचीन भारतीय संस्कृति का केंद्र रही है। यही कारण है कि यहाँ के विद्वान जहाँ संस्कृत भाषा के विकास के आंदोलनों के सूत्रधार रहे, वहीं उन्होंने लोक-भाषा-काव्य को सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखा। हाँ, उनके रचित संस्कृत-नाटकों में स्त्री पात्रों और अधम पात्रों के कथोपकथनों में लोक-भाषा के दर्शन अवश्य होते हैं। बौद्ध-भिक्षुओं ने अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार का माध्यम 'लोकभाषा' को ही बनाया। अतः प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं में उनके रचित ग्रंथ आज भी हमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आठवीं से बारहवीं शताब्दी पर्यंत उपर्युक्त भिक्षुओं द्वारा रचित दोहों का संग्रह 'सिद्धगान'-नामक प्राचीन ग्रंथ में है। इस संग्रह में प्रयुक्त भाषा को मागधी प्राकृत का अपभ्रंश और 'मागधी के पुट में पगी' कहा गया है। बौद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस भाषा को 'मैथिली' और 'मगही' का पूर्वरूप प्रमाणित किया है। तेरहवीं शताब्दी में हुए महामहोपाध्याय ज्योतिरीश्वरठाकुर-रचित 'वर्ण-रत्नाकर' को मैथिली का आदि गद्य-ग्रंथ माना जाता है, जिसमें उपर्युक्त सिद्धों के नामों का भी उल्लेख है। पंद्रहवीं शताब्दी में हुए ज्योतिरीश्वर के वंशधर 'मैथिल - कोकिल' कवि-शेखर विद्यापति ने अपनी कोमल-कांत पदावली और सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'कीर्त्तिलता' की रचना की। इनकी पदावली को मैथिली-काव्य का आदि रूप माना जाता है। 'कीर्त्तिलता' की भाषा को कवि ने 'अवहट्ठ' कहा है जो शायद उस समय मिथिला की राजभाषा रही होगी।

ज्योतिरीश्वर, विद्यापति और सिद्धों के गान से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत कर रहा हूँ—

पल्लविअ कुसुमिअ फलिय उपवन चूय चंपक सोहिआ।
मअरंद-पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ॥

× × ×

ततो द्वे कुमारो पइट्ठे बजारो, जहि लक्ख घोरा पअंगा हजारो।
कहूँ कोटि गंदा कहाँ बाँदि बंदा, कहीं दूरिरिक्का किए हिंदु गंदा॥

—कीर्त्तिलता, विद्यापति

जहँ-जहँ पद-युग धरइ, तहँ-तहँ सरोरुह झरइ।

—पदावली, विद्यापति

× × ×

तदंतर कइसन भउ, भद्र भद्र मृग मिश्र दषि (खि) न दसउ मनिक दण्ड वघेल दीपवाल आठओ जाति थे (गे) हाथि अधिकह, से नद मुख कह महाउतन्हि आनि बोध के उपगत करु अह।

—वर्ण-रत्नाकर, ज्योतिरीश्वर

× × ×

जह मन-पवन न संचरइ रवि ससि नाइ पवेस।
तेहि वट चित्त विसाम करु सरहे कहिअ उवेस ।।
हाथरे कांकण मालीउ दापण।
आपन अपा बुझतु निअ मण ।।

—सरहपाद, सिद्धगान

× × ×

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मगध के सिद्धों के गान और वर्ण-रत्नाकर तथा कीर्त्तिलता की भाषाएँ भिन्न नहीं हैं। विद्यापति की पदावली की भाषा उस भाषा का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप है जो उन दिनों मिथिला की प्रचलित भाषा रही होगी। विद्यापति के आश्रयदाता 'मिथिलानरेश' शिवसिंह स्वयं 'सिंह भूपति' एवं 'नृप सिंह' उपनाम से कविताएँ करते थे। उनके रचित एक गीत उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

माँसे पखें उगय कलानिधि लइये सकल निज साज।
तुअ मुख सम नहिं देखिय तैं खिन मने गुनि लाज ।।
कहदहु कओन पुरुष धनि, जाहि करि रह अनुराग।
के अछि एहि महीतल, जे अरजल हेन भाग ।।
सामर चामर निंदय, कोमल केस कलाप।
भौंह मनोहर का कहब, काम तेजल सर चाप ।।
पवन चलित नव पल्लव, कुचकोरक तरे काँप ।।
धक धाओल नहिं पाओल, आसा लुबुधल लोभ।
एहन रमनि 'नृप सिंह' कह, हरहिं निकट पए सोभ ।।

प्राचीन मैथिली-कवियों में विद्यापति के वाद गोविंददास का स्थान है। वे उपर्युक्त राजा शिवसिंह के वंशधर राजा लक्ष्मीनारायण, उपनाम 'रिपुकंसनारायण' के आश्रित थे। वैसे तो अभिनव जयदेव विद्यापति के काव्य-माधुर्य्य की चर्चा सारे भारत में व्याप्त है, फिर भी जहाँ तक भाषा-माधुर्य का प्रश्न है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि गोविंद दास ने इस क्षेत्र में अपने काव्य-गुरु विद्यापति से भी वाजी मार ली है। बानगी क तौर पर मैं गोविंद-गीतावली से एक गीत उद्धृत करता हूँ—

कुंचित केसिनि निरुपम वेसिनि,
रस आवेसिनि भंगिनि रे।
अधरसुरंगिनि अंग तरंगिनि,
संगिनि नव नव रंगिनि रे।
सुंदरि राधे आवए वनी।
व्रज रमनी गन मुकुट मनी ।। ध्रु० ।।
कुंजर गामिनि मोतिम दामिनि,
दामिनि चमक निहारिनि रे।
अभरन धारिनि नव अनुरागिनि,
स्यामक हृदय विहारिनि रे।
नव अनुरागिनि अखिल सोहागिनि,
पंचम रागिनि मोहिनि रे।
रास विलासिनि हास विकासिनि,
गोविंद दास चित चोरिनि रे।

विद्यापति की तरह महाकवि गोविंद दास भी शब्द-सौंदर्य, आनुप्रासिक छटा तथा संगीत की झंकारों के कारण पूर्ण प्रसिद्ध रहे हैं। विद्यापति की रचनाओं का प्रभाव जिस तरह बँगला और उड़िया के आदिकालीन कवियों पर पड़ा, उसी तरह उपर्युक्त भाषाओं का कवि-मंडल गोविंद दास का भी कृतज्ञ है। गोविंद दास सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक विद्यमान थे। राजा लक्ष्मीनारायण, उपनाम 'रिपुकंसनारायण' स्वयं भी मैथिली के अच्छे कवि थे। उनके रचित एक पद को मैं नीचे उद्धृत कर रहा हूँ।

कुंदन कनक कन्हाई, हमहुँ कसौटी तूल।
निज हिय कसल बालम गुन, बूझल बहु सूल ।।
ए सखि सुपहु समागम, सुख कहई न जाय।
मनकर मनाओ न छाड़िय, राखिय हिय लाय ।।
पुरुब गौरि हमें पूजली, पूने परिनत नेह।
जीव एक कए मानल की जन्ो दूई देह ।।
लक्ष्मीनरायन नृप कह, तोहे गुनमति नारि।
जासों नेह बढ़ावह, सेहे देव मुरारि ।।

राजा लक्ष्मीनारायण ओइनवार-वंश के अंतिम राजा हुए। ओइनवार-वंशी राजाओं के शासन-काल को मिथिला के इतिहास में स्वर्ण-युग माना गया है। इस काल में संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों की सर्वाङ्गीण उन्नति के साथ ही मैथिली-काव्य को भी प्रचुर प्रोत्साहन मिला। मैथिली-काव्य का प्रथम नाटक-ग्रंथ 'पारिजात-हरण' की रचना भी इसी काल में कोइलख ग्राम (दरभंगा)-निवासी महामहोपाध्याय उमापति उपाध्याय ने की।

मध्यकाल

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्राट् अकबर ने खंडवला-कुलोद्भव महामहोपाध्याय महेशठाकुर को मिथिला का शासक नियुक्त किया। मिथिलेश 'महेश' स्वयं मैथिली के कवि थे। इनके रचित 'देवी-स्तुति' और 'गंगा-स्तुति' के पद आज भी श्रद्धापूर्वक गाए जाते हैं। इनके वंशधर राजा महिनाथ ठाकुर ने अपनी रचनाओं द्वारा मैथिली-काव्य की श्रीवृद्धि की। उनके अनुज कुमार नरपति ठाकुर के आग्रह से ही 'लोचन कवि' ने संगीत-विषयक सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रागतरंगिणी' की रचना की, जिसमें मैथिली का प्राचीन काव्य यत्किंचित् सुरक्षित है। इस ग्रंथ के अध्ययन से मिथिला के किसी भाग के राजा लखनचंद का पता चलता है जो लगभग इसी समय हुआ था। 'रागतरंगिणी' में उसकी दो कविताओं को स्थान प्रदान किया गया है। इसके कुछ ही दशाब्दियों बाद हुए मकमानी के क्षत्रिय-नरेश 'हिंदूपति' की कविताएँ प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में सुरक्षित हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मैथिली भाषा वर्त्तमान साँचे में ढली। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए कवि 'मनबोध' ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'कृष्णजन्म' में आधुनिक मैथिली का ही प्रयोग किया है।

कतओक दिवस जखन बिति गेल,
हरि पुनि हथगर गोड़गर भेल।
से कोन ठाम जतए नहि जाथि,
कए बेरि अँगनहुँ सँ बहराथि।
द्वार उपर सौं धरि-धरि आनि,
हरखित हँसथि यशोमति रानि।
कए बेरि आगि हाथ सौं छौनु,
कए बेरि पकला तकला बीनु॥

—कृष्णजन्म, मनबोध

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे गए नाटक-ग्रंथों में काशीनाथ-रचित 'विद्या-विलाप', कृष्णदेव-रचित 'महाभारत' और धनपति-रचित 'माधवानल-कामकंदला' की मूल प्रतिलिपियाँ नेपाल से उपलब्ध हुई हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में हुए संत कवि लक्ष्मीनाथ गुसाईं, महंत साहबराम दास तथा पंडित रामरूप दास की पदावलियाँ मैथिली-काव्य-संसार में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस काल में हुए कवियों में गोकुलनाथ, दामोदर, गदाधर, कविराज, पूर्णमल्ल, प्रीतिनाथ, हरिदास, रामदास, गंगादास, कविरत्न, गंगाधर, जयकृष्ण, भवानीनाथ, धरणीधर, मधुसूदन मिश्र, चतुर्भुज, श्यामसुंदर, दुर्गादत्त, भोलानाथ, भंजन, नंदीपति, देवानंद, रत्नपति, भीष्म, मुकुंदी, यशोधर, द्विज, कृष्ण, धनपति, रत्नपाणि, शंभुदास, सुजनदास, सरसराम, जयानंद, माधो झा, वेणीदत्त झा, परमानंद, हृदयदास आदि की फुटकल रचनाएँ उपलब्ध हैं, पर उनके संकलन और प्रकाशन की ओर किसी का ध्यान अबतक आकर्षित नहीं हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महामहोपाध्याय कवि हर्षनाथ झा ने 'उषाहरण', 'माधवानंद' और 'सुदामाचरित'-नामक उच्चकोटि के मैथिली-नाटक-ग्रंथों की रचना की। गोविंद मिश्र ने 'नलचरित', कविवर भानुनाथ ने 'प्रभावती-हरण', कान्हर दास ने 'सीता-स्वयंवर' और कवि लाल दास ने 'सावित्री' नाटक की रचना की। उपर्युक्त कवियों के समकालीन कवि जीवन झा ने 'सरस्वती-पुनर्जन्म' और 'सुंदर संयोग' नाटक की रचना की। सुप्रसिद्ध नाटक-ग्रंथ 'रुक्मिणी-स्वयंवर' के रचयिता रमापति भी लगभग इसी काल में हुए। मैथिली भाषा में रामायण की रचना करनेवाले अमर कवि चंदा झा की रचनाओं का भी यही काल है। स्वर्गीय दरभंगा-नरेश महाराज सर लक्ष्मीश्वर सिंह बहादुर और उनके अनुज महाराजाधिराज सर रमेश्वर सिंह बहादुर का प्रश्रय प्राप्त कर इस काल में मैथिली-काव्य का पूर्ण विकास हुआ। उन्हीं के द्वार-पंडित महामहोपाध्याय परमेश्वर झा ने सुप्रसिद्ध गद्य-ग्रंथ 'मिथिला-तत्त्व-विमर्श' की रचना की। उपर्युक्त दरभंगा-नरेशों के चाचा स्वर्गीय महाराज-कुमार गोपीश्वर सिंह और चचेरे भाई स्वर्गीय बाबू ललितेश्वरसिंह-रचित कविताओं का भी मैथिली-काव्य-संसार में सम्मानपूर्ण स्थान है। इसी काल में हुए श्रीनगराधीश स्वर्गीय साहित्य-सरोज राजा कमलानंद सिंह हिंदी के साथ ही मैथिली में भी कविताओं की रचना करते थे। उनके दरबारी कवि स्वर्गीय जनसीदनजी की मैथिली-कविताओं का संग्रह हाल में ही पुस्तक-भंडार (पटना) द्वारा प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीय ज्योतिषाचार्य महामहोपाध्याय मुरलीधर झा ने काशी से 'मिथिला-मोद' मासिकपत्र का प्रकाशन कर

मैथिली-काव्य के विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। स्वर्गीय दरभंगा-नरेश सर रमेश्वर सिंह द्वारा संचालित साप्ताहिक 'मिथिला-मिहिर' ने भी इस दिशा में कम सफलता नहीं प्राप्त की।

आधुनिक काल

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में अपनी अपूर्व प्रतिभा से मैथिली-काव्याकाश को आलोकित करनेवालों में स्वर्गीय मुंशी रघुनंदन दास का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होंने 'सुभद्रा-हरण' काव्य और 'मिथिला-नाटक' तथा 'दूतांगद-व्यायोग'-नामक नाटक-ग्रंथों की रचना की। इसी काल में स्वर्गीय महामहोपाध्याय मुकुंद झा बख्शी ने सुप्रसिद्ध आख्यायिका 'मिथिला भाषामय इतिहास' की रचना की। मनपुरा (उत्तरप्रांत) निवासी पंडित रामचंद्र मिश्र ने 'चंद्राभरण'-नामक अलंकार-ग्रंथ की रचना की। वेतिया-निवासी स्वर्गीय त्रिलोचनझा-रचित कविताओं का मैथिली-काव्य-संसार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर्गीय पं० कुशेश्वर कुमर और पं० भुवनेश्वरझा 'भुवनेश' की रचनाओं का भी यही काल है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर सर गंगानाथ झा, स्वर्गीय विद्यावाचस्पति मधुसूदन झा तथा न्यायाधीश रामभद्र झा की फुटकर रचनाओं ने भी मैथिली काव्य की शोभा-वृद्धि की है।

बीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी के पश्चात् इस क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले कवियों में कालिदास के सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'रघुवंश' और 'मेघदूत' का मैथिली में अनुवाद करनेवाले स्वर्गीय अच्युतानंद दत्त, उनके अनुज स्वर्गीय परमानंद दत्त तथा 'सुकन्या-चरित' काव्य-ग्रंथ के रचयिता स्वर्गीय उदितनारायण दास भुलाए नहीं जा सकते। दरभंगा-राज-कुलोद्भव स्वर्गीय भुवनेश्वर सिंह 'भुवन' की रचनाएँ आज भी उनकी याद दिला रही हैं।

मैथिली-काव्य के जीवित निर्माताओं में श्रीनगराधीश कुमार श्री गंगानंद सिंह अग्रगण्य हैं। सरस कविताओं, सुंदर आख्यायिकाओं और एकांकी नाटकों की रचना कर इन्होंने मैथिली-काव्य की गौरव-वृद्धि की है। क्रांतिकारी एवं हास्यपूर्ण सामाजिक उपन्यासों एवं कथाओं की रचना कर पटना-कालेज के दर्शन-विभाग के प्रोफेसर श्री हरिमोहन झा मैथिली-काव्य-भंडार को भर रहे हैं। वयोवृद्ध ज्योतिषाचार्य कविवर सीताराम झा अपनी सरल, सरस, भावात्मक एवं हास्यपूर्ण कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। चंद्रधारी मिथिला-कालेज के प्रोफेसर रमानाथ झा ने मैथिली-गद्य की शैली निर्द्धारित की है। स्वनामधन्य डाक्टर अमरनाथ झा तथा स्वनामधन्य महामहोपाध्याय डाक्टर उमेश मिश्र की खोजपूर्ण रचनाओं से मैथिली-काव्य की श्रीवृद्धि हो रही है।

मैथिली के वर्त्तमान सुप्रसिद्ध गद्य-लेखकों में राजपंडित बलदेव मिश्र, पंडित त्रिलोकनाथ मिश्र, डाक्टर सुभद्र झा, पंडित कपिलेश्वर मिश्र, श्री भोलालाल दास, श्री नरेंद्रनाथ दास, श्री क्षेमधारी सिंह, श्री लक्ष्मीपति सिंह, श्री पुलकितलाल दास 'मधुर', श्री छेदी झा 'द्विजवर', श्री नंदकिशोर दास, ज्योतिषाचार्य बलदेव मिश्र, व्रजकिशोर वर्मा, प्रोफेसर तंत्रनाथ झा, प्रोफेसर सुरेंद्र झा 'सुमन', प्रोफेसर उमानाथ झा, प्रोफेसर श्रीकृष्ण मिश्र, श्री उपेंद्रनाथ झा, श्री भरत झा, श्री योगानंद झा तथा श्री गोविंद झा की रचनाएँ बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। श्री 'यात्री'जी, श्री 'मधुप'जी, श्री 'वर्मा'जी, श्री 'सुमन'जी तथा श्री 'द्विजवर' की कविताओं का भी मैथिली-काव्य-संसार में सम्मानपूर्ण स्थान है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि आरसीप्रसाद सिंह की मैथिली कविताओं की गणना उच्चकोटि में होती है। वर्त्तमान कवियों में सर्वश्री जयनारायण मल्लिक, काशीकांत मिश्र 'मधुप', रमाकरजी, उपेंद्र ठाकुर 'मोहन', चंद्रनाथ मिश्र 'अमर', जयनारायण झा 'विनीत'-प्रभृति अपनी रचनाओं से मैथिली-काव्य-भंडार को पूर्ण कर रहे हैं।



हमारा पारिवारिक जीवन

सुश्री जनककुमारी वर्मा

आजकल परिवार शब्द से प्रायः अँगरेजी शब्द 'फैमिली' का बोध होता है, जिसका अर्थ है—कुटुंब के निकटतम लोग, जैसे—पति-पत्नी और उनकी संतान। पहले यह शब्द कुछ और अर्थ रखता था। इसका अभिप्राय होता था एक सम्मिलित पारिवारिक इकाई, जिसमें छोटे-बड़े, दूर-समीप के बंधु-बांधव मिलाकर पचासों व्यक्ति हो जाते थे। इनके भोजन-वस्त्र, रहन-सहन में एकता रखना आवश्यक होता था। पारस्परिक प्रेम में मग्न और अपने कर्त्तव्य पर अग्रसर ये लोग एक-दूसरे के प्रति हार्दिक शुभ कामनाएँ रखते थे। पारिवारिक प्रेम की धारा में व्यवधान उपस्थित हो जाने की आशंका इन्हें वाह्य व्यक्तियों की मैत्री से दूर रखती थी। परिणामस्वरूप उनमें एक अहं की भावना का प्रादुर्भाव हुआ जो सामाजिक प्रगति में बाधा पहुँचाने लगी। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि देखा जाता है कि जिसके हृदय में किसी एक की हिताकांक्षा बलवती होती है, वह सबका हितकारी नहीं हो सकता। दूसरा दोष यह था कि परिवार की सीमा में आबद्ध रहने के कारण इन व्यक्तियों का ज्ञान-क्षेत्र बहुत ही सीमित हो गया। समुद्र से लगाव न रहने से जैसे नदी में नवीन लहरों का संचार नहीं होता, ठीक वही दशा मानव-मस्तिष्क की भी है। आँखें खोलकर चारों ओर देखे बिना वह पनप और बढ़ नहीं सकता। उन लोगों को इसका अनुभव तब होता था जब कोई बाहरी व्यक्ति दो-चार दिनों के लिए अतिथि होकर उनके यहाँ ठहर जाता था। जब उन्हें यह माथा-पच्ची करनी पड़ती थी कि नवागत के स्वागत के लिए उनमें कौन सबसे अधिक कुशल है। उसी पर सत्कार का सारा भार सौंपा जाता था। परिवार के अन्य लोग, जिसमें अधिक संख्या स्त्रियों की होती थी, वास्तविक भेद खुल जाने की आशंका से, अपने को छिपा लेते थे। सम्मिलित परिवार की एक बड़ी विषमता यह भी थी कि अद्भुत शक्ति से युक्त व्यक्ति भी प्रायः साधारण दृष्टि से देखा जाता था और बहुत-सी प्रतिभा-सम्पन्न विभूतियों को अपने विकास के लिए वह अवसर न मिल पाता था, जो मिलना चाहिए था। इसका कारण यह नहीं कि उस व्यक्तिविशेष से किसीको द्वेष हो। सच बात यह है कि जो सदा हमारे मध्य उपस्थित रहता है, उसके प्रति किसी विशेष भावना को स्थायित्व प्रदान करने में हम असफल रहते हैं। परिवार में ऐसे पुरुषों का तो फिर भी ध्यान रखा जाता था। जो उनकी माँगें होती थीं, उन्हें पूरा करना पड़ता था; परंतु स्त्रियों की दुर्गति थी। जबतक वे पिता के घर रहीं, गुणों के अनुरूप उन्हें आदर-सम्मान प्राप्त हुआ, बल्कि उससे अधिक भी; किंतु जब ससुराल आकर वे वहू के पद पर अधिष्ठित हुईं, फिर कौन पूछे? वहाँ तो 'सब धान बाइस पसेरी'। यद्यपि तब पढ़ी-लिखी महिलाएँ ही कहाँ थीं, जो दो-एक थीं, उन्हें लोग विद्रोही समझते थे और उपेक्षा-भरी दृष्टि से देखते थे। उनको अपना रहन-सहन वैसा ही रखना होता था जैसा परिवार की अन्य महिलाओं का रहता था। उनका इतना दमन किया जाता था कि रूढ़ियों और परंपराओं के विरुद्ध जाने की उनमें सामर्थ्य नहीं थी। यदि किसी ने ऐसा किया भी तो वाक्य-बाणों की उसपर अजस्र वर्षा होती थी। प्रकृति से सहनशील नारी पर जो पड़ा, वह उसे झेलती चली आई। उसकी वाणी मूक थी, किंतु हृदय क्रंदन करता रहता था। जब मरी खाल में यह शक्ति है कि लोहा भस्म हो जाता है, तब जीवित आहें कैसे निष्फल जा सकती हैं। युग ने अकस्मात् करवट ली। संपूर्ण वातावरण बदला और मानव-हृदय में एक विचित्र परिवर्तन हुआ। श्रद्धा, दया, त्याग और सहानुभूति के भाव दबने लगे। अपना सुख-साधन ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो गया। पहले अपने परिवार-रक्षक का पसीना ढलने पर हमारी नसों में रक्त उबलने लगता था। अब उनको ही हम ऐसे सताने लगे, जैसे प्लेग के चूहे को। उन्होंने हमारे प्रति जो किया, उसके लिए कृतज्ञता प्रदर्शन तो दूर रहा, कटु आलोचनाएँ होने लगीं। जिसके पास इतना धन है, वह यदि अपने भाई-बंधु के लिए कुछ करही देता है तो कौन बड़ी बात है। उनसे यदि कोई पूछे कि तुमने उनके लिए क्या किया तो इसका

भी उत्तर वे बखूबी दे डालेंगे, मुझे भगवान ने इस योग्य ही नहीं बनाया कि किसी को मेरे द्वारा कुछ सहायता हो सकती है, सब इच्छाएँ मन-की-मन में ही रह गईं। ऐसे लोगों ने कहने को तो कुछ नहीं छोड़ा, परंतु यह न सोचा कि करनी और कथनी में कितना अंतर है। व्यर्थ की टीका-टिप्पणी से एक मनोमालिन्य पैदा हुआ। परिवार के हितैषी कार्य-संपादन की क्षमता रखते हुए भी अपना हाथ समेटने लगे। ऐसा करते समय उन महानुभावों को बड़ा दुःख हुआ, वे पश्चात्ताप करने लगे कि इस बचत से वह लूट अच्छी जिसमें कम-से-कम आत्मतुष्टि तो थी। मन में एक कसक उठी कुल-कमल, परिवार-भर्ता, कुटुंब-रक्षक आदि संबोधनों के लिए। परिवार-प्रेम की भावना मानव की स्वाभाविक वृत्तियों में एक है। एक उदार वृत्तिवाले में इसकी मात्रा अधिक होती है। उसके लिए इसका दमन अति कठिन हो जाता है। क्रोधावेश में चाहे उसने जो कह डाला हो, परंतु उसके हृदय में कुटुंब के प्रति असीम अनुराग रहता है। वह गोस्वामी तुलसीदास के इस उक्ति का समर्थक है—

तुलसी यों सुख होत है, बढ़त देख निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत।।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वह समय कुछ और था, यह समय कुछ और है। अतः उस युग के पुनरागमन तक पुरानी मान्यताओं के अनुगामी विवेक से काम लें और अपने को आज की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की चेष्टा करें। इसका यह अर्थ नहीं कि परिवार भूखा रहे और आप मलाई का सेवन करें। हाँ, यह अवश्य है कि अपने सगे-संबंधियों को इस बात का अवसर दिया जाय कि वे अपनी जिम्मेदारी समझें। उनकी सहायता केवल उस सीमा तक की जाय जहाँतक आवश्यक हो। व्यर्थ की भावनाओं से परिचालित होकर आजीवन उनका भार सँभालने की चेष्टा करना अनुचित है। और, अब यह सोचना भी निरर्थक है कि एक व्यक्ति की सद्भावना से सारा कुटुंब सँभल जायगा। जबतक बुद्धिवाद का ह्रास न होगा, हमारा आत्मपरिष्कार संभव नहीं। जबतक हम दूसरों के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी न हो सकेंगे, तबतक सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्था की कौन कहे, माता-पुत्र तथा पति-पत्नी के प्रेम में व्यवधान उपस्थित होने की आशंका है। आज का हाहाकार और क्रंदन, कलिकाल की यह विषम ज्वाला हमारी पूत भावनाओं को जलाकर भस्म कर देना चाहती है। कुछ नवयुवतियाँ तथा नवयुवक तो अत्यधिक असहनशील हो गए हैं। वे एक ऐसे वातावरण में श्वास लेना चाहते हैं जो संघर्ष-विहीन हो, जहाँ जीवन की उलझनें न हों। ऐसा सोच बैठना उनकी भारी भूल है। मनुष्य स्वभाव से बंधन-प्रिय है। बंधन-हीन जीवन बिताने की चेष्टा का अर्थ यह है कि वे प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करना चाहते हैं, जो सर्वथा अवांछनीय है। इसका अनुगमन उन्हें शांति न देगा। यदि वे माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी तथा पुत्र-पुत्री के स्वाभाविक बंधन से अपने को दूर करने का प्रयास करते हैं तो निश्चय है कि वे किसी अस्वाभाविक बंधन में पड़ जायँगे, जहाँ उनकी मानसिक और शारीरिक क्षति होने लगेगी। यह कोई अभूतपूर्व घटना नहीं। अपने चारों ओर इसके अनेक उदाहरण हमें नित्य ही मिलते हैं। मानव-मन की दूसरी दुर्बलता यह भी है कि वह अपने आत्मीयों के दुःख में दुःखी एवं सुख में सुखी होकर एक आंतरिक शांति का अनुभव करता है। जहाँ उसको इस प्रेरणा से तुष्टि नहीं होती, वहाँ उसे सारे सुख नीरस प्रतीत होते हैं। एकाकी जीवन प्राणी के लिए असह्य हो जाता है। एक उर्दू शायर ने कहा है—

रंज हो, तकलीफ हो, आफत हो, तनहाई न हो।

मनुष्य पाषाण से भी कठोर है। संभव है वह अपनी इस नैसर्गिक भावना के दमन में समर्थ हो सके। परंतु उसका यह प्रयास कल्याणकारी नहीं। हम इस संसार में कुछ सीखने और सिखाने आए हैं। अपना कुछ देने और थातीरूप में अगले जन्म के लिए कुछ संचित करने आए हैं। हमारी इस मनःकामना की सिद्धि कैसे होगी; यदि हम किसी के अंतर में प्रवेश करने का यत्न नहीं करेंगे—जीवन को समीप से देखने का यत्न नहीं करेंगे। पलायनवाद हमारे अनुभव को सीमित कर देगा। अनुभव ज्ञान की कुंजी है। बिना इसके व्यक्ति ज्ञान-शून्य ही रह जायगा। वैयक्तिकता सामाजिक भावना को ही नष्ट नहीं करती, वह व्यक्ति का भी नाश करती है। व्यक्तिगत बाधाओं को दूर हटाने के लिए हम समाज से लड़ते हैं, सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहते हैं; किंतु यदि हमारा कोई स्वार्थ नहीं, अपना कोई आत्मीय नहीं, तो समाज चाहे शूल सुभाये या फूल बिछाये, क्या चिंता ?

जो मनुष्य किसी से स्नेह नहीं करता, उसके प्रति भी किसी को स्नेह नहीं होता। क्योंकि इस संसाररूपी हाट में आदान-प्रदान लगा है, जहाँ कभी-कभी बड़ा घाटा होता है। हम अपना बहुत-सा देकर भी दूसरों से थोड़ा ही पाते हैं। फिर जब हम इतने कठोर हो जायँ कि अपना कुछ भी न देना चाहें, तो फिर हमें कौन पूछेगा? हम रहें-न रहें, किसी को क्या हानि-लाभ! और, वह समय भी शीघ्र ही आवेगा जब हम मृत्यु की शांतिदायिनी गोद के लिए इच्छुक हो उठेंगे। यद्यपि पारिवारिक प्रेम की सीमा में बद्ध व्यक्ति की भी, आत्मग्लानि के कारण, कभी-कभी ऐसी मनोवृत्ति होती है तथापि यह भावना—अमुक को मेरी अनुपस्थिति में कष्ट होगा, उसे झट उस मार्ग से खींच लेती है। आत्मीय-विहीन प्राणी इस भावना से कैसे परिचालित हो सकता है? एक ठेस उसके जीवन के सौंदर्य को बिगाड़ सकती है अथवा निश्चेष्ट बना सकती है। चेष्टा-विहीन जीवन निष्क्रिय हो जाता है और निष्क्रियता अरुचि उत्पन्न करती है। क्या मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह विश्व-रचयिता की सृष्टि को कुरूप बनाए, कदापि नहीं। उसे सत्य और सौंदर्य के सृजन में सहयोग देना है, जिसके लिए प्रेम अनिवार्य है। इस प्रेम के कई रूप हैं—शारीरिक और मानसिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक। 'बालक जब चैतन्य होने लगता है तब उसका अपने माता-पिता, भाई-बंधु के प्रति एक ममत्व स्थापित हो जाता है। यह ममता चाहे मृगतृष्णा ही क्यों न हो, संसार के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसका निखरा हुआ सुंदर तथा संस्कृत रूप एक परिवार को कौन कहे, सारी सृष्टि को मंगलमय कर सकता है।

यह तभी संभव है जब भावना से अधिक कर्त्तव्य को प्रधानता दी जाय। निर्णायिका बुद्धि से काम लें और आत्म-परिष्कार में संलग्न रहें। हमारा यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि 'शिक्षा से उदाहरण उत्तम है' और हम अपने को उन गुणों से पूर्ण करने की चेष्टा करें जिन्हें संतान में विद्यमान देखने की हमारी बलवती इच्छा हो। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चों में बड़ों के प्रति श्रद्धा और छोटों के प्रति स्नेह हो तो पहले हमें अपना आचरण स्वयं वैसा ही बनाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। हममें से कुछ तो इस ओर प्रयत्नशील हैं, किंतु अधिकांश एक भ्रामक दिशा की ओर जा रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि नैतिकता का दिनों-दिन पतन होता जा रहा है, यहाँ तक कि आज माता और पुत्र का प्रेम भी निःस्वार्थ नहीं। एक धनहीना से कहीं अधिक आदर-संमान एक धनवती माता को प्राप्त है। आज की संतान निर्धन माता और पिता की अवज्ञा करती है। उनके ऋण से केवल दो शब्दों में उऋण हो जाती है—आपने मेरे साथ जो कुछ किया, कोई बड़ी बात नहीं। पैदा करने के नाते आपका यह कर्त्तव्य ही था। माताएँ भी समृद्धि-शाली पुत्र की ओर ही झुकती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक विधवा को अपनी तथा अपनी संतान की उदर-पूर्ति के लिए कहाँ स्थान है; सिवा अपने कमाऊ पुत्र की छत्रच्छाया के। अब ऐसी स्त्रियाँ किसी तरह अपना दिन काटती हैं। पहले उनका जीवन सुख के साथ व्यतीत होता था। पुत्र के प्रेम में वे वैधव्य का दुःख भूल जाती थीं और परिवार के नए स्वामी का हृदय से स्वागत करती थीं। अपने पुत्र और पुत्र-वधू की श्रद्धा का पात्र बनकर वे गृह-स्वामिनी के पद पर अधिष्ठित होती थीं। उनकी अन्य संतान अपने बड़े भाई को पितृ-तुल्य समझती थी और उसके प्रति पूज्य भाव रखत थी। भाई के पैसे के प्रति वही मोह होता था जो अपने पैसे के प्रति। अब हम बुद्धिजीवी हो गए और सुखजीवी भी। अपना स्वार्थ-साधन हमारे जीवन का लक्ष्य हो गया। एक भाई को दूसरे की अर्जन-शक्ति के प्रति ईर्ष्या होने लगी। उसने सोचा—'भाई तो इतना कमाता ही है, फिर मैं क्यों न बैठकर खाऊँ।' इस भावना से बंधु-बंधु के बीच वैमनस्य उत्पन्न हुआ। माता का हृदय दुःखी हुआ। उसने अपने आलसी पुत्र को कार्यशीलता का उपदेश दिया, परंतु मा की सीख सस्ती होती है, उसपर कौन ध्यान देता है? परिस्थिति बिगड़ती ही गई। अंत में यह दशा हुई कि परि-वार-रक्षक ने अपने भाई को भोजन देने म अनिच्छा प्रकट की। मा की आत्मा तड़प उठी, वह उसके लिए लड़ी और छिप-छिपकर सहायता करती गई। पुत्र को ऐसा लगा कि यह उसके पसीने की कमाई का दुरुपयोग हो रहा है। उसने मा से सारे अधिकार छीन लिए, बेचारी पैसे-पैसे के लिए मुँहताज हो गई।

आज माता-पुत्री का संबंध भी कुछ विचित्र-सा हो गया है। अधिक नहीं, केवल तीस साल पहले की बात है कि कन्याओं को अपने माता-पिता की सेवा और भाई-

बहन की देख-भाल में असीम आनंद आता था। यहाँ तक कि जब वे पति के गृह चली जाती थीं, तब भी माता-पिता के अस्वस्थ होने पर ससुराल से आती थीं और प्राणपण से उनकी सेवा-परिचर्या में संलग्न हो जाती थीं। और, एक आज की लड़कियाँ हैं, जिनमें से बहुत-सी माता-पिता के साथ रहकर भी एक बूँद पानी के लिए उन्हें पूछना अपना कर्त्तव्य नहीं समझतीं। उनमें मधुरता के स्थान पर रूक्षता आ गई है। बहुत-सी लड़कियाँ यह कहती हैं कि अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण हमारे पास इतना समय कहाँ जो इन कार्यों में योग दे सकें। लोग स्त्री-शिक्षा को नारी के इस दोष के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। मैं इससे सहमत नहीं। कोई भी सुशिक्षा मनुष्य को अशिष्ट नहीं बनाती, गुरुजनों का अनादर नहीं सिखाती, छोटों को स्नेह की छाया से अलग रहने का उपदेश नहीं देती। चाहे जितना भी समयाभाव क्यों न हो, आदर और स्नेह के प्रदर्शन का अवकाश हमें मिल ही सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के इस दोष का कारण स्वार्थ-परता की भावना है, जिससे उन्होंने कर्त्तव्य से एकदम मुख मोड़ लिया। प्रायः माताएँ दिन भर परिश्रम करती हैं, यथाशक्ति पुत्री को सुखी और शिक्षित बनाने का यत्न करती हैं, फिर भी लड़कियाँ उनके इस परिश्रम का जो मूल्य चुका रही हैं, वह उनका हृदय ही जानता है। अधिकांश के सिर पर तो फैशन का भूत सवार है। यदि माता भी कहीं फैशनेबुल हो गई, अच्छा खाने-पहनने की उसकी भी इच्छा हुई तो फिर बन आई। घर में संयोगवश यदि एक साड़ी ऐसी आई जो मा-बेटी दोनों को पसंद है तो आपस में विवाद छिड़ जाता है। यदि माता दब गई तो ठीक है, अन्यथा उस साड़ी को पहनने के पीछे उसे अपने रूप-रंग की भी आलोचना सुननी पड़ जाती है।

पिता के प्रति भी बहुत-सी आधुनिक देवियों को वह श्रद्धा नहीं जो पहले थी। यदि पिता समृद्धिशाली है तो उसके प्रति आदर की भावना उनके हृदय में है; परंतु एक सामान्य श्रेणी के पिता से तो आजकल वे अपने को श्रेष्ठतर समझती हैं। उन्हें अपने विषय में, विशेष कर विवाह के संबंध में, पिता का हस्तक्षेप प्रिय नहीं। वे मनमानी चाहती हैं, इच्छानुसार पति चुनना चाहती हैं। यदि पति मनोनुकूल न मिला तो जीवन-पर्यंत या एक लंबी अवधि तक तो अवश्य ही अविवाहित रह जाने में उन्हें कोई संकोच नहीं। विवाहोपरांत ससुराल जाकर उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मायके में तो मा दब जाती है, क्योंकि उसे पैदा करने की ममता होती है; परंतु सास से तो एक क्षण को भी पटरी नहीं बैठती। यदि सास समझदार हुई, परिस्थिति ने कोई बाधा न उपस्थित की तो अपना किनारा कसा। रह गए पति-पत्नी, उन्हें तो किसी-न-किसी तरह निर्वाह करना ही पड़ता है। पति यदि सरल स्वभाव का हुआ तो समझौते का प्रयत्न करता है। यदि कटु और उग्र स्वभाव का हुआ तो नित्य ही तू-तू-मैं-मैं होती है। पुरुष का अहं नारी को अपने अधिकार में रखना चाहता है और नारी इसे पुरुष की अनधिकार चेष्टा समझती है। इस भावना से संघर्ष होता है। खींचातानी में प्रेम का डोर टूट जाता है। पति-पत्नी एक दूसरे से बहुत दूर चले जाते हैं। कदाचित् इतनी दूर, जहाँ से लौटने के पश्चात् जीवन में मधुरता नहीं रह जाती। पति-पत्नी का संबंध तो फिर भी स्वार्थ के एक होने के कारण टूटता नहीं, परंतु भाई-बहन और बहन-बहन के स्नेह के बीच तो इस यंत्र-युग ने इतनी मोटी दीवाल खड़ी कर दी है कि वे एक-दूसरे को पहचानते भी नहीं, यदि उनमें आर्थिक असमानता है। पहले भाइयों के हृदय में अपनी बहनों के प्रति आदर और स्नेह रहता था, यहाँ तक कि मायके में गृह-कलह उपस्थित होने पर वे ससुराल से झगड़े के निबटारे के लिए बुलाकर लाई जाती थीं, अब अधिकांश बंधु अपनी भगिनी को दूर से ही हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं, पत्नी की बहन को भले ही बुला लेते हैं। इसका परिणाम यह है कि बहनों की सहृदयता भी लुप्त होती जा रही है। भाई उनके लिए एक बल या भरोसा न रहकर पट्टीदार हो गया है। पिता के अर्जित धन पर भाई का अधिकार अब उन्हें अच्छा नहीं लगता; उसके धन-धान्य को वे स्वयं हड़प लेना चाहती हैं। इस बुराई ने बहन-बहन के हृदय में भी एक असंतोष का बीज बो दिया है। जबतक वे अविवाहित रहती हैं, उनके झगड़े की जड़ आपस के रूप-रंग तथा विद्या-बुद्धि की भिन्नता होती है या एक के पास अमुक वस्तु है, दूसरी के पास नहीं; एक ने घर के कामों में हाथ बटाया, दूसरी बैठी रही, आदि। किंतु विवाह के पश्चात् जब वे ससुराल से आकर पिता के यहाँ मिलती हैं, तब भी उनके झगड़े का

अंत नहीं होता। प्रायः वे इस विषय पर लड़ती हैं कि पिताजी ने तुम्हें मुझसे अधिक दहेज दिया है।

इस तरह हमने देखा कि आज हमारा पारिवारिक जीवन बड़ा विकृत हो गया है। यहाँ तक कि लोग इससे ऊब गए हैं और इसे छिन्न-भिन्न कर डालना चाहते हैं। परंतु यह मार्ग श्रेयस्कर नहीं। परिवार का बंधन मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि विवाह का। अतः किसी ऐसे उपाय को ढूँढ निकालना है जिससे इन दोषों का परिहार हो सके। इसके लिए नए मानव के निर्माण की आवश्यकता है। यह क्रिया मानव-जीवन में उस काल से आरंभ हानी चाहिए, जब वह शिशुरूप में रहता है; क्योंकि स्वभाव के बनने-बिगड़ने का अवसर वही है। देखिए, हमारे पूर्वज इस विषय में कितने सतर्क थे। उनकी दृष्टि में बच्चा मिट्टी की मूर्ति के समान है जिसे इच्छित साँचे में ढाला जा सकता है। उनके आचार-विचार के नियम बहुत ही कठोर थे। गर्भाधान के समय से ही वे अपने को उन भावनाओं से पूर्ण रखते थे, जो एक श्रेष्ठ संतान के लिए आवश्यक है। और, एक हम हैं कि बालक क उत्पन्न होने पर भी उसे ठीक रास्ते ले चलने के प्रयास में सफल नहीं हो पाते। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारी बहुत-सी बहनें बड़ी आलसी हैं। जो निर्धन हैं, उनकी तो बात ही और है। बेचारी को चूल्हे-चक्की से अवकाश ही नहीं मिलता; परंतु दुःख तो यह है कि हमारी समृद्धिशालिनी बहनों की भी इधर विशेष रुचि नहीं। हृदय से वे अवश्य चाहती हैं कि उनकी संतान योग्य निकले, परंतु कार्य करने का साहस एवं शक्ति उनमें नहीं।

जाड़े में रजाई और गर्मी में बिजली का पंखा वे नहीं छोड़ सकतीं। कुछ घोर भाग्यवादी हैं जो यह मान बैठी हैं कि संतान बनाने से योग्य नहीं बनती, जो होता है, अपने भाग्य से। माना कि अदृष्ट की बहुत बड़ी शक्ति है, परंतु परिश्रम का भी जीवन में कम महत्त्व नहीं। इसके असंख्य उदाहरण हमारे समक्ष हैं जहाँ कि तकदीर तदबीर के साथ चली है। और, यह तो निश्चय है कि एक परिवाररूपी भवन की सुदृढ़ नींव के लिए भट्ठी में पकी हुई लाल ईंट के सदृश शील, सौजन्य और शिष्टाचार से परिपक्व संतान ही अपेक्षित है। इसके लिए दो बातें नितांत आवश्यक हैं—प्रथम वातावरण और द्वितीय, माता-पिता से अर्जित संस्कार। वातावरण का बड़ा गहरा प्रभाव मनुष्य-जीवन पर पड़ता है, विशेष कर बाल्यकाल में। अतः बच्चों को कुसंगति से दूर रखना चाहिए, इतनी दूर कि मन को अपवित्र करनेवाली भावनाओं की उनतक पहुँच ही न हो सके। साधारणतः बच्चे घर में ही पलते और बढ़ते हैं। आज की परिस्थितियों ने हमारे घर के वातावरण को भी कुछ कम दूषित नहीं बना रखा है। एक प्राणी को दूसरे पर विश्वास नहीं। ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला है। इसलिए जो माता-पिता बाहर भेज सकें, वे अपनी संतान को शिक्षा के हेतु दूर के स्कूल में भेज दिया करें।

हमारे यहाँ पहले ऐसी ही व्यवस्था थी। पचीस वर्ष की आयु तक गुरु के आश्रम में बालक शिक्षा-प्राप्ति के लिए रहता था। वहाँ से शिक्षाकाल समाप्त होने पर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। पश्चिम के बहुत-से देश अपनी संतान को विद्या पढ़ने के लिए घर से अलग रखते हैं। वहाँ इस कोटि की पाठशालाएँ भी हैं जिनमें पढ़कर बालक घर में रहते हुए भी एक सुंदर जीवन के निर्माण में सफल होता है। हमारी आर्थिक कठिनाइयों तथा अन्य बहुत-से कारणों के चलते वे साधन हमारे लिए सुलभ नहीं। अपनी संतान के लालन-पालन, भरण-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा का संपूर्ण भार हमपर ही है। अतः हमें चाहिए कि बालक को जन्म से ही सुपथ की ओर अग्रसर करें। यह सोचना निरर्थक है कि बालक अभी छोटा है, अभी से उसके पीछे पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यह सभी जानते हैं कि हरा बाँस नव सकता है, सूखे बाँस को जहाँ झुकाया, झट टूट जाता है। इसी तरह पुष्ट मानव-मस्तिष्क पर भी शिक्षा का प्रभाव प्रायः उलटा होता है। उसकी आत्मा विद्रोह कर बैठती है। बुद्धिमान माता-पिता बालक का स्वभाव ऐसा बनाते हैं, जिससे परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाने में उसे कठिनाई का सामना न करना पड़े। वे बालक को तबतक मखमली गद्दों पर नहीं लिटाते जबतक उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता कि बालक को ये सुविधाएँ सदैव मिलेंगी। यद्यपि सभी माता-पिता यह चाहते हैं कि अपने बच्चों को अच्छे-से-अच्छा खिलावें और पहनावें, और चाहिए भी ऐसा ही; क्योंकि इच्छाओं के दमन से बाल-हृदय में असंतोष का अंकुर जम जाता है, जो आगे चलकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। ऐसी भूल प्रायः माता-पिता से हो जाती है,

विशेष कर अपनी प्रथम संतान के प्रति। प्रेम की प्रथम साकार प्रतिमा होने के कारण वह उनके आनंद की वस्तु हो जाती है और लाड़-प्यार में उसका भविष्य बिगड़ जाता है। यदि दादा-दादी हुए तो फिर क्या पूछना? वे मूर्खतावश बच्चे के मुख से निकली हुई प्रत्येक बात को पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं; चाहे परिणाम में वह हानिकर ही क्यों न हो। बालक धीरे-धीरे इस स्नेह को अपना एकाधिकार समझने लगता है। जब इसके कोई और भाई-बहन उत्पन्न होता है, तब परिवार के व्यक्तियों को उससे स्नेह करते देख इसे ईर्ष्या होती है। ऐसा होना आवश्यक नहीं, किंतु कहीं-कहीं इस मनःस्थिति से युक्त संतान भी देखने में आती है। यह भाव उसमें विकार उत्पन्न कर देता है। आगे चलकर ऐसे लड़के प्रायः मंदबुद्धि हो जाते हैं, साथ ही आलसी और आनंद-प्रिय भी। समाज के नियम कठोर होते हैं, किसी के लिए ढीला होना नहीं जानते। ऐसे लोग अवसर से उचित लाभ नहीं उठा सकते। जीवनपर्यंत हाथ मलते रह जाते हैं। ऐसे ही अवगुण उन बच्चों में भी पाए जाते हैं जिन्हें माता-पिता अधिक महत्त्व देते हैं, चाहे वे बड़े हों या छोटे या मध्यम। इसलिए चाहिए यह कि सबके प्रति समभाव रखा जाय और इसका पूरा ध्यान रहे कि उनका स्वभाव न बिगड़ने पावे।

उन लोगों की संतान विपथगामिनी अवश्य हो जाती है जिनकी वाणी और कर्म में सामंजस्य नहीं होता, जो उपदेश देते हैं नीति, और प्रयोग में लाते हैं अनीति। बच्चे बड़े सूक्ष्म आलोचक होते हैं। माता-पिता के अनीति-परक व्यक्तित्व का उनपर बुरा प्रभाव पड़ता है। धोखा-धड़ी, छल-पाखंड सभी कुछ वे बचपन से ही सीखना प्रारंभ कर देते हैं; किंतु अच्छी तरह पढ़-लिख नहीं पाते। बहुत-से तो शिक्षित होकर भी अशिष्ट हो जाते हैं। जो जीवन में उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा सभी कुछ कर डालते हैं, वे प्रायः ऐसे ही माता-पिता की संतानें होती हैं। सज्जन व्यक्ति के बाल-बच्चे भी कभी-कभी दुर्जन हो जाते हैं, परंतु ऐसा बहुत कम होता है; यदि हुआ भी तो उसके लिए गुप्त कारण उत्तरदायी होते हैं। संभव है, मा-बाप में कोई अवगुण हो जो जीवन भर अप्रकट रहा हो। फिर, एक उत्तम दंपति का बालक भी परिस्थितियों की विवशता के कारण किसी अनमेल वातावरण में पालित होने से नीच हो सकता है। वाता-वरण का बड़ा गहरा प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है।

पति-पत्नी के बीच जहाँ अनबन रहती है, द्वेष और पारस्परिक कलह रहता है, वहाँ जीवन का रस नहीं मिलता। पत्नी से प्रेम न होने के कारण ऐसे लोग घर आते हैं केवल भोजन और शयन के लिए। उनके बच्चों में पितृ-प्रेम नहीं होता। पिता के सामने होने में वे सहमते हैं और उनसे घृणा भी करते हैं। पिता द्वारा माता की उपेक्षा देखकर बच्चे भी माता का अनादर करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि संतान माता और पिता के उचित नियंत्रण से रहित रहने के कारण विपथगामिनी हो जाती है। यही दशा उन बच्चों की भी होती है जिनके माता-पिता पश्चिमी संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हैं, जिनकी विलासिता की ओर अभिरुचि है और जो बच्चों को नौकर या 'आया' के हाथों में सौंपकर स्वयं सिनेमा, थियेटर, 'डिनर' तथा 'ऐटहोम एटेंड' किया करते हैं।

इस संबंध में एक बात और है, जो हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिए। चाहे मनुष्य सुंदर एवं स्वच्छ वाता-वरण में पला हो, उसके पवित्र संस्कार हों, सुलझे हुए विचार हों; किंतु उसके जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है जब परिस्थितियों का प्रभाव बड़े गहन रूप से उसपर पड़ता है। मन में अनेक संकल्प-विकल्प होते हैं। यह समय किशोरावस्था है। इस काल में भावुक प्रकृति के नवयुवक के अंतस्तल में बड़ा वेग होता है। वह ठोस जगत् से दूर, बहुधा कल्पना-जगत् में, विचरण करता है। वह संसार के नग्न और कठोर सत्य की ओर आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहता। उसे चारों ओर जीवन की मधुरता अपना रंगीन प्रकाश फैलाती दिखाई देती है। मधुर संगीत उसके कानों को प्रिय लगता है। कवि-जीवन उसे रुचिकर प्रतीत होता है। अनेक नवयुवक प्रेम के उन्माद से भी पीड़ित रहते हैं। वे उसे शारीरिक अथवा मानसिक आकर्षण का नाम न देकर अलौकिक एवं ईश्वरीय वस्तु कहते हैं। वाह्य सहानुभूति, लंबे वाक्य तथा आलंकारिक भाषा के सहारे वे नित्य नए संबंध जोड़ने-तोड़ने में अपना अमूल्य समय नष्ट करते हैं। बहुत-से माता-पिता इन बुराइयों से उन्हें मुक्त करने के लिए कोई प्रयत्न उठा नहीं रखते; क्योंकि उनकी हार्दिक इच्छा यह रहती है कि संतान उन दोषों से बची रहे, जिनके वे भुक्तभोगी हैं अथवा जिनमें संलग्न होने का हानिकर प्रभाव किसी नवयुवक तथा नवयुवती के जीवन पर

पड़ता है। अतः उनकी ओर से पग-पग पर सजग होने का आदेश मिलता है। जब वे देखते हैं कि उनके उपदेशों का कोई मूल्य नहीं, तब वे क्रुद्ध होते हैं, सभय-असमय का ध्यान छोड़कर सख्त बातें सुना जाते हैं। युवकवर्ग इन बातों का उल्टा अर्थ लगाते हैं और विद्रोही हो जाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि उनके हृदय में असंतोष रहता है जो विद्रोह के गान की पहली कड़ी है। इस असंतोष का कारण यह है कि वे अपने आदर्श को यथार्थ जीवन में ला न सके। जिन अंतरंग मित्रों ने आजीवन साथ देने का प्रण किया था, उन्होंने धोखा दिया, निराश किया और उनके गूढ़तम रहस्य खोल दिए। जिस प्रेम को वे अपनी संपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति का साधन समझते थे, वह पेट की ज्वाला को भी न शांत कर सका। आवश्यकता पड़ी रोटी के टुकड़ों की, जिसके लिए परिश्रम करना पड़ा, दर-दर की खाक छाननी पड़ी। ऐसी निराशा में डूबे हुए व्यक्ति के साथ रूखा व्यवहार करना भूल है। वास्तव में 'अक्ल आती है बसर को ठोकरें खाने के बाद।' दो-चार ही ऐसे मिलेगें, जो दूसरों का गिरना सुनकर इतने सजग हो गए हों कि कभी गिरे ही न हों। यदि ऐसा होता भी है तो वह एक अवस्थाविशेष को पार करने के बाद ही। एक षोडशवर्षीय बालक तथा बालिका से यह आशा करना निरर्थक है। वह तो भूल करके ही रास्ते पर आवेगा। हाँ, कोई भारी चूक न हो जाय, यही बचाने की हमें प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए। बुद्धिमान माता-पिता ऐसा करते भी हैं। वे अपने को एक किशोरावस्था के व्यक्ति के उपयुक्त भावों से भरकर प्रेम के द्वारा उन्हें समझाते हैं और उन्हें समझने का प्रयास करते हैं। प्रेम की शक्ति अपरिमित है। इससे हिंसक पशु भी वश हो जाते हैं। फिर क्या संतान वश न हो सकेगी, जो अपना ही एक अंश है!

सर्प के प्रति

श्री बालकृष्ण राव

चिर-विनय की मूर्ति, तुम साकार अनुनय,
चरण-रज धारण किए, साष्टांग करते,
पेट के बल रेंगते, आराध्य अपना
खोजते अंजलि चढ़ाने को निरंतर।

मैं बता दूँ, देख लो वह जा रहा है;
भूमि पर झुकती न उसकी दृष्टि पल भर,
सामने जो पड़ गया उसको कुचलता,
डालता जाता धरा के वक्ष पर हैं
चिह्न गुरुता और बल के, यह समझता
अब न आएगी कभी आँधी इधर फिर
जो उड़ाकर धूल इन पर डाल देती।

देख लो, पहचान लो इस देवता को,
वरद पद से दलित हो, सविनय लिपटकर
आज कर दो सर्प, अर्पित भक्ति अपनी।

गलत धारणा

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

अपने पलंग पर बैठी-बैठी मनोरमा, कमरे के दरवाजे में से सावन की बूँदा-बाँदी देख रही थी। उसी कमरे के एक कोने में रखे रेडियो पर किसी कोकिलकंठी का गीत गूँज रहा था।

श्याम बदरिया सावन की रे,
रिमझिम-रिमझिम बरसे !
आज वियोगिनि दूर देश में,
पिया-मिलन को तरसे !

गीत की इन पंक्तियों ने मनोरमा के अंतस्तल को सहसा मथ डाला। एक कसक अनजाने ही उसके मानस में तरंगित हो उठी। उसके अंतर की नारी ने अविदित रूप में स्वीकार किया कि वह भी तो एक वियोगिनी है—अपने पिया से दूर, बहुत दूर। माना कि अबतक मनोरमा कुमारी ही है। दुनिया की दृष्टि में अभी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसे वह 'पिया' कह सके। परंतु मनोरमा का हृदय इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहता। करे भी क्यों ?

जिस कलाधर के साथ मनोरमा का वाग्दान हो चुका है, वही उसका पिया है न! मनोरमा अब कुमारी और विवाहिता के बीच की नारी हो चुकी है—वाग्दत्ता है। इसीलिए वह शायद अपने-आपको वियोगिनी समझ रही है।

मनोरमा के वाग्दान की बात उसके परिवार के अतिरिक्त अभी दूसरों को ज्ञात नहीं। इसीलिए दुनियावाले उसे कुमारी समझ रहे हैं। और, जबतक सात फेरियाँ न पड़ जायँ, तबतक मनोरमा कुमारी ही समझी जायगी। परंतु मनोरमा जानती है कि भारतीय कन्या जिसे एक बार अपना पति स्वीकार कर लेती है, वही उसका पति है। कलाधर के साथ उसका वाग्दान हो चुका है तो भाँवरें भी उसी के साथ पड़ जायँगी। कलाधर अभी बी० ए० में पढ़ रहा है। इसी कारण उसके पिताजी ने इस वर्ष विवाह सपन्न नहीं कराया। उनका कहना है कि बी० ए० हो जाने पर ही विवाह होगा। और, कलाधर आगामी वर्ष बी० ए० हो जायगा और तभी मनोरमा के साथ उसका गठबंधन भी हो जायगा।

मनोरमा ने मन-ही-मन स्वीकार किया कि ऐसी स्थिति में वह इस वर्ष वियोगिनी ही है। बस, आगामी बरसात तक वह भी अपने पिया के घर चली जायगी।

मन के इसी ऊहापोह पर तिरती मनोरमा ध्यान से रेडियो का गीत सुन रही थी और अपने-आपको उस गीत की वियोगिनी नायिका अनुभव कर रही थी। तभी घर के बूढ़े नौकर रामू ने आकर एक हरा लिफाफा उसकी तरफ बढ़ाते हुए कहा—'बिटिया, यह चिट्ठी है तुम्हारी।'

मनोरमा ने घूमकर रामू की तरफ देखा, फिर कहा—'मेरी चिट्ठी !' और उसने हरा लिफाफा लेते हुए पूछा—'किसने दी है ?'

'बड़े सरकार ने !' रामू ने कह दिया—'अभी-अभी डाक आई है। यह हरा लिफाफा तुम्हें देने का हुक्म मिला है मुझे।'

'अच्छा !' कहकर मनोरमा लिफाफा खोलने लगी। रामू उस कमरे से बाहर चला गया।

इस वर्ष मैट्रिक उत्तीर्ण करके मनोरमा अब आगे न पढ़ने का निश्चय कर चुकी है। उसकी अपनी इच्छा तो आगे पढ़ने की बहुत थी, परंतु उसके भावी श्वसुर ने कह दिया है कि-मैट्रिक तक की शिक्षा पर्याप्त है। बहू से हमें नौकरी नहीं करानी है, कि किसी कालेज में उसे भेजा जाय। इसीलिए मनोरमा को अपनी अभिलाषा दबा देनी पड़ी। ससुराल के नियंत्रण का पहला अनुभव उसे इसी रूप में करना पड़ा।

हरा लिफाफा खोलकर मनोरमा ने देखा कि उसकी सहपाठिनी नलिनी का पत्र है। नलिनी उसकी बाल-सहेली है। इसी वर्ष उसका विवाह हुआ है। यह पत्र उसने अपने पिया के घर से ही लिखा है।

चाँदनी रातों में आगरे के ताजमहल का अलौकिक सौंदर्य-दर्शन; यमुना की गहरी, नीली जलराशि पर साजन के साथ नौका-विहार और कुहु-कुहु मुहु-मुहु करती कोयल की मादक तानों से गूँजती अमराई में सैर-सपाटा। सोने के दिन और चाँदी की रातें! नलिनी अपने जीवन में ऐसे अलौकिक आनंद का स्पर्श कर परम सुखी है।

पत्र पढ़ते-पढ़ते मनोरमा आत्मविभोर होने लगी। उसे लगा कि आगामी वर्ष वह भी अपने पिया के साथ ऐसे ही अलौकिक आनंद का अनुभव कर सकेगी। कलाधर की एक झाँकी वह अपनी आँखों देख चुकी है। तपे स्वर्ण-सा निखरा रंग, हृष्ट-पुष्ट शरीर, चौड़ा मस्तक, बड़ी-बड़ी आँखें, सघन भौंहें और घुँघराले बाल। सस्मित ओठ और मर्मभेदी दृष्टि। आकर्षक व्यक्तित्व! मनोरमा की नारी ने स्वीकार किया कि ऐसे पिया के पार्श्व में वह भी नलिनी से कम सुखी थोड़े ही रहेगी।

नलिनी ने लिखा है—'अब वर्षा की रिमझिम-रिमझिम बूँदा-बाँदी और मंद फुहारों के बीच हम-दंपति की तरुणाई की उमगों में अकल्पित बाढ़ आ रही है। नीलाकाश में अचानक घिर आनेवाली काली बदरिया जब मूसलधार वर्षा करने लगती है, तब हमारा मन-मयूर खुलकर नाच उठता है। एक मादक रागिनी फूट पड़ती है और हमें उन्मत्त बना जाती है। सच, मनोरमा; जीवन का वास्तविक सुख जीवनसंगी के पार्श्व में ही नारी को प्राप्त होता है। अब तो सावन आ पहुँचा है। शीघ्र ही प्रयाग आ जाऊँगी। बड़े भैया एकाध सप्ताह के बाद ही मुझे लिवाने आ रहे हैं। प्रयाग आकर तुम्हें अन्य सारी बातें बतलाऊँगी।'

अन्य सारी बातें? मनोरमा के अंतराल में एक प्रश्न प्रतिध्वनित हुआ। तो नलिनी ने इस पत्र में जो कुछ लिखा है, उसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बातें होंगी, जिन्हें उसने स्वयं मिलने पर कहने के लिए रख छोड़ा है? अवश्य यही बात होनी चाहिए, नहीं तो वह ऐसा लिखती ही क्यों? तभी भूरी बिल्ली उस कमरे के एक कोने में अचानक म्याऊँ-म्याऊँ कर उठी। मानों बिल्ली भी कह रही हो कि हाँ, यही बात है।

मनोरमा पत्र पढ़ चुकी थी। उसे यत्नपूर्वक मोड़कर लिफाफे में रख ही रही थी कि अपने दोनों कंधों पर किसीके अचानक स्पर्श का अनुभव कर वह चौंक उठी। घूमकर देखा, तो भाभी मुस्करा रही थीं।

'इस तरह भयभीता हरिणी की तरह चौंकने का समय भी आ रहा है, बीबीजी?'—भाभी कहने लगी—'बस अगली बरसात में साजन के अचानक स्पर्श से इसी तरह तुम चौंक उठोगी। अभ्यास अच्छा कर रही हो।'

'तो यह कहो भाभी कि तुमने अपने विवाह से पहले ऐसा ही अभ्यास किया था मायके में?'—मनोरमा ने अपनी भाभी को निरुत्तर करने की चेष्टा की।

'यह तुम अपने भैया से पूछ देखो।'—भाभी ने अपराजिता की मुद्रा में कहा—'उनकी बात पर तुम्हें विश्वास भी हो जायगा और पूरा-पूरा पता भी चल जायगा कि यह अभ्यास मैंने मायके में किया था अथवा तुम्हारे भैया ने स्वयं यह सब मुझे सिखाया है।'

'हुश!'—मनोरमा ने पैनी दृष्टि से भाभी की ओर देखते हुए कहा—'ऐसी बातें कहीं भैया से भी पूछी जाती हैं! सच बताओ भाभी, तुमने कभी अपने भैया से पूछी थी ऐसी बातें?'

'मुझे ऐसी आवश्यकता का अनुभव नहीं करना पड़ा था।'—भाभी ने सामने ही एक कोच पर बैठते हुए कह दिया।'

'तो मुझे ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी कि मैं इन बातों का अभ्यास करती फिरूँ?'—मनोरमा ने तुनकते हुए कहा।'

'क्यों नहीं!'—भाभी ने कहा—'तुम्हारा वाग्दान बहुत पहले जो हो चुका है। विवाह होने को अभी लगभग एक वर्ष का लंबा समय बीच में पड़ा है। फिर तुम अपने साजन की झाँकी भी देख चुकी हो। झाँकी ही क्यों, नवीन प्रथा के अनुसार जब कलाधरजी तुम्हें देखने आए थे, तब तुम अपने हाथों उन्हें चाय भी तो पिला चुकी हो। थोड़ी ही सही, लेकिन मीठी-मीठी बातें भी कर चुकी हो। ऐसी दशा में मेरी और तुम्हारी स्थिति में बड़ा अंतर पड़ गया है, बेटी!'

'कैसा अंतर, भाभी?'

'अरे! छोड़ो भी इन बातों को।'

'नहीं भाभी!'—मनोरमा ने आग्रह किया—'तुम्हें अब बतलाना ही होगा।'

'यही कि विवाह के पहले न तो मैंने तुम्हारे भैया को कभी देखा था, न उनसे कोई बातचीत की थी और न उन्हें कभी कोई ...।' कहते-कहते भाभी अचानक चुप हो गई।

'चुप क्यों हो गईं भाभी ? बात करते-करते यों अधूरी छोड़ देना मुझे अच्छा नहीं लगता।'

'बुरा तो न मान जाओगी ?'--भाभी ने मुसकराते हुए पूछा।

'तुम्हारी किसी बात का कभी मैंने बुरा माना है, भाभी, या आज ही मान जाऊँगी ? तुम अपनी बात फौरन कह डालो।'

'तो मैं यह कह रही थी कि विवाह के पहले मैंने तुम्हारे भैया को कभी कोई पत्र भी नहीं लिखा।'

'अब तुमने पते की बात कही भाभी !'— मनोरमा ने मुसकराते हुए कहा। वह समझ चुकी थी उसके हाथ में नलिनी का जो हरा लिफाफा अभी-अभी भाभी ने देख लिया है, उसे कलाधरजी का पत्र समझ बैठी है वह। यदि यह बात न होती तो इतनी लंबी-चौड़ी भूमिका शायद न बाँधी जाती। और, भाभी के इस संदेह को मनोरमा ने और भी गहरा करने का मन-ही-मन निश्चय करते हुए कहा—'भाभी, अब नवीन प्रथा की आड़ में विवाह होने के पहले ही वर-वधू एक दूसरे को देख लेना चाहते हैं, आपस में बातचीत कर लेना चाहते हैं और एक दूसरे को पसंद-नापसंद भी कर लेते हैं, तो पत्र लिखना भी कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं होनी चाहिए।'

'तनिक भी नहीं।'--भाभी ने कहा—'यदि आश्चर्य-जनक बात समझी जाती, तो हमलोग तुमसे कुछ कहते-सुनते भी अवश्य। अच्छा है, विवाह होने के पहले इस प्रकार पत्रों द्वारा तुम दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाओगे और तुम्हारा जीवन सुखी रहेगा।'

कुछ क्षण उस कमरे का वातावरण मौन रहा। रेडियो-प्रोग्राम समाप्त हो चुका था। कोने में बैठी बिल्ली भी कहीं गायब हो चुकी थी। एक सन्नाटा-सा व्याप्त था। बाहर बरसनेवाली बूँदों का स्वर निश्चय ही अपना एक निराला समाँ बाँध रहा था।

इस शून्य वातावरण को मुखरित करते हुए भाभी ने कहा—'मालूम पड़ता है, मेरे ननदोई कलाधरजी बड़े रसिक हैं, बेटी।'

'तो तुम यह कहना चाहती हो भाभी कि मेरे भैया रूखे हैं ?'—मनोरमा ने भाभी की आँखों में अपनी आँखें गड़ाते हुए कहा।

'प्रत्येक बात में भैया का नाम क्यों ले आती हो, बेटी ?'—भाभी ने कहा—'जिनकी बात मैं कर रही हूँ, उन्हीं तक सीमित रखो यह बातचीत।'

'खैर, मेरी बात का उत्तर मुझे मिल गया भाभी !'—मनोरमा ने कहा—'संतोष है कि मेरे भैया भी रसिक हैं।'

'और, मुझे भी मेरी बात का उत्तर मिल गया, बीबी जी !'—भाभी ने तपाक से कह डाला।

'झूठ ! मैंने अभी तुम्हारी बात का उत्तर ही कहाँ दिया, भाभी ?'

'दे चुकी हो !'—भाभी ने कहा—'भैया भी रसिक हैं—इन शब्दों में 'भी' का अर्थ बहुत ही स्पष्ट है। इसका अर्थ ही यह हुआ कि कलाधरजी जैसे रसिक हैं, तुम्हार भैया भी वैसे ही रसिक हैं।'

'तुम बहुत चतुर हो, भाभी ! शब्दों की तुम्हारी पकड़ गहरी है। तुम्हें वकील होना था, भाभी ! अब मैं बहुत सँभलकर तुमसे बात किया करूँगी।'

'डरो नहीं। मैं कभी दूसरों के सामने तुम्हारी बातें न खोलूँगी। तुम इसी तरह खुलकर बात किया करो मुझसे।' फिर एक क्षण रुककर कहा—'अच्छा, यह तो बतलाओ, बीबीजी, क्या लिखा है तुम्हारे साजन ने आज के पत्र में ?'

'ऊँहुँ !'—मनोरमा ने सिर हिलाते हुए भाभी का आग्रह टाल देने की चेष्टा की।

'भाभी से इतना शरमाती हो ?'

'ऐसी बात तुम्हें पूछनी ही नहीं चाहिए, भाभी !'

'क्यों ? ननद-भाभी में तनिक भी दुराव जो नहीं रहता ! विवाह हो जाने पर तुम स्वयं स्वीकार करोगी कि अपने मन की गोपनीय-से-गोपनीय बात भी, तुम इस भाभी से छिपा न सकोगी। मेरे बिना पूछे ही स्वयं सब बतलाया करोगी।' फिर थोड़ी देर मौन रहकर भाभी ने कहा—'और, मैं क्या जानती नहीं कि क्या लिखा होगा कलाधरजी ने !'

'जब जानती हो, तब पूछती क्यों हो ?'—मनोरमा ने मुसकराते हुए कहा—'अच्छा, बताओ, क्या लिखा है ?'

'अरे, यही लिखा होगा कि मेरे हृदय की सम्राज्ञी, बरसात की यह मंद फुहार मेरे तन-मन को तुम्हारे बिना व्याकुल कर रही है। पपीहे का 'पिउ-पिउ' स्वर मेरे तन-मन को विदग्ध कर रहा है और··· ।'

भाभी जिस नाटकीय अभिनय के साथ यह सब प्रकट कर रही थीं, उसे देख मनोरमा जोरों से खिलखिला उठी।

मनोरमा को इस प्रकार खुलकर हँसते देख, भाभी का धारा-प्रवाह संवाद अचानक बंद हो गया। कहा उन्होंने—'अरे, तुम तो हँसने लगीं! शायद मेरी धारणा गलत निकली!'

'एकदम गलत।'—मनोरमा ने गंभीर मुद्रा से कहा—'तुम तो नाटक करने लगीं भाभी, नाटक!'

'तब तुम स्वयं क्यों नहीं बतलातीं?'

'बता सकती हूँ भाभी, लेकिन एक शर्त्त पर।'

'वह क्या?'

'पूरी करने का वादा करो।'

'अवश्य पूरा करूँगी।'

'तो वादा करो कि भैया से या और किसी से घर में यह रहस्य प्रकट न करोगी।'

'बस, इतनी-सी शर्त्त।'—भाभी ने उत्सुकतापूर्वक मनोरमा के पास आकर उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—'मेरी भोली बेटी! भला, ये बातें मैं किसी से क्यों कहूँगी? और कहूगी, तो सदा के लिए तुम्हारा विश्वास न खो बैठूँगी? मैं वचन देती हूँ कि तुम्हारे पत्रों की चर्चा मैं किसी से न करूँगी। अच्छा लाओ, पढ़ूँ तुम्हारा पत्र।'

'अभी देती हूँ।'—मनोरमा ने कहा—'लेकिन एक बात तो बतलाओ भाभी, तुम्हें यह पता कैसे चला कि मेरे पास 'उनके' पत्र आते-जाते हैं?'

'बूढ़ा नौकर रामू कह रहा था, बिटिया के नाम का कहीं से एक हरा लिफाफा आया है आज की डाक में। अबतक तो कहीं से कोई पत्र बिटिया के नाम आया नहीं था। शायद दामाद ने भेजा हो।' भाभी ने कह डाला—'और मैंने स्वयं इस कमरे में पैर रखने के पहले पर्दे की ओट से देखा कि तुम यह पत्र आत्मविभोर होकर पढ़ रही हो! भला, साजन के पत्र के अतिरिक्त और किसी का पत्र क्यों तुम इतनी तल्लीन होकर पढ़ोगी?'

मनोरमा को मन-ही-मन जोरों की हँसी आ रही थी। उसे लगा कि किस प्रकार घर के ही लोग लड़कियों के प्रति गलत धारणा बना बैठते हैं। उसने संयमपूर्वक हँसी को रोक, वह लिफाफा भाभी की तरफ बढ़ाते हुए कहा—'लो भाभी! पढ़ लो पत्र। लेकिन दिए हुए वचन की रक्षा करने का ध्यान अवश्य रखना।'

और, भाभी ने बड़ी उत्सुकता से उस लिफाफे में से पत्र निकालकर ज्योंही पढ़ना प्रारंभ किया कि उनके ललाट पर बनने-मिटनेवाली आड़ी-तिरछी रेखाओं से यह भासित होने लगा, मानों आज उन्होंने बहुत बड़ा धोखा खाया हो। शायद एक अप्रकट-सी ग्लानि भी उनके मन में होने लगी। यों नलिनी का पत्र भाभी को भी पुलकित करने के लिए पर्याप्त था; किंतु उसका वास्तविक रसास्वादन शायद इस समय वह न कर सकीं। मनोरमा पर उनका संदेह एकदम निराधार जो निकल गया।

पत्र पढ़कर एक मलिन-सी मुसकराहट के आवरण में भाभी ने कहा—'आज जाना बेटी, कि तुम दूसरों को छकाना खूब जानती हो। अरे, पहले ही क्यों न कह दिया कि यह पत्र नलिनी का है—कलाधारजी का नहीं।'

'यदि यह बतला देती, तो तुम सबकी मेरे प्रति जो धारणाएँ हैं, उनका पता कैसे चलता, भाभी?'—मनोरमा ने गंभीर स्वर में कहा—'विश्वास करो भाभी, आजतक न तो 'उन्होंने' मुझे कोई पत्र लिखा है, न मैंने।'

भाभी ने मनोरमा को अपने वक्ष से चिपकाते हुए कहा—'बुरा न मानना बेटी? ननद-भाभी को एक दूसरे की गोपनीय बातें जानने का भी अधिकार है। इसीलिए मैंने तुमसे इतनी बातें की हैं आज। और, तुम्हारे प्रति हम-लोगों की धारणाएँ तनिक भी बुरी नहीं हैं—विषाक्त नहीं हैं, भविष्य में भी कभी न होंगी!'

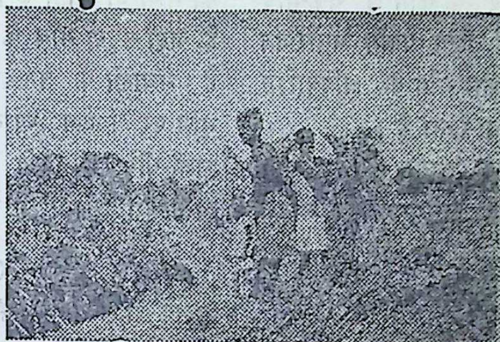
बाहर अब जोरों की वर्षा होने लगी थी। भूरी बिल्ली फिर उस कमरे में कहीं से आ पहुँची थी और 'म्याऊँ-म्याऊँ' करने लगी थी।

आदिवासियों के गाँव

श्री सच्चिदानंद

छोटा नागपुर के आदिवासियों के गाँव में एक खास विशेषता रहती है। उनकी ग्राम-व्यवस्था उसी भाग के हिंदुओं के गाँव से भिन्न होती है। हिंदुओं के गाँव की जनसंख्या भिन्न-भिन्न जातियों तथा वर्गों से बनी होती है, जिनमें एकरूपता नहीं रहती। आदिवासियों के गाँवों के निवासियों में सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक विषमता नहीं होती। सभी लगभग एक स्तर के होते हैं। इसलिए वे भ्रातृत्व के सूत्र में बँधे रहते हैं।

स्थिति और विस्तार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जन-जातियों के गाँव एक-दूसरे से पृथक् होते हैं। जो जातियाँ जंगल जलाकर खेती करती हैं, उनके गाँव घने जंगलों के मध्य स्थित रहते हैं। इस परिस्थिति में गाँव बड़े नहीं हो सकते, क्योंकि समय-समय पर उन्हें स्थान-परिवर्तन करना पड़ता है। इससे न केवल उनका विस्तार ही सीमित हो जाता है, बल्कि समय-समय पर उनका स्थिति-परिवर्तन करना भी अनिवार्य हो जाता है। 'टाँडा' - नामक 'बिरहोर'-ग्राम में लगभग दस से अधिक झोंपड़ियाँ नहीं होंगी; जो यों ही एक-दूसरे में गुँथी हुई हैं। जो जातियाँ ऐसी भूमि पर खेती करती हैं, जहाँ स्थान-परिवर्तन नहीं करना पड़ता, वहाँ ये झोपड़ियाँ गाँव की सीमा के भीतर ही रहती हैं। ये गाँव जंगल से कुछ दूर पर स्थित रहते हैं। इनमें करीब ५० झोंपड़े होते हैं। इस तरह के गाँव किसी ऊँचे टीले पर स्थित होते हैं, जिसके चारों ओर ऊँची-नीची भूमि फैली रहती है। हाल के बसे हुए कुछ गाँव नदियों के तीर पर भी स्थित हैं। ये प्रायः नदियों द्वारा बनाए गए ऊँचे टीलों पर बसे हैं।



खलिहान के काम में तल्लीन

गाँवों की बनावट किसी खास नमूने के अनुसार नहीं होती। 'संथाल' और 'पहाड़िया' जातियों के घर लंबी सड़कों के दोनों किनारों पर स्थित रहते हैं, जो 'सदरकुली' कहलाते हैं। इनके गाँवों में जो क्रमबद्धता तथा स्वच्छता रहती है, वह उन्नतिशील जातियों में भी नहीं मिलती। प्रत्येक घर के पीछे एक 'बाड़ी' होती है, जिसे हम 'रसोईघर की वाटिका' कह सकते हैं।

विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित निवास-स्थल उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल ही होते हैं और उनके सांस्कृतिक स्तर को भी व्यक्त करते हैं। 'बिरहोरों' के झोंपड़े पेड़ों की डालियों और पत्तों से बने त्रिकोणाकार होते हैं, जिनमें एक ही द्वार होता है। स्थायी गाँवों में रहनेवाली जातियों के घर इतने सरल तरीके से बने हुए नहीं होते। एक संपन्न 'मुंडा' के घर में कम-से-कम दो विभाग होंगे। पिछले भाग में आँगन अवश्य होगा। एक भाग उसका शयनागार होता है, जिसमें गाय और बकरियाँ भी रहती हैं। दूसरा भाग उसका भोजनालय होता है, जहाँ उसके कुल-देवता भी निवास करते हैं। प्रत्येक घर में एक बड़ा कमरा और एक सायवान होता है, जो फूस या खपड़े से छाया रहता है। उसकी दीवारें या तो मिट्टी की अथवा बाँस की बनी हुई होती हैं। इसमें खिड़कियाँ नहीं होतीं।

बिहार के आदिवासियों के गाँवों की विशेषता—वहाँ की ग्राम-संस्थाएँ हैं जो अन्यान्य (हिंदू) गाँवों में नहीं मिलतीं। ये ग्राम-संस्थाएँ—अखाड़ा या नृत्य-स्थल, 'सासन' या हड्डी गाड़ने का स्थल, 'सरना' या धार्मिक स्थल और युवक-रंगशाला आदि हैं। लेकिन पर्वत-प्रदेश के 'खड़िया', 'बिरहोर' और कुछ 'सौरिया पहाड़िया' गाँव इस प्रकार के नहीं होते। उनमें ऊपर लिखी हुई एक या अनेक संस्थाओं का अभाव रहता है। ग्राम-अखाड़ा एक ऐसा स्थल है जिसे बहुत बड़ी सामाजिक प्रमुखता प्राप्त है। यह एक बहुत



'हो' जन-जाति का नृत्य

ही विस्तृत उन्मुक्त स्थल होता है, जो प्रायः गाँव के मध्य में या किनारे पर स्थित रहता है। यहीं पर ग्राम-पंचायत की सभाएँ भी होती हैं। प्रतिदिन संध्या समय यहाँ नृत्य का आयोजन रहता है, जो दिनभर के काम से थके-माँदे बच्चे-बूढ़े—सभी ग्राम-वासियों के लिए पर्याप्त मनोरंजन का साधन हो जाता है। यह मुख्यतः गाँव के अविवाहित युवक-युवतियों के लिए ही सुरक्षित रहता है।

'मुंडा' तथा 'हो' जातियों में 'सासन' की प्रमुखता है। यह आदिवासियों के पुरखों के अस्थि-अवशेष गाड़ने का स्थल होता है, जो गाँव के एक किनारे पर स्थित रहता है। जिस गाँव में एक से अधिक जातियों के लोग रहते हैं, वहाँ प्रत्येक के 'सासन' पृथक्-पृथक् होते हैं। यदि कोई 'मुंडा' अपनी परंपरागत जन्मभूमि से दूर मर जाता है तो उसके संबंधी उसकी अस्थियों को उसकी जन्म-भूमि के 'सासन' में ही गाड़ने के लिए ले आते हैं। 'सासन' में बड़ी-बड़ी प्रस्तर-शिलाएँ रहती हैं जो या तो भूमि पर पड़ी रहती हैं या छोटे-छोटे पत्थर के खंभों पर आश्रित रहती हैं। ये खंभे 'सासनदिरि' कहलाते हैं। एक जाति के मृतकों की अस्थियाँ प्रतिवर्ष, एक खास उत्सव—जंगटोपा—के दिन जमा की जाती हैं। साधारणतया 'सासनदिरि' आदर की वस्तु नहीं है। कभी-कभी उन स्मारक शिलाओं में छेद करके चावल कूटने के लिए ऊखल का काम भी लिया जाता है। 'हो' जातिवाले प्रतिवर्ष एक बार इन शिलाओं को तेल से स्नान कराते हैं। 'ओराँव' के यहाँ भी इस प्रकार के स्मारक स्थल हैं, जो 'मुंडा' कहे जाते हैं।

वे इस स्थल को बाद में आई जातियों द्वारा उपयोग में लाए जाने के विरोधी नहीं हैं।

'सरना' 'जाहर' या 'जाहिरा' (विभिन्न जातियों में ये भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं।) गाँव का पवित्र वन-खंड है। गाँव की स्थापना के समय आदि-वन का एक भाग ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाता है। इसी वन-प्रांतर में पेड़ों के नीचे गाँव के विभिन्न देवताओं का स्थान माना जाता है, यहीं पर चूल्हे का वह काला पत्थर भी रहता है, जिसपर गाँव का पुजारी देवता के लिए प्रसाद बनाता है, जो ग्राम-समूह में वितरण किए जानेवाले प्रसाद से भिन्न होता है। पूजा-काल में 'जाहर' में एक अस्थायी झोंपड़ी बनाई जाती है, जिसमें जानवरों की बलि दी जाती है। इसी के समीप वह स्थल भी रहता है, जहाँ संपूर्ण गाँव के लिए वार्षिकोत्सव पर भोजन पकता है। संथालों के वन-प्रांतर में प्रधान वृक्ष के नीचे की भूमि पर विशेष ध्यान रखा जाता है। वहाँ मिट्टी के हाथी-घोड़े भी रखे रहते हैं, जिनपर देव-मूर्तियाँ भी रहती हैं। 'सरना' में देव-मूर्तियाँ नहीं रहतीं।

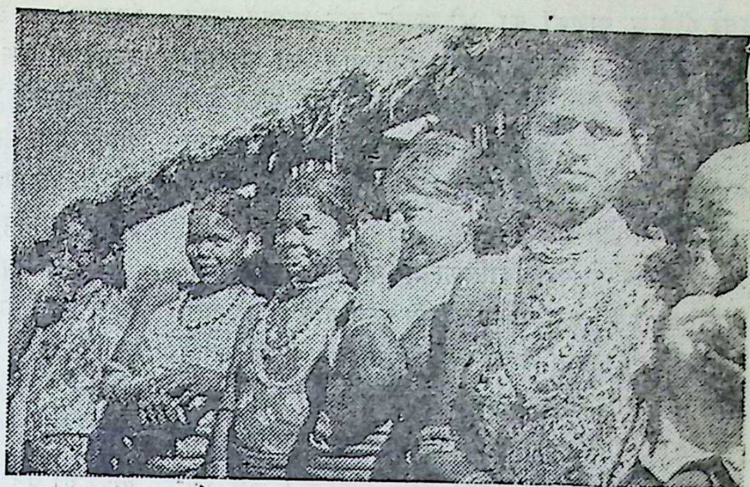
बिहार के आदिवासी गाँवों की दूसरी विशेषता बालक-बालिकाओं की रंगशालाएँ हैं। 'बिरहोरों' के गाँवों में ये नहीं मिलतीं; पर कुछ 'टाँडों' के गाँवों में रंगशाला के लिए दो झोपड़ियाँ पृथक् रहती हैं। पर्वत-प्रदेश के 'खड़िया' गाँवों की रंगशालाएँ साधारणतः अन्य गृहों से अधिक कलात्मक ढंग पर निर्मित रहती हैं। दूसरी कोटि की 'खड़िया' जातियों में रंगशालाएँ



अखाड़ा में नृत्य करते हुए आदिवासी

विशेष प्रकार की बनी रहती हैं। कुछ 'मुंडा' गाँवों में भी रंगशालाएँ मिलती हैं। किंतु ओराँव के गाँवों में ही हम सबसे सुंदर रंगशालाएँ देखते हैं।

'ओराँव' बालकों का आमोदगृह 'धुमकुड़िया' मिट्टी से बना एक आयताकार भवन होता है, जिसमें एक दरवाजा होता है, लेकिन खिड़कियाँ नहीं होतीं। यह भवन सुसज्जित स्तंभों पर टिका रहता है। इसके सामने के भाग में प्रायः एक सुंदर नृत्यशाला भी रहती है। बालिकाओं की रंगशाला में जन-साधारण का प्रवेश निषिद्ध है ऐसा माना जाता है कि इसकी स्थिति का ज्ञान केवल इसके सदस्यों—बाल-रंगशाला के सदस्यों—को ही रहता है। यहाँ कुछ वाद्ययंत्रों के अतिरिक्त वन्य जन्तुओं—हाथी, घोड़े, मछली तथा घड़ियाल आदि की मूर्तियाँ भी रहती हैं, जो शुभ मानी जाती हैं।



नृत्य के लिए तैयार संताल-युवतियाँ

'धुमकुड़िया' एक सामाजिक शिक्षालय है, जहाँ आदिवासी युवक अपने लोकगीत ही नहीं सीखते, बल्कि वे उन सारे गुणों को भी प्राप्त करते हैं, जिनसे बाद में वे अपनी जाति के उपयोगी सदस्य बन पाते हैं। बालक ११-१२ वर्ष की अवस्था में 'धुमकुड़िया' में भेज दिए जाते हैं। जबतक वे वहाँ रहते हैं तबतक प्रतिवर्ष उनके प्रवेश-दिवस पर वार्षिकोत्सव मनाया जाता है। उनके माता-पिता इस वार्षिकोत्सव में सहयोग देते हैं। संध्या और रात्रिकाल में बालक रंगशाला में रहते हैं, पर दिन में वे अपने मा-बाप के जीविकोपार्जन में सहायता पहुँचाते हैं।

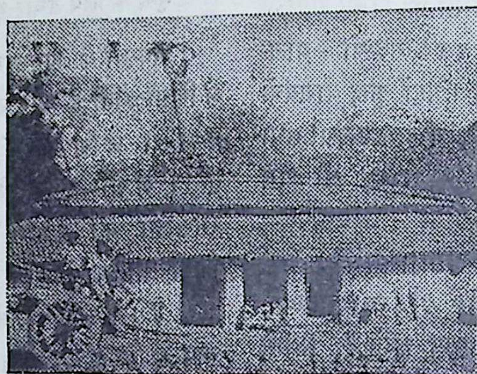


ओरॉव का मकान

अवस्था के अनुसार रंगशाला के बालकों की तीन श्रेणियाँ होती हैं और तीनों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। प्रथम दो श्रेणियों में बालक तीन वर्ष तक रहते हैं। तृतीय श्रेणी—'धुमकुड़िया' में वे विवाह-पर्यंत रहते हैं। रंगशाला का शासन और निरीक्षण अधिक उम्रवाले किसी बालक के हाथ में रहता है, जिसे 'धंगर महतो' कहते हैं। ये सारे बालक एक परिवार के समान रहते हैं। गाँव में विवाह या अन्य उत्सवों के अवसर पर ये ही प्रीति-भोज का आयोजन करते हैं। ये रसोइये का काम करते हैं और आगंतुक व्यक्तियों की सुविधा का भी ध्यान रखते हैं, जो प्रायः 'धुमकुड़िया' में ही ठहराए जाते हैं। ये दूसरों के लिए भी काम करते हैं। यदि किसी ग्रामवासी को इनकी सेवा की आवश्यकता पड़ती है तो वह इन्हें भाड़े पर ले जा सकता है। भाड़े की मजदूरी से प्रायः रंगशाला का कोई वाद्य-यंत्र खरीदा जाता है। ये बालक 'पड़हा पंचायत'—जो एक बड़े भू-भाग की पंचायत होती है—की सभा के लिए संदेशवाहक का काम भी करते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ और काम ऐसे होते हैं जिनका संपादन ये बालक विभिन्न उत्सवों पर करते हैं। वर्ष के किसी निश्चित दिवस पर 'धुमकुड़िया' के बालक गाँव के बड़े-बूढ़ों को प्रीति-भोज में आमंत्रित करते हैं, जहाँ ग्राम-संबंधी मुख्य बातों पर विचार-विनिमय होता है। रंगशाला के बालक दो गाँवों के बीच मित्रता का संबंध बनाए रखने में बहुत बड़ा काम करते हैं। 'धुमकुड़िया' के सदस्य दल बनाकर दूसरे गाँव में जाते हैं और

दूसरे गाँव क बालकों का भी अपने यहाँ स्वागत करते हैं। उनमें शुभ-कामना-पूर्ण प्रीति-भोज का आदान-प्रदान होता है। वे साथ-साथ नृत्य भी करते हैं। किसी उत्सव के सुअवसर पर कुछ बालक व्यक्तिगत रूप से, एक विशेष रस्म द्वारा, मित्रता का भी संबंध स्थापित कर लेते हैं।

'ओराँव' के यहाँ बालिकाओं के लिए पृथक् रंगशाला होती है। एक वयस्क ओराँव पुरुष गाँव के बड़े-बूढ़ों द्वारा 'पेलो कोतवार' के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है, जो वालिकाओं का निरीक्षक रहता है; परंतु वालिका-रंगशाला के भीतर सबसे प्रखर बुद्धिवाली कोई सयानी बालिका ही उनकी नेत्री होती है। इस रंगशाला में भी अवस्था के अनुसार तीन श्रेणियाँ होती हैं। प्रथम दो श्रेणियों की बालिकाएँ तथा नई आई हुई बालिकाएँ—'धुमकुड़िया' की प्रथा की भाँति ही अपने से सयानी बालिकाओं का सारा काम करती हैं। बालिकाओं को धुमकुड़िया में बिछाने के लिए ताड़ के पत्तों की चटाइयाँ अवश्य ही बुननी पड़ती हैं। विवाह या अन्य उत्सवों पर इन वालिकाओं की सेवाएँ काम में लाई जाती हैं। फसल काटने के दिनों में जिन्हें मजदूरिनों की आवश्यकता हाती है, वे इन्हें अपने काम में नियुक्त करते हैं। इसके लिए प्राप्त सामूहिक पारिश्रमिक रंगशाला के हित में ही खर्च होता है।


सुखी ओराँव का मकान

इन रंगशालाओं का सबसे प्रधान कार्य बालक-वालिकाओं को नृत्य और गान की शिक्षा देना है। इन मनोरंजनों से आदिवासियों की कला-भावना की संतुष्टि और मनोरंजन ही नहीं होता, बल्कि आदिवासी मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति में तथा उन भावनाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने में भी सहायता मिलती है। विभिन्न प्रकार के गान और नृत्य प्रचलित हैं। रंगशाला के अध्यक्ष का यह कर्तव्य होता है कि वह बच्चों को एक निश्चित मानदंड तक शिक्षित बना दे। आदिवासियों की धारणा है कि नृत्य और गान से उनमें आनंद तथा उल्लास आयेगा और प्रकृति इससे प्रसन्न होकर उनकी सहायता करेगी। इससे खाद्यान्नों की अधिकता होगी। मानव और पशु की भी अभिवृद्धि होगी।

बालक-बालिकाओं की रंगशालाओं का परस्पर संबंध आज भी अज्ञात है। पहले के विद्वान रंगशाला को अनैतिक कामों का अड्डा समझते थे; पर प्राचीन ओराँव-प्रथा कहती है कि कोई भी बालिका बाल-रंगशाला में नहीं जा सकती। यदि इस नियम का उल्लंघन होगा तो सब बालक कुछ समय के लिए अपनी आँखों की ज्योति खो देंगे। इसके बावजूद व्यक्तिगत रूप से किसी बालक का किसी बालिका से प्रेम-संबंध हो सकता है। बहुत-से युवकों की प्रेमिकाएँ तो बालिका-रंगशालाओं में ही रहती हैं।

राँची जिले के केवल एक कोने में ही मुंडा जाति के बालक-बालिकाओं के लिए रंगशालाएँ हैं। मुंडाओं की यह संस्था ओराँवों की तरह सुदृढ़ नहीं है। हो जाति में रंगशाला नहीं मिलती और न संथालों में ही रंगशाला का कोई चिह्न मिलता है। रंगशाला जहाँ भी स्थित है, वह बालक-बालिकाओं को श्रम की महत्ता का मूल्यांकन कराने में, छोटे छोटे उत्तरदायित्व का भार सम्हालने तथा नेतृत्व और संस्था के संचालन की शिक्षा प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार यह गाँव के बड़े-बूढ़ों का काम पूरा करती है। यह 'मुरिया घोटुल' की भाँति बालकों का गणतंत्र नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अवसर पर गाँव के बड़े-बूढ़े ही इसका नेतृत्व करते हैं। कुछ अवसरों पर समस्त गाँव क लिए जादू-टोना से युक्त धार्मिक क्रियाएँ भी इसके द्वारा संपन्न होती हैं।

गीता और रिपब्लिक का समानांतर अध्ययन

श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल

[गतांक का शेषांश]

गीता का स्वधर्म वर्ण-व्यवस्था पर आधारित है। स्वधर्म, नियत कर्म अथवा सहज कर्म इसी की ओर इंगित करते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना पैतृक जाति और पारिवारिक धंधा करना चाहिए। ब्राह्मणों के कार्य मानसिक एवं बौद्धिक हैं। सांस्कृतिक प्रकर्ष, शिक्षादान, ज्ञान-प्राप्ति, मंत्रणा-प्रभृति उन्हीं के अधिकार में आते हैं। क्षात्र धर्म राज्य-व्यवस्था, शासन एवं रक्षा है। वैश्य-कर्म वाणिज्य, कृषि, गोपालन आदि से संवद्ध है। शूद्रों का कर्त्तव्य उपर्युक्त वर्णत्रय की सेवा करना है।

ट्रस्टीशीप, सादगी और विकेंद्रीकरण के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था भी सर्वोदय तथा गाँधीवाद का एक आधार-स्तंभ है। गाँधीजी ने भरण-पोषण के निमित्त अपने पैतृक व्यवसाय पर ही अवलंबित रहने का आदेश दिया है; क्योंकि इसके शिक्षण में धन, समय एवं शक्ति, तीनों की बचत होती है और इससे समाज में स्थायित्व, स्थिरता एवं सुव्यवस्था की स्थापना में सहायता मिलती है।

प्लेटो की राज्यव्यवस्था में भी श्रेणीत्रय हैं। दार्शनिक, शासक अथवा संरक्षक-श्रेणी राज्य-शासन एवं शिक्षा का कार्य सम्हालेगी। सहायक संरक्षकगण सैनिकों का कार्य अर्थात् राज्यरक्षा करेंगे। उत्पादक श्रेणी भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति करेगी। अब यदि इसकी तुलना हम अपनी वर्ण-व्यवस्था से करें तो पाएँगे कि रिपब्लिक की उच्च संरक्षक श्रेणी ब्राह्मणों के सभी कार्य करती है। इसके अतिरिक्त इसके हाथ में शासन है। शासन में हमारे यहाँ मंत्रणा-प्रभृति का कार्य तो ब्राह्मणों का है, किंतु अन्य सभी कार्य क्षत्रियों के हिस्से हैं। रिपब्लिक की सहायक संरक्षण-श्रेणी के सभी कार्य क्षत्रिय करते हैं। यह श्रेणी केवल राज्य-सुरक्षा की उत्तरदायिनी है। हमारे यहाँ के क्षत्रियों का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण है। प्लेटो की उत्पादक श्रेणी और हिंदुओं की वैश्यश्रेणी में भी पूर्ण एकरूपता है। कहा जा सकता है कि रिपब्लिक में शूद्रों के [illegible] कोई श्रेणी नहीं है। किंतु पु० ८० क भा०१, पृ० ५१२ में समानशाह अर्थात् डिमॉक्रेटिक मैन के लक्षणों का चित्रण करते समय सुकरात कहता है कि 'दासों के प्रति ऐसा व्यक्ति रूक्ष और कर्कश होता है, यद्यपि पूर्णतया शिक्षित व्यक्तियों की भाँति वह उनसे घृणा नहीं करता।' किंतु, चूँकि आदर्श राज्य में भी डिमॉक्रेशी अर्थात् समानशाही से श्रेयस्कर शिक्षापद्धति है, हम यह अनुमान कर सकते हैं कि प्लेटो की सर्वश्रेष्ठ नगर-व्यवस्था में दास हैं एवं उनसे पूरी घृणा की जाती है। इन दासों का कार्य संभवतः उत्पादक श्रेणी का कार्य और सेवा करना होगा। शूद्रों की भाँति ये संरक्षक श्रेणीद्वय की सेवा नहीं करेंगे; क्योंकि उनको इनकी आवश्यकता ही नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ग्रीस के दासों और भारत के शूद्रों में अत्यधिक सामंजस्य है। जिन अनार्यों ने आर्यों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, वही शूद्र हुए। इसी प्रकार यूनान के दास भी यूनानी जाति से भिन्न थे। यूनानियों के द्वारा पराजित जाति के ये दास संख्या में उनसे कहीं अधिक थे, और, अरस्तू के शब्दों में यूनानियों की कर्मरत संपत्ति थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय गीता और यूनानी रिपब्लिक की वर्ण-व्यवस्था में अत्यधिक समानताएँ हैं। दोनों में व्यक्ति के कार्य वर्णव्यवस्था पर आधारित हैं। इस व्यवस्था पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण के पुत्र में ब्राह्मण के गुण हों। हो सकता है, उसका क्षत्रिय अथवा वैश्य का स्वभाव हो। उसी प्रकार यह भी संभव है कि वैश्य-पुत्र की प्रतिभा ब्राह्मणों की-सी हो। उस अवस्था में पैतृक धंधा करने के लिए किसी को बाध्य करना अन्याय है। किंतु यह आपत्ति निराधार है, क्योंकि व्यास, प्लेटो और गाँधी, तीनों ही इस अपवाद को स्वीकार करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

अर्थात् भगवान ने चारों वर्ण की व्यवस्था गुण-कर्म के अनुसार की है। इससे स्पष्ट है कि केवल जन्म से ही जाति और तदनुसार कर्म के सिद्धांत की व्यवस्था गीता में नहीं है। भगवान पुनः कहते हैं—

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृति-सिद्ध गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् बँटे हुए हैं, न कि जन्मानुसार।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

अर्थात् शम, दम, तप, पवित्रता, शांति, सरलता, ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धिवाला ब्राह्मण है। शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना एवं प्रजा पर शासन करने के स्वभाववाला क्षत्रिय है। स्वभावतः खेती, पशुपालन एवं व्यापार करनेवाला वैश्य है। शूद्रों का स्वाभाविक कर्म सेवा है।

उसी प्रकार प्लेटो का विभाजन भी कर्म के अनुसार हुआ है और कर्म गुण पर आधारित है न कि जन्म पर। जिस व्यक्ति में जो विशेषता रहे, वह शिक्षादि द्वारा उसका विकास करे एवं वही कार्य संपादित करे जो उसके स्वभाव, प्रकृति और गुण के अनुकूल हो। प्रारंभ में शिक्षा के द्वार सभी के लिए उन्मुक्त रहते हैं। पश्चात् जिसमें जितनी योग्यता रहती है, वह उतनी ही शिक्षा प्राप्त करता है। सर्वाधिक शिक्षा प्राप्त करनेवाला ही उच्चतर संरक्षक श्रेणी अर्थात् दार्शनिक शासकों में सम्मिलित हो सकता है। स्पष्ट ह कि वह यहाँ तक अपने गुण द्वारा ही पहुँच सकता है, न कि जन्म द्वारा।

प्लेटो ने फोनेशियन कथा के आधार पर जन्मानुसार बालकों की तीन श्रेणियाँ की हैं। कुछ इसी प्रकार का श्रेणी-विभाजन हमारे यहाँ ज्योतिषी भी करते हैं।

पुस्तक तीन के अंत में सुकरात कहता है कि 'यद्यपि सारे नगर-निवासी भाई-भाई हैं, तथापि उनमें से जो शासन-कार्य के योग्य हैं, ईश्वर ने उनके प्रजनन में स्वर्ण का पुट दिया है, जिस हेतु वे सर्वोच्च मूल्यवान हैं; परंतु सहायकों के प्रजनन में उसने चाँदी का तथा कृषकों एवं अन्य शिल्पियों में लोहे तथा तांबे का पुट दिया है। और, चूँकि वे सजातीय हैं, अतएव, यद्यपि अधिकांश में उनकी संतानें उनके अनुरूप ही होंगी, तथापि कभी ऐसा होना भी संभव है कि स्वर्णिक पिता के रजत-पुत्र उत्पन्न हो जाय और स्वर्णिक पुत्र रजत पिता से उत्पादित हो जाय, और, अन्य प्रकार की संतानें भी इसी प्रकार अन्यान्य नागरिकों से उत्पन्न हों। अतः शासकों के लिए ईश्वर की प्रथम और प्रमुख आज्ञा यह है कि न तो उनको अन्य किसी बात का इतना तन्मयतापूर्ण निरीक्षक होना चाहिए जितना अपनी संतान की आत्माओं में धातु-मिश्रण का। यदि कदाचित् उनकी श्रेणी में ऐसे पुत्र उत्पन्न हो जायं जिनमें तांबे और लोहे का मिश्रण हो तो वे उनके प्रति व्यवहार में किसी प्रकार करुणा को स्थान नहीं दें, वल्कि उनमें से प्रत्येक के लिए उसके स्वभावानुरूप स्थान प्रदान करें। उनको शिल्पकारों अथवा कृषकों के वर्ग में निक्षिप्त कर दें। और, यदि इन निम्न वर्गों में कोई ऐसा लड़का उत्पन्न हो जिसकी स्वभाव-संघटना में अप्रत्याशित स्वर्ण या रजत पाया जाय तो वे उसका सम्मान करें एवं ऊँचा उठाने का आदेश करें। किसीको रक्षक का पद प्रदान करें और किसी को सहायक का।

प्लेटो की संरक्षक-श्रेणी में भी ब्राह्मणों की भाँति ज्ञान, विद्या, बुद्धि और सहायक श्रेणी में क्षत्रियों की भाँति साहस, ओज एवं उत्साह की प्रधानता है। क्षत्रियों के शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध में अपलायनादि, ये सभी गुण 'रिपब्लिक' के सहायक सैनिकों में भी हैं। उसी प्रकार ब्राह्मणों के शम, दम, शौच, शांति, ज्ञान, विज्ञान, बुद्धि-प्रभृति गुणों के समान रिपब्लिक के दार्शनिक शासकों में सत्य, आत्मानंद, संयम आत्मौदार्य, धैर्य, निर्भयता, न्याय, शांतिज्ञान, विद्याप्रेम, शिक्षाप्रवणता, स्मृति-प्रभृति गुण हैं।

गीता और रिपब्लिक दोनों में ही उत्तमोत्तम पुरुषों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। यद्यपि गीता में यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि स्थिरबुद्धि पुरुष ब्राह्मण कहला सकते हैं, तथापि, यदि हम स्वीकार कर लेते हैं कि ब्राह्मण होना किसी के स्वभाव और गुण पर निर्भर है, तो हमें यह

भी मान लेना चाहिए कि गीता के दैवी स्वभाव और सत्त्व-गुणवाले अथवा गुणातीत स्थितप्रज्ञ पुरुष भी एक प्रकार से उच्चकोटि के ब्राह्मण हैं। गीता के स्थितप्रज्ञ पुरुष सम बुद्धि से समन्वित होते हैं एवं उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उनका आचरण निर्मल हो जाता है और वे जो कार्य करते हैं, वह सबके हित के लिए होता इ। क्षीण-कल्मष आदि शब्दों से यत्र-तत्र गीता में उनका गुणगान किया गया है। किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ब्रह्मप्राप्ति के पश्चात् भी वे कम-से-कम लोक-संग्रहार्थ तो अवश्य ही कर्मजगत् में प्रविष्ट हैं और कर्म-योग का आश्रय लिए हुए हैं।

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में केवल शारीरिक विकास एवं मानसिक शांति और ज्ञानप्राप्ति पर ही जोर नहीं दिया गया है, प्रत्युत उसमें आचार-व्यवहार की शुद्धि का भी ध्यान रखा गया है। रिपब्लिक के दार्शनिक शासक आदर्श राज्य के आदर्श संरक्षक होंगे। उनको ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि तो होगी ही, इसके अतिरिक्त उनकी आत्मा भी उन्नयन की चोटी पर रहेगी। यद्यपि प्लेटो ने अपनी 'लॉज'-शीर्षक पुस्तक में आइन-कानून को भी महत्त्व दिया है, तथापि रिपब्लिक में इनका कोई स्थान नहीं है। इसके शासक इन सबसे ऊपर हैं। उनको कोई बाधा-व्यवधान नहीं है। वे निर्बंध और निर्मुक्त हैं। उनको इतना अधिकार और स्वातंत्र्य इसलिए है कि वे स्थिर-बुद्धि हो जाते हैं और सांसारिक मोह-माया से ऊपर रहते हैं।

गीता और ईसाई धर्म, दोनों में कर्मयोग की उद्भावना देखकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है कि गीता ईसाई धर्म से प्रभावित है। लोकमान्य तिलक ने यह सिद्ध करके कि गीता की रचना ईस्वी-पूर्व १५ वीं शताब्दी में हुई है, इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। इसके पश्चात् उन्होंने लिखा है कि बौद्धधर्म में गीता से कर्मयोग आया है और बौद्धधर्म से यह ईसाई धर्म में गया है। इस प्रकार उन्होंने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि ईसाई धर्म का कर्मयोग गीता से आया है। उनके अनुमान का आधार यह है कि जिस समय ईसाई धर्म की उत्पत्ति हुई थी उस समय यूरोप, जेरूसलम, पैलेस्टाईन, सीरिया वगैरह में निवृत्ति और संन्यास-प्रधान धर्मों एवं विचारों का ही एकच्छत्र साम्राज्य था। वहाँ पर प्रवृत्ति अर्थात् कर्मयोग-प्रधान विचारों का अस्तित्व ही नहीं था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लोकमान्य संभवतः प्लेटो के रिपब्लिक की विचारधारा से अवगत नहीं थे। अन्यथा वे ऐसा अनुमान नहीं करते। यह स्पष्ट है कि 'ईसाई धर्म' के कर्मयोग के आने की संभावना प्लेटो के रिपब्लिक से कहीं अधिक गीता अथवा बौद्धधर्म से है।

प्लेटो के अनुसार व्यक्ति और राज्य में कोई मौलिक अंतर नहीं है। व्यक्ति की आत्मा का ही परिवर्द्धित रूप राज्य है। अतएव राज्य में जिस प्रकार तीन स्वभाव-संपन्न तीन श्रेणियाँ हैं, उसी प्रकार व्यक्ति की आत्मा में भी तीन प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में विवेक, तेज और वासना रहती है। इनमें संरक्षक एवं सहायक श्रेणियों की भाँति विशेष समानता है। जिस प्रकार राज्य में संरक्षक श्रेणी राज्य का आंतरिक शासन सम्हालती है और सहायक श्रेणी वाह्य शत्रुओं से उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार बुद्धि को आत्मा का आंतरिक शासन करना चाहिए और उत्साह को उसकी सहायता तथा शरीर को वाहरी वाधाओं से सुरक्षित रखना चाहिए। इन दोनों तत्त्वों को मिलकर वासना, पिपासा और क्षुधा को संयत रखना चाहिए, उनपर सदा शासन करना चाहिए। इस प्रकार जब ज्ञान और विवेक, तेज और शौर्य- प्रभृति सद्गुण तृष्णा, इच्छा, अभिलाषा एवं कुप्रवृत्तियों को दवाए रखेंगे तब उसमें सुव्यवस्था एवं शांति रहेगी और व्यक्ति महान एवं श्रेष्ठ हो सकेगा, श्रेयस् एवं प्रेयस् को पा सकेगा तथा उसमें साम्य, संगति, ऐक्य एवं न्याय की प्रतिष्ठा हो सकेगी।

रिपब्लिक के विवेक एवं तेज को हम गीता के सत्त्व के अंदर रख सकते हैं और वासना को रजस् के समकक्ष मान सकते हैं, किंतु गीता का तमस् हमें रिपब्लिक में नहीं मिलता है। गीता में रजस् और तमस् को सत्त्वगुण द्वारा दवाए रखने को रिपब्लिक की भाँति आवश्यक बताया गया है। सत्त्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोक को जाते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में रहते हैं एवं तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदि में स्थित तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनि को प्राप्त होते हैं।

उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।

इसी प्रकार रिपब्लिक की दसवीं पुस्तक में प्लेटो ने दूर की कथा द्वारा इन्हीं भावनाओं का प्रदर्शन किया है। उसके अनुसार भी सुकर्म करनेवाले व्यक्ति ऊपर स्वर्ग जाते हैं और कुकर्म करनेवाले नीचे नरक में आते हैं तथा दारुण दुःख और कष्ट पाते हैं। उसने जो चित्र खींचे हैं, वे अत्यधिक मार्मिक और रोमांचकारी हैं। प्लेटो के अनुसार मनुष्य-देह अस्थायी एवं आत्मा अमर है। वह जन्म और मृत्यु के पूर्व तथा पश्चात् आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है और इसी विश्वास पर उसकी शिक्षापद्धति, उसका स्वकर्मवाद, दूर की कहानी-प्रभृति निर्भर हैं। इस विषय का स्वतंत्र विवेचन उसने रिपब्लिक की अंतिम एवं अन्य कई स्वतंत्र पुस्तकों में किया है।

गीता के अनुसार भी आत्मा अमर है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों का त्याग कर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होती है। इस आत्मा को न शस्त्रादि काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा ही सकती है। क्योंकि आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर एवं सनातन है। इस प्रकार वर्तमान जीवन पृथ्वी पर रैन-बसेरा मात्र है। एक दिन यहाँ से सबको जाना होगा। और, आत्मा जब गुणातीत परमात्मा को पहचान लेती है तब वह जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था-प्रभृति दुःखों से मुक्त होकर परमात्मा में लीन हो जाती है। यथा—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।

गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्र है, अर्थात् जैसे खेत में बोए हुए बीजों का फल समय पर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोए हुए कर्मों के संस्काररूप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है। इस क्षेत्ररूपी देह के ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकार-सहित प्रकृति और पुरुष का तत्त्व जानना ही सच्चा ज्ञान है। यथा—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।।

इस प्रकार हम पाते हैं कि गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्रगुणमयी प्रकृति से निर्मित है और यह आत्मा गुणतीत सनातन पुरुष का अंश है। परंतु संपूर्ण प्रकृति में जो कुछ भी चैतन्यस्वरूप हैं, वे अनादि पुरुष के ही अंश हैं। ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया संपूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और ईश्वर उस योनि में चेतनरूप बीज को स्थापित करता है। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

ठीक यही भाव हमें प्लेटो की एक दूसरी पुस्तक टिमेयस जो कि रिपब्लिक के पश्चात् लिखी गई थी, में मिलता है। उसके अनुसार स्थान (Space) अथवा पदार्थ (matter) प्रारंभ में अपरिमित, अमूर्त्त और निर्गुण थे। विचार, भाव और सत् (Idea or form) इनपर अपनी छाप (Impression) छोड़ देते हैं और तदनुसार इन पदार्थों को रूप और आकार मिल जाता है। इस प्रकार प्लेटो का अपरिमित, अमूर्त्त, गुणहीन स्थान अथवा पदार्थ (Undifferentiated unlimited formless space or matter) माता है। इसकी तुलना हम गीता की प्रकृति से कर सकते हैं। मूल विचार, भावना अथवा सत् (form or Idea) पिता हैं और गीता के पुरुष के समकक्ष हैं। इस प्रकार इन दोनों के संयोग से संसार के मूर्त सगुण पदार्थों की उत्पत्ति हुई है।

प्लेटो के अनुसार ये विचार, भाव अथवा सत् ही मूल वस्तु, सार एवं सत्य हैं। कोकर के शब्दों में प्लेटो के अनुसार यथार्थता पदार्थों की भावनाओं—वे पूर्ण, नित्य, अपरिवर्तनीय और स्वयंभू सत् जो परिवर्तनशील तथा अपूर्ण पदार्थों के मूल में हैं—में सन्निहित है। यह दृश्य जगत् केवल सत्याभास है, सत्य की छाया मात्र है। वस्तुतः यह बाह्य संसार मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार जगत् के पदार्थ मूल पदार्थ अर्थात् मूल भावना के अनुकरणमात्र हैं। रिपब्लिक के अनुसार कोई खटिया वास्तविक खटिया नहीं है, प्रत्युत खटिया की भावना ही यथार्थ खटिया है। बढ़ई ने जिस मूल खटिया को ध्यान में रखकर इस खटिया का निर्माण किया है, वही सच्ची खटिया है; क्योंकि इस प्रकार का अनुकरण किया हुआ पदार्थ कभी मूल पदार्थ की यथार्थ अनुकृति नहीं हो सकता है। मूल खटिया एक से अधिक भी नहीं हो सकती है, क्योंकि यदि वह एक से अधिक होगी तो किसी-न-किसी एक मूल की ही अनुकृति होगी और वही मूल खटिया यथार्थ खटिया हो जायगी।

गीता के अनुसार भी यह जगत् मिथ्या है और इसमें सर्वत्र व्याप्त एवं इसका कारण ईश्वर अथवा भगवान ही सत्य है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं संपूर्ण जगत् का मूल रूप हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

और हे अर्जुन! तू संपूर्ण भूतों का सनातन कारण मुझे ही जान।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

और मैं ही इस संपूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मों का फल देनेवाला, मापनेवाला और पितामह हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

और उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, निदान और अविनाशी कारण मैं ही हूँ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निदानं बीजमव्ययम्।

और हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि कोई भी ऐसा चर और अचर भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो। इसलिए सब-कुछ मेरा ही स्वरूप है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

और अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से कहता है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम्॥

इस प्रकार गीता के ईश्वर को हम प्लेटो के मूल सत् अथवा भावनाओं (form and Idea) के समकक्ष रख सकते हैं। अंतर इतना ही है कि प्लेटो के अनुसार विचारों की एक श्रेणी (Hierarchy) है, प्रत्येक तत्त्व का एक मूल सत् अथवा विचार है, और, इन सबकी एक जमात है। गीता के अनुसार ईश्वर अथवा ब्रह्म एक ही है, कई नहीं। उस ईश्वर अथवा ब्रह्म से भी उच्चतर एक सत्ता है और वह है परब्रह्म परमात्मा। यह सत्ता सनातन, अव्यक्त और अक्षर है। इससे आगे कुछ भी नहीं है। प्लेटो के अनुसार भी विचारश्रेणी में उच्चतम स्थान शुभ अथवा शिव भावना (Idea of the good) को प्राप्त है। यह गीता के परब्रह्म की भाँति अव्यक्त, सनातन और अक्षर है। इसके ज्ञान के पश्चात् किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकार के ज्ञान की तुलना प्लेटो ने सूर्य के प्रकाश से की है। जिस प्रकार प्रकाश से अनभिज्ञ गुफा-निवासी अपनी गुफा, उसके अंधकार और बाहर से पड़नेवाली छाया को ही यथार्थ समझता है एवं प्रकाश, सूर्य तथा प्रकाशपूर्ण जगत् का अस्तित्व अस्वीकार करता है, उसी प्रकार पदार्थों के मूलरूप सत् और शिव की भावना के ज्ञानरूपी सूर्य से अपरिचित रहने के कारण संसाररूपी गुफा के निवासी इस जगत् की छायारूपिणी वस्तुओं को ही वास्तविक कहते हैं।

गीता में भी ज्ञान की तुलना प्रकाशरूपी दीपक से की गई है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

अर्थात् भगवान ज्ञानार्थी भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही उनके अंतःकरण में पैठकर अज्ञान से उत्पन्न

हुए अंधकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक द्वारा नष्ट करते हैं। और परमात्मा की तुलना भी सूर्य से की गई है। यथा--

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।

अर्थात् जो व्यक्ति सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियंता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सबके आधार, अचिंत्यस्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप अविद्या से दूर, शुद्ध सच्चिदानंदघन परमात्मा का स्मरण करता है, वह उसी में जा मिलता है। गीता में ज्ञान की तुलना भी सूर्य्य से की गई है। यथा—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।

अर्थात् जिनके अंतःकरण का अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान परमार्थ तत्त्व को सूर्य के समान प्रकाशित करता है।

प्लेटो के अनुसार विद्या अथवा ज्ञान की प्राप्ति पूर्व-ज्ञान के विना नहीं हो सकती है। उसके अनुसार हम किसी वस्तु को सुंदर इसलिए कहते हैं कि उसमें प्रच्छन्न सौंदर्य की भावना को हम पहचान लेते हैं। इस जन्म से पूर्व भी हमारी भेंट सौंदर्य की देवी अर्थात् सौंदर्य की भावना से हुई थी। उसका धुँधला-सा स्मरण हमें है। जब हम किसी पदार्थ में सौंदर्य की भावना का कुछ अंश देखते हैं तब हमें स्मरण हो आता है, उसे पहचान लेते हैं और इस प्रकार उसे सुंदर कहने लगते हैं। इसी तरह शिक्षा का कार्य पूर्णतया अपरिचित एवं नूतन ज्ञान देना नहीं है, वरन् उसका कार्य इतना ही है कि वह हमारे अंतर्हित विद्या के बीजों को प्रस्फुट एवं सुषुप्त ज्ञान को जागरित कर दे। इस तरह किसी वस्तु का जान लेना ही वास्तविक ज्ञान नहीं है, प्रत्युत उसको कार्य-रूप में परिणत करना ही सच्चा ज्ञान है।

सुकरात एवं प्लेटो—दोनों के अनुसार विचारों एवं कार्यों में सामंजस्य का नाम ही ज्ञान है। सद्गुणों से रहित ज्ञान उनके अनुसार ज्ञान नहीं है। ज्ञान की परि-णति वे आचरण में ढूँढ़ते हैं। प्लेटो का ज्ञानी सर्वगुण-संपन्न है। वह केवल विचार-जगत् में ही नहीं, प्रत्युत व्यवहार-जगत् में भी आदर्श है। गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।

अर्थात् मानहीनता, दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, इंद्रियों के विषय में विराग, अहंकार-हीनता, जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःख को दोष समझना, अनासक्ति, ममता का अभाव, इष्ट या अनिष्ट में चित की वृत्ति को सर्वदा सम रखना, परमेश्वर में अटल भक्ति, एकांत अथवा शुद्ध देश में रहना, विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम नहीं होना, अध्यात्मज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान का परिशीलन—ये सब ज्ञान हैं और इनके विपरीत जो कुछ भी हैं, वे अज्ञान है।

गीता और रिपब्लिक में इतना साम्य देखकर यह अनुमान करना कि दोनों पुस्तकों में सर्वथा एक ही विषय का विवेचन किया गया है, निर्मूल है। वस्तुतः गीता प्रारंभ से लेकर अंततक अध्यात्म, दर्शन एवं नीति की ही पुस्तक है। सांख्ययोग से कर्मयोग की उत्कृष्टता ही गीता की मूल भावना है। अन्य सभी बातें गौण हैं। इसके विपरीत रिपब्लिक को अध्यात्म, दर्शन, नीति, राज-नीति, शिक्षा, अर्थशास्त्र-प्रभृति किसी भी विषय की पुस्तक कहा जा सकता है। इसके हिंदी अनुवाद 'आदर्श नगर-व्यवस्था'-शीर्षक से ही इसके मूल विषय का परिचय प्राप्त हो जाता है। रिपब्लिक की शिक्षापद्धति, साहित्य का परिष्करण एवं नियंत्रण गीता में नहीं है। किंतु, इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि गीता और रिपब्लिक के सिद्धांतों में कहीं भी विरोध अथवा मौलिक अंतर नहीं है।

रिपब्लिक का गीता से एवं प्लेटो के विचारों का प्राचीन हिंदू शास्त्रों से इतना साम्य देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि प्लेटो भारत आया था तथा सिंधु की उपत्यका में यहाँ के योगियों से उसने ज्ञान लाभ किया था। प्लेटो का मिस्र तक आना सिद्ध हो चुका है, किंतु उससे आगे बढ़ने का अभीतक कोई प्रमाण नहीं मिला है। और, भारतीय दर्शन से परिचित होने के लिए भारत आना आवश्यक नहीं है। हा सकता है, इसका ज्ञान प्लेटो को किसी पुस्तक अथवा किसी व्यक्ति द्वारा बिना भारत आए ही हो गया हो। मिस्र में भी प्राचीन काल में यहाँ की तरह ही वर्ण-व्यवस्था और विचारधारा थी और प्लेटो ने वहाँ से ही यह सब लिया हो। इस प्रकार भारत का सीधा प्रभाव उसपर पड़ने की कोई विशेष संभावना नहीं दिखती। विचारों का परिस्थितियों से अत्यधिक संबंध है। प्राचीन भारत एवं प्राचीन ग्रीस की परिस्थितियों में अत्यधिक सामंजस्य था। इस प्रकार समान विचारों का उत्पन्न होना सर्वथा संभव है। अतः प्लेटो का भारत आना, प्लेटो पर हिंदू विचार-धारा का एवं रिपब्लिक पर गीता का प्रभाव पड़ना प्रमाणित नहीं होता है।

संसार के विभिन्न राष्ट्रों, देशों, युगों, जातियों एवं साहित्यों में विचारों की अत्यधिक समानता पाई जाती है। यदि हम इस प्रकार विभिन्नता में अविभिन्नता और विविधता में एकता का अन्वेषण एवं आविष्कार करें तो एक दूसरे का आदर करना सीखेंगे और अहंकार का त्याग कर सकेंगे। इस प्रकार विश्व में सहज ही उदारता, बंधुता और मानवता स्थापित कर सकेंगे।

आत्म-दान : श्री सुहृद्

तुम सत्य-प्रेम का रस भोगो
मैं सत्य-प्रेम पर बलि दूँगा
तुम मुझको दो कुत्सा-कलंक
मैं तुमको बंधु! सुयश दूँगा

तुम छाया में विश्राम करो
मैं कड़ी धूप में तपता हूँ
तुम जपो निरंतर माया को
मैं नाम तुम्हारा जपता हूँ

छूना चाहता गगन को जो
वामन क्यों मन से होवेगा?
आगे जो मूल्य नहीं देगा
पहली पूँजी भी खोवेगा

जिसको उड़ना हो, उड़ने की
मन में उमंग होनी चहिए
हो चाह विजय की, तो मन में
बलि की तरंग होनी चहिए

मुझको उड़ने की चाह नहीं
वामन पर कभी नहीं हूँगा
बलि की जो आग जलाई है
बुझने मैं उसे नहीं दूंगा

यह देखो बंधु! गरीबी में
भी आग त्याग की जलती है
परवाह नहीं, कब वायु पूर्व से
या पश्चिम से चलती है

तुम अंधकार सिरजो, लेकिन
मैं दीप जलाता जाऊँगा
तुम रचो लाख मरुभूमि, किंतु
मैं फूल खिलाता जाऊँगा

मैं भी था कोई वस्तु मित्र!
संसार एक दिन जानेगा
लेकिन, चतुरों की चतुराई को
कभी नहीं जग मानेगा

मलयालम तथा हिंदी के कृष्ण-भक्त कवि

रामपुरत्तवारियर और नरोत्तमदास

श्री के० भास्करन नायर, एम० ए०

मलयालम के कृष्ण-भक्त कवियों में वारियर का स्थान काफी ऊँचा है। हिंदी के नरोत्तमदास के समान वे भी कुचेलवृत्त-नामक उत्तम कृति रचकर अमर हो गए हैं।

वारियर का जन्म कब हुआ, इसपर विद्वान् निश्चित रूप से एकमत नहीं हैं। यह बात सर्वविदित है कि जब मार्तंड वर्मा तिरुवितांकूर रियासत की गद्दी पर बैठे थे, तब ये दरबारी कवि थे। कहा जाता है कि इनका जन्म-स्थान मीनच्चिल-नामक तहसील का रामपुरम् गाँव है। उस गाँव के श्रीकृष्ण-मंदिर के पास के वारियर-निवास में सन् १७२४ के पहले वे पैदा हुए *। स्थल के नाम से लगाकर पुकारे जाने के कारण उनका नाम रामपुरत्त वारियर पड़ा। कवि की शिक्षा-दीक्षा के बारे में लोग अनभिज्ञ हैं। ए० के० आर० कृष्णपिल्लै-नामक एक विद्वान ने अपनी पुस्तिका में लिखा है कि कवि के पिताजी एक केरलीय ब्राह्मण थे।

के० आर० कृष्णपिल्लै और नारायणपणिक्कर के लेखों से वारियर के संबंध में जो सामग्री मिली है उसके आधार पर निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं।

कवि का बाल्य-जीवन संघर्षों से भरा हुआ था। तकलीफों से रक्षा पाने के लिए वारियर वैकम-नामक स्थल के शिव-मंदिर में भजन करने लगे।

संयोग से उस समय राजा मार्तंड वर्मा मंदिर में पधारे। उनको देखते ही वारियर को मालूम हुआ कि यदि राजा की कृपा का पात्र मैं बन जाऊँ तो मेरी गरीबी हमेशा के लिए मिट जायगी। किंतु वारियर-जैसे अकिंचन आदमी महाप्रतापशाली राजा के पास कैसे जा सकते हैं। उनके लिए यह असंभव मालूम हुआ। राजा के लौटने का समय आ गया। वे महामंत्री आदि उच्चकोटि के व्यक्तियों से घिरे थे।

जब राजा अपनी नाव में सवार हुए तब कवि वारियर ने पानी में कूदकर ताड़-पत्तों पर लिखी अपनी कविताएं उनको दिखाईं। राजा की दृष्टि उनपर पड़ी। फिर क्या था, तुरंत राजा ने हुक्म दिया—'उन पत्तों का यहाँ लाओ।' पत्तों पर लिखे हुए पद्यों को पढ़कर राजा बड़े खुश हुए और वारियर को बुलाकर अपने साथ चलने के लिए कहा। जब नाव चलने लगी तब राजा ने एक गीत रचने की आज्ञा दी। उन्होंने शीघ्र ही एक गीत रच दिया। गीत का सारांश है—जिन्होंने कपट का अवतार लिया है (अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतार, श्रीकृष्ण को कपट का अवतार माना जाता है।), उनकी कृपा का पात्र बनने की इच्छा से मैं बैठा था। (उस समय वंचिप्पाट्ट के निर्माण का हुक्म दिया गया था। वंचि का अर्थ है नाव, प्पाट्ट का अर्थ है गीत, वंचिप्पाट्ट—नाव का गीत। जब नावों की दौड़ होती है तब स्फूर्ति के लिए यह गीत गाया जाता है। प्रसंग के अनुसार कवि ने एक कथा चुनी। एक पंथ दो काज। उन्होंने सोचा—'कविता ऐसी रचनी चाहिए जिससे राजा को मेरी हालत ज्ञात हो जाय। कवि को पूर्णरूप से मालूम हो गया कि जैसे कृष्ण भगवान ने सुदामा पर प्रसन्न होकर उनकी गरीबी दूर की, वैसे ही राजा मेरी गरीबी दूर कर देंगे।)

उन्होंने गीत में कहा—'जिस भगवान ने सुधा देकर अमरों का कष्ट दूर किया, वही भगवान सुदामा के चिउड़े से जैसे प्रसन्न हुए, वैसे ही मेरी इस तुच्छ कृति से वंचिपालक प्रसन्न हो जायँ'। इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट करके वारियर ने कुचेलवृत्त लिखकर राजा को भेंट के रूप में अर्पण किया। यात्रा समाप्त हुई, कविता भी पूरी हुई। राजा ने कवि को ठाटबाट से राजमहल में नहीं रखा। इससे कवि को बड़ा कष्ट हुआ। उसी समय अष्टपदी का अनुवाद मलयालम् में करने की आज्ञा वारियर

* केरल-भाषा-साहित्य-चरित्र, भाग ४, पृष्ठ ५१

को मिली। जयदेव की सरस - कोमल - कांत पदावली में रचित कविता का अनुवाद करना मामूली कवि के वश की बात नहीं, तोभी कवि ने सुंदर शैली में उसकी रचना की और महाराज को सौंपकर अपने देश को लौट गए। राजा ने जाने की अनुमति दे दी। बहुत प्रतीक्षा के बाद भी कुछ न पाने के कारण बड़ी निराशा से कवि ने वहाँ से प्रस्थान किया। कुछ दूर आगे जाने पर उन्होंने देखा कि राजा के बहुत-से कर्मचारी उनका स्वागत करने के लिए खड़े हैं। जहाँ-जहाँ वे पहुँचे, वहाँ-वहाँ उनका बड़ा सत्कार किया गया। अंत में अपने गाँव पहुँचकर देखा कि जिस स्थान पर उनकी झोंपड़ी थी, उस स्थान पर एक आलीशान महल बन चुका है। सुदामा की स्थिति-जैसी ही कवि की भी स्थिति हुई। राजा की कृपा देखकर उनकी आँखों से आँसू की धारा बह निकली। राजा के दीर्घायु होने की कामना करते हुए श्रीकृष्ण-भक्त कवि वारियर बड़े आनंद से अपने दिन बिताने लगे।

उनकी केवल दो ही कृतियाँ हैं। एक तो स्वतंत्र कृति है, जिसका नाम है कुचेलवृत्तवंचिप्पाट्ट्। वंचि शब्द का अर्थ है नाव। प्पाट्ट् शब्द का अर्थ है गीत। वंचिप्पाट्ट—नावों के गीत। जब नावों की दौड़ होती है तब लोगों में स्फूर्ति तथा उमंग पैदा करने के लिए जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें वंचिप्पाट्ट कहते हैं।

वंचिप्पाट्ट में कुचेलवृत्त के गीत सबसे सुंदर माने जाते हैं। तिरुवितांकूर राज्य के मध्य होकर पंपा-नामक एक नदी बहती है। उस नदी के विभिन्न भागों में मनोरंजन के लिए नावों की दौड़ होती है। आरन्मुला-नामक तीर्थ-स्थान पंपा के किनारे है। वहाँ एक मंदिर है। मंदिर के देवता को प्रसन्न करने के लिए आसपास के गाँवों से लोग नावों में गाते हुए आते हैं। सावन में यहाँ पर एक मेला लगता है। उस मेले का प्रधान कार्यक्रम नावों की दौड़ है। उस दिन हजारों लोग गीत गाते हुए नावों में आते हैं। उस समय उनकी स्फूर्ति, उमंग, उत्साह आदि देखकर लोग आनंद-विभोर हो उठते हैं। लोग वारियर की लिखी हुई कुचेलवृत्त-नामक पुस्तक के गीत बड़ी श्रद्धा और भक्ति से गाते हैं। इस स्थान के अलावा चंपकुलम-नामक स्थान में भी नावों की दौड़ होती है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ-कहीं नावों की दौड़ होती है, वहाँ वारियर के लिखे हुए कुचेलवृत्त के गीत अवश्य गाए जाते हैं। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय है कि इसकी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं और बिक रही हैं।

कुचेलवृत्तवंचिप्पाट्ट में सबसे पहले, सबको भोजन देनेवाले वैक्कम मंदिर में प्रतिष्ठित देवता तथा देवतुल्य राजा की स्तुति करके कवि राजधानी तिरुवनंदपुरम् का वर्णन सुंदर तथा मुहावरेदार भाषा में करते हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार तिरुवनंदपुरम्[1] के बारे में और किसी ने अबतक नहीं लिखा है।

श्री पद्मनाभ स्वामी के मंदिर में मूर्ति के सामने एक बड़ी शिला है जिसपर बैठकर ब्राह्मण लोग भगवान की स्तुति करते हैं। वह शिला इतनी बड़ी है कि उस प्रकार की दूसरी शिला शायद ही और कहीं मिलेगी। उस शिला के बारे में कवि एक पद में कहता है कि एक पत्थर की शिला उसी प्रकार वहाँ रखी है, मानों राजाज्ञा पाते ही कोई वस्तु दौड़ती हुई आकर वहाँ बैठ गई है। यहाँ कवि ने शिला को सजीव वस्तु के समान माना है। और, यह अर्थ भी ले सकते हैं कि राजा इतने प्रतापी और प्रतिभाशाली थे कि उनकी आज्ञा जड़ वस्तु भी मानती थी। महाराज की आज्ञाशक्ति का वर्णन इससे ज्यादा कौन कर सकता है? जहाँ दूसरे कवि दस चरणों में वर्णन करते हैं, वहाँ एक ही चरण में लिखने की शक्ति वारियर को ही है। आगे कवि मंदिर के विविध भागों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि—'मैंने जिन वस्तुओं के बारे में कहा वे सब भक्तों को दिव्य रत्नमय और अभक्तों को लकड़ी और पत्थर से बने दिखाई पड़ेंगे।' यहाँ कवि की सच्ची भक्ति की झलक हम देख सकते हैं।

इसके बाद 'दशावतारों में मुख्य अवतार श्रीकृष्ण हैं', इस बात को कवि सिद्ध करते हैं। इस पद्य से यह बात जाहिर होती है कि हमारे कवि कृष्णभक्तों में उच्च स्थान को अलंकृत करते हैं।

नरोत्तमदास भी अपनी पुस्तक में गणपति की वंदना करके कथारंभ करते हैं। वारियर गणपति के पिता शिवजी की वंदना करने के बाद अपने राजा की विरुदावली गाते हैं। उसके बाद श्रीकृष्णावतार की महत्ता लिखते हैं। वे कहते हैं—

१. [illegible] की वर्तमान राजधानी

ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं की प्रार्थना से साक्षात् ब्रह्मस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण का रूप धारण कर दवकी के पेट से जन्म लेकर आठ-नौ वर्ष तक वृंदावन में पले।

फिर कवि श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन करते हैं, जो नरोत्तमदास की कविता में हम नहीं पाते। फिर वे कुचेल तथा उनकी स्त्री की बातचीत का चित्र खींचते हैं।

सुदामा तो विरक्त ठहरे। पर उनकी धर्मपत्नी उन्हीं की तरह संन्यासिनी नहीं हैं। वे अपनी गरीबी को दूर करने के लिए पति से भगवान श्रीकृष्ण के पास जाने की प्रार्थना करती हैं—

हे भगवन्, आप इसकी इच्छा करें कि भगवान की चिरंतन कृपा-दृष्टि हमारे ऊपर रहे। इसमें जरा भी शक नहीं कि गरीबी के अलावा और कोई दुःख इस संसार में नहीं। घर तो गिर रहा है और आप अपने भगवान के ध्यान में मग्न बैठे हैं। भला, इस तरह आप अपनी स्त्री की भूख कैसे जान सकते हैं?

यद्यपि आप परमात्मा क ध्यान में लीन हैं तथापि पतिदेव हैं। मेरे पालन-पोषण का भार आपके ऊपर है। पर मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि आप मुझे बिलकुल भूल गए हैं। सब आपके समान सदा ईश्वर के ध्यान में नहीं बैठ सकते। मेरे समान प्रापंचिक व्यक्ति को भूख और प्यास होती है। सब दुखों से बड़ा दुख गरीबी है। यदि आप चाहें तो वह दुख दूर हो सकता है। क्योंकि आपके प्यारे तथा पूज्य मित्र भगवान कृष्ण का कृपा-कटाक्ष हो तो सारा दुःख मिट जाय। अच्छा अवसर अब आ भी गया है। शिक्षा-दीक्षा के बाद आपकी उनसे भेंट नहीं हुई है। अतः आप सबेरे उठकर उनसे मिलने के लिए जाइए।

सुदामा की स्त्री अच्छी तरह जानती थीं कि यदि मैं हठ करूँगी तो भगवान के दर्शन करने के लिए पतिदेव अवश्य जायँगे। ऐसा ही हुआ भी। पति ने पत्नी की बातें मान लीं। अंत में पति ने कहा—

'प्रिये! तुमने जो कहा, मैं वही करूँगा। आधी रात हो गई है। जरा कुछ देर के लिए मैं सो लूँ। सर्वव्यापी भगवान को देखने के लिए मैं बड़े सबेरे उठूँगा। भेंट के रूप में उन्हें देने के लिए कुछ दे देना।'

सुदामा की सती-साध्वी स्त्री ने पिछले दिन भीख में जो अनाज पाया था, उसे कूटकर चिउड़ा बनाया। चिउड़ा बनाते समय जो ककड़ उसमें मिले थे, उनके बारे में बिना सोचे-समझे अपने पतिदेव के हाथ में उसे दे दिया। इस संबंध में कवि ने जो कुछ लिखा है, उसका सारांश यह है—

'अपन पतिदेव की आज्ञा पाते ही ब्राह्मणी ने तुरंत अँधेरे में अनाज कूटा। अतः भूसी अच्छी तरह नहीं गई और कंकड़ भी उसमें मिले हुए रह गए। उसे लेकर एक चिथड़ा में बाँधकर सुदामा के पैर छूकर उनके हाथ में दिया। सुदामा भी बड़े सवेरे उठकर स्नान और पूजा-पाठ करके पहले से ही वहाँ बैठे थे।'

नरोत्तमदास अपनी पुस्तक में सुदामा और उनकी स्त्री की बातचीत में यह लिखते हैं कि ब्राह्मणों का धर्म भीख माँगना और शिक्षा देना है। उसके अलावा सांसारिक भोग में रत रहना अच्छा नहीं, आदि।

जब इसका उत्तर पत्नी देती हैं तब सुदामा आपे से बाहर हो जाते हैं और कहते हैं—

छाड़ि सबै जक तोहि लगी बक
आठहु जाम यहै जिय ठानी,
जातहि दैहैं लदाय लढ़ा भरि
लैहौं लदाय यहै जिय जानी।
पैहौं कहाँ तो अटारी अटा
जिनके विधि दीन्हि है टूटी-सी छानी,
जो पैं दरिद्र लिख्यो है लिलार
तो काहू पै मेटि न जात अजानी॥

अंत में वाद-विवाद के बाद सुदामा की स्त्री उन्हें कई युक्तियाँ बताती हैं तो सुदामा जाने को तैयार होते हैं।

वारियर के सुदामा की स्त्री इतनी सुचतुरा दिखाई पड़ती हैं कि कुछ शब्दों से ही सुदामा श्रीकृष्ण के यहाँ जाने को राजी हो जाते हैं और स्त्री ने जो कुछ दिया, उसे लेकर निकल पड़ते हैं।

बड़े कुतूहल के साथ अपना छाता लेकर और पत्नी से विदा होकर, कृष्ण का नाम जपते हुए सुदामा रवाना हुए। उस समय बालार्क की किरणें चारों ओर फैलने लगी थीं। दाहिनी ओर मुड़कर, चकोर आदि पक्षियों का चहचहाना सुनते हुए वे जा रहे थे। जाते समय श्रीकृष्ण के भक्ति-भाव में वे तल्लीन थे।

इस प्रसंग में नरोत्तमदास ने केवल इतना ही लिखा है—

सिद्ध करी गनपति सुमरि, बाँधि दुपटिया खूँट।
माँगत खात चले वहाँ, मारगवाली बूँट ॥

वारियर के सुदामा भक्तिरूपी सागर में डूबते-उतराते कई शहर-गाँव आदि पार करके जाते हैं। रामानुज कृष्ण भगवान की याद करते-करते वे पुलकित हो जाते हैं और अपने भगवान के बारे में चिंता करते हैं—

नाले नाले येन्नायिट्टु भगवाने काण्मानिञ्ञ
नालुं पुरप्पेडात्त ञानिन्नु चेल्लुम्पोल
नालिक नयननेन्तुनोन्नुन्नो, इन्नु नम्मोटु
नान्तीकं करिंपन मेलेयैना पोलेयो ?

अर्थात्—कल जाऊँगा, कल जाऊँगा—इस प्रकार विचार करके बहुत दिन टले। अभी जाऊँ तो कमल-नयन के मन में मेरे प्रति क्या रुख होगा। जैसे ताड़ के वृक्ष पर कमल के फूल फेंकने से उस वृक्ष पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही मेरा जाना भी बेकार तो नहीं हो जायगा ?

सुदामा विचार करते हैं—मैं तो मुद्दतों से भगवान के पास गया नहीं। ऐसी अवस्था में अभी जाऊँ तो जैसे द्रोण द्रुपदराज से अपमानित किए गए थे, वैसे वे भी मुझे दुतकारेंगे तो नहीं ? किंतु ऐसा क्यों सोचूँ ? भगवान तो द्रुपद नहीं। वे तो सबके नाथ हैं। अतः किसी का अनादर नहीं करते। यद्यपि अर्जुन-जैसा मैं बड़ा नहीं, तथापि ब्राह्मण होने के नाते थोड़ा-सा बड़प्पन मुझमें भी है। अंकिचन व्यक्ति पर भी अनुग्रह की वर्षा करनेवाले भगवान मुझ ब्राह्मण पर अवश्य कृपा करेंगे। चाहे जो हो, मुझे देखते ही भगवान प्रसन्न हो जायँगे और बड़ी आवभगत करेंगे।

इस प्रकार शंका-समाधान करके सुदामा द्वारिका पहुँचे। द्वारिका नगरी का वर्णन यद्यपि दोनों कवियों ने किया है, तथापि वारियर का वर्णन बहुत सुंदर है।

वारियर क पद का भाव यह है कि भक्त कुचेल भक्ति में सराबोर होकर द्वारिका पहुँचे। खाना ठीक समय पर न खा सकने के कारण कमजोर सुदामा की भूख तथा प्यास द्वारिका नगरी को देखते ही मिट गई। केवल भूख और प्यास ही नहीं मिटी, बल्कि वह भव-बाधा भी मिटी, जिसका नाश भक्ति के सिवा और किसी से नहीं हो सकता है। श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारिका ने बड़े आदर के साथ रोमांचरूपी कुर्त्ता दिया जिसे सुदामा ने भींगा ही पहन लिया। सीमातीत आनंदाश्रु में डूबने के कारण वह कुर्ता सुदामा को और भारी प्रतीत होने लगा। भाव यह है कि अपने आराध्यदेव की राजधानी को देखते ही सुदामा के रोंगटे खड़े हो गए और उनकी आँखें खुशी के मारे डबडबा गईं। यही बात कवि आलंकारिक भाषा में कहते हैं—भक्तिरूपी हवा के सहारे भाग्यरूपी पारावार को पार करके सुदामा भगवान के नगर में प्रवेश कर सके।

नरोत्तमदास ने केवल दो पंक्तियों में ही यह बात लिखी है—

भाल तिलक घसि के दियो, गही सुमरिनी हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥

वारियर की कविता से हम समझ सकते हैं कि उन्होंने ऐसे स्थलों का आविष्कार किया, जिनको दूसरे कवि छू भी न सके। बाह्य प्रकृति का वर्णन जैसा इन्होंने किया है, वैसे ही रस तथा भाव के चित्रण करने में भी इन्होंने कमाल किया है। द्वारिका नगरी के दर्शन करते ही सुदामा के हृदय में जो आनंदमय सात्त्विक भाव अंकुरित हुआ, वह पसीने से तर उनके शरीर में रोंगटे के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, और अनुकूल वायु की सहायता से जैसे नाव प्रबल तरंगों को काटती हुई आगे बढ़कर किनारे पर पहुँचती है, वैसे ही भक्तिरूपी पवन की मदद से सुदामा के शरीररूपी नाव भाग्य-सागर की तरंगों से टकराकर द्वारिकारूपी किनारे पर पहुँची। यह भाव कितनी सुंदरता से वारियर ने अपनी कविता में दरसाया है।

सुदामा ने बहुत गंदा और फटा हुआ वस्त्र पहन लिया था तथा कंधे पर एक उत्तरीय भी डाल रखा था। पोटली तथा धर्मग्रंथ काँख में दबा था। छाती पर भस्म लगा था। फटा-पुराना छाता लेकर, रुद्राक्ष की माला फेरते हुए और भगवान का ध्यान करते हुए चले आ रहे थे। ऐसे भक्त को सातवीं मंजिल से भगवान ने देखा तो तुरंत दौड़े हुए आए और आँसू बहाते हुए अपनी छाती से लगा लिया।

सुदामा को देखकर श्रीकृष्ण की आँखें डबडबा गईं। इस संबंध में कवि स्वयं प्रश्न करता है—

ब्राह्मण को देखकर अत्यंत प्रसन्नता से, या उसकी दीनता से भगवान के मन में जो ताप हुआ, उससे,

वे रोये। भगवान को दुःखी होते किसी ने देखा है? नहीं। भगवान के अवतार के समय बहुत-सी रोमांचकारी घटनाएँ हुई थीं। उन अवसरों पर भगवान का मन चट्टान के समान अटल रहा। वारियर अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रोने का कारण भक्तों के लिए उनकी अनुकंपा तथा सहानुभूति है। इस प्रकार भगवान को भक्तानुग्रह साबित करके कवि आगे बढ़ते हैं।

भगवान अपनी कोमल शय्या से उठकर ऊपर से नीचे आए। उस समय सारे परिजन और पुरजन भगवान की वंदना करते हुए सागर के समान खड़े थे। टिड्डी-दल के समान अपने भक्तों के साथ कृष्ण ने उन भक्त-शिरोमणि सुदामा का स्वागत बड़े तपाक से किया।

इस समय कवि पूछते हैं कि भगवान के अलावा और किसी को इस प्रकार की समवेदना तथा सहाभूति है?

श्रीकृष्ण ने अपने भक्त का केवल स्वागत ही नहीं किया, बल्कि पसीने से तर होने के कारण दुर्गंध सखा को छाती से लगाया और बड़े प्यार से उनके हाथ पकड़-कर उन्हें अपनी शय्या पर बिठाया। लक्ष्मी देवी ने जल से अभिषेक किया और भगवान ने स्वयं उन ब्राह्मणसत्तम के पैर धोए। फिर कृष्ण ने क्या किया? जिस जल से अपने भक्त के चरणारविंदों को धोया, उस परमपावन जल को, एक भी बूँद कहीं और बिना गिराए, अपने तथा दूसरों के शरीर पर छिड़का।

साधारणतः लक्ष्मी देवी धनवान पर ही प्रसन्न होती हैं, किंतु यहाँ तो भगवान दीन-दुखी आर्त कुचेल पर अत्यंत प्रसन्न हुए; ऐसी अवस्था में लक्ष्मी को अपना गर्व छोड़-कर गरीब सुदामा पर प्रसन्न होना पड़ा।

नरोत्तमदास ने भी यह भाव अच्छी तरह चित्रित किया है।

घर से निकलते ही सुदामा को संदेह हुआ कि कहीं भगवान मुझे भूल न गए हों। जब भगवान के मुँह से नीचे लिखे वचन निकले तब उनका संदेह दूर हुआ।

एन्नालुण्टु ञान काणाञ्ञिट्टु चित्ते कोतिक्कुन्नु
अत्र तन्ने पोन्नु वन्नतस्माकं भाग्यं।

अर्थात्—कितने दिनों से आपको देखने के लिए लालायित हो रहा हूँ। आखिर आपने यहाँ पधारने का निश्चय किया, जो मेरे लिए बड़े भाग्य की बात है। इस प्रकार कहकर बहुत-सी पूर्व-घटनाओं की याद दिलाई। अंत में भाभी ने जो दिया था, बिना उसे संकोच के देने की प्रार्थना वे करते हैं—

भाभी ने जो गठरी दी है, वह जल्दी ही मुझे दें, शरमाने की जरूरत नहीं। गोपिकाएँ भी मुझे लालची कहती हैं।

नरोत्तमदास की कृति में यह भाव बहुत संक्षेप में है। देखिए, उन्होंने क्या लिखा है—

कुछ भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत।
चाँपि पोटरी काँख में, रह्यो कहो केहि हेत॥

वारियर लिखते हैं कि जब भगवान ने सुदामा के हाथ से चिउड़े का दोना लिया तब उनके आनंद का ठिकाना न रहा। कंकड़ और भूसी लगा हुआ एक मुट्ठी चिउड़ा अपने मुँह में भगवान ने रखा। दूसरी बार भी लेने के लिए उन्होंने जब हाथ बढ़ाया, तब लक्ष्मी देवी ने उन्हें रोका, जिसका चित्रण दोनों कवियों ने बहुत ही कलात्मक ढंग से किया है।

वारियर की कविता का अर्थ है—

लक्ष्मी देवी ने रोककर कहा—'हे भगवन्, बस कीजिए, बस कीजिए। सबको सर्वदा किसी भी मात्रा में देने की शक्ति रखनेवाली मैं अभी इस ब्राह्मण को सब-कुछ दे चुकी हूँ। अब कोई भी वस्तु देने के लिए नहीं रह गई है। मैं जन्म से ही आपकी सहचरी हूँ और अब ऐसा मालूम होता है, आपने मुझे इस ब्राह्मण की पत्नी की दासी बनाने का निश्चय कर लिया है। हे भगवन्! आप क्यों इस प्रकार करते हैं।

नरोत्तमदास ने केवल यों ही लिखा है—

मुठी तीसरी भरत ही रुकमिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई संपति की अनचाह॥
कहो रुकमिनी कान में यह धौं कौन मिलापु।
करत सुदामा आपु सों, होत सुदामा आपु॥

रुक्मिणी की घबराहट देखकर भगवान इस प्रकार कहते हैं—

प्रिये! घबराओ मत। तुमने जो कहा, वह अच्छा है। किंतु दुःख की बात है कि तुम मेरे साथ हमेशा रहती हो, तो भी मेरी आदत से बिलकुल अनजान हो। मेरा स्वभाव है कि अपने भक्तों के सामने में अपने को बिलकुल भूल जाता हूँ और उनकी भलाई के लिए

सब-कुछ करने को सदा-सर्वदा तत्पर रहता हूँ। यह बात तुमने अभी तक नहीं जानी थी। अपने भक्त ने जो दिया, उसमें से ही मुट्ठी भर खाने से मैं पूर्णरूप से तृप्त हो गया हूँ और तुम्हारा इरादा समझने की कोशिश करता हूँ।''''''अनगिनत ब्रह्मांड को अपने जठर में रखनेवाले भगवान ब्राह्मण की पत्नी का भेजा हुआ कंकड़-मिश्रित मुट्ठी भर चिउड़ा खाने से तृप्त हो गए। रुक्मिणी से बातें करने के बाद भगवान सुदामा से बोले—

कुछ वर्ष पहले द्रौपदी का दिया हुआ शाक मैंने खाया था। इन दोनों अवसरों पर मुझे जो तृप्ति हुई है, वह अपने जीवन में कभी नहीं हुई थी। मेरे दीन-हीन भक्त, भक्ति से मुझे जो कुछ देते हैं, वह चाहे खट्टा या कडुआ हो, मेरे लिए पीयूष-समान है। उसके विपरीत भक्तिहीन मनुष्य का दिया हुआ अमृत भी मुझे नीम के समान कडुवा मालूम होता है। आप-जैसे गर्वहीन भक्त मुझे चाहे कोई भी वस्तु अणुमात्र भी दें, वह मेरे लिए पर्वत-समान बहुत अधिक है। यह बात सर्वविदित है। हम दोनों के शरीर दो हैं तो भी मन एक है। शरीर के पतन के बाद भी हमारा संबंध कायम रहेगा। आप अपनी धर्म-पत्नी से कह दें कि लक्ष्मी देवी तथा आपकी स्त्री का स्थान एक समान ही है।

भगवान के ये वचन सुनकर सुदामा ने क्या उत्तर दिया? सुनिए—

हे भक्ति तथा मुक्ति देनेवाले भगवन्! त्रिभुवननाथ! सची भक्ति से नास्तिक लोग भी आपपर विजयी होते हैं। और, आप इतने प्रभावशाली हैं कि सामंत लोग उपहार लेकर आपके दर्शन करने की अभिलाषा रखते हैं। फिर भी आप मुझ गरीब की ऐसी सेवा करते हैं, जैसी मैंने पहले देखी या सुनी भी नहीं थी। बचपन में मैंने आपका जो रूप देखा था, उसकी पूजा मैं अपने मन-मंदिर में करता आ रहा था। अब फिर भी वह रूप सामने देख सका, जिससे मैं अतीव प्रसन्न हो गया हूँ। सातवें मंजिल में लक्ष्मी देवी की शय्या पर आपने मुझे आराम करने दिया, जिससे मैं सोचता हूँ कि मेरे समान इन चौदह लोकों में कोई भी सौभाग्यवान नहीं।

इस प्रसंग पर नरोत्तमदास भगवान् के सत्कार के बारे में लिखकर अंत में यों लिखते हैं—

सात दिवस यहि विधि रहे, दिन-दिन आदरभाव।
चित्त चल्या घर चलन को, ताको सुनहु हवाल॥

वारियर यह नहीं कहते हैं कि सुदामा भगवान के यहाँ कितने दिन ठहरे। उन्होंने यह लिखा है कि वे एक दिन बड़े सवेरे उठकर, कृष्ण से विदा लेकर, अपने घर की ओर रवाना हुए। जाते समय वे खाली हाथ नहीं गए।

मात्रपोलुं धनहीननाथ विप्रन
मुकुंदने मानसं कोण्टेटुत्तिट्टु कूटे कोण्टुपोयि।

अर्थात्—धनहीन ब्राह्मण सुदामा भगवान को मन में बिठाकर अपने साथ ले गए। कितनी सुंदर उक्ति है!

रास्ते में जाते हुए वारियर भगवान की आवभगत की बात सोचते चले जा रहे हैं। वे सोचते हैं कि भगवान का काम देखकर अचरज-ही-अचरज मालूम होता है। इस तुच्छ अकिंचन मुझ-जैसे आदमी का स्थान कहाँ और ईश्वर के भी ईश्वर भगवान का स्थान कहाँ? तो भी हम दोनों की मित्रता की भाँति मित्रता और कहाँ होगी? तीन सौ तीस करोड़ देवों के स्वामी भगवान मुझे देखते ही नीचे दौड़े आए और पसीने से गंदे मुझको कामदेव के पिता भगवान ने अपनी छाती से लगाया। फिर ऊपर ले जाकर लक्ष्मी देवी की शय्या पर बिठाकर मेरी पूजा करने लगे। रात के समय रमा सुषुप्ति-सुख को छोड़कर मेरे लिए पंखा झलती रही। इस ब्राह्मण की सेवा अखिलेश्वर ने कितनी लगन से की, उसके बारे में क्या कहना? शब्द नहीं मिलते। भगवान कृष्ण ने जो चिउड़ा बड़े प्रेम से खाया, उसे साधारण नौकर-चाकर भी नहीं खाते।

इस प्रकार सोचते-विचारते मार्ग का कष्ट बिना जाने जा रहे थे कि अपनी स्त्री की बात याद आ गई। जिसके लिए उनकी पत्नी ने उन्हें भेजा था, वह बात भगवान के सामने बोलने के लिए वे बिलकुल भूल गए। सुदामा कहते हैं कि मेरी राह देखती तथा आँखें डबडबाती बैठी हुई अपनी प्रिया से मैं क्या कहूँगा? हाय! अपनी पतिव्रता पत्नी को मेरे कारण इतने दिन उपवास रहना पड़ा होगा। धिक्कार है मेरे जीवन को! मुझ पापी की क्या गति होगी?

नरोत्तमदास ने अपनी पुस्तक में सुदामा के पश्चात्ताप का चित्र बहुत सुंदरता से खींचा है। अंत में श्रीकृष्ण को कोसने का मन भी उनको होता है।

जो कुछ सुदामा को देना था, श्रीकृष्ण दे चुके थे,

लेकिन ब्राह्मण को उसका कुछ हाल ज्ञात नहीं था; क्योंकि चलती बार गोपाल ने सुदामा के हाथ में कुछ नहीं दिया।

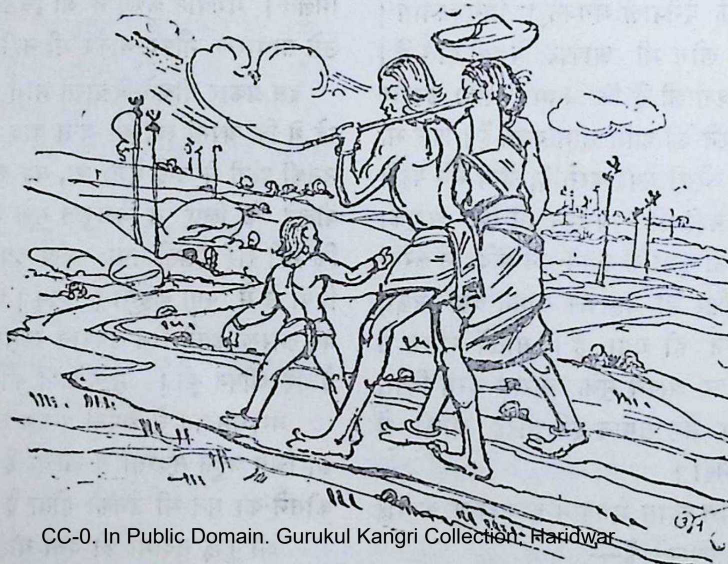
सुदामा पछताते हुए जा रहे हैं कि भगवान ने कुछ नहीं दिया। वह पुलकित होना, वह उठकर मिलना, वह आदर-सम्मान और वह बिदाई ! श्रीकृष्ण की लीला कुछ समझ में नहीं आती। (बालापन में) जरा-जरा-सा दही ये स्वयं घर-घर माँगते फिरते थे। क्या हो गया, यदि अब इनका राज-समाज जुट गया है ? हैं तो ये वही। मैं तो स्वयं ही आ नहीं रहा था; ब्राह्मणी ने बलपूर्वक ठेलकर भेजा था। अब जाकर उसे समझाकर कहूँगा कि लो, बहुत-सा धन लाया हूँ। सँभालकर रख लो। कृष्ण मेरे बालापन के मित्र हैं, इसलिए शाप तो उन्हें क्या दूँ; पर, जैसा हरि ने हमें दिया है, वैसा ही स्वयं भी पावें, और क्या ?

वारियर लिखते हैं कि सुदामा अपने को धिक्कारते जा रहे हैं। उन्होंने नहीं जाना कि वे स्वयं भगवान के समान सुंदर और सूर्य के समान तोजोमय हो गए हैं। अंत में द्वारिका के समान एक दूसरी नगरी में वे पहुँचे। भ्रम हुआ कि रास्ता तो भूल नहीं गए और फिर भगवान के धाम पर ही तो नहीं पहुँच गए। किंतु इसी समय उनकी पत्नी आती हैं और उनका स्वागत करती हैं।

सुदामा की पत्नी ने बाजे तथा सुगंधित द्रव्यों से अपने पतिदेव का स्वागत किया और सूर्य से भी तेजस्वी तथा प्रकाशमान पुरी को दिखाया तथा विचित्र प्रकार के महल, पंडाल, किले आदि दिखाने के बाद सुंदर शय्या पर बिठाया। चँवर, छाता, तांबूल आदि लेकर रमणियाँ (यद्यपि उन चीजों की आवश्यकता नहीं थी, तथापि उनको देने के बहाने) सुदामा के चारों ओर घिरने लगीं। तब सुदामा अपनी पत्नी से सारा वृत्तांत पूछने लगे। इस प्रसंग पर दोनों कवियों ने एक ही रीति से वर्णन किया है।

अंत में सब-कुछ भगवान की कृपा का फल समझकर भगवान के प्रति सुदामा और उनकी पत्नी की जो भक्ति थी, वह दसगुनी बढ़ गई। फल यह हुआ कि भगवान फिर उनके ऋणी बन गए। यद्यपि सुदामा तथा उनकी स्त्री को अटूट संपत्ति मिली, तथापि भगवान को उनका फिर भी ऋणी ही होना पड़ा, क्योंकि ज्यों-ज्यों संपत्ति बढ़ी, त्यों-त्यों उनकी भक्ति भी शतगुनी बढ़ने लगी।

जो सहृदय हैं, वे यदि एक बार भी वारियर की कविता पढ़ेंगे तो निस्संकोच कहेंगे कि कुचेलवृत्त कविता-कामिनी के गले का चंद्रहार है। इसकी सरल-कोमल-कांत पदावली के बारे में क्या कहना ! ज्यों-ज्यों पढ़ते हैं, त्यों-त्यों सहृदय लोग आनंद-सागर में डूबते जाते हैं। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि जबतक मलयालम भाषा पृथ्वी पर रहेगी, तबतक वारियर की कविता मलयालम भाषा के साहित्य-नभोमंडल में उज्ज्वल नक्षत्र के समान जगमगाती रहेगी।



हजारीबाग जिले के लोकगीत

श्री भुवनेश्वर दत्त शर्मा 'व्याकुल'

हजारीबाग जिले के लोकगीतों की ओर विहार या छोटा नागपुर के ही क्या, आजतक हजारीबाग के भी किसी हिंदी-प्रेमी अथवा साहित्यिक का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। मुझे स्मरण है कि राष्ट्रीय आंदोलन-काल में, हजारीबाग सेंट्रल-जेल में विहार के अनेक साहित्यिकों ने इस जिले के तत्कालीन किसान कैदियों द्वारा अनेक लोकगीत सुने, सुनकर आनंदविभोर हुए; लेकिन इस संबंध में, किसी ने भी कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे ये लोकगीत हिंदी-संसार में प्रकाश पा सकें अथवा इनकी सरसता का सर्वसाधारण आनंद उठा सके। ये गीत मैथिली-लोकगीतों की तरह ही सुंदर और माधुर्यपूर्ण होते हैं, पर इन्हें आजतक पटना-रेडियो के चौपाल में भी स्थान नहीं मिल सका।

सन् १९३८ की वात है। मैं साइकिल द्वारा समस्त भारत की उलट-फेर यात्रा संपन्न कर, जब हजारीबाग जिले के जरीडीह थाने में आया, तव भगवान रश्मिरथी शीघ्रतापूर्वक अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहे थे। मैं भी जंगलों को पार कर, गाँव पहुँचने की शीघ्रता में, साइकिल के पैडिल-पर-पैडिल मार रहा था कि कानों में आवाज आई–

करमा जे फूटलै
आसरा जे टूटलै
ना आवोलै
स्याम निठुरे बैमान रे!
ना आवोलै····!!

सुनकर मैं मुग्ध हो गया! साइकलि से उतर पड़ा। पीछे मुड़कर देखा तो साखू-पत्तों और दतवनों के बंडल लिए दो किसान-पुत्रियाँ मेरी ओर ही बढ़ी चली आ रही थीं। समीप आने पर मैंने पूछा—

'जरीडीह अब और कितनी दूर है?'

उत्तर मिला—'बस एक दुलदुली।'

'एक दुलदुली यानी?'

'आधा कोस का आधा, अर्थात् हल्की दौड़ में, जहाँ तक एक बार जा सको, उसी को हम 'एक दुलदुली' कहती हैं।' उनकी वाणी में निर्भीकता और साधुता थी।

मैंने बड़ी संजीदगी से कहा—'तुम्हारा झूमर बड़ा अच्छा लगा, क्या उसे पूरा कर सकती हो?'

दोनों सकुचाईं, एक दूसरी को देखकर मुस्कराईं और बिना कुछ उत्तर दिए आगे बढ़ गईं। लगभग आध फर्लांग दूर जाने पर उन्होंने उक्त झूमर का दूसरा चरण गाया—

सी-सी मेघा गऽरज्जै,
रिमी-झीमी बऽरऽसै
कऽलऽपऽतऽ मोरा
अवला परान रे
ना आवोलै·····?

कहना न होगा कि इसके पहले मैं हजारीबाग जिल के लोकगीतों की ओर इतना कभी आकर्षित नहीं हुआ था; लेकिन इस झूमर ने इन गीतों के प्रति मेरे हृदय में भक्ति उत्पन्न कर दी—प्रेम पैदा कर दिया! इस झूमर के 'सी-सी मेघा गरजै, रिमी-झिमी वरसै' में कितनी मिठास और 'करमा जे फूटलै आसरा जे टूटलै' में कितनी वेदना है?

हजारीबाग जिले में झूमर, डोहा, करमा और बिरहा—इन्हीं चार लोकगीतों की प्रमुखता है, जिनमें करमा और डोहा गाने का समय निर्द्धारित है तथा झूमर और बिरहे हर समय गाए जाते हैं। यद्यपि झूमर गाने का कोई निर्द्धारित समय नहीं है, तथापि वर्षा ऋतु में यह अधिक उल्लासपूर्वक गाया जाता है। भादो मास की गोधूलि वेला में जब मकई के खेतों के 'घोरानों' पर चढ़ी परोर और झिंगनी की वल्लरियों में पीले-पीले असंख्य फूल फूलते हैं, तब गीत-प्रेमी (खास कर किसान-पुत्री) से निम्न गीत गाए बिना रहा नहीं जाता—

बेरिया जे डुबि गेलै,
झिंगवा जे फुलि गेलै,
ओगे ब्र ज क' वाला!
धीरे-धीरे मादल बाजै
कुहुकि उठै गाला,
ओगे ब्र ज क' वाला!

अर्थात् हे व्रजबाले ! संध्या हुई, झिंगनी के पुष्प फूल गए। धीरे-धीरे मादल बज रहा है। सुनकर, मेरा गला कूक उठता है !

इसी प्रकार 'रोपा-डोभा' संपन्न होने पर, भादो मास की पूर्णिमा रात्रि में, जब इस जिले के गाँव-गाँव में झूमर नृत्य होते हैं और मादल के मादक ताल तथा वंशी की मधुर ध्वनि से सारे जिले का वायुमंडल गूँज उठता है, तब गाँव के किसी भी युवक और युवती के लिए घर में चुप बैठ रहना असह्य हो जाता है। युवतियाँ अन्य दिनों में भले ही नृत्य में संमिलित न हों, पर भादो-पूर्णिमा की रात्रि को अवश्य संमिलित होती हैं। उस रात्रि को कुलवधुएँ भी पतियों के रोकने पर उनसे प्रार्थना करती हैं—

सावन-भादव मासे,
बरिसलै चहूँ दिसे,
कोइली कुहुकै, वने—
बोलै पपीहा गो,
नाचे ले दिहऽ !
बाजत मादल बाँसी
सालत हिया गो,
नाचे ले दिहऽ !

इतना ही नहीं, उस राग-रंग, झूमर-मादल और वंशी-नगाड़े की अमृतमयी ज्योत्स्ना-रात्रि में स्त्रियाँ पतियों को भी झूमर-नृत्य मों संमिलित होने का आमंत्रण देती हैं, उनका आवाहन करती हैं। साथ ही गिड़गिड़ाकर कहती हैं कि 'हे प्रियतम ! आज की रात मुझे कुछ न कहो और नाचने दो !'

बिकि गेलो दूध-दही,
कि करबे घरें रही ?
चलऽ पिया—चलऽ तुहूँ
झूमरि देखिहऽ गो,
नाचे ले दिहऽ !
आजू के राति मोरे
कुछो ने कहिहऽ गो,
नाचे ले दिहऽ !

उक्त गीत में 'आजू के राति मोरे कुछो ने कहिहऽ गो, नाचेले दिहऽ !' में, इस जिले के ग्रामीणों के हृदय स्थित नृत्य-संगीत-प्रेम का ज्वलंत प्रमाण उपस्थित किया गया है। यहाँ उनके सरस जीवन की मधुर-भावना मुखरित हो उठी है।

यों तो इस जिले में झूमर के पेशेवर गायक और गायिकाएँ, नर्तक और नर्तकियाँ भी हैं—जो मेले-ठेलों तथा ग्रामोत्सवों के अवसर पर गाती-नाचती हैं, पर ग्राम्य युवक-युवतियों की तरह ये अपने नृत्य-गीत में जान नहीं ला पातीं। सच पूछिए तो पेशेवर गायक-गायिकाओं ने इस गीत-नृत्य में कुछ विकृति-सी ला दी है। इसके विपरीत ग्राम-युवकों और युवतियों द्वारा प्रस्तुत किए गए नृत्य-गीत बड़े ही सरस, मधुर और कलापूर्ण होते हैं। किसी भी रात्रि की स्निग्ध ज्योत्स्ना में, गाँव के किसी भी युवक द्वारा, मिट्टी के मादल से—'धा-धा धिन, धा-धा धिन, तृकिट-धिना !' के निकलते ही, ग्राम के युवक और युवतियों में एक लहर-सी दौड़ जाती है और वे एक-एक कर झूमर के अखाड़े में आ उपस्थित होते हैं। कुछ ही क्षणों में, युवतियों का दल, एक दूसरी की बाँह में बाँह डाले, हँसता, मुस्कराता एवं इठलाता, पंक्ति-बद्ध खड़ा हो जाता है और युवक-दल मादल, नगाड़े, ढोल, वंशी तथा करताल लेकर, सामने आ डटता है। अब एक युवक दाहिन कान पर दाहिना हाथ रखकर झूमर गाता है—युवतियाँ उसे दुहराती हैं और ठीक 'सम' पर वाद्य बज उठते हैं तथा नृत्य प्रारंभ हो जाता है। इसी प्रकार रात-की-रात बीत जाती है।

झूमर में करुण, शृंगार और शांत रस की परिपूर्णता है। हास्य रस के भी झूमर हैं, पर नहीं के बराबर। कहीं-कहीं तो झूमर के भाव हिंदी-उर्दू की अच्छी-से-अच्छी कविताओं से टक्कर लेते हैं। जैसे—

मोरा मोहन बँसिया बजाय,
सुनि जिय ललचाय,
मोर मऽन अकुलाय !
सखि धनि रे मुरलिया के भाग,
'करे जेकरा से पिया अनुराग,
कही ओकरे सोहाग !'
रहे दिन-राती छऽतियाँ लगाय
मोर मऽन अकुलाय !

उर्दू के एक पुराने सूफी कवि ने जिस भाव को—

साकी ! तू दिये जा मय,
जिस-जिस को दिया चाहे !
सबमें वोह सुहागन है
कि जिसको पिया चाहे ।

—कहकर नागरिकता के साथ प्रकट किया है, उसीको इस लोक गीत में अत्यंत सरल ग्राम्य भाषा में उपस्थित कर भाव में जान डाल दी गई है—

कही ओकरे सोहाग,
करे जेकरा से पिया अनुराग !

लेकिन जालिम पेट के आगे, जिसे दिन-रात में दो बार भोजन के लिए आध सेर अन्न चाहिए ही, उक्त बातें एकबारगी विलुप्त-सी हो जाती हैं। पेट में अन्न रहने पर ही शृंगार-रस के झूमर और मादल के मादक ताल तथा वंशी की मधुर-ध्वनि भी अच्छी लगती है। अन्नाभाव के कारण तिलमिलाकर रह जानेवाला व्यक्ति व्यथित होकर कहने लगता है—

ऐसों के पुरवैया बहै टान !
कि करतै प्रान ! ऐसों के··!
जेकरा कोठी धान,
तेकरऽ मनसूबा आन,
गरिवा हलुआ हरान,
कि करतै आन ! ऐसों के·· !

झूमर के बाद डोहा, जो शायद दोहा शब्द का अपभ्रंश है, कुछ ही दिन गाया जाता है। पौष-मकर-संक्रांति से पहले और माघ में वर्षा होने एवं पृथ्वी पर हल चलने के बाद, डोहों का गाया जाना अकाल को आमंत्रित करने-जैसा अशुभ माना जाता है। मकर-संक्रांति में जिले की अनेकानेक पहाड़ी नदियों, झरनों, सरोवरों और कुंडों के निकट स्नानार्थी स्त्री-पुरुषों के मेले लगते हैं। मेलों में झुंड-के-झुंड जानेवाले लोग डोहे गाते हैं और गाते-गाते अघाते नहीं। डोहे के माध्यम से मील-मील तक आगे-पीछे दूर-दूर चलनेवाले पुरुष-दलों और नारी-दलों में नाना प्रकार के वाद-विवाद होते हैं, नोंक-झोंक चलती है। जब पुरुष-दल में कोई गाता है—

कौन तोहें सुंदरि गे !
सुमुखि सयनियाँ कि—
सखिया सहेलिया के साथ ?
डोहवा सुनावें, सुनि
तोर मीठऽ बोलिया कि—
होवत मुरलियो जे मात !

तभी नारी-दल से एक युवती गाकर उत्तर देती है—

नाहीं हम देवी, नाहीं
सरग - अपसरा कि,
नाहीं हम गुन के निधान।
हम एक गाँव के
किसनवाँ के बेटिया कि
मोर बाप गाँव के किसान !

डोहों में शृंगार और करुण रस के साथ-साथ शब्दालंकार का चमत्कार भी होता है, जो किसी सहृदय को चमत्कृत किए विना नहीं रहता। उदाहरणार्थ निम्न गीत देखिए—

शृंगार—

सुतल रहलूँ हम
अमवा के छहियाँ कि
गुमरि-गुमरि निंद लेल !
कौन निरमोहिया रे
बँसिया बजाओल कि
छतियें दरद उठिगेल !
जब से सजनि ! मोर
रसिक तेयागि गेल
झूमरि-अखाड़ा सून भेल
मटिया के मादर में
मकरा जे मँडरल,
बँसिया में घुन लागि गेल !

उक्त डोहे के 'मटिया के मादर में मकरा जे मँडरल' को पढ़कर, गोस्वामी तुलसीदासजी की 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि' की बरबस याद आ जाती है।

करुण—

खार फिचें गेलूँ हम
नदिया जमुनियाँ कि
फिंचि लेलूँ पनियाँ पखारि!
चरक - चरक फूला
कँसिया के देखलूँ कि
भरि गेलै अँखिया हमार!
मनवाँ के दुखवा रे
ककरा सुनैवै कि
हमर करम फुटि गेल।
एके पूता रहतल
कुसे पानी देतल
सेहो पूता दैवऽ हरि लेल!

उक्त गीत में कितनी करुणा, कितनी व्यथा और कितनी भावुकता सन्निहित है। पुत्र-हीना, शोक-निमग्ना माता की अंतःपीड़ा मूर्त्त हो उठी है। 'सेहो पूता दैवऽ हरि लेल' कहकर लोकगीतकार ने विधाता की निष्ठुरता का जो चित्र उपस्थित किया है, वह स्रष्टा के प्रति हृदय में कम क्षोभ उत्पन्न नहीं करता।

झूमर और डोहा के बाद, हजारीबाग जिले के लोकगीतों में तीसरा स्थान है 'करमा गीत' का। करमा के गीतों का, भाद्र-शुक्ल-पक्ष की कर्मा एकादशी से संबंध है। यह एकादशी, अपने भाइयों की कल्याण-वृद्धि की शुभ-कामना लेकर, अधिकतर बहनें कहती हैं और भाद्र-शुक्ल-तृतीया से ही 'करम-गोसायँ' अर्थात् कर्म भगवान के पूजन का सामूहिक आयोजन प्रारंभ होता है। यहाँ यह वता देना अत्यंत आवश्यक है कि इस कर्मा-एकादशी-व्रत के पुनीत अवसर पर, खास कर द्विजेतर जातियों की विवाहिता बहनों और पुत्रियों को, कोई भी भाई अथवा पिता, उन्हें ससुराल से मायके लिवा ले आने को धर्मतः बाध्य है। उक्त अवसर पर प्रत्येक लड़की मायके जाने को आकुल रहती है और भादों के प्रथम दिन से ही भाई और बाप के आगमन की राह देखा करती है।

ग्रामीणों के अधिकांश कार्य प्रकृति पर ही निर्भर हैं। वे सूर्य को देखकर ही समय का अंदाजा लगा लेते हैं, पक्षियों की बोली सुनकर ही उनको शुभाशुभ का ज्ञान हो जाता है और प्रथम वर्षा में ही वे फसल की भलाई बुराई का हाल जान लेते हैं। तात्पर्य यह कि भादों के प्रथम दिन से ही लिवा ले जानेवाले बाप-भाई की राह देखनेवाली लड़कियाँ भी उनके आने-न-आने का बोध करती हैं। कास (तृण-विशेष) जब फूटने का उपक्रम करते हैं, लड़कियाँ तभी भाई-बाप के आगमन की आशा में गद्‌गद हो झूमर की निम्न पक्तियाँ गा उठती हैं—

कँसिया जे अरँड़लै,
अब आशा लगलै,
सजनि गे!
भैया-बपा ऐतै लेनिहार!!

हे सखि, कास फूटने लगे। अब आशा बँध गई कि भाई-बाप हमें अवश्य लेने आयँगे।

पर, कदाचित्, किसी कारणवश, भाई-बाप न आ सके और कासों में फूल फूट पड़े, तो लड़कियों को उनके आने और स्वयं मायके जाने की आशा नहीं रह जाती। तब वे निराश होकर, अत्यंत-व्यथा-पूर्ण-स्वर में कहती हैं—

कँसिया जे फूटलै,
अब आशा टूटलै,
सजनि गे!
भैया-बपा भेलै बेइमान!

हे सखि, कास फूट पड़े। अब मायके जाने की आशा नहीं रही। मालूम होता है, हमारे भाई-बाप हमें भूल गए! 'वेईमान' हो गए!

लेकिन भाद्र-शुक्ल-तृतीया तक बहन अथवा पुत्री को, ससुराल से मायके लिवा ले आनेवाले भाई या बाप, ससुराल से लड़की को मायके न लिवा ले जायँ, ऐसी घटनाएँ हजार में एक-दो ही होती हैं। प्रायः सभी लड़कियाँ उक्त तिथि तक मायके पहुँचकर 'करम गोसायँ' के पूजन-आयोजन में संमिलित हो ही जाती हैं और टोलियाँ बना-बनाकर नदियों, नालों, झरनों या तालाबों में निम्न गीत गाती हुई स्नान करने जाती हैं—

भैया हो!
बसऽ हऽ नगर में—
भेजी दिहऽ डलिया संदेश!
बहिन गे!
बसऽ ही नगर में—
भेजी देवौ डलिया संदेस!

हे भाई ! तुम शहर में रहते हो। (कर्म-पूजनार्थ) मेरे लिए संदेश में बाँस की डलिया भेज देना।

हे बहन ! मैं शहर में रहता हूँ। संदेश में तुम्हारे लिए डलिया भेज दूँगा।

स्नानोपरांत बाँस की नन्हो-नन्ही टोकरियों में, रेत भर-भर, घर ला, रेत में जौ के दाने बिखेर, बहनें पानी डाल देती हैं और लिपे-पुते पवित्र स्थान पर रख, धूप-दीप दिखा, उसे चारों ओर से घेरकर गाती और नाचती हैं। इस रेत और यव-पूर्ण टोकरी को 'जावाडाली' कहा जाता है। भाद्र-शुक्ल-चतुर्थी से प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और संध्या—तीनों काल, उस 'जावाडाली' की अभ्यर्थना में, उसी प्रकार सामूहिक नृत्य और संगीत होते हैं। यह क्रम भाद्र-शुक्ल-एकादशी की अंतिम रात्रि तक जारी रहता है। एकादशी की प्रथम रात्रि को, आँगन में 'करम' वृक्ष की डाल स्थापित कर, उसीके नीचे जावाडाली को रख, वस्त्राभूषणों से सजी सभी बहनें दिन-रात उपवासपूर्वक व्रत और कर्म-भगवान का पूजन करती हुई, रात्रि के अंतिम-प्रहर तक करमा के गीत गाती एवं मादल, नगाड़े, वंशी और करताल के साथ झूमर नृत्य करती हैं। कर्म एकादशी और कर्म भगवान के पूजनार्थ भाद्र-शुक्ल-तृतीया से एकादशी तक लड़कियों और युवतियों द्वारा गाए गए गीत ही करमा के गीत हैं।

करमा के गीतों में जहाँ कर्म भगवान के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति प्रकट होती है, वहीं भाइयों के प्रति बहनों का असीम प्रेम, मंगल-कामना और स्नेह का दरिया भी उमड़ता दिखाई पड़ता है। भाई के प्रति बहन की अत्यंत सराहनीय मंगल कामना प्रकट होती है। कर्म भगवान से, भाई के लिए वह खेत, बारी, कूआँ, बैल, भैंस, बकरा, बकरी, पुत्र, पुत्री, नाती, पोते, नौकर, चाकर, स्वास्थ्य आदि क्या-क्या नहीं माँगती है? पर 'एक बेटी, पाँच बेटा, नाती-पोता बीस' कहकर वह चाहती है कि मेरे भाई को, कर्म भगवान पुत्री अधिक नहीं, एक ही दें, ताकि वह तिलक-दहेज में बर्बाद न हो जाय। पुत्र और नाती-पोते, पाँच-पाँच या बीस-बीस भले ही प्रदान करें।

भाई के प्रति बहन के हृदय में कितना स्नेह और कितनी भावुकता सन्निहित है, यह नीचे लिखे गीत में देखिए। ससुराल-स्थित बहन को मायके लिवा ले जाने को भाई जब बहन की ससुराल की पहली ड्योढ़ी पर पहुँचा, तब बहन की वृद्धा सास खाट छिपाने लगी, ताकि बहू का भाई सम्मानपूर्वक बैठने की जगह न पाकर रुष्ट हो जाय और बहन को बिना विदा कराए ही घर वापस चला जाय। किंतु बहन है, जो उक्त वस्तु के छिपा लेने पर भी अपने भाई के सम्मान में कमी नहीं होने देने का संकल्प लिए दृढ़ है। उसके सम्मान का ढंग भी उसका अपना है। वह सास की दुष्टता देख, उससे लड़ने नहीं लग जाती, उसे क्षोभ नहीं होता; बल्कि वह दृढ़ता-पूर्वक सास से कहती है—

नुकावऽ - नुकावऽ सासू !
आपन खटोलना रे ना,
सासू ! भैया क' हमऽ
अँचरे बैठैबै रे ना।

हे सास ! तुम अपना 'खटोलना' छिपाओ। भाई को मैं अपने आँचल पर ही बिठाऊँगी।

करमा गीतों का अध्ययन करने पर कोई भी व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि इन गीतों के रचयिताओं और रचयित्रियों ने कल्पना से काम न लेकर सीधे रोजमर्रे की घटनाओं का ही उल्लेख किया है। यही कारण है कि कहीं कृत्रिमता नहीं, कल्पना के पर लगाकर उड़ने का कोई प्रयास नहीं। करमा के गीतों में जो कुछ कहा गया है, उसमें तथ्य और सत्यता की ही मात्रा अधिक है।

करमा गीत के बाद बिरहे का स्थान है। झूमर की तरह बिरहा गीत भी हजारीबाग जिले में हर समय गाए जाते हैं। यह खास कर ग्वालों के गीत हैं। वे कार्तिक-मास में लक्ष्मी-पूजनोत्सव के अवसर पर, इन्हें दिल खोलकर गाते हैं। उस दिन नए वस्त्र धारण कर, पैरों में घुँघरू बाँध, हाथों में बड़े-बड़े लट्ठ ले, किसानों के घरों में, ढोल के ताल के साथ, बिरहा के गीत गा-गाकर, ग्वाले नाचते हैं और बदले में अन्न तथा पैसे वसूल करते हैं। बिरहा में शृंगार और करुण रसों की विशेषता है—

झूमरि बिसरि गेलूँ
बिसरलूँ डोहवा कि
भूलि गेलूँ माँदर के ताल !
बँसिया के धुनि मोरे
मनहुँ न भावई कि
भावई न गोरिया के गाल !
राधा हे, मुरली से भेलिए बेहाल !

कितना सजीव चित्रण है इस बिरहा-गीत में एक अन्नाभाव-ग्रस्त भूखे मानव का ! गीत के अंतिम चरण—गोरिया के गाल—क 'गोरिया' और 'गाल' में बड़ी ही मिठास और सुंदर अनुप्रास है ! साथ ही इस एक ही पद में कुशलता-पूर्वक करुण और शृंगार-रस का समावेश किया गया है।

महाकवि कालिदास चंद्र-ग्रहण की रात्रि में जैसा विचार व्यक्त करते हैं, ठीक वैसा ही विचार प्रकट करता है गाँव का एक निरा अपढ़ कवि। महाकवि संस्कृत में बोलते हैं और ग्राम्य-कवि अपनी ग्राम्य भाषा में, किंतु कहते हैं दोनों एक ही बात। ग्रहण-काल में, सुंदरी के चंद्रानन पर राहु-आक्रमण का दोनों को भय होता है और दोनों की हृत्तंत्री से एक ही रागिनी बज उठती है—

ग्रसति तव मुखेन्दुं

और,

तोहरे न मुख गसि जाति।

'भाव अनोखा चाहिए, भाषा काहू होय' के अनुसार दोनों की भाषाएँ अलग-अलग होने पर भी भाव एक ही है। इस संबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि हजारीबाग जिले के ग्रामों में इन लोकगीतों के गायक अनेक कवि और महाकवि हैं, लेकिन प्रमादवश हम उन्हें ढूँढ़ नहीं रहे हैं। हम इनके गीत गाते हैं, सुनते हैं और सुनकर असीम आनंद प्राप्त करते हैं, पर उनमें से अधिकांश को जानते तक नहीं। झूमर गीतों में कुछ रचयिताओं के नाम आज भी मिलते हैं, किंतु डोहा, करमा और बिरहा गीत के रचयिता-रचयित्रियों का कोई पता नहीं चलता। कितना अच्छा होता कि हम इनका परिचय-ग्रंथ भी प्रकाशित करते। मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस कार्य में भी सक्रिय सहयोग प्रदान करने की ओर ध्यान दे।

हजारीबाग जिले के लोक-गीत वे मूल्यवान् मोती हैं—जो आज सदियों से वनों, पर्वतों, झरनों, नदियों एवं ग्रामों में ही बिखरे पड़े हैं। इन्हें कभी नागरिक जौहरियों के संमुख उपस्थित होने का अवसर नहीं मिला ! अब इनके प्रति अधिक उपेक्षा उचित नहीं।

गीत : श्री जितेंद्रकुमार

यह मलयानिल का झोंका है
याकि तुम्हारा श्वास-समीरण ?
पुष्प खिले आते हैं शतशः
उल्लासों के निमिष-निमिष पर,
निर्निमेष नयनों में खिंचता
आता है छवि-चित्र मनोहर;
डोली यह काया या ली है
नव वसंतश्री ने अँगड़ाई ?
स्वप्न-आवरण है यह सम्मुख
याकि सत्य का स्वर्ण-संचरण ?

यह रव—कूक उठी हो जैसे
वन-निकुंज में मधुमय कोयल,
यह रव—गूँज उठी हो जैसे
प्रकृति-परी की वीणा कोमल,
यह रव—जैसे हुआ झंकरित
नव सुषमा का तार मनोहर
यह रव—जैसे छाता जाता
मन-प्राणों पर बन संमोहन !

इतना यह आकर्षण—जैसे
रस का चिर-सागर उमड़ा हो,
इतना यह आनंद कि जैसे
सुख का निर्झर फूट पड़ा हो,
इतना यह मधुपाश कि जैसे
बँधा हुआ हो अग-जग सारा,
कल्प-कल्प का सौख्य समेटे
एक निमिष का ज्यों मधु-दर्शन !

रोम-रोम मेरे गायक हैं
सहज तुम्हारी दिव्य कथा के,
मेरे प्राण शलभ हैं प्रेयसि,
मुग्ध तुम्हारी रूप-शिखा के,
मेरे श्वास स्वरों में शिंजित
शुभे, स्वर्ग-संगीत सुकोमल,
मेरा हृदय बना जाता है
आराधनमय स्नेह-समर्पण !
यह मलयानिल का झोंका है
याकि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

करुणा-रस में आनंदानुभूति

श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय

'एको रसः करुण एव'—कहकर महाकवि भवभूति ने साहित्य के नव-रसों में एकमात्र करुण-रस को ही प्रधानता दी है, जबकि कविकुलगुरु कालिदास ने शृंगार की महिमा बखानते नहीं अघाए। इसी प्रकार अन्यान्य कवियों ने भी विभिन्न रसों की महत्ता प्रतिपादित की है; किंतु एक विद्वान ने करुण-रस में भी आनंदानुभूति का उल्लेख कर उसे जो महत्त्व प्रदान किया है, वह पाठकों को आश्चर्यजनक ही प्रतीत होगा। क्योंकि 'करुणा' और आनंद का संबंध तो सदैव ही ३६ का-सा रहा है। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार अथवा पुण्य और पाप, या पूर्व और पश्चिम का परस्पर साथ रह सकना असंभव है, उसी प्रकार इन दोनों रसों में परस्पर मेल की आशा भी नहीं की जा सकती। क्योंकि संसार में रहते हुए किसी मनुष्य-द्वारा दुःख में सुख का अनुभव किया जाने का उदाहरण देखने में नहीं आता। दोनों विषयों में अनादि-काल से ही विरोध चला आ रहा है और भविष्य में भी वह उसी प्रकार चलता रहेगा। ऐसी दशा में करुण रस में आनंद की खोज करना आश्चर्यजनक ही कहा जायगा।

किंतु संसार की दृष्टि से ये दोनों परस्पर-विरोधी होते हुए भी 'साहित्य-जगत्' में उनका वैसा विराध नहीं रह पाता। उसमें जहाँ दुःखपूर्ण घटनाओं का चित्रण दृष्टि-गोचर होता है, वहीं सुखमय प्रसंगों की छटा भी दिखाई देती है। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रकार सुखमय प्रसंगों से आनंद का अनुभव होता है, उसी प्रकार दुःखमय प्रसंगों से भी उसका अनुभव किया जाता है। अतः जो बात संसार में कभी दृष्टिगोचर नहीं होती, उसे साहित्य-जगत् में प्रत्यक्ष देखकर उसका कारण न जानने से मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है और इस चमत्कार की ओर वह आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगता है।

करुण-रस-प्रधान साहित्य का माधुर्य, आनंद-प्रधान वाङ्मय से किसी प्रकार भी कम नहीं हो सकता। इस बात को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा न हो तो इस प्रकार का साहित्य कवियों अथवा ललित कलाकारों ने कभी निर्मित ही नहीं किया होता और न रसिक-समाज की ओर से उसे प्रश्रय ही प्राप्त होता। संसार के साहित्य का अवलोकन करने पर हमें करुण-रस का विवेचन आनंद की भावना से किसी प्रकार भी न्यून मात्रा में नहीं दिखाई देगा। कहीं का भी साहित्य ले लीजिए, उसमें करुण रस का यथेष्ट स्थान अवश्य दिखाई देगा। यद्यपि कुछ आधुनिक साहित्य-शास्त्रज्ञ करुण-रस से केवल दुःखानुभूति का ही सिद्धांत-प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं, किंतु यदि यह धारणा यथार्थ होती तो इस प्रकार का साहित्य विपुल परिमाण में निर्मित ही नहीं होने पाता। इन लोगों ने इस अनुभूति के जो कारण बतलाए हैं, वे अधूरे ही प्रतीत होते हैं। जिज्ञास्य तृप्ति का आनंद कलाकार की लेखन-शैली, भाषा-प्रयोग एवं प्रसंगानुरूप उसकी परिणामकारक रचना की कुशलता आदि के मिश्रित परिणाम में करुण-रस द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीलिए उसमें अनुभूति का भाव प्रतीत होने की बात वे कहते हैं। किंतु यथार्थ में ये सब बातें इतनी नगण्य हैं कि जिनके कारण रसिकवर्ग करुण-साहित्य की ओर कभी इतना अधिक आकर्षित हो नहीं सकता। इतने पर भी यदि रसिकों की दृष्टि से इसे आनंद का कारण मान लिया जाय तो भी कवि के लिए यह सिद्धांत कभी मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि वह भला, इस प्रकार की रचना द्वारा किस जिज्ञासा की तृप्ति कर सकेगा? अर्थात् वह उसमें आनंदानुभव न होने की दशा में काव्य ही क्यों लिखेगा? उसे उस रचना में जब आस्वादन करने योग्य भाव प्रतीत होता है, तभी तो वह रचना करता है। अर्थात् करुण-रस यथार्थ में केवल दुखदायी ही नहीं होता। यही कारण है कि संसार के सभी साहित्यों में इसे यथेष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।

भारतीय साहित्य में रामायण और महाभारत—ये दो ही महाकाव्य माने जाते हैं और इन दोनों में करुण-रस का वातावरण कितने ही अवसरों पर निर्मित होता दिखाई देता है। रामायण में राम का वनवास, सीताहरण, पुत्रवियोग में दशरथ की मृत्यु आदि प्रसंग तो करुण-रसोत्पादक हैं ही; किंतु महाभारत का तो मुख्य विषय ही करुण-रस के अनुकूल है। क्योंकि उसमें युद्ध के वातावरण से दुःखग्रस्त समाज का वर्णन ही मुख्य रूप से किया गया है। साथ ही पांडव-जैसे सत्त्वशील वीरों पर जो अनेक आपत्तियाँ आईं, उन्हीं का वर्णन उसमें प्रधान रूप से किया गया है। और, इसी कारण उस महाकाव्य में विषाद का साम्राज्य प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट दिखाई देता है। उस काव्य में अनेक शोकमयी घटनाओं का वर्णन होने से ही वह पाठकों का हृदय द्रवित कर देता है।

इनके बाद संस्कृत-महाकवियों के ग्रंथों में भी इसका अस्तित्व विपुल मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में ही 'स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबंधः' के रूप में मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देनेवाला करुण-रस दिखाई देता है। इसी नाटक के तीसरे अंक में राम का विलाप हृदय को द्रवित कर देता है। सीता के पृथ्वी में समा जाने से राम को उतना दुःख नहीं होता, जितना कि उसके त्यागने पर हुआ था। क्योंकि मृत्यु तो एक स्वाभाविक अतएव अपरिहार्य आपत्ति होती है। इसी कारण मृत्यु से होनेवाले दुःख की अपेक्षा स्वेच्छा से स्वीकृत शाश्वत वियोग का दुःख अवश्य ही अधिक दारुण हो सकता है। सो, यह दुःख मानों दुर्दैव ने ही राम के मस्तक पर लादने के लिए उनके हाथों सीता का त्याग करवाया है। इस प्रकार राम नियति के हाथों के खिलौने बनाए गए हैं। इस घटना में मानव की विवशता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। और, इसीलिए हमारा मन विचारमग्न और हमारी वृत्ति अंतर्मुख हो जाती है। उस दशा में अनुभव होता है कि इस संसार में मानव प्राणी कितना क्षुद्र है? इस प्रकार दुःख का रूपांतर निर्वेद एवं शांति में हो जाता है। इसीलिए रसिक जनों को राम का करुण चित्र आकर्षक प्रतीत होता है।

यही बात रघुवंश में वर्णित 'अज-विलाप' के लिए भी कही जा सकती है। अज और इंदुमती के उपवन में विहार करते समय आकाश में भ्रमण करनेवाले नारद की 'वीणा' पर लगी हुई स्वर्गीय पुष्पों की माला टूटकर अचानक इंदुमती के वक्षस्थल पर गिरने से उस शापभ्रष्टा अप्सरा की मृत्यु हो जाती है। निरंतर सुखोपभोग में निमग्न रहने की दशा में इंदुमती की अचानक मृत्यु हो जाना और वह भी केवल पुष्पमाला के आघात से! ऐसी दशा में गतप्राणा दयिता को अंक में लेकर विलाप करनेवाले 'अज' के उद्गार किसे द्रवित नहीं कर देंगे? उसी अवसर पर राजा को संसार के जीवों की क्षणभंगुरता का अनुभव हुआ और इसलिए उसके मुख से निकल पड़ा—'धिङ् मां देहभृतामसारता।' अज के ये उद्गार हमारे मन में भी तत्सम विचार उत्पन्न कर देते हैं। उस प्रसंग के दुःख के कारण हम भी तत्त्वचिंतन में प्रवृत्त होकर अंत में निर्वेदयुक्त शांत मनःस्थिति का अनुभव करने लगते हैं।

अजविलाप की ही तरह 'कुमार-संभव' में भी कालिदास ने रति-विलाप का शोकपूर्ण प्रसंग चित्रित किया है। इस प्रकार ये दोनों ही दृश्य करुण-रसपूर्ण हैं। किंतु 'शाकुंतल' में ऐसा न होते हुए भी करुण-रस को यथेष्ट अवसर प्राप्त हुआ है। सुखांत नाटक होते हुए भी उसमें चित्रित शकुंतला की विरहजन्य दीनावस्था हमें मुग्ध कर लेती है। कण्व के संमुख उपस्थित कन्या-विरह का प्रसंग जिस चतुर्थांक में चित्रित किया गया है, वह रसिक पाठकों को द्रवित कर देता है। दुर्वासा के शाप के कारण हुई विस्मृति अँगूठी के दर्शन के साथ ही दूर हो जाने पर दुष्यंत का हृदय विरह-वेदना से व्यथित हो जाता है। अतः पश्चात्ताप से दग्ध एवं विरह-वेदना से दीन बनी हुई प्रिय दयिता को निराश कर देने पर पुनः उसकी प्राप्ति असंभव समझकर हताश एवं दुखी दुष्यंत रसिक जनों को मनोज्ञ एवं चेतोहर प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार गंभीर एवं उदासमनःस्थितिवाले दुष्यंत का चित्र हमें उदात्त तत्त्व से युक्त भी प्रतीत होता है अर्थात् दुःख में जो उदात्त तत्त्व है, उसका प्रत्यय हमें उस समय प्रत्यक्ष होने लगता है। इसीलिए दुःख का परिणाम रसिकों के लिए दुःखदायी सिद्ध न होकर शांत और गंभीर मनःस्थिति निर्माण करनेवाला ही प्रमाणित होता है। और, इसी कारण ऐसे करुणापूर्ण चित्रण में भी हमें आस्वाद्यता प्रतीत होती है।

अँगरेजी-साहित्य में भी यही बात दिखाई देती है। मिल्टन का 'लिसिडास', ग्रे की 'विलापिका', शेली का

'एडोनायस' आदि काव्य करुण-रसपूर्ण होते हुए भी रसिक जनों के जिह्वाग्र पर आज भी नृत्य कर रहे हैं। 'सौदे' एकदम पुरातन-मतवादी उदास मनोवृत्तिवाला कवि था। 'वर्ड्सवर्थ' की दृष्टि हमेशा बादलों की ओर ही लगी रहती थी। उसे अखिल विश्व में उदासीनता ही व्याप्त दिखाई देती थी। इसी प्रकार 'बायरन्' स्वभावतः रसिक होते हुए भी परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण खिन्नचित्त हो गया था। 'कीट्स' कोमल अंतःकरणवाला होने से, इस संसार की असह्य प्रतिकूल आलोचनाओं के कारण आधुनिक जगत् की ओर से पीठ फिराकर ग्रीक काव्य का अनुकरण करने को प्रवृत्त हुआ था। 'शेली' तो प्रारंभ से ही ध्येय-प्रधान एवं कोमल अंतःकरणवाला कवि था। उसके हृदय के निराशापूर्ण उद्‌गार उसके काव्य में कितने ही स्थानों पर दिखाई देते हैं। संसार के प्रति प्रकट किया हुआ असंतोष उसके काव्य में पग-पग पर प्रकट हो रहा है। 'स्कायलॉर्क' नाम की कविता में वह भारद्वाज पक्षी को लक्ष्य करके कहता है कि 'मित्र! तुझे प्रतीत होनेवाला आनंद इस संसार में कभी प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि करुण रस-युक्त संगीत में ही हम मानवों को आनंदानुभव होता है। हमारा आनंद निर्मल, एकरूप एवं विशुद्ध कभी नहीं होता।' ये उद्‌गार क्या उसकी असंतुष्ट मनःस्थिति को नहीं प्रकट करते?

टेनिसन् ने 'इन्‌मेमोरियम्'-नामक काव्य अपने मित्र आर्थर हलेम की मृत्यु पर लिखा था। उसका स्वभावतः मननशील अंतःकरण अपने प्रिय मित्र की मृत्यु के कारण अधिक विचारशील बन गया था। यद्यपि कालांतर में उसके दुःख की तीव्रता कम हो गई, तथापि उसकी गंभीरता बढ़ती ही चली गई। इस प्रकार मनन के मार्ग से दुःख का पीछा करते हुए टेनिसन् इतनी दूर तक चला गया कि उस दुःख का वैयक्तिक अधिष्ठान छूटकर उसे एक विश्वव्यापी स्वरूप प्राप्त हो गया। इसी कारण यह काव्य गंभीर एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ है।

टेनिसन् का समकालीन कवि मेथ्यू अर्नाल्ड भी स्वभावतः चिंतनशील एवं मर्मज्ञ भावनावाला होने के कारण, उसका संपूर्ण जीवन ही साहित्य, शिक्षा एवं धर्म की आलोचना में व्यतीत हुआ। किंतु उसकी स्फूर्ति का यथार्थ विकास शोक-प्रधान काव्य में ही दिखाई देता है। प्रेम, प्राणांत और परमेश्वर—ये तीनों ही विषय अनादि काल से मानव-हृदय को स्फूर्ति प्रदान करते आ रहे हैं। इसीलिए उसे (अर्नाल्ड को) वर्ड्सवर्थ का शिष्य ही मानना होगा। किंतु केवल इसी विषय में उसकी प्रतिभा का प्रकट होना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वर्ड्सवर्थ के कुछ गीत एवं बाल्यावस्था के संस्मरणात्मक, उत्कंठापूर्ण भावगीतों में जो निर्वेद एवं निराशा का स्वर सुनाई देता है, उसका अतिरेक ही अर्नाल्ड के काव्य में हुआ है। हिंदी के काव्य-जगत् में भी करुण-रस का यत्र-तत्र पर्याप्त परिचय मिलता है। यद्यपि व्रजभाषा या प्राचीन साहित्य में शृंगार आदि रसों की प्रधानता रही है, तथापि महाकवि सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास आदि के ग्रंथों में करुण-रस की कविता के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी इस दिशा में कलम चलाई है। 'भारत-दुर्दशा' नाटक में इसके कुछ नमूने मिल सकते हैं। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद का 'आँसू'-नामक काव्य तो इसका सजीव उदाहरण है। महाकवि 'शंकर', आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने भी स्फुट पद्यों एवं कालिदास के काव्यों के विवेचन में करुण रस का ही उल्लेख किया है। अयोध्यासिंहजी उपाध्याय का 'प्रिय-प्रवास' तो इस युग का करुणरस-प्रधान काव्य ही सिद्ध हुआ है। उसमें यशोदा का विलाप, राधा की विरहातुर अवस्था एवं गोपबालाओं का करुण क्रंदन पाषाण को भी द्रवित कर देते हैं। इसी प्रकार उनका 'वैदेही-वनवास' भी करुण-रसपूर्ण महाकाव्य है। इसके कई प्रसंग ऐसे अपूर्व एवं करुण-रस से छलकते हुए हैं कि किसी भी सहृदय व्यक्ति को सहज ही रुला सकते हैं। उपाध्यायजी के ये दोनों ही काव्य अनूठे हैं। इसी प्रकार और भी कई रचनाएँ साहित्य में उपलब्ध हैं।

महाकवि मैथिलीशरणजी गुप्त के 'साकेत' में भी करुण-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। उनकी यशोधरा आदि रचनाओं में भी इसकी कमी नहीं है। मिश्र-बंधु का 'भारत-विनय'-काव्य भी करुण-रस की एक रचना है। स्व० पं० सत्यनारायण कविरत्न तो करुण-रस के साक्षात् अवतार ही थे। उनकी कई कविताएँ करुण-रस का सजीव चित्र ही हमारे सामने उपस्थित कर देती हैं। 'भयो क्यों अनचाहत को संग' वाला संपूर्ण प्रसंग ही करुण रस का ऐसा अद्वितीय उदाहरण है, जिसने कवि का संपूर्ण जीवन ही करुण-रसपूर्ण बना दिया है।

इसी प्रकार अन्यान्य कवियों ने भी थोड़ी-बहुत रचनाएँ करुण रस में की हैं। किंतु स्व० पं० रमाशंकरजी शुक्ल 'हृदय' का 'करुणा-कण'-नामक छोटा-सा काव्य तो अपने नामानुरूप ही करुण-रस-प्रधान आधुनिक रचना है। उसमें ग्वालियर-नरेश की सौतेली बहन कमला राजा की आकस्मिक मृत्यु एवं तज्जन्य राज-परिवारव्यापी शोक का जो करुण प्रसंग इस काव्य में अंकित किया गया है, वह पत्थर को भी पिघला सकता है। इस प्रकार करुण-रस का साहित्य हिंदी में भी पर्याप्त मिल सकता है। और, उस साहित्य के परिशीलन से एक विशेष प्रकार की आनंदानुभूति होती है।

इन सब उदाहरणों द्वारा शोक की परिणति उदात्तता में होने के पश्चात् वह मानसिक शांति और निर्वेद में परिवर्तित होकर अंत में किस प्रकार संतोष प्रदान करती है, यह स्पष्ट विदित हो जाता है। कवि या कलाकार को दुःखद प्रसंग के दर्शन से प्रथमतः दुःखानुभव होकर उसका चित्त आंदोलित होता है; किंतु उसका मन सुसंस्कृत होने से वह उसके मूल कारण की खोज करता है और यहीं से तत्त्वचिंतन का श्रीगणेश हो जाता है। उस विचारधारा का परिणाम संसार का यथार्थ ज्ञान होने एवं अपनी क्षुद्रता अनुभव करने के रूप में होता है। और, तब उसका अंतःकरण निर्वेद से व्याप्त हो जाता है, जिससे उसी का अप्रत्यक्ष स्वर उसके काव्य द्वारा ध्वनित होता है।

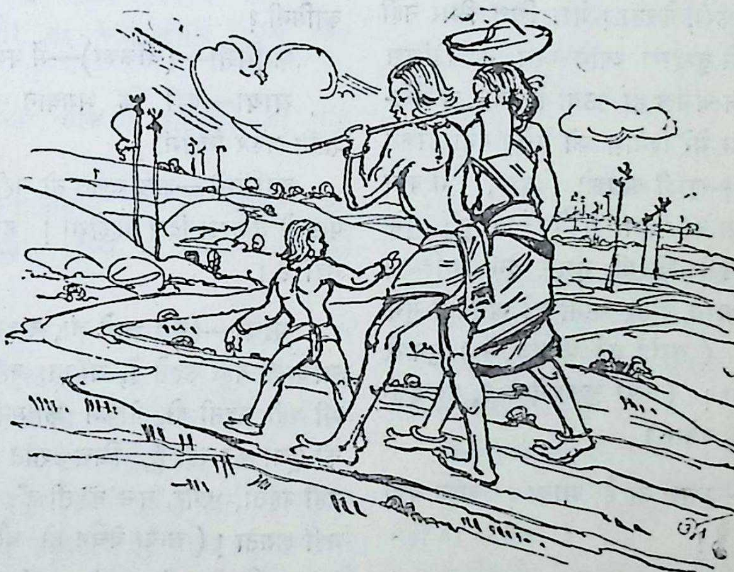
'अज' के मुख से विलाप के समय मानव की क्षुद्रता के उद्‌गार, टेनिसन् का तत्त्वचिंतन, शेली का निरानंदमय संसार-विषयक विधान आदि उनकी इसी मनोवृत्ति के द्योतक हैं। कवि-कलाकार के द्वारा संसार क दुःखानुभव का यह तत्त्व-चिंतन कभी-कभी उसकी रचना में अस्पष्ट एवं संकेतरूप से अवश्य दृष्टिगोचर होता है और सूक्ष्मता से विचार करने पर ही हमें उसका पता लगता है, यद्यपि वह स्थायी रूप में ही वहाँ सतत वास करता है। उसी के कारण शोक—करुण-रस—की अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार ललित वाङ्मय के निर्वेद एवं तत्त्वचिंतन में शोक की होनेवाली परिणति मन को शांति एवं सुख प्रदान करती है। और, इसीलिए करुण-रसपूर्ण रचना भी आनंदप्रद एवं आकर्षक सिद्ध होती है। यदि ऐसा न होता तो आज किसी ने भी ऐसी रोदनमयी रचना पर ध्यान नहीं दिया होता। सारांश, इन सब बातों से आनंदप्रधान साहित्य-रचना की अपेक्षा शोक या करुण-रस-प्रधान साहित्य का महत्त्व किसी प्रकार भी कम सिद्ध नहीं होता।

संसार में सुख की अपेक्षा दुःख की ही प्रधानता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसी कारण पाठकों को शोक-प्रधान साहित्य प्रत्ययोत्पादी—विश्वरत—प्रतीत होता है। यद्यपि इसमें कोमल भावनाओं की ही अनुभूति होती है तथापि इस कोमलता के साथ-साथ ही उदात्तता और गांभीर्य का भी दुःख में मिश्रण होता दिखाई देता है। दुःख के मूल कारण का विचार, उसके आघात होने पर ही, उदासीन मन के द्वारा हो सकता है। उसी में गंभीरता निर्मित होती है और इसी गंभीरता के कारण मन विचारशील बनता है, जिसमें उदात्त विचार-सरणि जाग्रत होती है। फलतः इस उदात्तता एवं मानसिक शांति का निर्माण और निर्वेदयुक्त शांत मनःस्थिति के अनुभव का माधुर्य हमें केवल करुणरस-प्रधान रचनाओं द्वारा प्राप्त होने से ही उनकी ओर विशेष प्रकार का आकर्षण होता है।

यद्यपि यह संपूर्ण मानसिक प्रक्रिया अस्पष्ट, क्रमरहित एवं अज्ञात रूप से होती है, तथापि चित्त को विचलित कर देती है। साथ ही चिर-परिणामकारी होने के कारण ही पाठकों की आसक्ति इस प्रकार के साहित्य की ओर विशेष रूप से होती है। यह मानसिक प्रक्रिया ही शोक को स्पृहणीय बना देती है। इस मनोवृत्ति एवं उसके परिणाम के विचार से ही अनेक कवियों एवं कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का उपयोग शोकप्रधान, करुणरसमयी ललित रचनाओं के निर्माण करने में किया है। और, उनकी कृतियों के प्रभावोत्पादक एवं परिणामकारी सिद्ध होने से ही करुण-रस के साहित्य को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। भवभूति ने तो केवल करुण रस को ही विशेष महत्त्व दिया है। वह अन्य भावनाओं को रस मानने के लिए भी तैयार नहीं है। चूँकि उसके मतानुसार उदात्त भावना केवल शोकरूप में ही हो सकती है, इसीलिए उसने निःसंकोच कह दिया है—एको रसः करुण एव निमित्त-भेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।' अर्थात् एकमात्र करुणरस ही निमित्तभेद से विभिन्न रूप धारण करता है। यद्यपि उसका यह विधान अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य है, तथापि इसमें कुछ सत्यांश होने से भी इनकार नहीं किया

जा सकता। और, यह बात हमें संसार के साहित्य का परिशीलन करने पर सहज ही ज्ञात हो जाती है।

संसार के विषय में संकुचित कल्पना करके, लोभ-मोहादि के चक्र में फँसते हुए, आपत्ति का भ्रम उत्पन्न कर, मानव-प्राणी दुखी होते हैं। और, कभी-कभी तो वे नियति के हाथ के खिलौने भी बन जाते हैं। फलतः ऐसे प्रसंगों पर ही उन्हें मानव की क्षुद्रता का विशेष रूप से अनुभव होता है। सारांश, मानव की विविध कृतियों एवं उसक प्रेम, मोह तथा आपत्तियों की ओर तटस्थ वृत्ति से सहानुभूतिपूर्वक देखने की वृत्ति केवल ललित वाङ्मय द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इसी कारण ऐसा साहित्य पाठकों को अंतर्मुख बनाता है। यद्यपि इस दृष्टि से प्रत्यक्ष दुःखद घटना निरुपयोगी सिद्ध होती है, क्योंकि उसे देखकर मनुष्य हतबुद्धि हा जाता है और उसे अंतर्मुख वृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती, तथापि इस वृत्ति के द्वारा ही समस्त दुःखमयी घटनाओं का आकलन होकर उनके लिए कारणीभूत होनेवाली बातों का अनुभव हो सकता है। और, यह अनुभव ही एक प्रकार का अप्रत्यक्ष उपदेश है। इस उपदेशामृत की प्राप्ति करुण-रस-प्रधान ललित साहित्य से जितनी अधिक हो सकती है, उतनी अन्य रसों द्वारा नहीं। क्योंकि शोक की परिणति उदात्तता, गांभीर्य एवं शांति में होकर, निर्वेद के कारण, परिपूत मानस-पटल पर गंभीर एवं स्थिर रूपवाली सुखद-शांति की कोमल किरणें पड़ने से जो प्रसन्नता होती है, उसी कारण करुणप्रधान साहित्य को इतना महत्त्व प्राप्त हो सका है। किंतु इस मनःस्थिति के, वासना या मोह के अंधकार से व्याप्त न होकर, सच्चे ज्ञान की सुखद किरणों से प्रकाशित होने के कारण ही, इसमें अमृतोपम सौख्य ओतप्रोत है। इसी कारण करुण रस में हृदय को आकर्षित करने की शक्ति पाई जाती है। सानुकंप एवं सहानुभूतिपूर्ण हृदय में तरल एवं मृदु भावना के आंदोलित होने के कारण ही संसार एवं उसके दुःखद स्वरूप के विषय में यथार्थ ज्ञान होने पर भी मन की कोमलता नष्ट नहीं होती और वह दुःख के मूल को खोजने का यत्न करती है। मानवीय व्यवहार की क्षुद्रता का बोध होते ही उसकी परिणति उदात्त एवं गंभीर शांति में हो जाती है। यह मन:स्थिति सुखदायक होने से ही करुण-रस-युक्त साहित्य में मधुरता उत्पन्न होती है। इस प्रकार शोक या करुण-रस-पूर्ण साहित्य में निहित यह शक्ति लोक-विलक्षण ही कही जा सकती है। इसी कारण यह साहित्य पूर्वकाल की ही तरह भविष्य में भी श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण ही बना रहेगा।



दिल के तूफान

श्री नरेंद्रनारायण लाल

पात्र-परिचय

माया	एक विधवा युवती
कामिनी	माया की सखी
लावण्य	एक युवक

[मध्यमवर्गीय मकान का बैक - ग्राउंड - पर्दा; मंच पर एक चौकी है जिसपर सफेद बिस्तरा लगा हुआ है। एक कोने में ठाकुरजी का सिंहासन रखा हुआ है और सिंहासन पर पत्थर की एक मूर्ति रखी हुई है। सिंहासन के सामने पूजा की सारी चीजें रखी हुई हैं और आसन पर एक युवती बैठी ध्यान में लीन है। इसी समय पर्दा उठता है। कुछ देर तक वह ध्यानस्थ रहती है, फिर घबराकर आँखें खोल इधर-उधर देखती है। फिर वह आँखें बंद करती है, लेकिन तुरत ही आँखें खुल जाती हैं। इस तरह जब आँखों का खुलना और बंद होना कई बार होता है, तब ऊबकर वह उठ जाती है।]

युवती—(एक - दो बार टहलकर फिर घुटने टेक, मूर्ति से)—मुझे माफ करो, देवता ! मेरा चित्त स्थिर नहीं होता। आज महीनों से तुम्हारा ध्यान करने की कोशिश कर रही हूँ, लेकिन मन चंचल हो उठता है, और अजीबो-गरीब ख्याल उठ-उठकर मेरे दिमाग़ को बेचैन बना डालते हैं ! (गिड़गिड़ाकर)—तुम्हीं बताओ, देवता, मैं क्या करूँ ? दीन और दुनिया की निगाह में मैं विधवा हूँ; मुझे तुम्हारी पूजा में ही अपनी जिंदगी गुजार देनी चाहिए। लेकिन····लेकिन, अपने भीतर उठती हुई आँधियाँ मुझे बेकरार बना देती हैं ! (भर्राई हुई आवाज में) मुझपर रहम खाओ, मेरे देवता ! (सिर झुका देती है, पर इसी समय दूसरी युवती का प्रवेश)

दूसरी युवती—कुशल तो है, माया ? आज बड़ी श्रद्धा से पूजा हो रही है !

माया—(उठकर युवती से लिपट, सिसककर) कामिनी····(पर, उसका कंठ भर आता है।)

कामिनी—(हैरान हो, माया को दोनों हाथों से पकड़)—अरी, तुम रो रही हो, माया ?

माया—(उदास हो आँसू पोंछती हुई)—हाँ, रो रही हूँ। रोना तो मेरी जिंदगी में कुछ नई बात नहीं है, कामिनी ! महीनों से रो रही हूँ, और शायद जिंदगी भर रोना है।

कामिनी—(दुखी हो)—ऐसा मत कहो, माया ! भगवान की पूजा करो, तुम्हें शांति जरूर मिलेगी ! (रुककर) कौन जानता था कि शादी के पच्चीसवें रोज ही तुम्हारी माँग धुल जायगी ! तुम्हारी कलाइयों की खन-खनाती चूड़ियाँ हमेशा के लिए तोड़ दी जायँगी !

माया—(सिसकियाँ ले)—तुम भी यही कहती हो, कामिनी ?

कामिनी—(चौंककर)—मैं क्या कहती हूँ, माया ?

माया—यही कि भगवान की पूजा करने से मुझे शांति जरूर मिलेगी !

कामिनी—कुछ गलत तो नहीं कहती, माया ! पूजा-पाठ से तुम्हारा दिल बहलेगा ! हमेशा रोना-धोना अच्छा नहीं है।

माया—(कुछ आगे जा, रुककर)—मा यही कहती है, चाचाजी यही कहते हैं, जमाना यही कहता है और तुम भी यही कहती हो, लेकिन कामिनी ! महीनों से भगवान की पूजा कर रही हूँ, चित्त शांत नहीं होता, मन स्थिर नहीं रहता, और, सच कहती हूँ, पूजा में मेरा दिल ही नहीं लगता ! (माया बेचैन हो चौकी पर जा बैठती है।)

कामिनी—(माया के नजदीक जाकर)—तो आखिर तुम्हारा दिल चाहता है क्या ?

माया—(कामिनी के हाथ पकड़कर)—सच कह दूँ, कामिनी ?

कामिनी—हाँ। क्या अपने बचपन की सखी से अपने दिल की बात छिपा लोगी, माया ?

माया—नहीं, कामिनी, नहीं। ···जब-जब मैं पूजा करने बैठती हूँ, तब-तब मेरे मन में अजीब-सी बातें उठने लगती हैं ! सोचने लगती हूँ, क्या सारी जिंदगी यों ही कट जायगी ? क्या भीतर के तूफानों को दबा सकूँगी ? क्या मेरी दुनिया फिर से आबाद नहीं हो सकती ? मेरी उजड़ी हुई फुलवारी में क्या फिर बहार आ नहीं सकती ?

कामिनी—(चमककर दूर हटती हुई) माया, यह तुम क्या कह रही हो ?

माया—(उठकर —मैं कुछ भी नहीं कह रही हूँ, कामिनी ! यह दिल कह रहा है, मेरे शरीर के सभी अंग कह रहे हैं।

कामिनी—(कुछ रुखाई से) माया, मालूम है, तुम कौन हो ?

माया—हाँ, मालूम है, और, मुझे यह भी मालूम है कि मैं विधवा हूँ। पर, क्या विधवा इंसान नहीं ? क्या उसकी छाती में औरत का दिल नहीं ?

कामिनी—लेकिन माया, इन सारी चीजों के बावजूद एक ऐसी चीज है जिसने विधवाओं के पैरों में जंजीर डाल दी है, और वह ऐसी जंजीर है जिसे तुम तोड़ नहीं सकती !

माया—वह कौन-सी चीज है कामिनी, जो दिल के तूफान को रोक दे ?

कामिनी—समाज ! समाज दिल के तूफान को ही केवल रोक नहीं सकता, बल्कि वह दिल का खून भी कर सकता है, माया।

माया—(गिड़गिड़ाकर) पूजा में दिल नहीं लगता और दिल के तूफान में जब बहती हूँ तब समाज डंडे लेकर दिल का खून करने को तैयार हो जाता है। तुम्हीं बताओ कामिनी, मैं क्या करूँ ?

कामिनी—(टहलकर रुकती हुई) तुम जो रास्ता अपनाना चाहती हो, वह खतरनाक है, माया ! वह अधर्म है, वह मरे पति के प्रति विश्वासघात है; वह जीजाजी के प्रति विश्वासघात है, माया।

माया—(बेचैन हो) कामिनी ! कामिनी ! (माया थरथराने लगती है।)

कामिनी—(माया को दोनों हाथों से पकड़कर) मेरी अच्छी माया ! मन चंचल न करो। मन के बहकावे में पड़ोगी तो तबाह हो जाओगी। जानती हो, चाचाजी इस मामले में कितने सख्त-मिजाज हैं !

माया—(सिसकियाँ लेती हुई)—का···मि···नी !

कामिनी—हाँ, माया ! मैं तुम्हारे भले के लिए ही कह रही हूँ। भगवान के चरणों में ध्यान लगाओ, सब दुःख दूर हो जायँगे ! (कुछ रुककर) और माया, तू शादी न कर, वर्ना जीजाजी की आत्मा स्वर्ग में भी दुखी होगी। वे तुझे स्वर्ग से भी अभिशाप देंगे।

[कामिनी माया की चौकी के पास जाती है और तकिया उठाकर शीशा मढ़ा हुआ एक युवक का फोटो निकाल माया के पास आती है।]

कामिनी—(माया को फोटो दिखाती हुई) देखो माया, देखो, जीजाजी तुझसे क्या कह रहे हैं ? इनकी आँखों में आँसू हैं, इनकी आत्मा सिसक रही है और इनका कंठ भर आया है; ये कुछ बोल नहीं पाते।

[फोटो ले माया एक-ब-एक रोने लगती है और बिस्तरे पर जा तकिया में चेहरा गड़ा देती है।]

कामिनी—(मंच के एक किनारे हो दर्शक से) मालूम होता है, माया पर मेरी बातों का असर हो गया। विधवा का ब्याह ! नहीं-नहीं, यह घोर पाप है। मैं यह नहीं होने दूँगी।

[नेपथ्य से माइक के सहारे एक औरत बोल रही है।]

औरत—(नेपथ्य से) कामिनी !

कामिनी—क्या है, चाची ?

औरत—(नेपथ्य से) तुम्हारी मा तुम्हें बुला रही हैं; घर से लौंडी आई है।

कामिनी—आई चाची। (जाने लगती है।)

माया—(तकिया से सिर उठा सिसकती हुई) जा रही हो कामिनी ?

कामिनी—(जाती हुई) फिर आऊँगी माया। पता नहीं, मा क्यों बुला रही हैं।

माया—(उठकर बैठ जाती है और फोटो को दोनों हाथों से पकड़कर बिलखती हुई) स्वामी ! क्या कामिनी ठीक कहती है ? क्या सचमुच मुझे ब्याह नहीं करना चाहिए ? क्या मुझे भगवान के चरणों में ही ध्यान लगाना चाहिए ? लेकिन मेरा मन चंचल हो उठता है; मैं क्या करूँ, स्वामी ? (एक क्षण तक फोटो को गौर से देखती हुई) हें ! आपकी आँखों में आँसू ! आप रो रहे हैं, स्वामी ? नहीं-नहीं, आप न रोएँ ! मैं विश्वासघात नहीं करूँगी । (फोटो लिए उठती हुई) मैं भगवान के चरणों के ध्यान में ही सारा जीवन लगा दूँगी ! (फोटो चौकी पर रख, सिंहासन के सामनेवाले आसन पर बैठ, दोनों हाथ जोड़, आँखें बंद कर भगवान का ध्यान करती है। लेकिन, तुरत ही घबराकर उठ जाती है । चौकी के पास जा, फोटो ले, फोटो से) स्वामी ! मैं क्या करूँ ? भगवान के चरणों में भी मुझे शांति नहीं मिलती, चित्त स्थिर नहीं होता । (कुछ रुकती हुई) क्या कहा, फिर ध्यान लगाऊँ ? फिर चित्त स्थिर करूँ ? अच्छा स्वामी ! यदि आप कहते हैं तो फिर ध्यान लगाती हूँ । (और, वह फिर आसन पर बैठ आँखें बंद कर लेती है । कई मिनटों तक वह उसी मुद्रा में बैठी रहती है और एकाएक उठ जाती है ।) नहीं-नहीं, मुझसे पूजा न होगी ! (चौकी पर से फोटो उठा, फोटो से) हाँ स्वामी, मुझसे पूजा न होगी । जब-जब मैं मन को एकाग्र करने की कोशिश करती हूँ, मेरी रगों में अजीब तरह की अँगड़ाइयाँ उठने लगती हैं और मन चंचल हो उठता है। (कुछ रुककर) हें, आपकी आँखों से ज्वालाएँ निकल रही हैं; क्या मेरा ऐसा सोचना गलत है ? क्या मैं शादी न करूँ ? किंतु, स्वामी, मुझे डर है, मैं वैधव्य के कड़े नियमों का पालन न कर सकूँ ! स्वामी, आप मुझे ब्रह्मचर्य-पालन करने को कह रहे हैं ? लेकिन, मुझसे ब्रह्मचर्य का पालन न हो सकेगा । मैं जानती हूँ, स्वामी, (रुकती हुई) मुझे शादी करने का हुक्म दे दें । स्वामी, ब्याह कर लेने से ही आपका और मेरा धर्म बच जायगा । (जरा रुकती हुई) क्या कहा, स्वामी, शादी करना पाप है ? विधवा को शादी करना पाप है ? स्वामी , तो मुझसे धर्म की रक्षा न होगी । मैं शायद धर्म की रक्षा न कर सकूँ ! (और, वह रोने लगती है । उसके हाथ काँपने लगते हैं। एकाएक उसके हाथों से फोटो गिर पड़ता है और शीशा टूट जाता है । उसी समय एक युवक का प्रवेश ।)

युवक—(माया और फोटो को देखकर) यह क्या, माया ? किसका फोटो टूट गया ?

माया--(युवक को देख, भर्राई आवाज में) लावण्य !

लावण्य--तुम बहुत ही परीशान नजर आती हो, माया !

माया--मुझे बचा लो, लावण्य ! मेरी नैया मझधार में पड़ गई है । समुद्र में तूफान उठे हुए हैं और मेरी टूटी-फूटी नैया डगमग कर रही है । पता नहीं, मेरी छोटी-सी नाव भयंकर तूफानो में कब डूब जायगी !

लावण्य—मैंने कुछ समझा नहीं, माया ! तुम कहना क्या चाहती हो ?

माया—तुम जानते ही हो, मैं एक विधवा हूँ ! जमाना मुझे भगवान के चरणों में ध्यान लगाने को कहता है । और लावण्य ! सच कहती हूँ, ध्यान लगाने की भी मैं बहुत कोशिश करती हूँ; लेकिन मन चंचल हो उठता है, तबीयत घबरा जाती है और फिर बेचैन हो पूजा से उठ जाती हूँ । तुम्हीं बताओ, लावण्य ! मैं क्या करूँ ?

लावण्य—(फोटो की ओर एक बार फिर देखकर) यह फोटो किसका टूट गया, माया ! तुमने तो बताया ही नहीं ?

माया—(शीशा उठाकर एक तरफ रखती है और फोटो लेकर लावण्य की ओर बढ़ाती हुई) यह फोटो मेरे स्वर्गवासी पति का है ।

लावण्य—(फोटो देखते हुए) इसका शीशा कैसे टूट गया, माया ?

माया—(कुछ बेचैन हो) हाथ से छूट गया था, लावण्य ! मैं क्या करूँ, दिल और दिमाग काबू से बाहर हो रहे हैं ।

लावण्य—(फोटो चौकी पर रखते हुए) आखिर तुम चाहती क्या हो ?

माया—यही तो समझ में नहीं आता लावण्य ! दिल कुछ कहता है, दिमाग कुछ कहता है, और कामिनी कुछ और ही कहती है ! (रुकती हुई) लेकिन, अब तुम आ गए ! तुम कुछ रास्ता निकाल सकते हो !

लावण्य—(वस्तुस्थिति समझकर खुश हो) सच कहती हो माया ! क्या मैं तुम्हारे लिए रास्ता निकाल सकता हूँ ?

माया—हाँ, लावण्य ! तुम मुझे जानते हो, मैं तुम्हें जानती हूँ। मेरे लिए तुम्हें बराबर हमदर्दी रही है। तुम मेरे लिए जरूर कुछ-न-कुछ रास्ता निकाल सकते हो।

लावण्य—(टहलते हुए चौकी पर बैठकर) महीनों से मैं अपने दिल को दबाए आ रहा हूँ। तुम्हारे पास मैं बराबर कुछ कहने की नीयत से आता था, लेकिन तुमसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी। और आज ? आज तुम्हारी बातों से मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने दिल की बातें तुमसे कह सकता हूँ।

माया—(उत्सुक हो) कौन ऐसी बात है लावण्य, जिसे छिपाते रहे ?

लावण्य—तुम्हारी तकलीफें मुझसे देखी नहीं जातीं, माया। और, यह तकलीफ तुमने खुद पैदा कर ली है। (रुकते हुए) मैं मानता हूँ कि तुम विधवा हो और विधवाओं की जबान बंद कर दी जाती है। लेकिन नहीं, तुम्हें बोलना ही पड़ेगा। तुम साफ तौर से यह एलान कर दो कि तुम फिर ब्याह करोगी। (उठते हुए) भीतर-ही-भीतर घुटना धर्म नहीं है, माया। और यह वैधव्य तुमसे निभ भी नहीं सकता।

माया—मैं खुद भी समझती हूँ कि मुझसे वैधव्य का निर्वाह हो नहीं सकता। लेकिन, मैं विधवा हूँ और विधवा के साथ शादी ही कौन करेगा ?

लावण्य—माया, यह तुम क्या कह रही हो ? तुम जवान हो, खूबसूरत हो, तुम्हें भी इंसान का दिल है। और, फिर तुम गंगा की तरह पवित्र हो। तुमसे कौन शादी नहीं करेगा, माया !

माया—अगर मैं तुमसे कहूँ कि मुझसे शादी करो, तो ?

लावण्य—(खुश हो) तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा, माया ! इसी बात को कहने के लिए मैं महीनों से कोशिश कर रहा था, लेकिन आज तुमने खुद मेरा बोझ हल्का कर दिया।

माया—(खुश हो) लावण्य, सचमुच तुम मुझसे शादी कर सकते हो ?

लावण्य—हाँ, माया ! अगर तुम चाहो तो ?

माया—(गद्गद हो) लावण्य ! आज मुझे ऐसा लग रहा है कि समुद्र के सभी तूफान खत्म हो रहे हैं और मेरी नाव किनारे की तरफ बढ़ रही है। भला, कोई स्त्री अपनी नाव समुद्र में डुबोना चाहती है।

लावण्य—तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम मुझसे शादी करोगी ?

माया—हाँ, अपनी नाव को समुद्र की अल्हड़ तरंगों में बरबाद होने के लिए मैं नहीं छोड़ सकती, लावण्य !

लावण्य—अच्छी तरह सोच लो, माया !

माया—(गंभीर और दृढ़ हो) सोच लिया है, खूब सोच लिया है, लावण्य ! महीनों से मैं घोर अंधकार में थी, मैं रास्ता खोजती थी और मुझे रास्ता मिल नहीं रहा था ! और, आज जब मुझे रास्ता मिल गया है तब मैं खुश हूँ, मैं बेहद खुश हूँ, लावण्य।

लावण्य—लेकिन इस रास्ते पर काँटे भी हैं, जिन्हें रौंदने पर ही तुम्हें सच्ची खुशी मिल सकती है। तुम उन्हें रौंद सकती हो माया ?

माया—तुमने अभीतक औरत को पहचाना नहीं, लावण्य ! अगर औरत कोमल है तो वह कठोर भी है। यदि वह अबला है तो चंडी का रूप भी धारण कर सकती है। औरत का दिल जबतक सोया हुआ है, सोया हुआ है और अगर वह एक बार जग जाय तो फिर उसे दुनिया की कोई भी ताकत सुला नहीं सकती !

लावण्य—शाबाश मेरी माया ! (आगे बढ़, माया के दोनों हाथ पकड़कर) आओ, आज से हम दोनों विवाह के सूत्र में आबद्ध हो गए। (माया को हाथ पकड़कर ठाकुरजी के सिंहासन के सामनेवाले आसन के निकट ले जाता है।) माया ! हम दोनों के विवाह के साक्षी पत्थर के यही मूक देवता होंगे। (दोनों घुटने टेक बैठ जाते हैं।)

माया—(हाथ जोड़) ओ देवता, मैंने बहुत चाहा कि वैधव्य का निर्वाह करूँ; लेकिन मैंने अपने को बहुत ही कमजोर पाया। आज मुझमें ताकत आ गई। लावण्य ने मेरी डूबती हुई नाव बचा ली। मैंने लावण्य से ब्याह कर लिया। मुझमें शक्ति दो, मेरे देवता ! (हाथ जोड़े सिर झुका देती है। इसी समय कामिनी का प्रवेश। माया की अंतिम बातें वह सुन लेती है।)

कामिनी—(क्रुद्ध हो) माया ! तुमने यह क्या कर लिया ?

[पर माया सिर झुकाए बैठी है।]

लावण्य—(चकित हो खड़ा होते हुए) माया ने वही किया जो उसे करना चाहिए था।

कामिनी—लावण्य, तुमने माया को धोखा दिया। तुमने माया को विधर्मी बना दिया। एक विधवा के साथ तुमने घोर अनर्थ कर दिया, लावण्य!

माया—(उठकर) कामिनी! (लावण्य की ओर इशारा करती हुई) इन्हें गालियाँ मत दो। इन्होंने मुझे धोखा नहीं दिया, मुझे विधर्मी नहीं बनाया। मैंने ही इनसे शादी की है। (सिंहासन की ओर इशारा कर) देवता साक्षी हैं!

कामिनी—(क्रोध से तिलमिलाकर) तुम पापिनी हो, माया। तुमने स्वर्गवासी पति के साथ विश्वासघात किया है। तुमपर समाज लानत देगा।

माया—(लावण्य का हाथ पकड़कर) मुझे धर्म मत सिखाओ, कामिनी! धर्म क्या है, मैं अच्छी तरह जानती हूँ। और समाज! (लावण्य की ओर इशारा करती हुई) ये आबाद रहें, मैं इनके साथ एक नया समाज बना लूँगी। (लावण्य से) चलिए, हमलोग वहाँ चल चलें जहाँ समाज का बंधन न हो, जहाँ मनुष्य मनुष्य को पहचाने। (दोनों धीरे-धीरे जाते हैं और पर्दा भी धीरे-धीरे गिरता है; थोड़ा गिरकर रुक जाता है।)

कामिनी—माया, कहाँ जा रही हो तुम? एक बार फिर सोच लो, तुम्हारा धर्म क्या है?

माया—(सिर घुमाकर) कामिनी, तुम्हारे समाज और तुम्हारे धर्म के बंधन से हम बहुत दूर जा रहे हैं, बहुत दूर, कामिनी।

[वाक्य समाप्त होते ही पर्दा गिर जाता है।]

जिंदगी एक दीप की लौ : सुश्री शैल रस्तोगी, एम० ए०

हँस रही है दीप की लौ
दीप की लौ—आँधियों के बीच जलती
तिमिर के निर्जीव शव पर रश्मियों के फूल
श्रद्धा से चढ़ाकर
मुस्कराकर, गीत गाकर—
जल रही है नैश पथ पर दीप की लौ
डर नहीं तूफान का है
ध्यान मन में आन का है
'सर्वदा जलना विजन में
मुस्करा बढ़ना विजन में'
जानती है दीप की लौ
रातभर रोती रहे बरसात वन में
रात भर सोती रहे यह रात वन में
रातभर जलती रहेगी किंतु नन्हे दीप की लौ।

× × × ×

ठीक ऐसे ही सदा चलती डगर पर जिंदगी भी
घोर झंझावात आए
आँधियों की रात आए
झेल लेती मुस्कराकर जिंदगी सब
शून्य पथ पर, नैश तम में
स्नेह से लघु दीप श्वासों का सँजोए
जिंदगी चलती रहेगी जिंदगी भर
मुस्करा बढ़ना तिमिर में
सर्वदा चलना विजन में
जानती है जिंदगी भी
डर न मन में रात का है
भय न कुछ बरसात का है
जिंदगी भर जिंदगी चलती रहेगी
जिंदगी की लौ सदा जलती रहेगी।

× × × ×

किंतु जब मंजिल किनारे आ लगेगी
जल उठेगी जोर से तब जिंदगी के दीप की लौ
और फिर चुपचाप झुककर, झूमकर
कुछ काँपकर, कुछ मुस्कराकर
शांत होगी जिंदगी के दीप की लौ
किंतु, मैं केवल कहूँगी
जिंदगी मरती नहीं सोई कभी भी
पास मंजिल के पहुँचकर
जिंदगी करती वहाँ विश्राम है
किंतु इसको विश्व कहता
जिंदगी का अंत
जलते दीप का निर्वाण!

दक्षिण भारत की लोरियाँ

श्री वी० एम० कृष्णस्वामी

नारियों के कंठ के साथ-साथ गान भी पैदा होता है। वे जब उमंग में आती हैं, उनके कंठ से गान आप-से-आप फूट पड़ता है। बच्चा जब रो उठता है तब माता उस बच्चे को पालने में लिटाकर लोरियाँ गाती है। लोरियों की मादकता में बच्चा सो जाता है। बच्चों पर इस तरह नशा-जैसा असर करनेवाली लोरियाँ भारत-भर में क्या, संसार-भर में प्रचलित हैं। इनमें कई लोरियाँ तो न मालूम, कितने अर्से से गाई जा रही हैं। ऐसी लोरियाँ देश के लोक-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

लोरियों का इतिहास बड़ा मजेदार है। उनमें बड़े ऊँचे विचार रहते हैं, सुंदर उपमाएँ रहती हैं। उनमें माता का गर्व पूर्णरूप से झलकता है। लोरियों में माता अपने बच्चे को संसार भर का अधिपति मानती है। इतना ही नहीं, वह उसे साक्षात् ईश्वर भी मानती है। तमिल में एक कहावत है—

कुषंदैयुम् दैवमुम् कोंडाडुमिडत्तु।

अर्थात्—'बच्चा और भगवान, हम जहाँ उन्हें मान देते हैं, वे वहीं रमते हैं।' इससे साफ है कि अबोध बालक—कलंक-रहित, क्रोध, लोभ आदि से परे बालक—ईश्वर-तुल्य है, ईश्वर के सान्निध्य में उसका वास है।

लोरियाँ कई किस्म की होती हैं। कुछ तो किन्हीं प्रसिद्ध संत-महापुरुषों द्वारा रची होती हैं। उनके प्रबंध-काव्यों में, उनके भक्ति-भरे पदों में, ये पाई जाती हैं; जैसे—'सूर' का 'जसोदा हरि पालनै सुलावै।' ऐसी लोरियाँ भी माताओं के कंठों से निकलकर रोते बच्चों को सुलाने में काम आती हैं। मगर जनपदीय लोरियाँ तो पीढ़ी - दर - पीढ़ी से आती, अपूर्व कल्पनाओं—विचित्रताओं से भरी, अत्यधिक कीमती हैं। इनमें देश के उस प्रांत-विशेष की संस्कृति का आभास मिलता है। इन लोरियों में कहीं-कहीं अलंकार हैं तो कहीं-कहीं अनुप्रास मिलाने या तुक मिलाने के उद्देश्य से शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया है। इनके बावजूद ये लोरियाँ देश के पुराने संस्कार और रस्म-रिवाज क फोटो-जैसी हैं। अतः इन्हें संग्रह करके सुरक्षित रखना परमावश्यक है।

अब चूँकि भारत की राजभाषा हिंदी बन गई है, अतः इसी के द्वारा सारे भारत की लोरियों को सभी प्रांतवासियों के लिए सुलभ बनाए रखने का यह विशेष अवसर है। इस कार्य द्वारा यह बात अच्छी तरह जानी जा सकती है कि एक अखंड संस्कृति चिर-काल से सारे देश में सुरक्षित रहती आई है।

अब यहाँ पर दक्षिण भारत की चार प्रमुख भाषाओं—तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम की कुछ लोरियाँ भावार्थ-सहित दी जा रही हैं।

तमिलनाडु आलवार संतों में श्री पेरियालवार एक बड़े भक्त हो गए हैं। ये नवीं सदी में हुए थे। इन्होंने तमिल-काव्य की परंपरागत परिपाटी के अनुसार भगवान के बाल-कौतुक को दस भागों में विभक्त करके अपने इष्टदेव का मंगलगान किया है। पेरियालवार स्वयं माता बनकर और भगवान को शिशु मानकर कभी उसे चुमकारते-पुचकारते हैं, कभी चंदा दिखाते हैं, तो कभी पालने में लिटाकर, लोरियाँ गाकर सुलाते हैं। उनकी एक मशहूर लोरी है—

माणिक्कम् कट्टि वयिरम् इडै कट्टि,
आणिप्पोन्नाल शेय्द वण्णच्चिरु तोट्टिल,
पेणि उनक्कुप्पिरमन् विडुतंदान;
माणिक्कुरलने तालेलो।
वैयम् अलंदाने तालेलो!

अर्थात्—रत्नों और हीरकों से जड़ा हुआ तथा शुद्ध किए गए सोने का बना यह सुंदर छोटा पालना तुम्हारे लिए ब्रह्मदेव ने बड़े प्रेम से भेजा है। हे वामन, सो जाओ। हे तीनों लोक नापनेवाले, सो जाओ।

उपर्युक्त लोरी विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा अपने ग्रंथों के बीच में रची गई लोरियों का एक छोटा-सा नमूना मात्र

है। अब तमिल की बहुप्रचलित और जनपदीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक मशहूर लोरी की बानगी लीजिए।

इस लोरी को तमिल में 'तालाट्टु' कहते हैं। यह काफी लंबी, ७२ पंक्तियों की एक सुंदर लोरी है—

आरिरंडुम् कावेरी, अदनडुवे श्रीरंगम्,
श्रीरंगमाडि, तिरुप्पार्कडलाडि,
मामांगमाडि, मासिक्कडलाडि,
तैप्पूसमाडित्तवंचेय्दु वंदानो !
षष्टियिरुंदु शंगुप्पाल् तानेंडुत्तु,
पट्टिनियिरुंदु भगवानैच्चेवित्तु,
मलैमेल् तवमिरुंदु वंदु पिरंदानो !

अर्थात्—

नदियाँ दोनों कावेरी, बीच में है श्रीरंगम्,
श्रीरंगम् नहाकर, क्षीर-समुद्र नहाकर,
महामखम् नहाकर, माघ में समुद्र नहा,
पौष-पुष्य का स्नान करके, पुण्य तप करके
तब आया क्या !
शंख में दूध लिए षष्ठी-व्रत रखकर,
निर्जला रहकर, निरंजन भगवान को पूजकर,
पहाड़ों पर तप साधकर तब आया क्या !

और देखिए—

आलप्पिरं दानो अरशाल वंदानो !
ताने वलंदानो, धर्मर्हल् तंदानो !
अंजुकुडिक्करशो ? पंजवर्हल् पाक्कुंडमो !
इलै तोय्‌दु कोडि वाडि इल्लैयेन्रु पोमिडत्तिल्
शरुहगुदित्तुपषम् पषुत्त शादिप्पलाप्पषमो !
केट्ट कण्णैत्तंदानो। पट्टकुरै तीर्त्तानो !
केलाच्चे वियिरंडुम् तालात्तिरंदानो !
पाट्टनार आंड पषुदिल्ला राच्चियत्तै
दायादि आलादे तानाल वंदानो !
तोप्पनार् आंड तोप्पुत्तुखुहलै
आलप्पिरंदानो अरशाल वंदानो !

भावार्थ—

शासन करने आया क्या, राज चलाने आया क्या !
स्वयं ही आया या सुजनों ने भेजा है ?
पंच ग्रामों का राजा है या पाँडवों का दुग्धघट है !
पत्ते झुलसकर, लताएँ सूखकर (जहाँ) होवे फल
कुछ नहीं,
पत्ते झड़कर भी (वहाँ) फल लगा जो उमदा
कटहल है !
बिगड़े नेत्र फिर से दिए या पीछे लगी निराशा
मिटाई है ?
बहरे हुए दोनों कान फट से खोल डाले क्या !
दादा-परदादा के त्रुटिहीन, शासित राज्य को
साझेदार के हाथ न दे, खुद चलाने आया क्या !
बाप के पालित बाग-बगीचों को
शासन करने आया क्या, राज चलाने आया क्या ?

आगे लोरी के भावार्थमात्र दिए जाते हैं—

शासन करने आये बालक के होंगे रक्षक
कौन-कौन ?
पार्श्व के रक्षक होंगे पार्वती और ईश्वर;
ऊपर के होंगे रक्षक उत्तम चंद्र और सूर्य;
बीच में रक्षक होंगे बीन-सहित नारद और ब्रह्मा।
शासन करने आये बालक के सखा होंगे कौन-कौन ?
पच्छिमी गली में तो बालाएँ होंगी ही;
पूरवी गली में फुदकते तोते होंगे।

× × ×

शासन करने आये बालक का रुदन सुनकर
गोपुर के कबूतर सब आकर छाया करें;
चिल्लाना उचित न समझ, चुप-चुप फुसफुसाएँ,
अगवानी कर खेलने ले जाने आया है हंस पक्षी।

× × ×

दादा ने मारा क्या शतदल के गुच्छे से !
(या नाना ने मारा क्या नलिनी के गुच्छे से !)
दादी ने मारा क्या दूध के शंख से !
फूफी ने मारा क्या फुसलाते हाथों से !
मामा ने मारा क्या मल्लिका के गुच्छे से !
मौसी ने मारा क्या मृदु छोटे हाथों से !

× × ×

मारनेवाला कौन ? बता, बड़ा दंड दे देंगे;
छूनेवाला कौन ? बता, जंजीरें डालेंगे;
कमरे में बंद करके कड़ी सजा दे देंगे;
जेलों में डालेंगे, जकड़कर बेड़ी डालेंगे;
अँगूठा काटकर अगाध समुद्र में भेजेंगे;
छिगुनी को काटकर देशनिकाला दे देंगे।

× × ×

किसके मारने से यह आँसू की नदी बही ?
आँसू की नदी बहकर उसमें हाथी नहा गया;
तालाब में रुकी तो उसमें घोड़ा नहा गया;
नहरों से बह चले तब पथचारी पैर धोयें;
हल्दी के खेतों में, मेहँदी के पौधों में,
अदरख के पौधों में, नींबू की जड़ों में
फिर केवड़े में बहा जब, तब भर गया लबालब;
और केलों को सींचा तब सूख गया आँसू वह।

इतनी लंबी लोरी तो शायद किसी और भाषा में नहीं होगी। इस लोरी को एक विशिष्ट राग-सहित जब गाया जाता है तब कौन ऐसा बच्चा होगा जो सोये बिना रहे! इस लोरी में कल्पना भी कितनी अजीब है! वह बच्चा कोई मामूली बच्चा नहीं, सूर्य-चंद्र, नारद-ब्रह्मा जिसके रक्षक हों, वन के पशु-पक्षी जिसके सखा हों, ऐसा कोई दैवी बच्चा ही हो सकता है।

अब आंध्र देश की एक सुंदर लोरी सुनिए। आंध्र देश में लोरियाँ दो प्रकार की होती हैं—'जूलपाट' और 'लाली'। 'जूल' शायद झूला का अपभ्रंश है। 'लाली' वाले किस्म की लोरियों के चरणों के अंत में 'लालि लाली! लालंम लाली!' रहा करता है। यहाँ नीचे एक 'जूलपाट' दिया जाता है।

जो जो अच्युतानंद जो जो मुकुंदा!
रार परमानंद राम गोविंदा! ।। जो जो ।।
तोलुव ब्रह्मांडंबु तोट्टि गाविंची,
नालुगु वेदाल गोलुसु लमरिंची,
बलुलैन फणिराजु पान्पु गाविंची,
चेलुल डोलिकलोन चेर्चि लालिंची ।। जो जो ।।
तोम्मिडि वाकिल्ल तोट्टे लोपलनू
कूरालनु आर्गुरु साधु लैट्गुरु,
अंदुलो मुग्गुरु मूर्तुलुन्नारु ।। जो जो ।।
पट्टवले आर्गुरिनि पदिलं बुगानु
कट्टवले मुग्गुरिनि कदल कुंडगनु,
उंचवले ओक्करिनि हृत्कल मुंदु ।। जो जो ।।
ओंकारमनि अनियेटि ओक तोट्टे लोन
तत्वमनि अनियेटि चलुवलं वरचि
वेड्कलो पापडिनि एपडिचेसि,
एडु भुवनमुल वारेकमै पाड ।। जो जो ।।

आंध्र की इस लोरी में भी कैसी कल्पना भरी है! माता अपने बच्चे को अच्युत, मुकुंद कहकर संबोधित करती है। अच्युत ही जब आए हैं तब माता की खुशी का क्या पूछना! तब तो उनके लिए मामूली पालना थोड़े ही होगा! माता ने सारे ब्राह्मांड को ही पालना बनाया है और उसके उपयुक्त ही चारों वेदों की मजबूत जंजीरें तैयार की हैं। उस पालने का गद्दा कैसा है? वह तो शेषनाग का मुलायम गद्दा है। ऐसे सुंदर सजे पालने पर ललनाएँ बालक अच्युत को लिटाकर झुलाती हैं।

अब तो कवि इस झूले के अंतर्गत एक बड़ी दार्शनिकता का समावेश करता है—'यह शरीर ही एक झूला है जिसमें नवरंध्र, क्रूर षड्रिपु, पंचेंद्रिय आदि हैं; सत्त्व, रज, तम आदि त्रिगुण भी हैं। इन षड्रिपुओं को जागरूकता के साथ दबाकर रखना चाहिए। त्रिगुणों को खूब कसकर बाँधना चाहिए। फिर हृदयकमल को एक ही परब्रह्म में लीन करना चाहिए।'

कवि की कल्पना और आगे बढ़ चली—'यह पालना क्या है—ओंकाररूपी सर्वश्रेष्ठ मणि का बना यह पालना है, जिसमें परब्रह्मतत्त्वरूपी शुभ्र वस्त्र बिछाकर, उसपर हर्ष के साथ बच्चे को लिटाकर सातों लोक के निवासियों को एक साथ मिलकर गाना चाहिए।'

दार्शनिकता से पूर्ण इस लोरी का आंध्र में बहुत प्रचार है। ठेठ गाँवों की स्त्रियाँ चाहे कुछ और सरल लोरियाँ भी गा लेती हों, मगर उपर्युक्त लोरी तो प्रायः सभी आंध्र-महिलाओं को कंठस्थ है। इसके रचयिता हैं आंध्र के प्रसिद्ध वाङ्मय अन्नमय्या, जो १४वीं शताब्दी में हुए थे।

अब कन्नड़ की एक मशहूर लोरी सुनिए। इस लोरी के रचयिता हैं कन्नड़ के प्रसिद्ध भक्त कवि पुरंदरदास, जो सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। इन्होंने पुरंदर-विट्ठल-नामांकित हजारों भक्ति-भरे पद गाए हैं। कहते हैं कि इन्होंने [illegible] गाए थे; मगर इस समय ११५०

पद ही उपलब्ध हैं। कन्नड़ भाषा में भी लोरी का नाम 'जूल' ही है। यह कन्नड़ की लोरी है—

जो जो श्रीकृष्ण परमानंद !
नंद गोपियकंद नंद !
पालु कडलोलु पवडिसिरुवने,
आलदेलयमेले मलगिद शिशुवे !
श्री ललितांगियर चित्तदोल्लभने !
बाला निन्ननुपाडि तू गुवेनय्या ।
गुणनिधिये निन्न एत्तिकोंडिद्दरे,
मनेय गोल यारु माडुवरय्या !

अर्थात्—'हे श्रीकृष्ण परमानंद, नंद-गोपियों के नायक ! नंद-मुकुंद ! मैं तुम्हें थपकियाँ देती हूँ, तुम सो जाओ। हे क्षीर-सागर में लेटनेवाले बालक, हे वटवृक्ष के पत्ते पर सोनेवाले शिशु, हे सौभाग्यवती ललितांगियों के चित्तों के नायक ! मैं तुम्हें हाथों में ले, गा-गाकर झुलाऊँगी। और फिर, अरे बालक ! तुम किसके पुत्र हो ? किसके लाड़ले हो ? हे मेरे रत्न, मेरे गुणनिधि ! तुम्हें गोद में उठाकर फिरूँगी तो घर का सब काम कौन करेंगे ?'

अब आखिर में केरल प्रदेश की (मलयालम भाषा की) कुछ लोरियों का आनंद लें। पालने पर बच्चे को लिटाकर झुलाती हुई माता कहती है—मेरा यह बचा तो दुनिया-भर की श्रेष्ठ वस्तुओं का समूह है। वह एक-से-एक सुंदर वस्तुओं के नाम गिनाती जाती है—

ओमनर्त्तिकल् किटाओ—नल्ल-
कोमल त्ताम रैप्पूवो !
पूविल् निरंज मधुओ—परि-
पूर्णेंदु तंटे निलाओ !
पुत्तन् पविषक्कोडियो—चेरु-
तत्तकल् कोंचुमोषियो !
चांचाडि आडुम् मयिलो—मृदु-
पंचमम् पाडुम् कुयिलो !
तुल्लुम् इलमान् किडाओ—शोभ-
कोल्लुन्नोरन्नक् कोडियो !
ईश्वरन् तन्न निधियो—पर-
मेश्वरि एन्तुम् किलियो !

अर्थात्—

मेरा यह बच्चा
छोटा प्यारा चाँद का टुकड़ा है क्या !
या श्रेष्ठ, कोमल कमल का पुष्प है क्या !
उस पुष्प में भरा हुआ मधु है,
या पूर्णेंदु की ज्योत्स्ना है ?
यह बच्चा नव प्रवाल की लता है,
या छोटे तोते की तोतली भाषा है ?
झूम-झूमकर नाचनेवाला मोर है,
या मृदु पंचम स्वर गानेवाली कोयल है ?
यह बालक है या छलांग मारनेवाला मृग-शावक है,
या शोभा जिसमें भरी हो, वह हंस पक्षी है ?
यह सुकुमार बालक महेश्वर की दी हुई निधि है
या परमेश्वरी जिसे अपने हाथ में लिये रहे,
वह तोता है ?

पालने में लेटे हुए बालक को बालकृष्ण या बालक राम मानकर गान करने का रिवाज प्रायः भारत के सभी प्रदेशों में देखा जाता है। केरल में भी इसका अभाव नहीं है। यहाँ एक और मलयालम भाषा की लोरी सुनिए—

अंपाडि तन्निलो रुण्णि युंडंगने,
उण्णिक्को रुण्णिक्कुषलंडंगने ।
उण्णिक्कै रंडिलुम् वेण्णै युंडंगने,
उण्णिक्कुप्पे रुण्णिक्कृष्णनेन्नंगने ।
उण्णि वयिट्रत्तु चेरुमुंडंगने,
उण्णिक्काल रंडुम् तुडुतुडैयंगने,
चेंगादियायिट्टो रेट्टनुंडुंगने ।

अर्थात्—इस बड़े भुवन में एक छोटा-सा बालक है। उस छोटे बालक के पास एक छोटी वंशी है। छोटे बालक के दोनों हाथों में मक्खन है। उस छोटे बालक का नाम है बालकृष्ण। उस छोटे बालक के छोटे पेट पर कीचड़ है। (बालक का गिर-पड़कर शरीर में कीचड़ लगा लेना भी माता की आँखों को कितना भाता है !)

और, फिर उस छोटे बालक के दोनों पैर सुंदर, गठे हुए और तेज चलनेवाले हैं। उस छोटे बालक के साथी के तौर पर उसका एक भाई भी है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता कि लोरियों की कल्पना का चमत्कार तथा वर्णन का कौशल हृदय को बरबस खींच लेता है। इस दृष्टि से भी इन लोरियों का संग्रह आवश्यक है। इससे साहित्य को विशेष बल मिलेगा।

छोटानागपुर की प्राकृतिक विभूतियाँ

श्री नगेंद्रकुमार, बी० सी० एस०

यों तो छोटानागपुर की अधित्यका में प्रकृति सब जगह अपनी मनमोहिनी रूप में खड़ी है, पर जहाँ-तहाँ जल-प्रपात हैं, वहाँ की शोभा तो अनिर्वचनीय है। इस अधित्यका का उच्चतम भाग राँची जिले में पड़ता है। अतः अधिकतर जल-प्रपात भी इसी जिले में हैं। जल-प्रपात नदियों के ऊपर से नीचे गिरने पर बनते हैं। पहाड़ी नदियाँ बहुधा वेगवती होती हैं। अतः जल का गिराव भी वेगपूर्ण होता है। छोटानागपुर की नदियाँ वर्षा पर मुख्यतः निर्भर करती हैं। परिणाम यह होता है कि गर्मी के दिनों में इनके सूख जाने पर बहुत-से जल-प्रपात भी प्रायः लुप्त हो जाते हैं। हाँ, जिस प्रपात के निकट जमीन के अंदर से पानी निकलकर नदी में आता है, वहाँ जल की थोड़ी धारा अवश्य बनी रहती है।

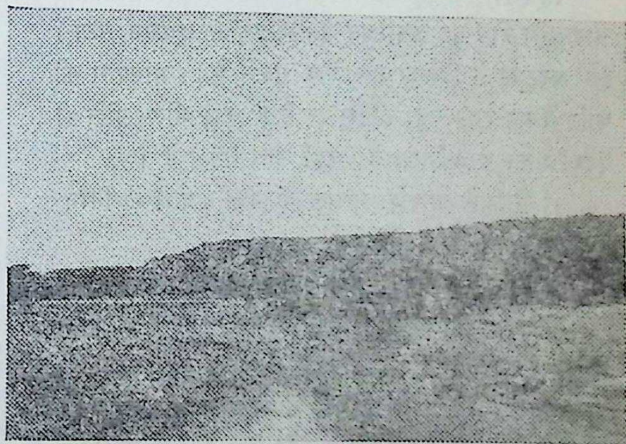
ऊँचाई से गिरता हुआ जल बड़ा ही सुंदर दीखता है। जमीन पर गिरकर चोट खाने पर पानी रूई के फाहे की तरह हो जाता है और इसके रूपांतर से हमारी उत्सुकता कहीं अधिक बढ़ जाती है। अगणित इंद्रधनुष दृश्य को अत्यंत रहस्यपूर्ण कर देते हैं। जल-प्रपात का आकर्षण बड़ा ही प्रबल होता है। नहीं तो लोग शहरों के पार्क में फव्वारे क्यों लगाते? स्विटजरलैंड के जिनेवा नगर में लेमान-नामक झील है, जिससे होकर रोन नदी बहती है। इस झील में वहाँवालों ने एक बहुत ऊँचा नल लगा दिया है, जिससे होकर पानी नीचे गिरता है। इसे कृत्रिम जलप्रपात ही समझना चाहिए।

राँची जिले के पूर्वांचल में निम्नलिखित जल-प्रपात दर्शनीय हैं—

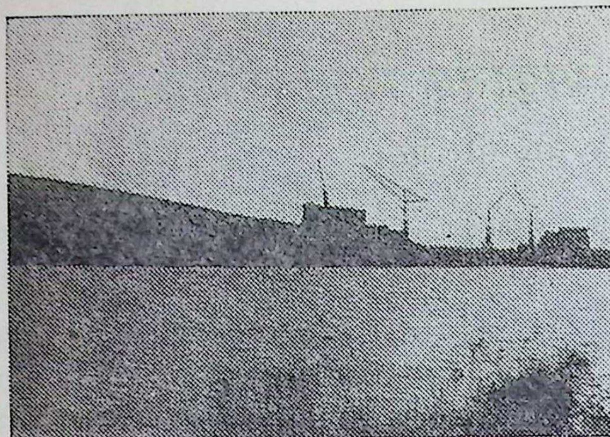
चुट्टूपालू—राँची रोड रेलवे स्टेशन से बस द्वारा राँची शहर जाते समय रास्ते में २२ वें मील के निकट मिलता है। इसके आस-पास बड़ा ही मनोरम जंगल है। सड़क समुद्र की सतह से औसत करीब दो हजार फुट की ऊँचाई पर है। नीचे लगभग ५०० फुट पर एक उपत्यका है। मीलों तक नजर दौड़ती है। बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य है। जल-प्रपात वर्षा ऋतु तक ही देख सकते हैं।

हुंड्रू—राँची से करीब २७ मील पर पूर्व-उत्तर दिशा में स्वर्ण-रेखा नदी के गिरने से बनता है। उतार करीब १५० फुट है। थोड़ा-बहुत जल प्रायः सालों भर गिरता रहता है। इसे देखने का उपयुक्त समय अक्टूबर से मार्च तक है। नीचे गिरकर स्वर्ण-रेखा जिस उपत्यका से गुजरती है, वह बड़ा ही मनोरम है—सब ओर पहाड़ियों से घिरी, अन्वेषणकारियों के लिए आदर्श। यहाँ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का एक बँगला है, जहाँ रात में ठहर सकते हैं। राँची से टैक्सियाँ चार-पाँच आने मील के हिसाब से जाती हैं।

जोन्हा—राँची-मुड़ी रेलवे लाईन पर जोन्हा स्टेशन है। वहाँ से करीब आधा मील दक्षिण की ओर यह जल-प्रपात है। नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। मोटर पहाड़ के ऊपर चली जाती है। यहाँ एक सुंदर धर्मशाला है, जहाँ ठहर सकते हैं। आसपास की पहाड़ियाँ और जंगल अन्वेषण के लिए खूब ही उपयुक्त हैं। रास्ता बड़ा बीहड़ है।



जंगल के बीच पुल



एकांत प्रदेश से जाती हुई रेल-लाइन

दासभ—राँची से दक्षिण-पूर्व दिशा में कांची नदी एक मील के अंदर ही सात जल-प्रपात बनाती है। अंतिम प्रपात लगभग-१०० फुट का है। राँची से जो सड़क तमार जाती है, उसपर टैमारा तक चलकर फिर दक्षिण-पश्चिम दिशा में करीब ८ मील जाना पड़ता है। रास्ता खराब होने के कारण टैक्सियाँ यहाँ नहीं आतीं, पर जीप आसानी से आ सकती है। राँची-तमार के बीच बस बहुधा चलती रहती है। अतः टैमारा तक पहुँचना तो आसान है। मेरे विचार से राँची के जल-प्रपातों में दासभ सबसे अधिक सुंदर है। यातायात की कठिनाई के कारण यह अवतक लोकप्रिय नहीं हो सका है। धारा कम होने पर भी पानी सालों भर रहता है।

हिरनी—राँची से दक्षिण ४७ मील पर राँची-चाइवासा रोड पर अवस्थित है—सड़क से एकदम सटा। इसे अक्टूबर से दिसंवर तक देख सकते हैं। आसपास की घाटियों का दृश्य बड़ा ही सुंदर है। कुछ मील पीछे ही बंदगाँव का डाकबँगला है, जहाँ ठहर सकते हैं।

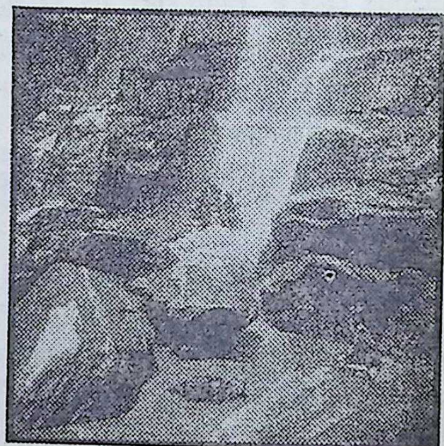
राँची जिले के पश्चिमांचल के जल-प्रपातों में निम्न-लिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

काँटी—राँची से ३४ मील पश्चिम, कुरू से उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग ८ मील पर है। करीब आधा मील पैदल चलना होता है। राँची-कुरू सड़क पर बहुत-सी बसें चलती हैं। कुरू से डाल्टनगंज रोड पर करीब चार मील बस से आ सकते हैं और फिर वहाँ से साइकिल से या पैदल लगभग ४ मील चलकर वहाँ पहुँच सकते हैं। मोटर तो एकदम करीब तक जाती है। यहाँ दो जल-प्रपात हैं। नीचे नहाने की सुविधा है। उपत्यका का दृश्य भी रमणीय है। भूतत्त्व के विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए इस स्थान के पत्थर उपयुक्त मालूम होते हैं।

धाधड़ी—नेतरहाट में इस नाम के दो प्रपात हैं। ऊपरवाला तो छोटा है, पर नीचेवाले का उतार २०० फुट से अधिक है। नेतरहाट राँची से ९६ मील पर दक्षिण-पश्चिम दिशा में है। अब नियमित रूप से प्रतिदिन राँची और नेतरहाट के बीच बस चलती है। प्रपात नेतरहाट के उत्तर-पश्चिम छोर पर है और अधित्यका से नीचे गिरता है। सामने घनघोर जगल है।

सौदाग—नेतरहाट से दक्षिण की ओर एक अधित्यका है जिसे राजाडेरा कहते हैं। नेतरहाट से ३ मील इधर ही दक्षिण की ओर मुड़ जाना पड़ता है। राजाडेरा की उपत्यका तक जीप या मजबूत गाड़ी चली जाती है। अन्यथा साइकिल से या पैदल १४ मील जाना होता है। जंगल-विभाग का एक सुंदर बँगला है, जहाँ यात्री अल्प खर्च से ही रात भर रह सकते हैं। यह स्थान बड़ा ही मनो-रम है। प्रकृति अपनी अनमोल विभूतियों को बहुधा छिपा-कर रखती है। यातायात की कठिनाई के कारण इस स्थान का अभी तक विकास नहीं हो सका है। यहाँ के जंगल बड़े ही सुंदर और सजीले हैं। जल-प्रपात डाक-बँगले से करीब ३ मील पश्चिम की ओर है।

छोटानागपुर के प्राकृतिक सौंदर्य के विकास में मनुष्य



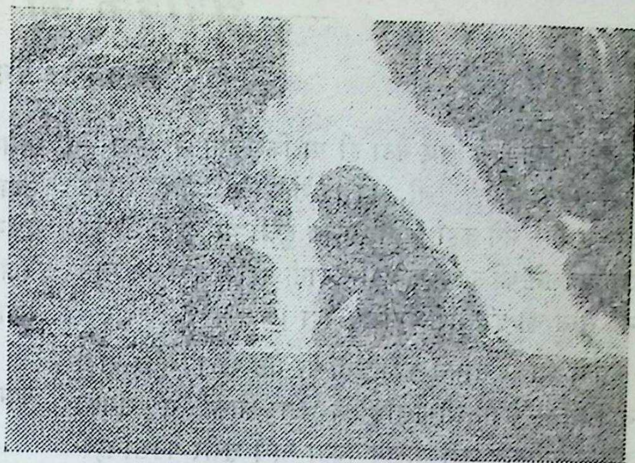
ऊँचाई से गिरनेवाला जलप्रपात

का भी हाथ रहा है, यद्यपि इस दिशा में उसके प्रयत्न पिछले कई सालों से ही बड़े पैमाने पर होने लगे हैं। जब से दामोदर-घाटी की योजना अग्रसर हुई है, प्रकृति और मानव में एक अंतरंग संबंध स्थापित हो गया है। निम्नलिखित स्थान इस दृष्टि से दर्शनीय हैं।

झुमरी-तिलैया—पटना-राँची रोड पर बरही से सटे उत्तर, पहाड़ों को काटकर, एक रास्ता निकाला गया है, जो झील के किनारे-किनारे करीब ३ मील तक जाता है। इस झील में पानी भरा रहता है और धीरे-धीरे झुमरी-तिलैया के बाँध से निकलता है। इससे जल-विद्युत् पैदा होती है। पिकनिक के लिए बड़ा ही सुंदर स्थान है।

कोनार—यहाँ दामोदर नदी में एक बाँध है, जिसके सहारे बिजली निकलती है। इसके पीछे मीलों तक फैली एक झील है। आसपास प्रकृति अपने उद्दाम रूप में विराज रही है। बिजली के प्रकाश में सारा अंचल रात में बड़ा ही मनोरम दीखता है। हजारीबाग रोड से जो सड़क हजारीबाग जाती है, उसे छोड़कर बाईं ओर एक सड़क गई है। करीब दस मील के बाद इसी सड़क पर कोनार मिलता है।

तोपचाँची—यह तीन ओर पहाड़ियों से घिरा एक सुंदर जलाशय है। यहाँ से नल के सहारे पीने का पानी झरिया और धनबाद की कोयले की खानों में ले जाते हैं। ग्रैंड-ट्रंक रोड से सटे बरही और धनबाद के बीच यह अवस्थित है। इसके चारों ओर सड़कें हैं, जिनपर मोटर



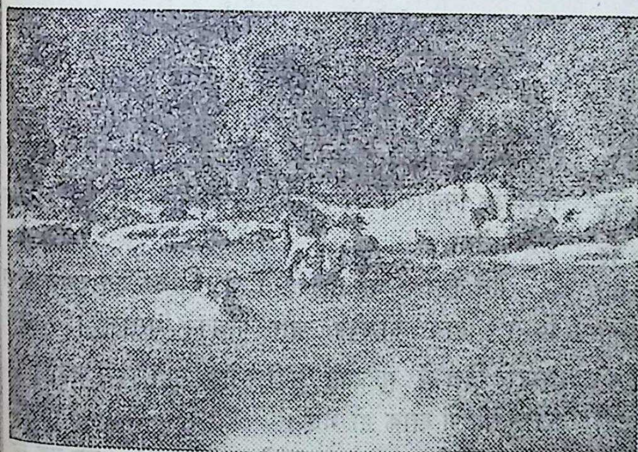
जलप्रपात

ले जा सकते हैं। दो स्थानों पर विश्राम-गृह हैं। एक बड़ा डाकबँगला भी है।

धिमना नाला—जमशेदपुर के निकट यह एक दर्शनीय स्थान है। नगर के समृद्ध होने के कारण इसका तेजी से विकास हो रहा है।

नेतरहाट—इसका कुछ उल्लेख ऊपर हो चुका है। विहार के भूतपूर्व गवर्नर श्री एडवर्ड गेट साहब इससे बहुत प्रभावित हुए थे और हर साल यहाँ दो महीने (बहुधा अप्रैल और अक्टूबर) यहीं आकर ठहरते थे। १९१६-१७ से यहाँ का विकास शुरू हुआ। दर्शनीय स्थानों में कोयल व्यू, कृषि-फार्म, जल-प्रपात, मैंगनोलिया प्वायंट, शाले (गवर्नर का पहला निवास जो अब सर्किट बँगला है) और उद्यान उल्लेखनीय हैं। पलामू-बँगले से सूर्योदय और पश्चिम छोर पर मैंगनोलिया प्वायंट से सूर्यास्त का अनोखा दृश्य दीखता है। हाल में बिहार-सरकार ने यहाँ एक पब्लिक स्कूल भी खोला है। इसके प्राध्यापक श्री चार्ल्स नैपियर साहब हिंदी के एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इस अधित्यका पर नाना प्रकार के फल-मूल, जो बहुधा सर्द देशों में होते हैं; उपजाए जा रहे हैं।

पाखर—अलुमिनियम के पत्थर यहाँ से भेजे जाते हैं। पहाड़ी रास्ते से नीचे का दृश्य बड़ा सुंदर लगता है। घाटी में असुर जाति के लोग रहते हैं। मानव-विज्ञान के विद्यार्थी इनका अध्ययन कर सकते हैं।



झील

संपादक का सपना

श्री मधुकर गंगाधर

कहानी लिखने के लिए बैठा ही था कि किसी ने कहा—'आ सकता हूँ?' 'जी, हाँ। शौक से और सरपट आइए।'—मैंने कहा। द्वार खुला हुआ था, अतः उठकर उसे खोलने की तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। मैं कलम थामे नई सूरत की इंतजारी में बैठा रहा।

वे आकर सामने की कुर्सी पर बैठ रहे। मूँछ-दाढ़ी नहीं थी—'सेवन-ओ-क्लॉक' के 'कैयर-आफ' में उनका अपना अस्तित्व नहीं मालूम पड़ता था। शरीर पतला-छरहरा, रंग गेहुँआ, हाथ सुडौल और अँगुलियाँ नाजुक। उनकी कमर देखते ही मेरा मन छायावादी कवि बन गया। मैंने सोचा कि निश्चय ही, इनकी ही कमर देखकर बिहारीलाल के किसी कामरेड ने लिखा है—

लोग कहते हैं उनको भी कमर है;
कहाँ है, किधर है, किस तरफ है?

मैंने पूछा—'क्या मैं आपका परिचय……।'

'जी, हाँ! जी हाँ! मैं एक संपादक……।'

'जरूर हैं, जरूर।'

'मसाल' को तो आप जानते ही होंगे?'

'जी! 'मसाल' का अर्थ तो जानता हूँ।'

'ऊँहूँक! मेरी 'मसाल'…?'

'आप मसालची हैं? मगर क्यों हैं? जब आज की दुनिया में टार्च है, बिजली है……?'

'अरे भाई! 'मसाल' पत्रिका।'

'अब समझा'

तबतक मेरी कल्पना 'डब्ल्यू-टी' से भागी। इन्हें देखकर कोई भी कह सकता है कि इनके साथ चित्रगुप्त के बेंच-क्लर्कों ने गहरा मजाक किया है। चित्रगुप्त परलोक की महाफिसखाना के अधीक्षक हैं। शायद कहीं वह बाहर चले गए होंगे और इधर आफिस के किसी किरानी ने हिंदुस्तान की तरह आजाद होकर दिल्लगी के लिए 'इनका' नाम स्त्रियों की तालिका से काटकर पुरुषों की तालिका में रख दिया। स्वर्ग-जैसे भयानक साम्राज्यवादी राज्य में एम० एल० ए० अथवा एम० पी० नहीं, जो मेढ़क के टर्राने और बिल्ली के म्याऊँ पर संसद या विधानसभा में प्रश्न पूछ बैठें। अतः, अगर 'इन्होंने' आवाज भी उठाई होगी तो वह रूस के 'बेरिया' की आवाज की तरह दफना दी गई होगी। किंतु इतना तो प्रत्यक्ष और स्पष्ट देखा जा सकता है कि मेरे आगे संपादकजी बैठे हैं—संपादिका नहीं।

मुझे चुप देखकर संपादकजी ने कहा—'मेरा नाम कामदेव शर्मा।'

कामदेव……'अरे! तुम कामदेव हो? मगर कालेज छोड़ने के बाद इतने बदल गए कैसे……? सुनाओ… सुनाओ……अपने विषय में बताओ।''—मैंने हिचकते हुए कहा।

'क्या पूछते हो…?'—उन्होंने कहा—'तुम तो पटने में केवल छः महीने साथ रहे! न मालूम कहाँ चले गए? मैं मैजिस्ट्रेट होने की बातें सोच रहा था, मगर फेल कर गया। नौकरी मिली नहीं—जोश में आकर कम्यूनिस्ट बन गया। मगर एक दिन मेरे नाम से वारंट निकल गया। मैय्या! जान का डर तो सबको है न? मैंने अपना नाम प्रजासोशलिस्ट में लिखाया। मगर वहाँ भी एक बार तूफान आया। जमीन बँटवारे के सिलसिले में मुझे एक जुलूस निकालना पड़ा और संयोग कि उसी पर लाठीचार्ज हुआ। घायल हो गया। अस्पताल में आँखें खुलीं तो मैंने राजनीति से ही संन्यास लेने का विचार किया। और, इधर अखबारनबीसी में आ गया हूँ।'

'तुम्हारी कहानी तो बड़ी दर्दनाक है भाई!'—मैंने समवेदना के स्वर में कहा।

'खैर, भाई! अभी तो मुझे कोई रचना चाहिए। विशेषांक निकालने जा रहा हूँ। साथ नहीं दोगे तो काम कैसे चलेगा?'

मैंने कहा—'वह तो होगा ही। मगर यह तुमने क्या किया? स्वयं कामदेव और पत्रिका 'मसाल'। मालूम, तुम्हारे दिल में मुहब्बत नहीं, प्रेम नहीं, रस नहीं। सब राजनीति में खाक हो गए।'

शर्माजी हाहाकार कर उठे—'हरे, हरे! तुम यह क्या कह रहे हो? मेरे दिल में मुहब्बत का गोलघर है, प्रेम का

कुतुबमीनार है, रस का चिल्का झील है"""तनिक 'मसाल' तो उलट-पुलटकर देखो !

और, उसने झोली से निकालकर 'मसाल' का एक अंक टेबुल पर रख दिया। पन्ने उलटकर 'नारी-स्तंभ' को मेरे आगे रखते हुए बोला—'यह रहा रस का अतलांतिक......।'

एक लेख था—'कैसे सोना चाहिए।' लेखिका—'कुमारी किरणमयी चौधरी।'

शर्माजी ने कहना शुरू किया--'भैया भ्रमर! तुम नहीं जानते कि इस स्तंभ को शुरू करने में कितना परिश्रम लगा है। पहले तो रचनाएँ आती ही नहीं थीं। मैंने स्वयं कुमुदिनी शर्मा के नाम से कई रचनाएँ लिखीं और उन्हें प्रकाशित किया।

पलभर चुप रहने के बाद वह पुनः कहने लगा—'बाद में दो-चार रचनाएँ आईं। मगर मैं चाहता हूँ कि हमारी लेखिकाओं के नाम 'कुमारी' विशेषण से अवश्य विभूषित रहें। और संयोग से इस निबंध को भेजकर 'कुमारी' किरणमयी ने मेरे संपादकत्व की रक्षा कर ली, जैसे संत बिनोवा ने 'भूदानयज्ञ' के द्वारा बहुत-से नेताओं की लीडरी बचा ली।

सो, संपादकजी खड़े हो गए और सीना फुलाकर निबंध पढ़ने लगे—'सोने के पहले बिस्तर को साफ कर लेना चाहिए।......'

संपादकजी थिरक उठे—'अहा!' कितना पावन और उन्नत विचार है। मन को बरबस बंसी लगाकर खींच लेता है। सफाई के प्रति इतना ईमानदार तो तुम किसी नर्स को भी नहीं पाओगे। और हाँ, बिस्तर साफ कर लेने से तो खटमल आदि काटेंगे नहीं—लोग बीमार कम पड़ेंगे। यह तो समझो कि कुमारी किरणमयी ने एक प्रकार से स्वास्थ्य-मंत्रिणी कुमारी अमृत कौर की 'रोग-निवारण-योजना' की बड़ी सहायता की है। मगर यह सरकार है कि ऐरे-गैरे को तो रुपए और खिताब दे रही है, मगर किरणमयी को तरफ आँख उठाकर नहीं देख रही है। अगर लेखिका की ऐसी प्रगति रही तो तुम निश्चय जानो की एक दिन इसे भी 'सफाई मल्लिका' अथवा 'नर्सरानी' की पदवी मिलकर रहेगी।'

लेख की आगेवाली पंक्ति थी—'सोने के पहले शांतचित्त से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। नास्तिक ईश्वर के बदल किसी मधुर मूर्ति अथवा मधुर घटना का स्मरण करे। इससे विकृत सपने नहीं होते।'

इस बार संपादकजी उछल पड़े—'यार! मैं फिर कहता हूँ—यह लड़की नहीं, स्वर्गलोक से भेजी गई मर्त्य-लोक के लिए राजनेत्री है। मगर यह सच है कि स्वर्ग अमेरिका-जैसा ही पवित्र है और वहाँ का राजा अमेरिका के राष्ट्रपति-जैसा ही उदार, तभी तो वहाँ की यह 'दूतिका' हमें बिना पैसा के उपदेश दे रही है। और 'हाँ! 'मधुर मूर्ति' और 'मधुर घटना' पर तो तुमने जरूर ही ध्यान दिया होगा? महाकवि विद्यापति का मनोविज्ञान कहता है कि यह लड़की निश्चय ही वयःसंधि की वेला से गुजर रही है। इसीलिए तो कवि जयदेव की व्रजबाला की तरह 'मधुरम्-मधुरम्' की रट लगा रही है?'

उसके बाद आगे की पंक्ति पढ़ी गई—'बिस्तर पर अकेले सोना उदासी-भरा होने पर भी स्वास्थ्यप्रद है।'

इस बार शर्माजी के हाथ से 'मसाल' गिर गई। मेरे गले से लिपट गए और कहने लगे—'हाय! क्यों कतल करती हो किरणमयी! तुम्हारी कलम लेख नहीं लिखती, मुहब्बत का एक्सप्रेस टेलिग्राम भेजती है।'

मेरे मुँह का रंग उड़ गया। मगर मैं चेत गया और झकझोरकर उसे अलग करते हुए कहा—'अजी! पागल हो गए क्या?'

संपादकजी अपनी कुर्सी पर धम्म से बैठ गए। टूटती आवाज में बोले—'हाँ, भैया! पागल ही समझ लो। इस किरणमयी ने पागल कर दिया है। और, भैया! पागल होना तो सूफी-दर्शन के अनुसार 'हाल' की अवस्था में आना है। रतनसेन भी तो पद्मावती के लिए पागल ही हुआ था। मैंने उसे चित्र और रचना भेजने के लिए लिख भेजा है। बीस रुपए पुरस्कार भी भेजे हैं। यूँ तो इस बीस को तुम एकदम कम कह सकते हो, मगर यह 'मसाल' के इतिहास में 'फ्रेंच रिभोल्यूशन' से कम महत्त्व-पूर्ण नहीं। लेखकों को—पुरुषवर्ग को, मैं एक पैसा भेजना भी पाप समझता हूँ। वे मर्द हैं, खेत में काम करें, सड़क पर पत्थर तोड़ें। हाँ, तो जब उसका चित्र आ जायगा तब उसका ब्लाक बनवाकर पूरी तैयारी से अंक निका-लूँगा। और फिर आगे""?'

'आगे क्या?

'आगे की बात मत पूछो। 'एवरेस्ट-विजय' का प्रोग्राम है।'

'अच्छा ?'

'एक साहित्य-गोष्ठी का आयोजन करूँगा।'

'वाह !'

'वह आवेगी।'

'.........'

'चुप क्यों हो गए ? कहो न कि वह आवेगी।'

'मैं कैसे कहूँ कि वह आवेगी ही।'

'अरे। वह तो आवेगी ही। तुम कहो भी तो ! तो···?'

'हाँ भाई, आना चाहिए।'

'ऊफ ! भाई नहीं। भाई लेकर क्या भाँड़ झोंकूँगा ? किरणमयी कहो, किरणमयी !'

'किरणमयी आवेगी ! जरूर आवेगी ! भूल हुई।'

'मैं लोगों के बीच खड़ा होकर परिचय दूँगा···'यह हैं कुमारी किरणमयी···'मसाल' की किरण ! 'मसाल' की ज्योति !'

'फिर ?'

'फिर उसे अपने घर पर चाय का निमंत्रण दूँगा। अच्छा भई ! चाय कौन-सी सबसे अच्छी होती है·····? लिपटन, ब्रुकवौंड, लिपचू·····?'

'पुतली···।'

'पुतली···गुड ! मैं प्रत्येक वस्तु में इसी प्रकार नारीत्व देखना पसंद करता हूँ !'

'फिर······'

'फिर क्या ? परिचय वढ़ेगा और इस प्रकार हमारी 'पंचवर्षीय योजना' पूरी होगी।

'समझा नहीं।'

'अरे ! दिल की दामोदर-घाटी में खुशियों की विजली से जगमगाती मुहब्बत की दुनिया वसेगी।'

'वाह !'

'वाह क्या करते ? वह साहित्य की दुनिया होगी। किंतु प्रगतिवादी साहित्य की नहीं, शुद्ध छायावाद की दुनिया। वहाँ कल्पना हवा वनेगी, रस जल का काम करेंगे और भाव की पवित्र भूमि पर शब्दों के फूल खिलेंगे।'

'और, वहाँ तुमलोग फूल सूँघकर रहोगे ?'

'तुम नहीं समझ सकते कि हम वहाँ कैसे रहेंगे ? तुम जो आज मेरे दिल में यह 'क्रॉनिक' वेदना देख रहे हो—दूर हो जायगी और हमलोग मालती के कुंजों में मिलकर चाँदनी का 'पोस्टमार्टम' करेंगे। वह दुनिया कोई भाग्य-वाले ही पाते हैं !'

'मुबारकबाद ! भई, अभी से मेरा मुबारकबाद मंजूर करो !'

'वाह ! ऐसे क्यों मानने चला। तुम्हें स्वयं वहाँ आना होगा। आओगे न······?'

'तुम खबर तो भेजना, मैं बिल्कुल बंदूक की छुटी गोली की तरह पहुँच जाऊँगा।'

'पहले वह अपना चित्र तो भेजे ? रुपए और पत्र तो भेज दिए।'

'भेजे कब ?'—मैंने पूछा।

'पाँच दिन हो गए !'—उसने कहा।

'अभी तक मिले नहीं ?—मैंने पूछा।

'मिले नहीं· मगर तुम कैसे जानते कि मिले नहीं ?'—शर्माजी ने संदिग्ध, स्वर में पूछा।

'भाई साहब ! कहानी का लेखक वही नहीं होता, जिसका नाम अखबारों में भेजा जाता है।'

'तुम्हारा मतलब ?'

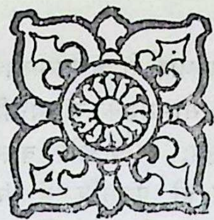
'मतलब साफ है। मुझे ही देखो······गीत अपनी पत्नी के नाम से लिखता, नाटक अपने वेटे के नाम से और·····।'

'तुम्हारा मतलब किरणमयी के साथ भी ऐसी ही बातें हैं; मगर इसका सबूत क्या है ?'

'देखो। अगर तुम चित्र माँगना माफ कर दो तो मुझे कहने का साहस हो सकता है कि कुमारी किरणमयी से ही तुम बात कर रहे हो।'—मैंने हँसते हुए कहा।

संपादकजी करीब-करीब चीख पड़े—'मैं किरणमयी से बातें कर रहा हूँ। तु··तुम ··तुम कुमारी किरणमयी ? लंबी मूँछ और राक्षस-जैसा लंबा-चौड़ा·····? मगर उसका पता तो दूसरा था !'

'हाँ, केयर ऑफ श्यामनंदन प्रसाद··अरे ! उसे भूल गए·····? वह तो हमलोगों का दोस्त मैट्रिक से ही रह आया है ?'—और मैं चुपचाप अपने मित्र कामदेव शर्मा के चेहरे पर तेजी से बदलते हुए रंगों को देखने लगा।



भारतीय वाङ्मय

१. बँगला

मणिपुरी महारास-नृत्याभिनय

मणिपुरी नृत्यशिल्प की अपनी विशेषता है और उसकी परंपरा की कड़ी बड़ी लंबी है। नृत्यगीत और अभिनय की प्राचीन धारा का जो कुछ भी श्रेष्ठ अंश है, वह सब वहाँ के महारास-नृत्याभिनय में देखा जा सकता है। यह महारास वहाँ का एक बहुत बड़ा सामाजिक उत्सव है, जो प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन समारोह के साथ अनुष्ठित होता है। श्री शांतिदेव घोष ने इसपर विस्तार से 'देश' में एक लेख लिखा है।

महारास नृत्य के प्रवर्त्तक मणिपुर के राजा भाग्यचंद्र थे। उन्होंने इस नृत्य की पुशाक, गीत, नृत्य, अभिनय की जो पद्धति चलाई थी, आज भी हू-बहू उसी तरह सब-कुछ का पालन किया जाता है। उन्होंने रास के नृत्यों की भंगिमा के अलग-अलग नाम भी रखे थे– जैसे, चालि, भांगी परेंग, खुबुम परेंग, वृंदावनी परेंग, गोष्ठ बिंदावली परेंग इत्यादि।

मणिपुर के प्रायः प्रत्येक ग्राम में एक-एक नाटमंदिर होता है। महारास का अनुष्ठान उसी में होता है। उत्सव के दिन उसकी खूब सजावट की जाती है। अनुष्ठान का आरंभ रात के दस बजे होता है। सबसे पहले मृदंग और करताल लेकर पुरुषों का एक दल प्रवेश करता है। उनकी देह खुली और सिर पर सुफेद पगड़ी होती है। पगड़ी खास ढंग की बँधी होती है। पहनावे में सुफेद कपड़ा—सामने चून। कंधे पर जनेऊ। कपाल पर चंदन, सारे बदन पर राम-नाम छपा। ये मृदंगवादक मंच तक आते ही, पहले घुटने टेककर बैठते हैं। एक आदमी एक बर्तन में दीप, दूब, धान लाकर उनके सामने रखता है। उस आशीर्वाद को माथे चढ़ा, उठकर वे बजाना शुरू कर देते हैं। कुछ देर बजाकर गाना और फिर नाचना शुरू कर देते हैं। उनका नाच भी अद्भुत होता है। इस नाच को पालापुंचोलम या पुंचोलम कहते हैं। खासे नौजवानों के सिवा बड़े-बूढ़ों से यह नाच नाचते नहीं बनता। मृदंग के तालों पर वह देहभंगिमा देखते ही बनती है। इस नाच के ताल ही बड़े कठिन होते हैं। कुछ के नाम हैं—जयदिकताल, दशकुश, कोकिलप्रिय, उज्ज्वल आदि। इस नाच में प्रायः दो घंटा लग जाता है।

इसके बाद कथा-प्रसंग पर असली नृत्याभिनय शुरू होता है। नाच के निर्देशक कुछ गायिकाओं के साथ आते हैं। गायिकाओं के हाथों में मजीरे होते हैं। गाती हुई वे मजीरा बजाती रहती हैं। गायिकाएँ कंधे से छाती तक एक तरह की बारीक ओढ़नी डाले रहती हैं। पहनावे में रंगीन लुंगी होती है। कपाल और गाल पर वैष्णवी टीका। पहले सब गुरुवंदना गाती हैं, फिर राजा भाग्यचंद्र की वंदना और फिर वृंदावन-वर्णन।

इसके बाद सखी वृंदा प्रवेश करती है। वह महारास की रात्रि की घोषणा करती हुई उन गायिकाओं के साथ-साथ गाती है, जिन्हें 'सूत्रधर' कहते हैं। वृंदा प्रदीप लेकर आरती-नृत्य करती है। इतने में १२-१३ साल की उम्र का एक बालक कृष्णरूप में आता है। माथे पर मोर-पंख—मोरपंख के नीचे नाहु। कपाल पर लेइत्रेंग नाम का एक गहना। उसके पास ही कोकनाम। पीछे के बाल ढँकनेवाले गहने को सामखुमबागी कहते हैं। कंधे से शरीर के दोनों ओर जो तिकोना रंगीन कपड़ा झूलता रहता है, उसका नाम है खोबाल। पीठ की ओर कोत्रांग-लिकफांग झूलता है। इसके अलावा और भी बहुत तरह के गहनों से कृष्ण सुसज्जित रहते हैं।

कृष्ण के प्रवेश करते ही दर्शकों में से जहाँ-तहाँ से अनेक सखियाँ उठ खड़ी होती हैं। सहज में पता ही नहीं चलता कि वे कब सज-धजकर वहाँ जा बैठी थीं। एक-एक कोने से बारी-बारी से एक-एक सखी गाना शुरू कर देती है। उसी गीत के साथ-साथ १०-११ साल की कोई बालिका राधा बनकर प्रदर्शन-मंडल में प्रवेश करती है। सखियों की संख्या १४ होती है।

राधा और सखियों की पुशाकें बड़ी भड़कीली होती हैं। कमर से पैरों तक घाँघरा जिसे उधर कुमीर कहते हैं।

यह घाँघरा कमर से पाँवों तक होता है और कुछ इस ढंग का बना रहता है कि उठने-बैठने में भी दिक्कत होती है। इस घाँघरे पर एक सुफेद घाँघरा और होता है जिसे पचुआल कहते हैं। सखियों के बदन पर चुस्त नील या लाल रंग की अंगिया होती है, जिसे फुटिंग कहते हैं। मुँह पर कंधे तक झूलती ओढ़नी।

कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं। तब कृष्ण के विरह के गीत और नाच शुरू हो जाते हैं। नियमानुसार इस नृत्य में कुमारी कन्याएँ ही शामिल हो सकती हैं, जिन्हें यहाँ के लोग लैसवी कहते हैं। मणिपुरी नाच में भरतनाट्यम् या कथक की जटिलता नहीं होती। मुद्रा और पद-छंद की वैसी विशेषता इसमें नहीं है। अपने नाच में ये पैर, हाथ, माथा और देह-संचालन का एक सहज सामंजस्य लाने की चेष्टा करती हैं। महारास की सखियों या राधा के नृत्य में हाथ-पैर की गति में एक सहज छंद देखा जाता है। गीत की हर कड़ी में वह कथा प्रस्फुटित होती है। बहुत बार गीत से नृत्य का मेल भी नहीं मिलता। वे गान के ताल या छंद से मिलाकर ही रचे गए होते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं, प्राचीन भारत के नृत्त या नृत्य शब्द की यथार्थ व्याख्या शायद दक्षिण की कथकली, भरतनाट्यम् और उत्तर के मणिपुरी नृत्य के तारतम्य में हम पा सकते हैं।

बँगला लोक-साहित्य में आगमनी और विजया-गान

सौंदर्य और कवित्व के प्रति मनुष्यो में एक स्वाभाविक और चिरंतन आकर्षण है। उसी सौंदर्य-प्रेम से लोक-साहित्य का निर्माण होता आया है। पौराणिक कहानी के कोई-कोई अंश, जनस्तुति, किंवदंती, धर्म और नीति-मूलक कहानी या उनकी छाया पर सर्वसाधारण के दैनंदिन जीवन के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, आनंद-वेदना ही लोक-साहित्य के उपजीव्य होते हैं। बंगाल के ग्राम्य जीवन की सभ्यता और संस्कृति के पोषण में वहाँ के लोक-साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उसके भावों की साधना और कल्पना का उत्स वहाँ के अगणित जन-साधारण की जीवन-यात्रा से ही फूटा है। लोरियाँ, यात्रा-गीत, कविगान, पांचाली, व्रतकथा, रूपकथा को स्वर और भाषा जनसाधारण से ही मिली है। बंगाल में और एक तरह की काव्य-कथा प्रचलित है। यह काव्य-कथा या तो राधा-कृष्ण के आधार से अध्यात्मसाधना-संबंधी है या हर-पार्वती-विषयक सामाजिक दांपत्य-जीवन-संबंधी। दोनों में भगवान की सख्य, दास्य और वात्सल्य रस में कल्पना की गई है। ऐसी ही पृष्ठभूमि में बंगाल के 'आगमनी' और 'विजया-गीत' रचित हुए हैं। होम-शिखा में श्री नृपेंद्रनाथ भट्टाचार्य ने इसपर एक छोटा-सा परिचयात्मक लेख लिखा है। बंगाल के गार्हस्थ्य-जीवन की पटभूमि में हर-गौरी के वास्तव जीवन की छाया लेकर 'आगमनी' और 'विजया-संगीत' रचित हुए हैं। यद्यपि इनकी रचना पौराणिक कहानी के आधार पर हुई है, तथापि इनमें बंगाल के गार्हस्थिक जीवन की दैनंदिन अभिज्ञताओं के चित्र हैं। इनमें कहानी के क्षीण सूत्र का आधार तो जरूर है, पर अन्य मंगल काव्यों की तरह कहानी ही इनका मुख्य लक्ष्य नहीं है। इनका लक्ष्य है अंतर के एक शाश्वत स्नेह-बोध को संगीत के स्वर में रूप देना। इस स्नेह-बोध का स्वरूप यह है कि उमा साल में एक बार चार दिनों के लिए पिता के घर आती हैं। आने के समय के गीत 'आगमनी' और उनकी विदाई (विजयादशमी के दिन) के गीत विजया-गान हैं। भाव-प्रवण बंगालियों ने भगवती दुर्गा की कल्पना कन्या के रूप में की है, मानों वह उन्हीं के स्नेह की पुतली, आदर की लाड़ली हों। इस तरह मा को कन्या का रूप देकर यहाँ के भक्त-साधकों ने जो साधना की है वह और कहीं शायद ही देखने को मिले। शारदोत्सव बंगाल के सभी पर्व-त्योहारों में बड़ा होता है। शरद् के उस स्निग्ध-श्यामल धरती-आकाश के शोभामय वातावरण में आगमनी की गूँज होती है। अधीर आग्रह से उनके प्राण उन्मुख रहते हैं—

शेफालिका एलो उमार वर्ण माखि।
बल-बल, आमार कोथाय वर्णमयी।
शरतेर वायु लागे जखन गाय।
उमार स्पर्श पाइ, प्राण राखा दाय।
जाओ जाओ गिरि, आनोगे उमाय।
उमा छेड़े आमि केमन कोरे रोइ।

यानी उमा का वर्ण लिए हरसिंगार आ गए; मगर वह हमारी वर्णमयी कहाँ रही। शरत् की हवा जब देह को छू जाती है, तब उमा का स्पर्श मालूम होता है। गिरिराज,

जाओ, उसे लिवा लाओ। उसके बिना मैं कैसे रह सकती हूँ।

उमा के आने का आनंद लेकिन जल्द ही क्षीण हो जाता है, उनके जाने का दिन निकट हो आता है। पहले तो मा मेनका अड़ोस-पड़ोस के लोगों से उन्हें रोकने को कहती हैं, फिर वेदनाकातर होकर रजनी से कहती हैं—

रजनि जननि तुमि पोहायो ना धरि पाय।
तुमि मा सदय होले, उमा मोर छेड़े जाय।
तुमि होले अवसान, आमि हब गतप्राण।
विजया-गरल पान कोरिये त्यजिबो प्राण॥

अर्थात्—अयि जननी रजनी, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम बीत न जाना, नहीं तो मेरी उमा चली जायगी। तुम बीती तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। मैं विजया-गरल पान करके जान दे दूँगी।

दुःख, व्यथा और शोक में ही विजया का पर्व समाप्त होता है। आगमनी के गीत जैसे आनंदोल्लास के होते हैं, वैसे ही विजया के गीत व्यथा और करुणा की शोकगाथा हैं। यह सुख-दुख, रोना-हँसना हमारे गार्हस्थिक जीवन के दैनिक अनुभव हैं। आगमनी और विजया-गीत बँगला-लोक-साहित्य में स्नेह, माया, ममता के मधुर काव्य-शिल्प हैं।

—हंसकुमार तिवारी

२. तमिल-भाषा-भाषियों की भक्ति

तमिल-भाषा-भाषियों की ईश्वर-भक्ति का उल्लेख करना उनकी आध्यात्मिक तथा परंपरागत संस्कृति का परिचय देना है। इतिहास, आचार-विचार और कला-कौशल की प्राचीनता का उल्लेखन ही साहित्य का केंद्रीभूत विषय है। बाहरी आचार-विचार के कालांतर में परिवर्तन होने पर भी आंतरिक विचारों से संबद्ध आध्यात्मिक संस्कृति के द्योतक आचार-विचार अभीतक प्रचलित रहनेवाली सभ्यता में अवश्य सम्मिलित हैं।

यह भक्ति भिन्न प्रदेश के अनुसार हुआ करती थी तथा आजकल भी हुआ करती है। भिन्न-भिन्न प्रदेश का मतलब यह है कि इस धरती के पाँच प्रकार के विभाग हैं। उन विभागों को तमिल में यों कहते हैं—'मुल्लै, कुरुंजि, मरुतं, नेय्दल और पालै।' इन पाँचों प्रकार के प्रदेशों का वर्णन तमिल साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ 'तोल्काप्पियम्' में किया गया है।

उक्त ग्रंथ के अनुसार हरएक प्रदेश का वर्णन करना यहाँ मुख्य माना जायगा। जंगल और उसके आसपास के प्रदेश को तमिल में 'मुल्लै' कहते हैं। इस प्रदेश का अधीश्वर 'विष्णु' माना जाता है। 'मायोन् मेय काडुरै-युलकमुम्' (तोल्काप्पियम्)—इसका अर्थ है कि विष्णु को जंगल का प्रदेश प्रिय है। इससे उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। चूँकि इस प्रदेश में साधारण जनता का जीवन-यापन करना अधिकतया संभव नहीं है, इसलिए इसमें उल्लेखनीय विषय नहीं रहा होगा—ऐसा समझना भूल है। 'कलित्तोकै'-नामक संघकालीन ग्रंथ से पता चलता है कि मुल्लै प्रदेश में विवाहादि शुभकार्य उस प्रदेश की संस्कृति के अनुसार भैंसे का सींग गाड़कर हुआ करते थे। यह सींग मांगल्यवती स्त्री से गड़वाकर पूजा की जाती थी। इससे यह ज्ञात होता है कि वहाँ की युवतियाँ ऐसे पुरुष को वरती थीं जो जंगली भैंसे को मारकर सींग ला सकते थे। विष्णु के सभी अवतार वीरतापूर्ण हुए। इसलिए, ऐसा मानना पड़ता है कि वीरता के कारण प्राप्त वस्तु की पूजा करना वीरता की प्रतिमूर्ति विष्णु की पूजा के समान है। इस दृष्टि से देखें तो तोल्काप्पियम् का उपर्युक्त पद्यांश सार्थक जान पड़ता है।

पहाड़ और उसके आसपास के प्रदेश को तमिल में 'कुरंजि' कहते हैं। इसका अधीश्वर कार्तिकेय या गुह है। कार्तिकेय को तमिल में 'मुरुकन' कहते हैं। 'मुरुकन' का अर्थ है सुंदर। इस प्रदेश से संबद्ध साहित्य तमिल में अधिक मात्रा में प्राप्त है। नंबिराज की कन्या 'वल्ली' का ब्याह मुरुकन के साथ हुआ—ऐसा तमिलनाडु में प्रसिद्ध है। 'सेयोन् मे काडुरैयुलकमुम्' (तोल्का-प्पियम्)—कार्तिकेय को पहाड़ी प्रदेश बहुत प्यारा है। इस सूक्ति से कहना पड़ता है कि मुरुकन को यह प्रदेश बहुत प्यारा है। जब कभी लोगों पर अज्ञात विपत्ति आती है तब सब लोग मिलकर प्रार्थना करने लग जाते हैं। इस प्रदेश में गांधर्व विवाह भी हुआ करता था। इसलिए गांधर्व विवाह की प्रथा यहाँ सर्वसाधारण जान पड़ती है। शिकार खेलते-खेलते अन्य प्रदेशवाले जब यहाँ आ जाते तब यहाँ की सुंदरियों को देखकर मुग्ध हो जाते। फिर गांधर्व विवाह हो जाता। इस गांधर्व विवाह के कारण विरह-व्यथाएँ भी बहुत गाई गईं। 'ऐंकुरुनूरु'-नामक ग्रंथ इसका प्रमाण है। नक्कीरर-नामक महान कवि का

'तिरुमुरुकार्रुप्पडे'-नामक ग्रंथ तथा भक्त अरुणगिरिनायर् की 'तिरुप्पुकल'-नामक रचना गुह के प्रताप तथा वैभव को व्यक्त करनेवाले तमिल-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथ हैं।

खेत और उसके आसपासवाले प्रदेश को तमिल में 'मरुतं' कहते हैं। इस प्रदेश के लोग 'इंद्र' को अधीश्वर मानते हैं। संघकालीन साहित्य शिलप्पधिकारम् तथा मणिमेखला के उल्लेख से पता चलता है कि यहाँ इंद्रोत्सव भी हुआ करता था। इंद्रोत्सव मनाने के लिए नगर के केंद्रस्थान पर 'मेघ' किया जाता था। नदी से स्वच्छ बालू लाकर बिखेर दिया जाता और मंडप बनाकर इंद्र की मूर्ति या उसके चिह्न वज्र, शूल, चक्र आदि स्थापित कर अट्ठाईस दिनों तक पूजा आदि करते थे। 'पुरनानूरु'-नामक प्राचीन ग्रंथ में भी इंद्र का उल्लेख किया गया है। 'आय'-नामक महान् दाता के देहावसान होने पर एक कवि ने लिखा है कि 'इंद्र ने भी महान् दाता आय की अगवानी जय-भेरी बजाकर की है तो फिर इसकी दानशीलता का उल्लेख ही कैसे किया जाय!'

समुद्र तथा उसके आसपास के स्थान को तमिल में नेय्दल कहते हैं। यहाँ के लोग समुद्र में सुदूर तक जाकर मछलियाँ तथा दूसरी अमूल्य वस्तुएँ लाया करते थे। अन्य द्वीपों का संबंध भी इन्हीं के सहारे हुआ करता था। इस प्रदेश का अधीश्वर 'वरुण' कहा जाता है। 'पट्टिनप्पालै' आदि प्राचीन तमिल ग्रंथों से इस प्रदेशवालों के आचार-विचार ज्ञात हो सकते हैं। 'विवाह-जैसे शुभ कार्य के अवसर पर यहाँ के लोग एक बड़ी मछली की रीढ़ गाड़कर उसकी पूजा करते थे।'-यह पट्टिनप्पालै-नामक ग्रंथ से जान सकते हैं। 'शिनैच्चुरविन् कोडु नट्टु मनैच्चेर्तिय नल्लणंगिनाल्' (पट्टिनप्पालै) -'गर्भ धारण किए बड़ी मछली की रीढ़ गाड़कर मांगल्यवती वीरांगना से।' इस पद्यांश से ऊपर कही हुई बात स्पष्ट होती है। इस तरह के क्रिया-कलाप को भी वीरता का द्योतक ही मानना पड़ता है।

मरुभूमि के प्रदेश को तमिल में पालै कहते हैं। इसकी अधीश्वरी 'काली' मानी जाती है। 'तोल्काप्पियम्' के अडियार्कुनल्लारउरैं-नामक ग्रंथ से पता चलता है कि सूर्य तथा काली इस प्रदेश के अधीश्वर हैं। 'परिधि यंचेल्वनुम् तिगिरियंचेल्वियुम् पालैक्कुदेय्वम्'—'सूर्य तथा काली इसके अधीश्वर हैं।' इस उक्ति से ऊपर की बातों में थोड़ा-सा अंतर दिखाई पड़ता है। फिर भी उतना अधिक अंतर नहीं है। 'कलिंगत्तुप्परणि'-नामक ग्रंथ में पालै प्रदेश की सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

इन भू-भागों के अलावा नगर-जैसे स्थानों में ईश्वर की भिन्न-भिन्न मूर्तियों की पूजा की जाती है। तमिल-भाषा-भाषियों की दृढ़ धारणा है कि विघ्नेश्वर की प्रार्थना के साथ हर काम का श्रीगणेश करना चाहिए। इस कारण, यह मानना पड़ता है कि गणेश तमिलवालों का प्राचीनतम देवता है।

'मणिमेखला'-नामक ग्रंथ में 'चिंता देवी' का उल्लेख किया गया है। सरस्वती को चिंता देवी कहते हैं। इसलिए वाग्देवी सरस्वती का वर्णन करना सभ्य तमिल-भाषा-भाषियों की सद्वृत्ति का परिचय कराना है। शिप्पधिकारम् में वर्णित 'कण्णकी' पातिव्रत्य की प्रतिमूर्त्ति समझी जाती है। इसलिए उस मूर्त्ति की पूजा करना भी यहाँ अभीतक प्रचलित है। 'पुरनानूरु'-नामक ग्रंथ में 'लक्ष्मी' का उल्लेख है। 'विट्टारै बिडा अ टिरुवे' (पुरनानूरु)—लोभ-लालसा को छोड़कर रहनेवालों का साथ लक्ष्मी नहीं छोड़ती। इस कथन से लक्ष्मी का वर्णन किया जाना वित्त-दायिनी लक्ष्मी की भक्ति प्रकट करता है।

राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति की परंपरागत प्रथाएँ भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित हैं। दक्षिण की मीरा—'आंडाल' और उसकी भक्तिपूर्ण सांस्कृतिक रचना 'तिरुप्पावै' के कारण तमिल-भाषा-भाषी सदा के लिए साहित्यिक क्षेत्र में गर्वोन्नत रह सकते हैं। आलवारों की भक्तिपूर्ण रचनाएँ तमिल-साहित्य तथा संस्कृति पर प्रकाश डालनेवाली समझी जा सकती हैं। अय्यर्, सुंदरर्, माणिक्क-वाचकर् आदि शिव-भक्तों की रचनाएँ तमिल-भाषा-भाषियों की भक्ति तथा श्रद्धा को प्रकट करनेवाले 'रत्न' मानी जा सकती हैं। कंबन की रामायण तथा अरुणाचल की नाटकात्मक रामायण राम-भक्ति की रीढ़ मानी जा सकती हैं।

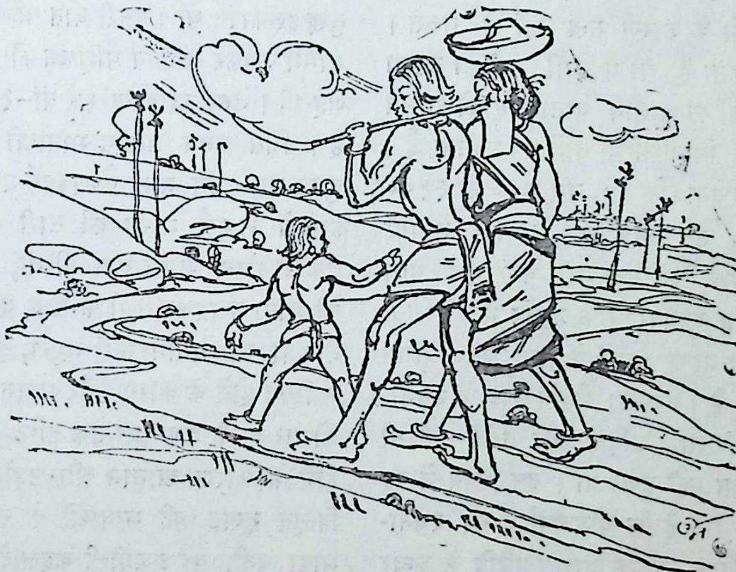
सूर्य और चंद्र का उल्लेख साहित्य में अमिट रूप से किया गया है। पांड्य राजाओं का पूर्वज 'चंद्र' माना जाता है। उसकी विधिवत् पूजा भी की जाती है। चोल राजाओं का जनक सूर्य माना जाता है। इसलिए इनका प्रभाव उल्लिखित तमिल-साहित्य पर भी पड़ा है। वीरों तथा त्यागियों की मूर्त्तियाँ खड़ी कर उनकी पूजा करना

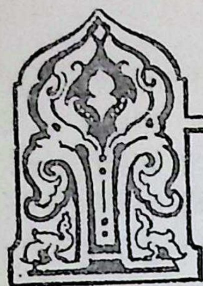
भी तमिल-भाषा-भाषियों की प्राचीन तथा प्रधान प्रथा है। ये (तमिलवाले) वीरों के पुजारी होते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच आदि का प्रभाव अभी तक जनता पर पड़ रहा है। 'चदुक्क भूतम्' (चौराहे का भूत) नामक भूत का उल्लेख 'शिलप्पधिकारं' तथा 'मणिमेखला' में किया गया है। जनता का विश्वास है कि यह भूत अन्यायी तथा दुष्ट को सतानेवाला है। इसलिए भूत का आतंक पुराने जमाने से ही जारी है।

सिद्धों के योगशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि यहाँ ब्रह्मवाद प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। 'वेट्टवेलितन्नै मेय् रान्रिरुप्पार्कुं पट्टयम् गदुक्कडी कुतंवाय पट्टयम् राडुक्कडी'—कुतंबै सिद्ध—ब्रह्म को सत्य माननेवालों को—जगत् को मिथ्या माननेवालों को उपाधियाँ किसलिए? इस कथन से यहाँ के ब्रह्मवाद का परिचय मिलता है। आवुडैयार कोविल या तिरुप्पेरुंदुरै-नामक स्थान में स्थित एक मंदिर में शक्ति का कोई रूप या मूर्ति नहीं है, वरन् उसकी जगह एक वृहत् मुकुर तथा उसके समक्ष एक अमिट ज्योति सदैव जलती रहती है। इससे यह सिद्धांत प्रदर्शित होता है कि मूर्तिवत् ज्योतिर्गत रूप होना भी स्वाभाविक है। 'यद्भाव्यं तद्भवति' का सिद्धांत यहाँ इंगित किया जाता है।

प्रायः कई मंदिरों में द्वार पर द्वारपालों की दो-दो मूर्तियाँ रखी रहती हैं। उन दोनों मूर्तियों में एक का हाथ ऐसा दिखाई पड़ता है कि मानों, वह तर्जनी से भगवान के एक होने का संकेत कर रही हो। दूसरी मूर्ति यों खड़ी रहती है, मानों, 'कुछ नहीं' के इशारे से ईश्वर के 'शून्यत्व' को या 'नेति' तत्त्व को बता रही हो।

ऊपर बताई हुई बातों से पता चलता है कि तमिल-भाषा-भाषियों की भक्ति का संबंध सब तरह के वादों के आधार पर स्थित है। 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्परमं पदम्' का अद्वितीय सिद्धांत—अथवा वेदांत तमिलवालों की भक्ति की बुनियाद है। इस दृष्टि से देखें तो अखंड भारत की आध्यात्मिक संस्कृति में लेशमात्र भी भिन्नता प्रतीत नहीं होती। फिर क्या उत्तर और क्या दक्षिण, दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का संबंध अवश्य है। चूँकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न बाहरी संस्कृति है, इसलिए मूर्तियों की समष्टि होने पर भी भगवान की व्यष्टि—व्यापकता का आधार तमिल-भाषा-भाषियों की सनातन तथा अमिट भक्ति का परिचायक है। —के० के० कृष्णन





विचार-संचय

१. बौद्धचर्यापद की भाषा

बौद्धचर्यापद की भाषा के संबंध में असमिया, उड़िया, बँगला और हिंदी के भाषातत्त्वविदों के भिन्न-भिन्न मत हैं। उन मतों का खंडन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। यहाँ मैं केवल अपना मंतव्य दे रहा हूँ।

ऊपर्युक्त चार भाषाओं के विद्वान बौद्धचर्यापद को अपनी-अपनी भाषा का सर्वप्रथम लिखित साहित्य मानते हैं। उसके समर्थन के लिए वे काफी प्रमाण भी अपनी ओर से पेश करते हैं। किंतु उन प्रमाणों से समन्वयात्मक तथा निरपेक्ष सिद्धांत हमें प्राप्त नहीं हुए हैं। वे परस्पर विरोधात्मक हैं। जब एक सिद्धांत दूसरे सिद्धांत के सामने विरोध उपस्थित करता है, तब वैसे सिद्धांतों की प्रामाणिकता में स्पष्ट संदेह उत्पन्न होता है। अब हमें देखना है कि बौद्धचर्यापद की भाषा के विषय में जो सिद्धांत इन चार भाषाओं के विद्वानों ने अपनी ओर से प्रस्तुत किए हैं, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं। ये चारों सिद्धांत परस्पर विपरीतधर्मी होने के कारण सत्य नहीं हो सकते। सत्य कोई एक हो सकता है या एक भी नहीं हो सकता है। अतः चर्यापद के समकालीन वातावरण को सामने रखकर विचार करने से निम्नलिखित बातें प्रकट होती हैं।

बौद्धचर्यापद का रचनाकाल ई० सन् ८०० से ११०० तक विद्वान मानते हैं। उस समय तक ये चारों भाषाएँ मागधी अपभ्रंश से अपने को मुक्त नहीं कर पाई थीं। विभिन्न प्रांतों के विभिन्न वातावरणों के प्रभाव में भी भाषा को अपना विशिष्ट रूप ग्रहण करने के लिए यथेष्ट समय की आवश्यकता होती है। संभवतः बौद्धचर्यापद के रचनाकाल में असमिया, बँगला, उड़िया और हिंदी—किसी भाषा को ठोस रूप प्राप्त नहीं हुआ था। इस विषय में यह भी ध्यान देने लायक बात है कि बौद्धचर्यापद का रचनाकाल—४०० साल—एक व्यापक विशाल परिधि के अन्दर आता है। यह भी हो सकता है कि उसका प्रारंभ ई० सन् ८०० सौ से भी कुछ पहले हुआ हो और ई० सन् ११०० सौ से भी कुछ आगे तक उसका काम जारी रहा हो। इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इस सुदीर्घ काल के अंतिम भाग में रचे हुए पदों में किसी एक भाषा के कुछ विशेष लक्षणों का पता ढूँढ़ने पर चल सकता है और पहले भाग में रचे हुए पदों में किसी दूसरी भाषा के विशेष लक्षणों का संकेत भी मिल सकता है। अतः अपनी भाषा के कुछ लक्षण मिलते ही सारे चर्यापदों को अपनी भाषा का चश्मा लगाकर देखने के परिणामस्वरूप ही संपूर्ण चर्यापद अपनी भाषा की वस्तु बन रहे हैं। इसीलिए चर्यापद की भाषा से असमिया, बँगला, उड़िया और हिंदी—इन चारों भाषाओं के विद्वान अपनी भाषा का नाता जोड़ लेते हैं। किंतु अपना चश्मा हटाकर देखने से चर्यापद की भाषा पर चारों भाषाओं का समान हक होता है।

बात यह है कि यदि उस समय उन भाषाओं को अपना वैशिष्ट्यपूर्ण रूप मिल भी गया था तो भी उनमें कुछ हलकापन था। दूसरी बात यह कि सारे पूर्व भारत को सामने रखकर स्थानीय वैशिष्ट्य की कुछ अवहेलना भी की गई थी। ऐसा उदाहरण १५ वीं–१६ वीं सदी तक मिलता है। जिस समय प्रांतीय भाषाओं का पूर्ण विकास हो चुका था, उस समय वैष्णवधर्म-प्रचारक तथा तीर्थाटनकारियों ने पूर्व भारत की सारी भाषाओं को मिलाकर एक साधारण भाषा बना ली थी, जो किसी अंचलविशेष की भाषा न रहकर सभी के लिए एक सामान्य भाषा थी। वैष्णवों का प्रधान तीर्थ मथुरा, वृंदावन आदि व्रजमंडल में स्थित होने के कारण और प्रयाग, काशी आदि तीर्थों को पार करके व्रजमंडल तक दृष्टि दौड़ाने की आवश्यकता होने के कारण आसाम और उड़ीसा से दिल्ली तक के विस्तृत भूखंड की भाषाओं के संमिश्रण से जो कृत्रिम भाषा बनी, वह व्रजबोली कहलाई, जो वस्तुतः व्रजमंडल की बोलचाल की भाषा नहीं थी—व्रजतक भ्रमण करनेवालों के लिए आवश्यकीय धार्मिक भाषा मात्र थी। व्रजबोली

और व्रजभाषा में व्रज तथा समान पर्यायवाची बोली और भाषा शब्द की समता के अतिरिक्त भाषाशास्त्र-संबंधी समता अधिक नहीं थी। आसाम में महापुरुषीया धर्म के प्रचारक महाप्रभु श्री शंकरदेव ने उसी व्रजबोली का व्यवहार अपने नाटकों में किया था, व्रजमंडल की व्रजभाषा का नहीं। इस कथन का उद्देश्य यही है कि प्रचार और धार्मिक भावना की आड़ में १५ वीं १६ वीं सदी तक एक नई भाषा बन चुकी थी, किसी आंचलिक भाषा को मुख्य स्थान नहीं दिया गया था। अतः ८ वीं सदी के बौद्धधर्म-प्रचारक सिद्धों की भाषा जो चर्यापद के द्वारा हमें मिल रही है, वह किसी की मातृभाषा अथवा बोलचाल की भाषा का पूरा नमूना नहीं हो सकती है। एक तो उस समय तक प्रादेशिक भाषाओं को स्थिर रूप मिलने में संदेह है। दूसरा कारण यह है कि स्थिर रूप होने पर भी उसकी ओर ध्यान कम दिया गया था। तीसरा कारण यह कि लिखित व्याकरण नहीं था, अतः शब्द और वाक्य-रचना की शैली में स्थिरता हो या न हो, कोई भी भाषा आसानी से दूसरी भाषा के लक्षण को भी मान लेती थी। चौथा कारण यह है कि चर्यापद के रहस्यवादी विचार के जटिल भावपूर्ण होने पर भी अधिक-से-अधिक लोग उसकी भाषा को अपना सकें, इस दृष्टि से भाषा को पूर्वोत्तर भारतीय रूप देने की चेष्टा की गई थी। सिद्धों में आसाम, बंगाल, उड़ीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश के व्यक्ति मिले हुए थे। वे किसी एक प्रदेश के निवासी नहीं थे। इस कारण उनकी भाषा में यदि मातृभाषा का प्रभाव अधिक था, फिर भी भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी साथियों की भाषा का प्रभाव भी अवश्य पड़ा था। संभवतः यही कारण है कि कुछ चर्यापदों से अधिक साम्य असमिया का है, कुछ से बँगला का, कुछ से उड़िया का और कुछ से हिंदी का। इस दृष्टि से चर्यापदों पर इन चारों भाषाओं का हक समान है, और आंशिक रूप से इन चारों भाषाओं के विद्वानों का सिद्धांत सत्य है। पर, सारे चर्यापदों की भाषा को अपनी भाषा की ही संपत्ति मान लेना, बहुत हद तक अनधिकार-सा जान पड़ता है।

वातावरण के आधार पर और एक बात की ओर ध्यान रखना है, जिसके द्वारा चर्यापद की भाषा पर बिहारी बोलियों का अधिक प्रभाव तथा एक स्वीकार करना पड़ता है। यदि यह बात सच हो तो चर्यापद पर साहित्यिक दृष्टि से हिंदी का ही हक कुछ अधिक होता है। असमिया, बँगला और उड़िया की भाँति मगही, भोजपुरी और मैथिली बोलियाँ भी मागधी अपभ्रंश से निकली हैं, जो आज साहित्यिक दृष्टि से हिंदी का अंश बन गई हैं। ये तीनों बोलियाँ आज ग्रामीण भाषा के रूप में बिहार प्रदेश में प्रचलित हैं। चर्यापद-रचना के समय में ही नहीं, बुद्धदेव के समय से ही बौद्धधर्म तथा बौद्ध साहित्य का केंद्र बिहार बना रहा। विक्रमशिला, उदंतपुरी, नालंदा आदि शिक्षा-केंद्र तो बौद्धों के ही अड्डा थे। पूर्व भारत ही नहीं, उत्तर प्रदेश के सिद्ध भी उस समय बिहार प्रदेश में जम चुके थे। अतः चर्यापद की भाषा में शौरसेनी अपभ्रंश का भी पुट मिल सकता है। जो हो, बिहार प्रदेश में अधिकतर चर्यापदों की रचना होने के कारण बाहर से आए हुए सिद्धों के पदों में भी स्थानीय वातावरण के प्रभाव की प्रधानता मान लेनी होगी। 'बौद्धचर्यापद और उसकी भाषा'-शीर्षक निबंध में (अवन्तिका, जुलाई १९५४) श्री राय रामनारायण ने चर्यापद की भाषा से मगही, मैथिली और भोजपुरी बोली की काफ़ी समता है, इसे स्पष्ट करके दिखाने का कुछ सफल प्रयत्न किया है। आज इन तीनों बोलियों का व्यवहार ग्रामीण भाषा के रूप में बिहार प्रदेश में हो रहा है। इनका साहित्यिक रूप आज हिंदी के अंदर माना जाता है। साहित्यिक भाषा की दृष्टि से हिंदी अलग भाषा होने पर भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह बिहार में प्रचलित शौरसेनी, अर्द्धमागधी और मागधी की तीन बोलियों को मिलाकर बनाई हुई एक मिश्रित भाषा है। हिंदी के इस व्यापक रूप के अंदर बिहार की बोलियों के आ जाने के कारण चर्यापदों पर हिंदी का एक बहुत बड़ा हक मान लेना पड़ता है। श्री रामनारायण के कथनानुसार बिहारी भाषा का थोड़ा-बहुत जानकार भी चर्यापदों का आशय समझ लेता है, पर दूसरी भाषा के व्यक्ति ऐसा नहीं समझ पाते। यदि यह बात सच हो तो चर्यापदों की भाषा में बिहारी बोलियों का हक सबसे अधिक होगा।

चर्यापद की भाषा के मूल-निर्द्धारण में ग्रामीण बोलियों का सहारा लेना और उसको मुख्य स्थान देना अत्यंत आवश्यक है। विभिन्न प्रदेश की ग्रामीण भाषाओं का अध्ययन

किए बिना चर्यापद की भाषा का मूल पकड़ लेना संभव नहीं। मुझे विश्वास है, अपनी-अपनी भाषा से चर्यापद की भाषा का संपर्क कैसा है—इस दृष्टि से अध्ययन करने की अपेक्षा पूर्व भारत तथा उत्तर भारत की विभिन्न भाषाओं से चर्यापद की भाषा का कैसा संपर्क है, इस दृष्टि से समन्वयात्मक भावना के आधार पर उसका अध्ययन करने के उपरांत ही तत्संबंधी सत्यता का पता अधिक चलेगा।

—बापचंद्र महंत

२. वेद में कृषि-विद्या

त्रिगुणातीत परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानंद ने ज्ञान-विज्ञान की राशि को 'वेद' क रूप में व्यक्त करके विश्व का शाश्वत उपकार किया है। अनादिकाल से इस वेदरूपी समुद्र का मथन होता आया है तथा असंख्य ज्ञान-विज्ञान-रत्नराशियों को गवेषक एकत्र करते आए हैं एवं अनंतकाल तक करते रहेंगे। फिर भी वे रत्नराशियाँ सीमाहीन हैं।

मनुष्य के अंतःस्थित बुद्धि, प्राण, मन एवं वाक् शक्तियाँ ही प्रमुख हैं। अन्यान्य शक्तियाँ इन्हीं के अंतर्भूत हैं। इन शक्तियों के ही ह्रास-विकास से मानवता का ह्रास-विकास होता है। यद्यपि ये शक्तियाँ पश्वादि जीवों में भी अंतर्हित हैं तथापि मानव जिस प्रकार इनका उपयोग कर सकता है तथा करता है, वैसा अन्य प्राणी नहीं कर पाते हैं। इन चार शक्तियों के विकास के द्वारा ही मनुष्य देवत्व की ओर अग्रसर होते हैं।

समझा जाता है कि इन्हीं चारों शक्तियों के विस्तृत विकास से चारों वेदों का संबंध मिला हुआ है, जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय ३६ में मिलता है—

(१) ऋचं वाचं प्रपद्ये, (२) मनो यजुः प्रपद्ये (३) साम प्राणं प्रपद्ये (४) चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। अर्थात् वाणी को लेकर ऋग्वेद की, मन को लेकर यजुर्वेद की, प्राण को लेकर सामवेद की तथा श्रवण-शक्ति को लेकर अथर्ववेद की शरण मैं लेता हूँ।

वाणी को शुद्ध करने के कारण ही ऋग्वेद के मंत्रों को 'सूक्त' कहा जाता है। फलतः पवित्र विचार के समुदाय का नाम ऋग्वेद है।

यजुर्वेद के मंत्रों का नाम अध्याय है। इससे प्रकट होता है कि अध्ययन मन से संबंध रखता है। मन को प्रशस्त कर्मों से शुद्ध करना एवं उसमें लगाना ही 'यजुर्वेद' का काम है।

सामवेद क मंत्रों का नाम 'सामन्' है, जिसका तात्पर्य चित्तवृत्ति की शांति से है। प्राणशक्ति के साथ रहनेवाली निर्विकार अंतःकरण की उच्च शक्ति पवित्रता बढ़ाती है। यजुर्वेद के द्वारा प्रशस्त कर्मों में मग्न मन प्राण की एकतानता के साथ 'साम' के द्वारा निर्विकार ज्ञानयुक्त होता हुआ विलक्षण सामर्थ्यवान् होता है।

अथर्ववेद के मंत्रों का नाम 'ब्रह्म' है। यह वेद ज्ञान द्वारा बुद्धि की और आत्मा की शुद्धि करता है। इसीलिए इस वेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहते हैं।

अतएव मानवमात्र की उन्नति के लिए वेदों का पठन, पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि अनिवार्य है।

दुःख की बात है कि आज हमारे यहाँ से वेदों का अध्ययन-अध्यापन सर्वथा लुप्तप्राय है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा भौतिकवाद के विकास में मस्तिष्क की उन्नति होने पर भी वैदिक विज्ञान के अभाव में दिनानुदिन आत्मिक ह्रास हो रहा है।

भारत के लिए यह एक गंभीर चिंता का विषय है। अस्तु, वेद-समुद्र में गोता लगाने पर कौन-सा ऐसा विषय है, जिसका चरमोत्कर्ष वहाँ नहीं पाया जाता। डार्विन सदृश पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने हमारे पूर्वजों को असभ्य और बर्बर बताया। उनका अंधानुकरण करते हुए कुछ भारतीयों को भी उनकी बातों पर प्रत्यय करने में हिचकिचाहट नहीं आई। किंतु 'वेद' जो सकल ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति के केंद्र हैं, उन्हें थोड़ा-सा भी देखने पर ज्ञात होगा कि 'वेद' में 'कृषि'-विद्या के कैसे सुंदर वर्णन और विकास हैं। आज कृषि की समस्या भारत की सबसे प्रमुख समस्या है। अतएव हम यदि विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद को देखते हैं तो हमारी आँखें खुल जाती हैं। पाश्चात्यों के तथ्यहीन तर्क पर हँसी आती है कि क्या हमारे पूर्वज 'वन्य जंतु' की तरह असभ्य थे?

भूमि हमारी माता है। 'माता' की उपासना करना हमारा धर्म और कर्तव्य है। कृषक निरंतर माता की सेवा करता है और माता प्रसन्न होकर उसे विविध प्रकार के अन्न एवं पेय देती है।

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'—अथर्ववेद १२।१।१२ से यह स्पष्ट है। व्यवसायों में कृषि-व्यवसाय को उत्तम

माना गया है। इसके संबंध में 'वेद' में कहा गया है कि

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व, वित्ते रमस्व
बहुमन्यमानाः--ऋ० १०।३४।१३

अर्थात्—जूआ मत खेलो। खेती निश्चय करो। इस प्रकार खेती से प्राप्त धन को ही बहुत समझकर आनंद करो।

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति,
यन्नध्वानमम वृक्ते चरित्रैः–ऋ० १०।११०।७

हल का फाल भूमि का कर्षण करता हुआ ही भक्ष्य अन्न उत्पन्न करता है।

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं
शुमं नः कीनाशा अभियन्तु वाहैः
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः
शुनाशीरा शुमनस्तासु धत्तम्।
—ऋ० ४।५०।८

अर्थात्—हल के फाल हमारी भूमि की कृषि अच्छी तरह से करें। कृषक बैलों के साथ खुशी से चलें। पर्जन्य अच्छी तरह कृषि करके हमारा कल्याण करे। हल और फाल हमारे बीच आह्लाद धारण करें।

इस मंत्र का 'शुन' शब्द हल का जैसा वाचक है, वैसे ही पवित्रता, कल्याण, सुख, आनंद, विजय, मंगल और प्रगति का भी वाचक है। यह वैदिक कोष देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से कृषि के महत्त्व एवं उसकी अति-प्राचीनता के संबंध में संदेह का स्थान नहीं रह जाता।

—आद्याचरण झा

३. हिंदी का प्रचार

'संसद्-हिंदी-सभा' अहिंदी-भाषी संसद्-सदस्यों को हिंदी सिखाने का स्तुत्य काम कर रही है। गत ८ सितंबर को सभा का दूसरा वार्षिकोत्सव मनाया गया। ११ संसद्-सदस्यों को जिन्होंने हिंदी की परीक्षाएँ पास की हैं, रामायण भेंट की गई। इस अवसर पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने जो कहा, वह विचारणीय है। उनके भाषण का कुछ अंश यह है—

'पिछले वर्षों में हमने अनेक क्षेत्रों में बहुत प्रगति की है, पर किन्हीं कारणों से हिंदी के मामले में तरह-तरह की बाधाएँ आ गई हैं। इसका कारण वह गाँठ है जिसने अनेक हिंदी-प्रेमियों के मन को कुंठित कर दिया है। और, वे चुपचाप अपना काम किए चलने की अपेक्षा दूसरों की निंदा करने में अपना समय नष्ट करते हैं। यह हिंदी-उर्दू-विवाद का खुमार है, और हिंदी के राष्ट्रभाषा स्वीकृत होने के बाद इसे गायब हो जाना चाहिए था।...अगर यह मान भी लिया जाय कि हिंदी के विकास के संबंध में मैंने भूलें की हैं या सरकार ने इस संबंध में जो भी किया है, वह बिलकुल गलत है, तो भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि गैर सरकारी एजेंसियों ने क्या किया है?...भाषा पौधे की तरह सुकुमार है, और पौधे या भाषा की बाढ़ को आप लाठी के जोर से तेज नहीं कर सकते।...मुझे दुःख होता है, जब मुझे संसद् में कभी-कभी अँगरेजी में बोलना पड़ता है। पर मुझे इसलिए ऐसा करना पड़ता है कि एक तिहाई सदस्य हिंदी नहीं समझते, और हिंदी में ही बोलने से हम उनकी सहानुभूति खो देंगे और उन्हें विरोधी बना लेंगे। इससे हिंदी को राष्ट्रभाषा के सच्चे पद पर बैठाने के अपने ध्येय में हमें बाधा होगी। विदेशों में सभी भारतीयों से मैं हिंदी में ही बोलता हूँ, चाहे उन्हें मेरी बात समझने में दिक्कत भी हो। नितांत आवश्यक होने पर ही मैं अँगरेजी में भी दो-चार शब्द कहता हूँ। कोरिया और हिंदचीन में हमारी फौजों को आदेश है कि वे हिंदी का ही व्यवहार करें और विदेशियों के सामने अँगरेजी नहीं बोलें।'

पंडितजी के इन विचारों के संबंध में मतभेद होना संभव है। पर हमें यह अवश्य सोचना चाहिए—क्या हम अहिंदी-भाषियों की भावनाओं और सुविधाओं का ध्यान रख रहे हैं? क्या हम अन्य भारतीय भाषाओं का उचित संमान करते हैं? क्या हम हिंदी को सिर्फ अँगरेजी का ही प्रतिद्वंद्वी बनाना चाहते हैं या अन्य भारतीय भाषाओं का भी?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें अपने-आपके सिवा किसी दूसरे को देना भी नहीं है। हममें से हरएक हिंदी का संदेशवाहक है। हममें से हरएक का निजी जीवन हिंदी को समृद्ध बनाता है या नहीं बनाता है? इन बातों को ध्यान में रखकर हमें अपना कर्त्तव्य करना होगा। 'हिंदी राष्ट्रभाषा हो या नहीं? अँगरेजी राष्ट्रभाषा (अगर नियमित नहीं, तो वस्तुतः सही) रहे या नहीं?'—ये प्रश्न अब वृथा हैं। संविधान ने इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया

है। हम हिंदी को किस प्रकार अँगरेजी के समान बनावें कि वह पूरी तरह अँगरेजी का स्थान ले सके—यहा हमारी चिंता का विषय हो।

पंडितजी ने और कहा—'हमें हिंदी को पूर्णतः समुन्नत करना है। अबतक कोई प्रामाणिक हिंदी-अँगरेजी-कोष प्राप्य नहीं है। विदेशों के हमारे दूतावासों से बार-बार एक प्रामाणिक अँगरेजी-हिंदी-कोष की माँगें आती हैं। पर हम उन्हें वह दे नहीं पाते। यह ऐसा विषय है, जिस पर हिंदी के सभी प्रेमियों का ध्यान तुरंत जाना चाहिए।' उन्होंने एक अमेरिकी पत्र की टिप्पणी की भी चर्चा की। उसमें कहा गया है कि रूस में केवल हिंदी-रूसी-कोष का ही नहीं, बल्कि तमिल-रूसी, तेलुगु-रूसी, बँगला-रूसी एवं पंजाबी-रूसी कोषों का प्रकाशन हो चुका है, और अन्य भारतीय भाषाओं-रूसी कोषों का संपादन हो रहा है। फिर उस अमेरिकी पत्र ने अमेरिका में अँगरेजी-हिंदी-कोष तथा अँगरेजी और अन्य भारतीय भाषाओं के कोषों के प्रकाशन पर जोर दिया है।

आशा है, पंडितजी ने जिस गंभीर आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, विद्वद्-वर्ग और हमारा प्रकाशकवर्ग उसपर सोचेगा। कोषों की समस्या कितनी गंभीर है, इसका एक उदाहरण हाल में मिला है। विहार के एक लब्धप्रतिष्ठ चिंतक को एवं अपने ही प्रदेश के एक सुकवि और आलोचक को दर्शन और मनोविज्ञान की कुछ किताबों के अध्ययन-मनन के लिए आवश्यकता हुई एक अँगरेजी-संस्कृत-कोष की। दसियों पहले प्रकाशित आपटे का अँगरेजी-संस्कृत-कोष आकार में छोटा होते हुए भी बहुत काम का है। पर अब वह अप्राप्य है। साधारण आकार और मूल्य का अन्य कोई अँगरेजी-संस्कृत-कोष उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध है ८०) का मानियर विलियम्स का संस्कृत-अँगरेजी-कोष! पर उसे सर्वसाधारण खरीद नहीं सकते। क्या इस ओर हमारा ध्यान जायगा?

—सत्येंद्र नारायण

४. संस्कृत-काव्य में नारी-सौंदर्य का चित्रण

नारी अनादिकाल से ही मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियों का प्रेरणा-स्रोत रही है। काव्य, कला और संगीत—ये सभी जीवन-दायिनी वृत्तियाँ उससे स्फूर्ति लेकर और प्राण लेकर पल्लवित और पुष्पित होती रही हैं। यहाँ तक कि विश्व के आदिकवि वाल्मीकि के कवि बन जाने का रहस्य भी नारी-जीवन के शृंगारिक पक्ष के एक क्रीड़ा-विशेष में ही छिपा पड़ा है और उसके सौंदर्य-वर्णन ने कितने ही कलाकारों को यश और सम्मान का मुकुट पहनाया है। हिंदी-साहित्य के प्रसिद्ध शृंगारिक कवि विद्यापति, देव, बिहारी और सेनापति-जैसे अनेक व्यक्ति उसके सौंदर्य का गुणगान करके ही काव्याकाश में अपना प्रकाशमान स्थान बना सके हैं। कलाकार सदैव सौंदर्य-पिपासु होता है और सौंदर्य पर उसकी दृष्टि मुख्य तथा अन्य विषयों पर गौण रहती है। प्रसिद्ध कवि टैगोर ने तो नरक में भी सौंदर्य ही देखा है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि सौंदर्य नरक में भी होता है, पर मनुष्य की आँखें उसे देख नहीं पातीं, और यही तो उसका सबसे बड़ा दंड है। फिर नियति-नटी की नाट्यशाला की मधुर पात्री नारी में कलाकारों द्वारा सौंदर्य का देखा जाना संभव ही नहीं, प्रत्युत नितांत स्वाभाविक है। चित्रकार नारी-सौंदर्य का चित्रण तूलिका द्वारा करते हैं और कविगण अपनी लेखनी से उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। विश्व की अनेक संपन्न भाषाओं की भाँति संस्कृत-भाषा में भी नारी-सौंदर्य का अत्यंत मनोहारी चित्रण हुआ है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि और नाटककार भारवि ने तो यहाँ तक लिखा है—

यद्यपि विबुधैः सिन्धोरन्तः कथञ्चिदुपार्जितं
तदपि सकलं चारु स्त्रीणां मुखे च विलोक्यते।
सुरसुमनसः श्वासामोदे शशी च कपोलयो-
रमृतमधरे तिर्यग्भूते विषं च विलोचने॥

अर्थात्—देवताओं ने बड़े कष्ट से समुद्र में से जो वस्तुएँ पाई हैं, वे सब स्त्रियों के सुंदर मुख पर भी देखी जाती हैं। श्वास की सुगंधि में देवताओं के फूल, दोनों कपोलों पर चंद्रमा, ओष्ठ में अमृत और नेत्रों में विष है।

महाकवि कालिदास की कल्पना में तो सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में ही नारी-सौंदर्य मूर्तिमान हो रहा है। रघुवंश में सीता क पुनर्मिलन पर राम कहते हैं—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥

अर्थात्—प्रियंगुलता में तुम्हारे अंगों की शोभा, चकित हरिणी की दृष्टि में तुम्हारी दृष्टि, चंद्रमा में तुम्हारे मुख की कांति, मयूरों के पिच्छ में केश-पाश की शोभा और पतली नदी की तरंगों में तुम्हारा भ्रू विलास मैं देखता हूँ, पर दुःख है कि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, जिसमें तुम्हारी पूर्ण समानता पाई जाय?

प्रसिद्ध कवि जयदेव ने व्यतिरेक अलंकार द्वारा नारी क मुख-सौंदर्य का चित्रण इस प्रकार किया है—

तन्वि त्वद्वदनस्य विभ्रमलवं लावण्यवारांनिधे-
रिन्दुः सुन्दरि दुग्धसिन्धुलहरीविन्दुः कथं विन्दतु ।
उत्कल्लोलविलोचने क्षणमयं शीतांशुरालम्बता-
मुन्मीलन्नवनीलनीरजवनी - खेलन्मरालश्रियम् ।।

अर्थात्—हे सुंदरी! सौंदर्य-समुद्ररूपी तुम्हारे मुख के विलास की एक कणिका भी यह चंद्रमा कैसे पा सकता है, क्योंकि यह तो क्षीर-समुद्र की लहरियों का विंदु है। हो सकता है कि थोड़ी देर के लिए यह चंद्रमा विकसित कमलवन में खेलनेवाले हंस की शोभा को प्राप्त करे, पर तुम्हारी आँखें तो सदैव खेला करती हैं, उनमें तो सदा तरंगें उठा करती हैं।

जयदेव ने तो नारी के मुख-सौंदर्य के सामने चंद्रमा की हार भी बताई है—

इन्दुरिन्दुरिति किं दुराशया
विन्दुरेव पयसो विलोक्यते ।
नन्विदं विजयते मृगीदृशः
श्यामकोमलकपोलमाननम् ।।

इंदु-इंदु! यह क्या हो रहा है? अरे यह तो जल का विंदु-सा दिखाई पड़ रहा है। यह स्त्रियों के श्याम-कोमल कपोलयुक्त मुख को नहीं जीत सकता।

जिस प्रकार हिंदी के कवियों ने नारी का नख-शिख-वर्णन किया है, उसी प्रकार संस्कृत के कवियों ने भी उसके प्रायः सभी अंग-प्रत्यंगों का सौंदर्य प्रस्तुत किया है। आठवीं सदी के प्राचीन कवि दामोदर ने स्त्रियों के भारी नितंबों की मादकता के बारे में इस प्रकार लिखा है—

स कथं न स्पृहणीयो विषयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः।
शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यम् ।।

अर्थात्—उसके नितंबों की रचना विषयी मनुष्यों के लिए स्पृहणीय क्यों न हो, जिसकी गुरुता को शांतचित्त ब्रह्मा ने स्वयं ही इतना बढ़ाया है।

नितंबों की तरह स्त्री के उरोजों का वर्णन भी संस्कृत-कविता में उपलब्ध होता है। रघुवंश में राम ने पुष्प-भार से लदी हुई अशोकलता को देखकर ही उन्नत उरोजिनी सीता की कल्पना को साकार रूप में देखा। यह प्रसंग वाल्मीकिरामायण में इस प्रकार मिलता है—

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं
स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः
सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ।।

अर्थात्—इस पंपातीर की पतली अशोक-लता को, जो गुच्छरूपी स्तनों के कारण नत हो गई है, देखकर मैंने समझा कि तुम मिल गई और मैं आलिंगन करने के लिए चला, पर रोते हुए लक्ष्मण ने मुझे वैसा करने से रोका।

नारी की कमर पतली होने के कारण उसकी कृशता पर एक कवि ने इस प्रकार आशंका प्रकट की है और सृष्टि-नियंता को उलाहना भी दिया है—

अहो प्रमादी भगवान्प्रजापतिः
कृशातिमध्या घटिता मृगेक्षणा ।
यदि प्रमादादनिलेन भज्यते
कथं पुनः शक्ष्यति कर्तुमीदृशम् ।।

अर्थात्—ब्रह्मा बड़े प्रमादी हैं, वे बड़े ही असावधान हैं; क्योंकि उन्होंने उस मृगनयनी नायिका का मध्यभाग बड़ा ही पतला बनाया है। यदि कदाचित् हवा लगने के कारण वह टूट जाय तो वे पुनः वैसा कैसे बना सकते हैं?

कश्मीरी कवि रत्नाकर ने नारी की कटि-कृशता का कारण तो और भी आकर्षक ढंग से व्यंजित किया है—

काञ्चीगुणैर्विरचिता जघनेषु लक्ष्मी-
र्लब्धा स्थितिः स्तनतटेषु च रम्यहारैः।
नो भूषिता वयमितीव नितम्बिनीनां
कार्श्यं निरर्गलमधार्यत मध्यभागैः।।

अर्थात्—करधनी के द्वारा जघनों की शोभा बढ़ाई गई, स्तनों पर उत्तम हार पहनाया गया, पर हमको कोई भूषण नहीं मिला; इसी दुःख से स्त्रियों का मध्य भाग दुर्बल हो गया।

संस्कृत-कवियों की दृष्टि केवल नारी के सामान्य सौंदर्य पर ही नहीं गई, प्रत्युत उन्होंने उसके रति-जनित सौंदर्य का भी सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया और काव्य में उसकी

अभिव्यंजना की। महाकवि पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसांकचरित' काव्य में रतिश्रांता नायिका के शरीर पर स्थित श्रम-जनित स्वेद-कणों का सौंदर्य-वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

उदित्य पंक्त्या श्रमवारिविप्रुषा
निरन्तराध्यासितरेखया यया।
तवैष कण्ठः कुटजावदातया
विलासमुक्तालतयेव भूष्यते ॥

अर्थात्—पसीनों की बूँदों की पंक्तियाँ जो रेखा के समना लगातार उदित हुई हैं, मालूम होता है कि कुटज पुष्प के समान स्वच्छ मोतियों की माला है और उस माला से तुम्हारा यह कंठ भूषित हो रहा है।

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने रात्रि में प्रियतम से मिलने जाती हुई अभिसारिका का जो सौंदर्य चित्रण किया ह, और उसमें जो मौलिक कल्पना है, वह सहज ही अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्तु वान्त-
श्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥

अर्थात्—रात्रि में अभिसारिका चली जा रही है। उसी समय बिजली चमकी और उसके प्रकाश में मेघ ने अभिसारिका का मुँह देखा। उसको संदेह हुआ कि धारा बरसाने के साथ-साथ हमने कहीं चंद्रमा को तो नहीं उगल दिया है, और इसी दुःख से वह चिल्लाने लगा—गरजने लगा।'

वेणी-संहार-नाटक के रचयिता भट्टनारायण ने रत्यंत में प्रकट हुए नायिका के सौंदर्य को एक नवीन ही उद्भावना के साथ व्यक्त किया है—

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिंग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥

अर्थात्—सुरत के अंत में शेषनाग पर एक हाथ टेककर लक्ष्मी उठ रही थीं, दूसरे हाथ से उन्होंने अपना कपड़ा पकड़ रखा था, चोटी के बाल बिखरकर कंधे पर गिर रह थे। उस समय लक्ष्मी के सौंदर्य को देखकर विष्णु का सुरत-प्रेम और भी बढ़ गया और वे पुनः आलिंगन करके लक्ष्मी को शय्या पर ले गए।

उपर्युक्त संयोगावस्था के चित्रणों की भाँति वियोगावस्था के भी अनेक रूप-चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं, जो साक्षात् करुणा का सृजन कर देते हैं। उत्तररामचरित में महाकवि भवभूति ने जानकी के वियोग-मलिन शरीर का चित्रण इस प्रकार उपस्थित किया है—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकवरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरह-व्यथेव वनमेति जानकी ॥

अर्थात्—जानकी के सुंदर कपोल पीले और दुर्बल हो गए हैं। केश-पाश बिखरे हुए हैं। वह करुणा की मूर्ति मालूम पड़ती हैं अथवा शरीरधारिणी विरह-व्यथा-सी प्रतीत होती हैं।

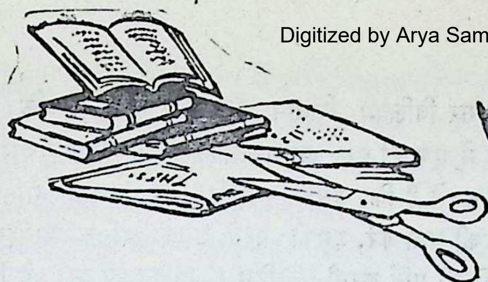
विक्रमादित्य-कालीन कवि वररुचि ने भी वियोगिनी के रूप का इसी प्रकार के मिले-जुले शब्दों में वर्णन किया है—

पाण्डुच्छायं क्षामं वक्त्रं कमलमुखि
ललितमलकं करे स्थितमाननम्।
शून्यालोका दीना दृष्टिः शिखरमपि
पतितरसना तनुस्तनुतां गता ॥

अर्थात्—हे कमलमुखि! तुम्हारा पीला मुख दुर्बल हो गया है, तुमने सुंदर केशपाशवाला मुख हाथ पर रख लिया है, दुखी नेत्रों से मानों देखने की शक्ति जाती रही है। शरीर दुर्बल हो गया है, जिससे करधनी ऊपर की ओर चली गई है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यों में नारी का रूप-चित्रण विभिन्न रूपों में हुआ है, जिसमें कलाकारों की विभिन्न सौंदर्यवादी ललित भावनाएँ छिपी पड़ी ह।

—मनोहर प्रभाकर



सार-संकलन

१. मेरा जीवन-दर्शन—मानवतावाद

धर्म का स्थूल रूप

'धर्म का स्थूल रूप जो मैं देखता था, उसकी तरफ मेरा कोई आकर्षण न था, चाहे वह हिंदू धर्म है या इसलाम धर्म; बौद्धधर्म है या ईसाई धर्म। ऐसा मालूम पड़ता था कि अंध रूढ़ियों और अंध विचारों से उसका संबंध है और जीवन की समस्याओं के प्रति उसका दृष्टिकोण साइंस का दृष्टिकोण नहीं था। उसमें जादू-टोने का अंश था, बिना समझे-बूझे यकीन कर लेने और करामातों पर भरोसा करने की एक प्रवृत्ति थी। फिर भी यह जाहिर बात है कि धर्म मानव-स्वभाव की एक गहरी अंदरूनी जरूरत पूरी करता है और सारी दुनिया के बहुसंख्यक लोग किसी एक धार्मिक विश्वास के बिना नहीं रह सकते। इसने बहुत ही ऊँची किस्म के लोगों को पैदा किया है और साथ ही तंग-दिल जालिमों को भी।'

धर्म और विज्ञान

'शुरू में जीवन की समस्याओं के प्रति मेरा दृष्टिकोण बहुत-कुछ वैज्ञानिक था। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू की साइंस में जो आशावादिता थी, वह मेरे दृष्टिकोण में भी थी। मैंने एक आराम की जिंदगी पाई थी। इसके अलावा मेरे जीवन में एक उमंग थी, एक सहज अडिग विश्वास था। इससे जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण में आशावादिता का भाव बढ़ता गया। एक अस्पष्ट प्रकार के मानवतावाद की तरफ मेरा मन खिंचता गया।

'व्यापक अर्थ में धर्म का संबंध मानव-जाति के उन अनुभवों से है, जिनकी विज्ञान से ठीक-ठीक नाप-जोख नहीं हुई। एक अर्थ में धर्म को हम विज्ञान के क्षेत्र का विस्तार कह सकते हैं; यद्यपि इन दोनों के तरीके और क्षेत्र अलग-अलग हैं। हमारे चारों ओर एक विस्तृत अनजाना प्रदेश है और विज्ञान ने यद्यपि बड़े बड़े तीर मारे हैं, पर उसके बारे में इसकी जानकारी बहुत थोड़ी है।

'विज्ञान हमें जीवन के उद्देश्य के बारे में कुछ नहीं बताता। वह अपनी सीमाएँ फैला रहा है और हो सकता है कि बहुत जल्द वह तथाकथित अदृश्य जगत् में जा पहुँचे और हमें व्यापक अर्थ में जीवन के उद्देश्य को समझने में मदद दे।'

साधन और साध्य

'साधन और साध्य, क्या दोनों एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि एक का असर दूसरे पर पड़ता ही है—गलत साधन साध्य की शकल को बिगाड़ देते हैं और कभी-कभी उसे नष्ट भी कर देते हैं। लेकिन उचित साधन मनुष्य के कमजोर और स्वार्थी स्वभाव के बूते के बाहर की चीज हो सकते हैं। ऐसी हालत में क्या किया जाय? काम से मुँह मोड़ लेने के मानी हैं, हार मान लेना और बुराई के सामने घुटने टेक देना; मगर काम करने के भी मानी हैं, बुराई से किसी-न-किसी शकल में समझौता कर लेना और इस तरह के समझौतों से जो नतीजे पैदा होते हैं, उनको बुलावा देना।'

विजयी मानव

'यह प्राणी, जिसे हम मानव कहते हैं, कितनी अदम्य शक्ति रखता है। असंख्य असफलताओं की तिरस्कारपूर्ण अवहेलना करते हुए युग-युगांतरों से मानव अपने आदर्श स्वाभिमान, सत्य, देश और विश्वास की वेदी पर कई बार अपना सब-कुछ स्वाहा कर चुका है। कई बार ये आदर्श भी बदल गए हैं, लेकिन मानव में आत्मोत्सर्ग की भावना और क्षमता अक्षुण्ण रही है, और जबतक मानव इस भावना से प्रेरित है, उसका भविष्य उज्ज्वल है और उसकी त्रुटियाँ क्षम्य हैं। प्रकृति की असीम लीला में, ब्रह्मांड के अनंत प्रसार में इस मुट्ठीभर धूलि की, जिसे हम मानव कहते हैं, गणना ही क्या है; किंतु फिर भी प्रकृति की आधारभूत शक्तियों को यह वीरतापूर्ण चुनौती देता रहा है और अपने मस्तिष्क—जो क्रांति का

चरम स्रोत है—की सहायता से इसने संसार पर अपना आधिपत्य जमाया है। मैं नहीं जानता कि देवी-देवताओं का कोई अस्तित्व है भी या नहीं, किंतु यह स्पष्ट है कि मानव में कुछ दिव्य गुण विद्यमान हैं—हो सकता है कि इसमें राक्षसी प्रवृत्तियाँ भी हों।'

—जवाहरलाल नेहरू ('जागृति' से साभार)

२. मनुष्य का सच्चा अर्थशास्त्र क्या है?

[१६१६ ई० के २२ सितंबर को महात्मा गाँधी ने इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में 'क्या आर्थिक प्रगति और वास्तविक प्रगति में विरोध है?' विषय पर लिखित भाषण पढ़ सुनाया था। इतन वर्षों तक यह अप्रकाशित पड़ा था। डा० अमरनाथ झा ने गाँधीजी से यह भाषण प्राप्त कर लिया था और उसकी मूल प्रति उनके संग्रह में सुरक्षित है। आज से तीन दशक पूर्व व्यक्त महात्माजी के विचार आज भी ताजा हैं।]

क्या आर्थिक प्रगति और वास्तविक प्रगति में विरोध है? मैं अनुमान लगाता हूँ कि आर्थिक उन्नति से हमारा तात्पर्य असीम भौतिक उन्नति से है और वास्तविक प्रगति से हमारा तात्पर्य नैतिक उन्नति से है, अर्थात् अपने अंदर जो एक स्थायी तत्त्व है, उसकी उन्नति से है। अतः हम अपने विषय को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि—क्या नैतिक प्रगति उस मात्रा में नहीं बढ़ती जिस मात्रा में कि भौतिक प्रगति बढ़ती है?

मैं जानता हूँ कि हमारे सम्मुख जो विषय है, यह उससे कुछ विस्तृत हो जाता है। पर मैं ऐसा सोचने की हिम्मत करता हूँ कि जब हम पहली (भौतिक) उन्नति की बात करते हैं तब दूसरी (नैतिक) उन्नति भी हमारे मस्तिष्क में रहती है। कारण, विज्ञान से हमको इतनी तो शिक्षा मिली ही है कि हमारे वर्तमान दृष्टिगत विश्व में संपूर्ण विश्राम या पूर्णरूप से स्थिर रहनेवाली ऐसी कोई चीज है ही नहीं। अतः यदि भौतिक उन्नति और नैतिक उन्नति में कोई संघर्ष नहीं है तो यह संभव ही है कि भौतिक उन्नति से नैतिक उन्नति को बढ़ावा मिले। हम यह कह दें कि जिस प्रकार कुछ लोग भौतिक उन्नति मात्र की ही वकालत करते हैं, उससे हमको संतोष नहीं होता। उनके ऊपर मानों भारत के ३६ करोड़ व्यक्तियों का जैसे भूत-सा सवार रहता है, जिनके बारे में स्वर्गीय सर विलियम विल्सन हंटर ने कहा था कि वे दुनिया में एक ही वक्त खाना खाकर अपने दिन गुजारते हैं। वे कहते हैं कि इसके पूर्व, कि हम उनकी नैतिक उन्नति की बात करें, हमको पहले उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। उनका कहना है कि भौतिक उन्नति से ही नैतिक उन्नति संभव है, और तब वे लंबी छलांग मारते हैं। जो बात ३६ करोड़ के लिए सही है, वह सारे विश्व के लिए सही है। वे भूल जाते हैं कि जटिलता से कानून में खराबी पैदा होती है। मुझे आपसे यह कहने की जरूरत नहीं है कि इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना कितना हास्यास्पद और अर्थहीन है। किसी ने कभी यह नहीं कहा कि भयंकर दरिद्रता से सिवाय भयंकर नैतिक पतन होने के और कुछ भी प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक मानव को जीवित रहने का अधिकार है और उसको इसका अधिकार है कि अपना पेट भरने के लिए खाना, अपना बदन ढँकने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान के लिए वह प्रयास करे। पर इस सरल क्रम के लिए हमको अर्थशास्त्रियों से या उनके नियमों से कोई सरोकार नहीं है।

'कल की चिंता न करें'—ऐसा उपदेश संसार के प्रायः सभी धार्मिक ग्रंथों में बताया जाता है, किंतु सुव्यवस्थित समाज में किसी व्यक्ति के लिए अपनी रोजी पा लेना बहुत ही सरल कार्य होना चाहिए। सच तो यह है कि किसी भी देश के सुव्यवस्थित होने का सबूत यही नहीं है कि उस देश में कितने लखपति और करोड़पति हैं, वरन् यह है कि उस देश की जनता में भुखमरी नहीं है। हमको तो केवल इस बात की परीक्षा करनी है कि क्या इस एक विश्वव्यापी नियम को स्वीकार कर लें कि भौतिक उन्नति से ही नैतिक उन्नति होती है?

कुछ उदाहरण लीजिए। रोम साम्राज्य का नैतिक पतन तभी हुआ जब उसने बड़े ऊँचे दर्जे की भौतिक उन्नति कर ली। यही हाल मिस्र देश का भी हुआ और संभवतः अन्य अनेक देशों का भी, जिनके इतिहास के संबंध में हम कुछ जानते हैं। फिर भगवान कृष्ण के आत्मजों और वंशजों का भी तभी पतन हुआ जब वे वैभव से ओत-प्रोत हो गए थे। हम राकफेलर और कारनेगी-जैसे आधुनिक कुबेरों के लिए यह नहीं कहते कि उनमें नैतिकता की कोई सामान्य भावना नहीं है, पर यह

भी सही है कि उनके संबंध में अपना मत बनाते समय हम बहुत नरमी से काम लेते हैं। मेरा मतलब यह है कि हम उनसे इसकी भी अपेक्षा नहीं करते कि वे नैतिकता के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों का पालन करें। उनके लिए भी भौतिक उन्नति का आवश्यक रूप से यह अर्थ कदापि नहीं हुआ कि उन्होंने नैतिक उन्नति की है।

दक्षिण अफ्रिका में भी जहाँ पर मुझे अपने हजारों देशवासियों के साथ अतिनिकट-संबंध स्थापित रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, मैंने देखा कि लगभग अनिवार्य रूप से जिसके पास जितनी अधिक सम्पदा थी, नैतिक दृष्टि से उसका पतन भी उतना ही अधिक था। और अधिक न कहकर मैं सिर्फ यही कहूँगा कि दक्षिण अफ्रिका में धनिकों ने सत्याग्रह के नैतिक संघर्ष को आगे बढ़ाने में उतनी सहायता नहीं दी, जितनी कि गरीबों ने दी थी। धनिक पुरुषों के आत्मसम्मान की भावना को उतनी चोट न लगी, जितनी गरीबों के आत्मसम्मान की भावना को ठेस पहुँची। मुझे तो डर है कि और निकट, अपने ही देश के उदाहरण लेने से मैं खतरनाक जमीन पर चलने लगूँगा, वरना मैं आपको यहाँ के उदाहरणों से यह बताता कि धन और वैभव की मिल्कियत के फलस्वरूप वास्तविक उन्नति को धक्का लगता है। मैं तो यह भी सोचने की हिम्मत करता हूँ कि संसार के धर्मग्रंथ आर्थिक नियमों के संबंध में अनेक आधुनिक पाठ्यक्रमोंवाली पुस्तकों से कहीं अधिक श्रेष्ठ और सुंदर हैं।

जो सवाल हमलोग आज सायंकाल को अपने से पूछ रहे हैं, वह कोई नया प्रश्न नहीं है। २००० वर्ष पूर्व ईसामसीह से भी यही सवाल पूछा गया था। सेंट मार्क ने इस दृश्य का सुंदर वर्णन किया है। ईसामसीह गंभीर मुद्रा में थे और बहुत एकाग्रचित्त थे। वह आगे-पीछे की बातें कर रहे थे। वह अपने चारों ओर के संसार को जानते थे, और स्वयं ही अपने जमाने के बड़े अर्थशास्त्री थे। वे दिक् और काल के भी ऊपर उठ गए थे। शायद ईसामसीह जब अपनी सर्वोच्च स्थिति में थे तब कोई दौड़ा हुआ उनके पास आया, घुटनों पर झुका और बोला—'भले स्वामी, मैं क्या करूँ जिससे मुझको शाश्वत जीवन प्राप्त हो जाय?' ईसामसीह ने उससे कहा —'तू मुझे भला क्यों कहता है? दूसरा कोई नहीं, बस एक ईश्वर ही भला है। तू ईश्वर के दस आदेशों को जानता है: व्यभिचार मत कर, किसी को मार मत, चोरी मत कर, झूठी गवाही मत दे, धोखा मत दे, अपने माता-पिता का आदर कर।' तब उस व्यक्ति ने जवाब देते हुए कहा—'स्वामी! इन आदेशों का पालन मैं अपनी युवावस्था से करता आ रहा हूँ।' तब ईसामसीह ने उसकी तरफ गौर से देखा। उसे प्यार किया और कहा—'एक चीज की तुझमें कमी है। अपने रास्ते में जा। जो कुछ तेरे पास है, उसे बेच दे और उसे गरीबों को दे दे। तुझे स्वर्ग में खजाना मिलेगा और यहाँ वापस आकर क्रास को उठा ले और मेरे पीछे चल।' इसपर वह व्यक्ति दुखित हुआ और अपने दुख को व्यक्त करते हुए वहाँ से दुखी-दुखी चला गया। कारण, उसके पास बड़ी संपदा थी। जब वह चला गया तब ईसामसीह ने चारों ओर देखा और अपने चेलों से कहा—'भला, जिनके पास बड़ी संपदा है, उन्हें भगवान् के राज्य में दाखिल होने में कितनी दिक्कतें होंगी।' ईसामसीह के चेले उनके शब्दों पर बड़े आश्चर्यचकित हुए। पर ईसामसीह ने फिर जवाब दिया और उनसे कहा—'बच्चो, उन लोगों के लिए स्वर्ग में दाखिल होना कितना कठिन है जो धन पर विश्वास रखते हैं? ऊँट का सूई के छेद से निकल जाना आसान है, एक धनी पुरुष का स्वर्ग में जाना उससे कहीं कठिन है।'

इसपर चेलों ने अपने अविश्वास को प्रकट करते हुए गर्दन हिलाई, जैसा हमलोग भी आजकल करते हैं। और जैसा हमलोग आज कहते हैं, वैसा ही उन्होंने कहा—'पर देखिए कि वास्तविक क्षेत्र में कानून कैसा असफल होता है। यदि हम सब-कुछ बेच दें और अपने पास कुछ न रखें तो हमारे पास कुछ न रहेगा। तब हमारे पास खाने को भी कुछ न रहेगा। हमारे पास रुपया होना चाहिए, वरना हम न्यूनतम स्तर पर भी अपनी नैतिकता स्थापित नहीं रख सकते।' उनको बेहद आश्चर्य हुआ और वे आपस में कहने लगे—'हम सब धन की बुराई से कैसे बच सकते हैं?' तब ईसामसीह ने उनके ऊपर देखते हुए कहा—'मनुष्यों के लिए यह संभव नहीं है, पर ईश्वर के लिए ऐसा नहीं। ईश्वर के लिए सभी कुछ संभव है।' तब पीटर ने उनसे कहा—'देखो, हमने सब-कुछ छोड़ दिया है और हम तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं।' और तब ईसामसीह ने जवाब दिया—'ठीक है, तुमसे कहता हूँ कि ऐसा भी आदमी, जिसने मेरे लिए या धार्मिक सिद्धांतों के

लिए भूमि या बंधु या बहनें या माता-पिता या स्त्री या बच्चे या मकान छोड़ा है—उसको इसका सौगुना इस समय ही मिलेगा। मकानात, बंधु, बहनें, माता, बच्चे, भूमि—सभी उसे मिलेंगे और परलोक में उसे अमर जीवन प्राप्त होगा। पर वे बहुत, जो आज पहले हैं, आखिरी हो जायँगे और जो आज आखिरी हैं, वे पहले।'

मैंने यहाँ अन्य अहिंदू धार्मिक पुस्तकों से ऐसे ही वाक्य उद्धृत करने का कष्ट नहीं किया है और ईसामसीह द्वारा कथित नियम के समर्थन में अपने ही संतों के उद्धरण देकर आपकी समझदारी का अपमान नहीं करूँगा। और, हमारे संतों के तो उद्धरण बाइबिल के उद्धरणों से कहीं अधिक सख्त हैं। संभवतः हमारे सम्मुख उपस्थित प्रश्न की सहमति में सबसे जोरदार जवाब संसार के बड़े-बड़े शिक्षकों के जीवन में प्राप्त होता है। ईसामसीह, हजरत मुहम्मद, बुद्ध, नानक, कबीर, चैतन्य, शंकर, दयानंद, रामकृष्ण—ये सब ऐसे लोग थे जिन्होंने संसार पर बड़ा प्रभाव डाला और हजारों आदमियों का चरित्र गठित किया। उनके रहने से संसार और सम्पन्न ही हुआ। और यह सब ऐसे लोग थे जिन्होंने जान-बूझकर गरीबी को ही अपनाया।

मैं अपना दृष्टिकोण समझाने में इतना समय न लेता, यदि विश्वास न होता कि हमने आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता को ही अपना आदर्श बना लिया है और तथाकथित उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए हम वास्तव में गड्ढे की ओर जा रहे हैं। इसी कारण प्राचीन आदर्श यही रहा है कि मनुष्य की व्यक्तिगत संपदा को बढ़ानेवाली कार्यवाहियों में सीमा निर्धारित करनी चाहिए। इससे सब भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं का अंत कदापि नहीं होता। आज भी सदा की तरह, हमारे बीच ऐसे व्यक्तियों का होना आवश्यक है, जो धनोपार्जन ही अपने जीवन का ध्येय बनाए हुए हैं। पर हमने सदा ही इसे स्वीकार किया है कि यह आदर्शों से गिर जाना है। हमको तो कभी-कभी यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि हमलोगों में कुछ सबसे धनी लोग बहुधा यह स्वीकार करते हैं कि यदि वे स्वेच्छा पूर्वक गरीब रहे होते, तो उनके लिए कहीं अधिक अच्छा रहता।

यह बड़े मूल्य का आर्थिक सत्य है कि आप एक साथ ही ईश्वर और कुबेर की पूजा नहीं कर सकते। हमको दोनों में से किसी एक को ही चुनना है। आज पाश्चात्य राष्ट्र भौतिकवाद के राक्षस-देव की एँड़ी के दबे हुए कराह रहे हैं। उनका नैतिक उत्थान रुक गया है। वे अपनी उन्नति पौंड, शिलिंग और पेंस में गिना करते हैं। अमेरिका की आर्थिक समृद्धि उनके लिए आदर्श हो गई और अमेरिका की तरफ लोग ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं। हमने अपने बहुत-से देशवासियों को यह कहते हुए सुना है कि हम अमेरिका-जैसी ही संपदा प्राप्त करेंगे, पर उनके तरीकों को इस्तेमाल नहीं करेंगे। मैं यह कहने की हिम्मत करूँगा कि यदि ऐसा प्रयास किया भी गया तो वह निश्चित रूप से असफल होगा। हम एक ही अवसर पर बुद्धिमान, शांत और क्रुद्ध नहीं रह सकते। मैं तो चाहूँगा कि हमारे नेतागण हमको यह शिक्षा देते कि हम नैतिक दृष्टि से संसार में सबके ऊपर रहें।

हमसे कहा गया है कि हमारा यह देश किसी समय देवताओं का निवास-स्थान था। यह कल्पना संभव नहीं है कि भगवान ऐसे देश में रहेगा जो मिल की चिमनियों के धुएँ और आवाज से भद्दा हो गया हो और जिसकी सड़कों पर चीखते और धुआँ फेंकते इंजन और अनेक मोटरें मनुष्यों को लादे हुए घूमती हों। और ये लदे मनुष्य भी नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं? बहुधा वे विक्षिप्त-से रहते हैं और बक्सों में बंद मछलियों की तरह डिब्बों में ठूँस-ठूँसकर कष्टदायक रूप से बिल्कुल अजनबियों के बीच भरे रहते हैं और ये महोदय भी मौका पाएँ तो उन अजनबियों से ऐसा ही व्यवहार करें। ऐसी स्थिति में संभवतः मनुष्य का दिमाग भी ठिकाने नहीं रहता।

मैं इन बातों की चर्चा इसलिए करता हूँ कि वे भौतिक उन्नति के चिह्नस्वरूप मानी जाती हैं, पर उनसे हमारी प्रसन्नता में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं होती। देखिए, महान वैज्ञानिक वैलेस ने अपने सोचे-समझे मत को किस प्रकार प्रकट किया है—'प्राचीन काल से प्राप्त होनेवाले सबसे प्रारंभिक सूत्रों से हमको पता लगता है कि उस समय आध्यात्मिक विचार काफी मूल्य रखते थे और उस समय नैतिकता का और पारस्परिक व्यवहार का जो सर्वमान्य स्तर था, वह आजकल के जमाने में प्रचलित स्तरों से किसी प्रकार निम्न नहीं था।' उसके बाद कई अध्यायों में वे इस बात की समीक्षा करते हैं कि बहुत धनी हो जाने के बाद ब्रिटिश राष्ट्र की स्थिति अब क्या हो गई है। वे कहते हैं—'संपदा की इस तीव्र बढ़ोतरी तथा प्रकृति पर

हमारी शक्ति की वृद्धि के फलस्वरूप हमारी दिखावटी ईसाइयत पर बड़ा बोझ पड़ा है, और उसी के कारण इस वृद्धि के साथ-ही-साथ सामाजिक अनैतिकता भी विविध रूप में बढ़ी है। और अनैतिकता की यह वृद्धि जितनी अपूर्व है, उतनी ही आश्चर्यजनक भी है।' फिर वे दिखलाते हैं कि कैसे पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की लाशों के ऊपर कारखाने बने और किस प्रकार जैसे इंच-ब-इंच देश तेजी से आगे बढ़ा वैसे ही किस प्रकार नैतिक दृष्टि से उसका पतन हुआ।' इस बात को वे शहरी सफाई, जीवन का नाश करनेवाले व्यवसाय, वस्तुओं में मिलावट, घूसखोरी, जुआखोरी इत्यादि के उदाहरणों से सिद्ध करते हैं। वे दिखलाते हैं कि किस प्रकार धन में वृद्धि के साथ न्याय अनैतिक हो गया है। किस प्रकार आत्महत्या और शराबखोरी से मृत्यु-संख्या में वृद्धि हुई है, किस प्रकार समय के पूर्व बच्चों का पैदा होना और अन्य योनि-संबंधी खराबियाँ बढ़ गई हैं, और किस प्रकार वेश्या-वृत्ति ने एक निश्चित संस्था का रूप अख्तियार कर लिया है। अपनी समीक्षा के अंत में उन्होंने निम्न सारगर्भित वाक्य कहा है—'तलाक-अदालतों की कार्यवाहियों से धन और आरामतलबी के दूसरे पहलुओं का पता लगता है। लंदन की सोसाइटी से सुपरिचित हमारे एक मित्र ने मुझको इतमीनान दिलाया कि लंदन से दूर ग्रामों में भी विभिन्न प्रकार की लीलाएँ अक्सर देखने में आती हैं, जिन लीलाओं के मुकाबले में रोम-साम्राज्य के पतित-से-पतित सम्राटों की क्रीड़ाएँ भी फीकी पड़ सकती हैं। युद्ध के संबध में भी मुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं है। सच तो यह है कि रोमन साम्राज्य के समय से ही यह एक संक्रामक रोग के समान हो गया है। पर अब निश्चय ही सब सभ्य लोगों में युद्ध के प्रति एक अनिच्छा की भावना पाई जाती है। तो भी शांति के लिए की गई बड़ी पुण्य-घोषणाओं को एक तरफ और विशाल शस्त्रीकरण के बोझ को दूसरी तरफ देखकर यही धारणा बनती है कि आज शासकवर्गों के निर्देशक सिद्धांतों में नैतिकता का सर्वथा अभाव है।'

अँगरेजों की छत्रच्छाया में हमलोगों ने बहुत-कुछ सीखा है। पर मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि हम होशियार नहीं रहेंगे तो हम स्वयं उन खराबियों के शिकार हो जायँगे जो भौतिकता के मर्ज के कारण आज ब्रिटेन में दिखाई पड़ती हैं। हम अँगरेजों से अपने संबंध से तभी लाभ उठा सकते हैं जब हम अपनी सभ्यता और अपनी नैतिकता को स्थापित रखें अर्थात् अपने महान् भूतकाल की डींगें मारने के बजाय हम अपनी प्राचीन नैतिक महत्ता को अपने जीवन में व्यक्त करें, ताकि हमारा जीवन ही हमारे भूतकाल का द्योतक हो। तभी हम ब्रिटेन का और अपना भला कर सकेंगे। यदि हम ब्रिटेन की इसलिए नकल करने लगें कि वह हमको शासक देता है तो हमारा भी और उनका भी पतन होगा। हमको आदर्शों से नहीं डरना चाहिए और न उन आदर्शों को ही अधिकाधिक मात्रा में कार्यान्वित करने से घबराना चाहिए। जब हम अपने पास मौजूद सोने से अधिक मूल्यवान सत्य को प्रदर्शित करेंगे, शक्ति और धन की तड़क-भड़क के बजाय निडरता दिखाएँगे और कोरे प्रेम के बजाय अधिक दानशीलता प्रदर्शित करेंगे, तभी वास्तव में हमें सच्चा आध्यात्मिक संतोष होगा। यदि हम अपने घरों, अपने महलों और मंदिरों में से धन द्वारा प्रदत्त खराबियों को दूर कर दें और उनमें नैतिकता की अच्छाइयों को प्रदर्शित करें तभी हम अपने विरुद्ध एकत्र सभी विरोधी शक्तियों को बिना बड़ी फौज का बोझ उठाए हुए पराजित कर देंगे। पहले हमको भगवान की छत्रच्छाया में जाना चाहिए, उसकी सचाई को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए और तब यह निश्चित मानिए कि हमको और सब-कुछ मिल जायगा। यही सच्चा अर्थ-शास्त्र है। ईश्वर करे कि आप और मैं इस कोष को सुरक्षित रखें और आप दैनिक जीवन में उन्हें कार्यान्वित करें।

—महात्मा गाँधी ('आर्थिक समीक्षा' से साभार)

३. जापान—जहाँ लोग हँसते-हँसते आत्महत्या कर डालते हैं!

वैज्ञानिकों का मत है कि आत्महत्या एक मानसिक रोग है। जब यह रोग मनुष्य के हृदय में पदार्पण कर जाता है, तभी वह आत्महत्या करता है। प्रत्येक देश और काल में आत्महत्या करना अपराध माना जाता रहा है और उसके लिए उचित दंड की व्यवस्था भी की गई है, किंतु जापान में प्राचीन काल से एक बहुत ही विचित्र प्रथा चली आ रही है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि जापान के निवासी हँसते-हँसते अपने प्राण ले लेना अपना धर्म और

कर्तव्य मानते हैं। आत्महत्या करने की इस प्रथा को 'हाराकिरी' कहा जाता है। जापानी भाषा में हारा का अर्थ पेट और किरी का अर्थ काटना होता है। ये लोग पेट काटकर आत्महत्या करते हैं।

जापान के सामंतशाही काल में इस प्रकार की आत्महत्या उच्च श्रेणी और बड़े परिवारों के अपराधी ही कर सकते थे। हाराकिरी वास्तव में जापान की प्रथा नहीं है—यह प्रथा मध्य युग में सैनिकों के बीच प्रचलित थी। उस काल में धनिक परिवारों के लोग शत्रुओं के हाथों में पड़कर अपमान सहने के बजाय हाराकिरी कर लेना अच्छा समझते थे।

हाराकिरी की प्रथा 'आशीकागा' के काल में आरंभ हुई और १४ वीं शताब्दी के अंत तक यह स्थिति हो गई कि जो व्यक्ति हाराकिरी करता था, वह बहुत ही संमानित और उच्च परिवार का समझा जाता था। हाराकिरी दो प्रकार की होती थी, एक तो यह बाध्य होकर की जाती थी और दूसरी, खुशी से।

बड़े परिवारों के अपराधी ही

इस प्रकार की आत्महत्या करने का एक विचित्र ढंग था। यदि कोई उच्च अधिकारी या धनिक अपराध करता था या देशद्रोही हो जाता था, तो उसके पास सम्राट् की ओर से एक फरमान आता था, जिसमें उस व्यक्ति से नम्रता और सहानुभूतिपूर्वक प्रार्थना की जाती थी कि उसको अपने जीवन का अंत करना है। वहाँ का मिकैडो (सम्राट्) इस फरमान के साथ जवाहरातों से जड़ा हुआ एक खंजर भी भेजता था। इसका अभिप्राय यह होता था कि यदि अपराधी चाहे तो हाराकिरी के लिए इसका उपयोग कर सकता है। फरमान में यह भी लिखा होता था कि उस व्यक्ति को कितनी अवधि के भीतर हाराकिरी करनी है। इस अवधि में वह परंपरा के अनुसार बहुत शानदार तैयारियाँ करता था। हाराकिरी करनेवाला व्यक्ति अपने भवन के बड़े कमरे में या किसी मंदिर में जमीन से तीन इंच ऊँचा एक चबूतरा बनवाता था। उसपर एक लाल कालीन बिछाई जाती थी। इसके बाद अपराधी अपने पद के अनुसार खानदानी वस्त्र धारण करता था और कालीन पर बैठ जाता था। उसके साथ एक और व्यक्ति भी बैठता था। यह व्यक्ति हाराकिरी में उसकी सहायता करता था। इसे कैशाकू कहते थे। फिर अन्य पदाधिकारी और मित्र गोलार्ध में उसके सम्मुख बैठ जाते थे। मिकैडो का प्रतिनिधि भी वहाँ होता था, जो एक मिनट की प्रार्थना के बाद उसको बड़े आदर से खंजर दे देता था। इसके बाद अपराधी सब लोगों के सामने अपने अपराध को स्वीकार करता था। हाराकिरी करते समय अपराधी अपनी कमीज की चौड़ी आस्तीनों को अपने घुटनों के नीचे दाब लेता था, जिससे वह मरने के बाद आगे को झुकाव होने के कारण पीछे की ओर न गिरे। जापान में मृत्यु के समय पीछे की ओर गिरना अपशकुन माना जाता है। एक क्षण बाद ही अपराधी खंजर को बाईं तरफ नाभि के नीचे पेट में घुसेड़ लेता था और उसे खींचता हुआ दाईं ओर तक ले जाता था। दाईं ओर लाने के बाद वह खंजर को ऊपर की ओर उठाता था और एक झटका देता था जिससे अंतड़ियाँ पूरी तरह कट जायँ। इसी समय उसका सहायक कैशाकू कूदकर उठता था और उसकी आगे झुकी हुई गरदन पर तलवार का वार कर देता था।

आत्महत्या से लाभ

इस समारोह के बाद रक्त से सना हुआ खंजर मिकैडो के पास प्रमाणस्वरूप ले जाया जाता था। वहाँ के कानून के अनुसार हाराकिरी करनेवाले को कुछ लाभ था। यदि हाराकिरी करनेवाला विद्रोही होता था और वह सम्राट् की आज्ञा से आत्महत्या कर लेता था तो उसकी आधी जायदाद ही जब्त होती थी। यदि वह स्वेच्छा से हाराकिरी करता था तो उसका कलंक मिट जाता था और उसकी सारी संपत्ति कुटुंबियों को मिल जाती थी।

जापान के लोग किसी राष्ट्रीय नीति का विरोध करने के लिए भी हाराकिरी कर लेते थे।

विचित्र प्रथाएँ

१८९१ में लेफ्टिनेंट टोकियोशी ने टोकियो में अपने पूर्वजों की कब्रों के सामने हाराकिरी की थी। उसने यह कदम इस बात के विरोध में उठाया था कि सरकार रूस के संभावित हमलों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर रही थी। रूस और जापान की लड़ाई के समय जब किश्नूयारू जहाज के कप्तान को व्लाडीवास्तक के मोर्चे पर हार होती दिखाई दी तब उसने हाराकिरी कर ली।

स्त्रियों में भी हाराकिरी करने की प्रथा प्रचलित थी, किंतु वे पेट में खंजर घुसेड़ने के बजाय गला काटती थीं।

कहीं-कहीं हाराकिरी का एक और ढंग भी प्रचलित था। जिस व्यक्ति को हाराकिरी करनी होती थी वह अपने मित्र या संबंधी को एक लंबी तलवार देता था और उसे तानकर खड़ी करने को कहता था। इसके बाद वह दूर से भागकर आता था और तनी हुई तलवार के ऊपर कूद पड़ता था। तलवार उसके पेट में घुसकर कमर के पार हो जाती थी।

प्रतिवर्ष १५०० हाराकिरी

पहले जापान में प्रतिवर्ष लगभग १५०० व्यक्ति हाराकिरी करते थे। इनमें से आधे स्वेच्छा से ही यह कार्य संपन्न करते थे।

एक बार एक उच्च परिवार के लड़के ने बड़े ही साहसपूर्ण ढंग से हाराकिरी की थी। वह अभी बीस वर्ष का भी नहीं हुआ था कि उसने यह भयंकर कार्य कर डाला। उसने पहले, रीति के अनुसार, बाईं ओर से दाईं ओर तक अपना पेट काटा, फिर उसने तीन बार बाईं ओर से दाईं ओर तक और दो बार छाती से पेटतक छुरे मारे। इसके बाद उसने छुरा अपने गले में आर-पार घुसेड़ लिया और दोनों हाथों का जोर लगाकर उसे गरदन की ओर से बाहर निकाल लिया।

जापान में हाराकिरी की प्रथा १८६८ में बंद कर दी गई थी; किंतु वहाँ स्वेच्छा से अबतक हाराकिरी की जाती है।

— रमेश [दैनिक 'आज' से साभार]

४. समाजवादी राज्य की ओर

नई दिल्ली में ९ नवंबर को राष्ट्रीय विकास-परिषद् में भाषण देते हुए प्रधान मंत्री ने कहा कि भावी भारत का जो चित्र उनके मस्तिष्क में है 'वह समाज का एक सर्वथा और संपूर्णतः समाजवादी चित्र है।' 'मैं इस शब्द को उसके अनुदार अर्थ में कतई प्रयोग नहीं कर रहा, बल्कि इस अर्थ में कर रहा हूँ कि समूचे समाज के हित में उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार और नियंत्रण हो।' अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के अजमेर-अधिवेशन ने भी पूर्णतः स्पष्ट कर दिया था कि एक सम्मिलित सहकारी स्वराज्य और मंगलकारी राज्य कायम करने के लिए 'मौजूदा सामाजिक ढाँचे को, जो कि अभी तक बहुत-कुछ लाभ-प्राप्ति की अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है, एक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में क्रमशः बदलना होगा।' प्रधान मंत्री ने कहा है कि मुनाफ़ा कमाने के व्यक्तिगत अथवा संगठित लालच के रूप में निजी उद्योग की वर्तमान धारणा आज 'बिल्कुल बेकार है' और यहाँ तक कि 'बदकार' भी है। किंतु, यदि 'मुख्य लक्ष्य स्पष्ट रखा जाय' तो निजी उद्योगों के लिए भी बहुत काफी गुंजाइश हो सकती है।

हम प्रधान मंत्री के इन कथनों का स्वागत करते हैं और उन्हें कांग्रेस और सरकार के मूल सिद्धांत समझते हैं। कुछ विरोधी नेताओं द्वारा लगातार इस बात के दोहराए जाने से हम तंग आ गए हैं कि कांग्रेस एक पूँजीवादी संगठन है और इसलिए समाजवादी विचारों और योजनाओं के खिलाफ है। यह गैर-जिम्मेदार बात है, और भद्दा राजनीतिक प्रचार है। कांग्रेस ने देश के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की और अब भारत की जनता के लिए जनतंत्रवादी एवं शांतिपूर्ण तरीकों से सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना उसका दृढ़ निश्चय है। हम पश्चिम या पूर्व के अन्य देशों के समाजवाद की नकल नहीं करना चाहते। एक देश द्वारा दूसरे देश के तौर-तरीकों की नकल कभी मुफीद न होगी। हर देश को अपनी निजी हालत और अपनी कौमी खसलत के मुताबिक अपनी जिंदगी का तौर-तरीका बनाना होगा। भारत ने तानाशाही तरीकों के खिलाफ जनतंत्रवादी राह से अपना नाता जोड़ा है। 'मेरा खयाल है कि आगे चलकर', प्रधान मंत्री ने कहा, 'जनतंत्रवादी और शांतिपूर्ण तरीका वक्त की बचत और उससे भी कहीं ज्यादा फल-प्राप्ति की दृष्टि से कामयाब साबित होगा।' महात्मा गाँधी ने भी हमें और दुनिया को यही पाठ पढ़ाया था। गलत तरीके अंत में श्रेष्ठ लक्ष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं। और, दरअसल हिंसात्मक 'छोटे रास्ते' सामाजिक या आर्थिक क्रांतियों में लाभकर नहीं होते। पिछले सात सालों में भारत ने जनतंत्रवादी संयोजन द्वारा आर्थिक प्रगति के क्षेत्र में उल्लेखनीय और ठोस नतीजे हासिल किए हैं। हमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है कि दुनिया के किसी भी देश से, जिसमें अमेरिका और रूस भी शामिल हैं, हमारे आर्थिक विकास की सफलता के साथ तुलना की जा सकती है। यह न भूलना चाहिए कि अमेरिका के पास बहुत ज्यादा अछूती धरती और प्राकृतिक साधन होते हुए भी

प्रथम श्रेणी के औद्योगिक राष्ट्र बनने में उसे १०० वर्ष लगे। रूस को, १९१७ की अक्टूबर-क्रांति के बाद, प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप बनाने में ही ११ वर्ष लगे। चीन में, नई कम्यूनिस्ट सरकार का खयाल है कि समाजवाद की मजबूत नींव बनाने में १५ से २० वर्ष लगेंगे। लिहाजा यह सोचना गलत है कि अधिनायकवादी आयोजन में जनतंत्रवादी आयोजन से जल्दी काम होता है। वास्तव में, हमारा दृढ़ मत है कि शांतिपूर्ण तरीके अधिनायकवादी प्रविधियों की अपेक्षा, अंत में ज्यादा फुर्तीले और ज्यादा टिकाऊ साबित होते हैं। पर, दूसरे देशों के आयोजन में दस्तंदाजी करने की हमारी कतई नीयत नहीं है और न हम चाहते हैं कि दूसरे देश हमारी जनतंत्रवादी प्रक्रिया और प्रयोजना में हस्तक्षेप करें।

लेकिन भारत की कल्पना के समाजवादी राज्य के सार को सदा अपने मस्तिष्क में रखना बहुत जरूरी है। यह अति आवश्यक है कि हमारे आयोजन का चित्र सदा स्पष्ट और साफ-साफ दिखाई दे। अ० भा० कां० कमिटी के अजमेर-अधिवेशन के प्रस्तावानुसार हमारी आर्थिक नीति के मूल उद्देश्य हैं—(१) अधिकतम उत्पादन, (२) पूरी रोजगारी और (३) सामाजिक एवं आर्थिक न्याय। हम बड़े उद्योगों, खास तौर पर बुनियादी किस्म के उद्योगों के खिलाफ नहीं हैं। लेकिन जहाँ तक हो सके, इन बड़े उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व हो और राज्य द्वारा ही वे व्यवस्थित होने चाहिए। जहाँ-कहीं निकट-भविष्य में बुनियादी उद्योगों का सामाजिक स्वामित्व संभव न हो, उनपर प्रभावपूर्ण सामाजिक नियंत्रण रखा जाना चाहिए। नए राजकीय उद्योग बनाने में, न कि पुराने साज-सामानवाले मौजूदा निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में, देश के साधन लगाए जाने चाहिए; हाँ, राष्ट्रीय हित में कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। जहाँ तक दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पादन करनेवाले उद्योगों का प्रश्न है, औद्योगिक सहकारी समितियों के रूप में उनके विकेंद्रीकरण के लिए पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए। जैसा कि प्रधान मंत्री ने राष्ट्रीय विकास-परिषद् में कहा था, बड़े पैमाने के उद्योगों की रोजगार देने की संभाव्य शक्ति बहुत ही सीमित है। बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा पूरी रोजगारी दिलाने के लिए उन उद्योगों में 'बेहिसाब' पूंजी लगानी होगी। 'मुझे रत्तीभर भी संदेह नहीं है,' श्री नेहरू ने कहा है, 'कि छोटे और कुटीर-उद्योगों पर जोर देकर ही रोजगारी की समस्या सुलझाई जा सकती है।' हम औद्योगिक क्षेत्र में शिल्प-विज्ञान-संबंधी प्रगति के विरुद्ध नहीं हैं। लेकिन वैज्ञानिक अनुसंधान के फल छोटे और कुटीर-उद्योगों को इस प्रकार उपलब्ध होने चाहिए ताकि मूल उद्देश्यों की उचित रूप से प्राप्ति हो सके। दूसरे शब्दों में, हम आर्थिक कार्यक्षमता, न कि केवल यांत्रिक कार्यक्षमता, के पक्षपाती हैं। यह जानना संतोषजनक है कि अंबर चरखा-नामक सबसे नई किस्म के चरखे द्वारा १५० करोड़ रु० की लागत पर करीब एक करोड़ लोगों को रोजगार मिल सकेगा और प्रतिव्यक्ति १२ आने रोजी दी जा सकेगी। यह इस प्रकार का श्रमवर्धक यंत्र है जिससे भारत-जैसे देश में बेरोजगारी या जरूरत से कम रोजगारी की समस्या को कारगर तौर पर हल करने में हमें मदद मिलेगी।

आचार्य विनोबा ने हाल ही में कहा है कि बिहार और देश के अन्य भागों में बाढ़ के प्रकोप से उन्हें इतना दुख नहीं है जितना कि इस बात से है कि ग्राम और कुटीर-उद्योगों की दशा बड़ी ही खराब है। हम अपनी आँखों के सामने कई ग्रामोद्योगों की दुर्दशा होते देख रहे हैं। खादी और हाथ-करघा का काम करनेवालों की दरअसल बहुत बुरी हालत है, हालाँकि पिछले कुछ महीनों में कुछ सुधार हुआ है। चावल की मिलों के खुले मुकाबले में हाथ से धान कूटने का धंधा क्रमशः कमजोर पड़ता जा रहा है। गाँव की तेल की घानियों की पैदावार तेल की मिलों के जोरदार मुकाबले में बंद होती जा रही है। चीनी की मिलों के सामने गुड़ और खाँड़सरी-उद्योग खत्म हुए जा रहे हैं। हमारा यह मतलब नहीं कि कपड़ा, चावल, तेल या चीनी की सब मिलें फौरन बंद कर दी जायँ। लेकिन, बड़े और छोटे उद्योग और ग्रामोद्योगों की पैदावार के दायरों के बीच हदबंदी करना निहायत जरूरी है। मसलन, जैसा कि योजना-आयोग का सुझाव था, खाने के काम में लाए जानेवाले तेल निकालने का काम पूरी तौर पर गाँव की घानियों के सुपुर्द होना चाहिए और गैर-खाद्य तेलों का काम मिलों को मिलना चाहिए। इसी प्रकार, धान कूटने का काम, पुष्टिकर आहार की दृष्टि से भी, हाथ से धान कूटनेवालों पर पूरी तरह छोड़ देना चाहिए। खादी और हाथकरघे के उत्पादन के लिए खास किस्म का कपड़ा

सुरक्षित रहना चाहिए। हमारा अंतिम लक्ष्य यही होना चाहिए कि सब हाथ-करघे अंबर चरखे-जैसे उन्नत चरखों की मदद से हाथ का कता हुआ सूत ही इस्तेमाल करें। हमारा विश्वास है कि अखिलभारतीय खादी और ग्रामोद्योग-बोर्ड इन विशेष समस्याओं पर विचार करेगा और उसकी सिफारिशों के मुताबिक सरकार शीघ्र ही अंतिम निर्णय देगी।

भारत में समाजवादी राज्य के आदर्शों को पाने के लिए शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन लाना भी आवश्यक है। एक ओर शिक्षित युवकों में बहुत बड़े पैमाने पर बेरोजगारी और साथ ही दूसरी ओर पंचवर्षीय आयोजन की कई महत्त्वपूर्ण योजनाओं को कार्यान्वित करने में प्रशिक्षित व्यक्तियों का प्रत्यक्ष अभाव एक ऐसा दुःखद विरोधाभास है जिसका आज हमें सामना करना पड़ रहा है। उदाहरण के लिए, हमें देहातों में बहुत-से डाक्टरों और इंजीनियरों की जरूरत है। जैसा कि प्रधान मंत्री ने विकास-परिषद् में कहा था, ग्राम-कार्यक्रमों को अमल में लाने के लिए डाक्टरों और इंजीनियरों के पूरे पाठ्यक्रम की कई साल तक की शिक्षा देने का भारत इतंजार नहीं कर सकता। चीन में, अल्पकालीन और दीर्घकालीन, दोनों प्रकार के पाठ्यक्रमों का प्रबंध है। हमें भी अपने देश में ऐसा ही करना चाहिए। 'मैं तो इस बात के लिए भी राजी हूँ', प्रधान मंत्री ने कहा 'कि आधे-सीखे या चौथाई-सीखे लोगों को काम में लगाया जाय, ताकि तबदीली के अरसे में भी उन्हें कुछ मिल सके।' निश्चय ही, हमें शैक्षणिक मापदंड तो कायम रखने ही होंगे, पर इस स्थिति का मुकाबला आपत्काल की भावना से करना होगा। प्रधान मंत्री ने आगे चलकर कहा—'मैं यह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि पर्याप्त मात्रा में प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव में आपकी सारी योजना ढह पड़ेगी।' हमें आशा है कि अब शिक्षा-प्रणाली और विकास-योजनाओं में पहले से अधिक समन्वय होगा ताकि समाजवादी अथवा सर्वोदय-राज्य की ओर हम तेज कदम से तरक्की कर सकें।

—श्रीमन्नारायण अग्रवाल ('आर्थिक समीक्षा' से साभार)



विश्व वार्ता

१. भारत

दक्षिण-पूर्व-प्रतिरक्षा-संघ एशियाई सुरक्षा के लिए कितना खतरनाक और घातक है, इसका स्पष्टीकरण राष्ट्रसंघीय जनरल असेंबली की भूतपूर्व अध्यक्षा श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित के एक लेख से हो जाता है जिसका प्रकाशन एक पत्रिका में किया गया है। इस लेख में बताया गया है कि यह कोई शांति-संघटन नहीं, बल्कि युद्ध की भूमिका है। इसका कारण यह बताया गया है कि दक्षिण-पूर्व-प्रतिरक्षा-संधि के अंतर्गत आवश्यकतानुसार सदस्य राष्ट्र एक दूसरे को युद्ध के सामान देंगे; किंतु सैनिक सामान ग्रहण करनेवाला राष्ट्र सैनिक सामान देनेवाले राष्ट्र के अधीन हो जायगा और संकट के समय भी अधीन राष्ट्र को सहायक राष्ट्र के इशारे पर कठपुतली की तरह नाचना पड़ेगा। यही कारण है कि भारत इस संधि को एशियाई स्वतंत्रता के भाग में बहुत बड़ा खतरा समझता है।

अणुशक्ति जहाँ विश्व का संहार कर सकती है, वहाँ वह लोक-कल्याण में भी सहायक सिद्ध हो सकती है। लेकिन सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है कि विश्व की महान साम्राज्यवादी शक्तियाँ अणुशक्ति का उपयोग नर-संहार तथा अपने साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा की तृप्ति के लिए करने की योजनाएँ बनाने में लगी हैं। भारत भी आज अणुशक्ति के विकास में लगा है; किंतु इसका लक्ष्य साम्राज्यवादी देशों से सर्वथा भिन्न और प्रतिकूल है। भारत जो सदा से शांति का प्रेरक और अग्रदूत रहा है, आज भी अणु की शक्तियों का उपयोग लोक-कल्याण के कार्यों में करने का प्रयास कर रहा है।

प्रधान मंत्री नेहरू ने सगर्व इस बात की घोषणा की है कि अणु-शक्ति के विकास में भारत सराहनीय प्रगति कर रहा है। आपने यह भी कहा है कि विश्व के पिछड़े देशों के लिए अणु-शक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है जिसके द्वारा वह अपनी औद्योगिक एवं आर्थिक उन्नति कर सकता है। आपने भारत की प्रगति के संबंध में यहाँ तक कह दिया है कि एशिया के एक-आध देशों को छोड़-कर इस कार्य में भारत की तुलना कोई नहीं कर सकता।

२. गोआ

गोआ में पुर्तगाली शासन का पाया लड़खड़ाता मालूम पड़ रहा है; फिर भी पुर्तगाली सरकार ने अपनी जिद पर अड़े रहने की कसम खा रखी है। एक लाख से अधिक रुपये प्रतिदिन सैनिकों के मद में खर्च किए जा रहे हैं और खर्च की इस रफ्तार ने पुर्तगाली सरकार के समक्ष भीषण आर्थिक संकट उपस्थित कर दिया है और पुर्तगाली अधिकारी इस आर्थिक संकट को जनता पर तरह-तरह के कर लगाकर पूरा करना चाहते हैं। पुर्तगाली अधिकारियों की इस अदूरदर्शिता को देखकर सरकारी कर्मचारी भी आशंकित हो उठे हैं और उन्हें अब इस बात का पूरा भय होने लगा है कि यदि स्थिति यही रही तो उन लोगों को वेतन मिलना भी मुश्किल हो जायगा।

गत २५ नवंबर को आजाद गोमंतक दल के नेता ने भी इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी है कि आगामी तीन महीने के अभ्यंतर गोआ पुर्तगाली शासन से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जायगा।

३. चीन

इधर लाल चीन ने तेरह अमेरिकियों को जो दंड दिया है, उसकी प्रतिक्रिया अमेरिकी सरकार पर बहुत हुई है और वह तिलमिला उठी है।

खबर में बताया गया है कि जनवादी चीन ने १३ अमेरिकियों को जेल भेजा है जिनमें एक को आजीवन कारावास का दंड दिया गया है। इनपर अमेरिकी जासूस होने का अभियोग है। इन कथित अमेरिकी जासूसों

के साथ चार चीनियों का भी मृत्युदंड दिया गया है। इनके अतिरिक्त चार चीनियों को आजीवन कारावास और एक को १४ वर्ष की सजा दी गई है। यह सजा सैनिक अदालत ने दी है और बताया गया है कि चीन की सुरक्षा पर खतरा उपस्थित करने के अपराध में इन्हें दंडित किया गया है।

अमेरिका ने लाल चीन की इस कार्रवाई का घोर विरोध किया है और जनेवा-स्थित प्रधान अमेरिकी वाणिज्य-दूत को इस कार्रवाई का जबर्दस्त विरोध करने का आदेश दिया गया है।

चीन में पुरुषों की संख्या स्त्रियों की संख्या से दो करोड़ अधिक है। चीन की नवीनतम जन-गणना के आँकड़े से पता लगा है कि चीन की जनसंख्या इस समय ६०, १६, ३८, ०३५ है। जनगणना का आँकड़ा संग्रह करने के लिए २५ लाख से अधिक अधिकारी इस काम में लगाए गए थे। आँकड़े के अनुसार उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम चीन की अल्पसंख्यक जातियों—मंगोलियाई, अईधर, म्याओ, तिब्बती आदि की संख्या ३५३२०३६० बताई गई है। इनमें तिब्बतियों की संख्या २७७५६२२ है और शुद्ध चीनियों की संख्या ५४७२८-३०५७ है। यह संख्या युद्धकाल से पूर्व के अनुमान से दस करोड़ अधिक है।

संख्यावृद्धि से चीनी सरकार कतई चिंतित नहीं है। श्री पाइ का कहना है कि जनता सभी प्रकार की पूँजी से बढ़कर है। उनका कहना है कि नव-चीन की सामाजिक प्रणाली की उन्नति से कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में इतनी वृद्धि हुई है कि उसका अनुपात जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से कहीं बढ़ गया है।

४. अमेरिका

पाकिस्तान और अमेरिका के बीच हुए सैनिक समझौते के अंतर्गत अमेरिका ने पाकिस्तान के पास सैनिक सहायता की पहली किश्त भेजी है जो कराची पहुँच भी चुकी है। अमेरिका ने सैनिक सहायता की जो पहली किश्त भेजी है उसमें भारी टैंक और अन्य साधन हैं।

एक समाचार में बताया गया है कि राष्ट्रसंघ-स्थित अमेरिकी प्रतिनिधि श्री हैनरी कैबट लाज ने कहा है कि राष्ट्रसंघ से अमेरिका का हट जाना उसकी अज्ञानता और राजनीतिक भूल होगा।

आपने यह भी कह दिया कि राष्ट्रसंघ में सोवियत रूस का जो रवैया है, उसे देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि लोगों को रूस के रुख से परिचित होने का अवसर मिल सका। लाल चीन की सदस्यता के संबंध में आपने बता दिया है कि साम्यवादी चीन को राष्ट्रसंघ में स्थान नहीं मिलेगा।

५. रूस

रूस के प्रधान मंत्री श्री मालेनकोव ने विश्व-राजनीति के संबंध में ऐसी भविष्यवाणी की है, जिसने साम्राज्यवादी देशों को हैरत में डाल दिया है।

ब्रिटिश संसदीय प्रतिनिधि-मंडल से बातें करते हुए रूसी प्रधान मंत्री श्री मालेनकोव ने यह कह दिया कि एक दिन संपूर्ण विश्व में साम्यवाद की स्थापना अवश्यंभावी है, किंतु इसके लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि यह काम युद्ध के द्वारा ही हो। साथ ही आपने यह भी कह दिया कि संपूर्ण संसार में कम्यूनिस्ट क्रांति होकर रहेगी।

राष्ट्रसंघ-स्थित रूसी प्रतिनिधिमंडल के नेता तथा सोवियत रूस के एक सुदृढ़ स्तंभ श्री विशिंस्की का देहावसान न्यूयार्क में ही हो गया। इनका शव मास्को ले जाया गया तथा प्रधान मंत्री श्री मालेनकोव तथा अन्य प्रमुख रूसी नेताओं ने उनकी अर्थी अपने कंधों पर उठाई। श्री विशिंस्की को स्वर्गीय लेनिन तथा स्तालिन की कब्र के पीछे रेड स्क्वायर में ही दफनाया गया।

६. पाकिस्तान

पाकिस्तान के प्रधान मंत्री श्री मुहम्मद अली ने कश्मीर के प्रश्न पर अपना पुराना राग अलापना पुनः प्रारंभ किया है और वे धमकियों के बल पर कश्मीर का हक भारत से छीन लेना चाहते हैं। साथ ही उन्हें इसकी भी आशा है कि कश्मीर का नारा देकर पाकिस्तान की भोली-भाली जनता को आसानी से गुमराह किया जा सकता है। इन्हीं सब बातों को लेकर श्री मुहम्मद अली ने यह कहना पुनः शुरू कर दिया है कि पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न को राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद् में भेजने के निर्णय पर पूर्ववत् ही दृढ़ है; लेकिन इसके साथ वे भारत को हय

कहकर गीदड़भभकी भी दिखाना चाहते हैं कि यदि श्री नेहरू का रुख अनुकूल रहा तो वे अपना निर्णय कुछ दिनों के लिए स्थगित रख सकते हैं।

अपनी बौखलाहट में श्री मुहम्मद अली ने यह भी कह दिया है कि भारत और पाकिस्तान की संयुक्त सुरक्षा असंभव है। इसके लिए आपने यह दलील पेश की है कि संयुक्त सुरक्षा के लिए सामान्य वैदेशिक नीति अथवा कोई सामान्य आधार की आवश्यकता है, किंतु पाकिस्तान तथा भारत की वैदेशिक नीति सर्वथा भिन्न है।

श्री मुहम्मद अली ने अपनी एक घोषणा में यह भी कहा है कि समस्त पश्चिमी पाकिस्तान को एक प्रशासकीय इकाई में सम्मिलित किया जायगा।

केंद्रीय पख्तून जिरगावे हिंद के प्रधान मंत्री श्री खाँ गाजी काबुली ने पश्चिम पाकिस्तान की एकीकरण-योजना को पख्तून-आंदोलन के विरुद्ध एक षड्यंत्र बताया है और कहा है कि पख्तून किसी भी स्थिति में इस एकीकरण-योजना में सम्मिलित नहीं होंगे, क्योंकि इस योजना का एक ही उद्देश्य है और वह है पख्तून-आंदोलन को दबा देना।

७. ब्रिटेन

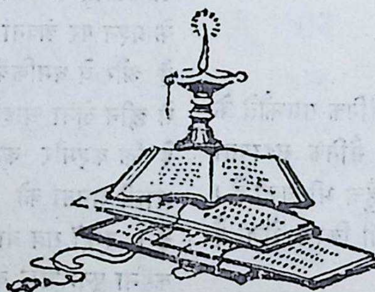
साम्राज्यवादियों की नीति कितनी कपटपूर्ण और घातक होती है, इसका ज्वलंत प्रमाण ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री चर्चिल द्वारा कामन सभा में दिया गया एक भाषण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए विश्वास-घात करना भी अपना परम कर्त्तव्य समझती हैं।

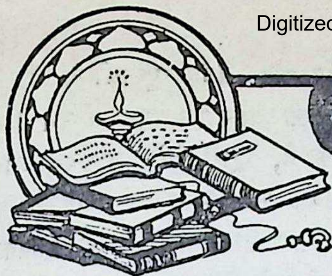
श्री चर्चिल ने कामन सभा में भाषण देते हुए एक रहस्य का उद्घटन किया कि विगत महायुद्ध में उन्होंने जर्मनी के नाजियों को यह परामर्श दिया था कि वे अपने पास शस्त्रास्त्र जमा रखें जिससे सोवियत रूस के विरुद्ध उनका उपयोग करने के लिए जर्मनी-सेना को वे दिए जा सकें। स्मरणीय है कि विगत महायुद्ध में रूस और ब्रिटेन में मैत्री-संधि हुई थी। इस मैत्री-संधि की आड़ लेकर चर्चिल भीतर-ही-भीतर जर्मनी को सोवियत रूस के विरुद्ध भिड़ा देना चाहते थे। यद्यपि चर्चिल की यह साजिश विगत महायुद्ध के समय भी प्रकट हो चुकी थी, और, आज तो यह और भी पुष्ट एवं प्रत्यक्ष हो गई। इस रहस्योद्घाटन पर विरोधी दल के सदस्यों ने कामन सभा में बड़ी कड़ी आलोचना की और इस विश्वासघात एवं नीति को विरोधी दल के सदस्यों ने चर्चिल की ऐतिहासिक भूल बताई और इसकी माँग की कि प्रधान मंत्री श्री चर्चिल १९४५ में जनरल आइसन हावर को भेजे गए सारे संदेशों को प्रकाशित करावें, क्योंकि इन संदेशों में जर्मन शस्त्रास्त्रों को एक जगह इकट्ठा करके रखने की बात थी, जिससे वे जर्मन सशस्त्र सैनिकों को विशेष अवसर में वापिस दिए जा सकें।

ब्रिटेन के प्रमुख समाचारपत्रों ने भी चर्चिल के इस भाषण की कटु आलोचना की है। चर्चिल-सरकार का समर्थक समाचारपत्र 'टाइम्स' ने भी इस नीति की निंदा की है।

श्री चर्चिल ने उक्त आशय का भाषण इसेक्स-स्थित अपने निर्वाचन-क्षेत्र वर्डफोर्ड में दिया था।

—दिनेशप्रसाद सिंह





पुस्तकालोचन

(१) आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व– लेखक–प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार; प्रकाशक—विजयकृष्ण लखनपाल, देहरादून; पृष्ठ-संख्या २६७ ; मूल्य--३)

(२) सेक्स का स्वभाव—लेखक मन्मथनाथ गुप्त; वितरक---आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या–२००; मूल्य – ३)

हमारे सामने आलोचनार्थ ऊपर लिखी दो पुस्तकें हैं—प्रथम का संबंध धर्म और दर्शन से है, द्वितीय का यौन-मनोविज्ञान से; प्रथम में अध्यात्म के सर्वोपरि महत्त्व की घोषणा है, द्वितीय में यथार्थ को ही व्यावहारिक जीवन का आधार मानने का आग्रह; प्रथम में लेखक का दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता और आत्म-संयम को महत्त्व देता है, द्वितीय में वैयक्तिक तुष्टि और इंद्रिय-सुख द्वारा संतुलित, स्वस्थ जीवन की उपलब्धि को; प्रथम की विषय-प्रतिपादन शैली में प्रचार की व्यापकता है, द्वितीय में वैज्ञानिक खोज और तथ्य-संग्रह की प्रवृत्ति की गहनता। ये दोनों पुस्तकें, फिर भी, एक साथ विचारणीय हैं, क्योंकि ये हमारे वर्त्तमान जीवन के ऐसे दो अनिवार्य अंगों से संबंध रखती हैं जो बहुत-कुछ एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। अध्यात्म और यौन-विज्ञान के प्रति उचित दृष्टिकोण की आज जितनी जरूरत है, उतना ही उसका अभाव है। इस दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों का प्रतीकात्मक महत्त्व है।

आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व

'आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व'-नामक पुस्तक में जो विभिन्न अध्याय आए हैं, उनसे पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता सिद्ध होती है। वे अध्याय हैं—आर्य-संस्कृति का केंद्रीय विचार, विचारों के संघर्ष में आर्य-संस्कृति का दृष्टिकोण, निष्काम कर्म, कर्म का सिद्धांत, आत्मतत्त्व, स्वार्थ-परार्थ-विवेचन में 'अहंकार' तथा 'आत्मतत्त्व', विश्वबंधुत्व का आधार 'आत्मतत्त्व', जीवनयात्रा के चार पड़ाव, नव मानव का निर्माण, वर्ण-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, उपसंहार। सभ्यता और संस्कृति का अंतर भौतिक उपादान और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के अंतर के रूप में मानते हुए लेखक ने अध्यात्म-तत्त्व को आर्य-संस्कृति के केंद्रीय विचार के रूप में स्वीकार किया है। राजनीतिक-अर्थनीतिक विचारों से अध्यात्म के संघर्ष की समस्या का समाधान लेखक यह मानता है कि आर्थिक (भौतिक) आवश्यकताएँ प्राथमिक हैं अवश्य, पर वे चरम नहीं। उनकी पूर्ति कर मनुष्य को अध्यात्म-क्षेत्र में निरंतर बढ़ना है—आध्यात्मिक प्रगति में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। श्रीमद्भगवद्गीता के निष्काम-कर्म-सिद्धांत की सोदाहरण व्याख्या पांडित्यपूर्ण तो नहीं, किंतु गीता-तत्त्व को समझने में सहायक कहा जा सकता है। गीता में वर्णित भगवान् के विराट् रूप का लेखक ने रूपकात्मक अर्थ ग्रहण किया है—'अर्जुन को मानों दीखने लगा कि कर्म-चक्र में पड़कर भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र, राजे-महाराजे विश्व के नियामक की मानों दंष्ट्रा में पिसते चले जा रहे हैं।' उत्प्रेक्षा अलंकार के संभावनावाचक पद 'मानों' का दो-दो बार प्रयोग यद्यपि भाषा की शिथिलता का द्योतक है, तथापि इससे रूपकात्मक अर्थ के संबंध में लेखक का मंतव्य अधोरेखांकित अवश्य होता है। कर्म के सिद्धांत की वैज्ञानिक व्याख्या की चेष्टा का श्रेय तो लेखक को दिया जा सकता है, किंतु उस चेष्टा में सफल होने का श्रेय नहीं। कारण, न तो वैज्ञानिक तथ्यों की पूरी जानकारी लेखक को है, ऐसा विश्वास जम पाता है, और न लेखक विचार-प्रतिपादन की वैज्ञानिक प्रणाली को अपना पाया है, ऐसा मानना संभव दीखता है। विज्ञान की 'वंश-परंपरा' और 'परिस्थिति' (Heredity and Environment) वाले सिद्धांत के खंडन के लिए जो तर्क दिए गए हैं, वे बाल-चेष्टा के समान हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। ये तर्क व्यासगद्दी अथवा सांप्रदायिक मंच पर से भले ही जनसमूह को

सम्मोहित करने के काम में लाने योग्य हों, किंतु विज्ञान की दुनिया में इनका कोई मोल नहीं। देखिए—'वर्त्तमान विज्ञान यही मानता है। परंतु क्या ऐसा हो सकता है? क्या विज्ञान कार्य-कारण के नियम को छोड़ सकता है? जो विज्ञान अभाव से भाव का उत्पन्न होना, और भाव का अभाव में चला जाना नहीं मानता, वह चेतना के इस जन्म में एकाएक अकारण उत्पन्न होने और एकाएक समाप्त होने को कैसे मान सकता है? परंतु क्या पूर्वजन्म को न मानना चेतना का अकारण उत्पन्न होना और अकारण ही नष्ट हो जाना नहीं है?' कोई वैज्ञानिक—मैं कल्पना करता हूँ—सहज ही कह सकता है, 'जी नहीं। पुनर्जन्म को न मानकर भी चेतना की उत्पत्ति अकारण नहीं मानी जाती। हाँ, कारण जो आप बताते हैं, उनकी जगह कुछ और हो सकते हैं।'

यहाँ पुनर्जन्म के सिद्धांत का खंडन मेरा उद्देश्य नहीं, वह ठीक भी हो सकता है। किंतु वैज्ञानिक धरातल पर यदि उसका अध्ययन करना है तो उसके लिए वैज्ञानिक पद्धति—अवलोकन, प्रयोग, तथ्य-संग्रह, कार्य-कारण-संबंध-निरूपण, परिणाम की अवस्थाओं से क्रमिक संक्रमण की पद्धति ही एकमात्र स्वस्थ दिशा है।

मेरा आशय यह नहीं कि पुस्तक में गंभीरता और पांडित्य का नितांत अभाव है। गंभीरता भी है और पांडित्य भी। जो लेखक अपनी पूरी सांस्कृतिक परंपरा के मूल तत्त्वों को सिलसिले से उपस्थित करने में सफल हो सकता है, वह पंडित है अवश्य; और गंभीर विचारक भी है। दर्शन-शास्त्र की विविध गुत्थियों को अत्यंत सरल ढंग से प्रस्तुत करना तथा दार्शनिक मत-मतांतरों के महासमुद्र से मूल-तत्त्व के मोती निकाल लाना कोई साधारण पांडित्य और चिंतन-शक्ति का काम नहीं। मैं सिर्फ इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि इस पुस्तक में जहाँ विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति की दुहाई देकर प्राचीन शास्त्रीय अथवा दार्शनिक मान्यताओं की पुष्टि की गई है, वहाँ भ्रम के लिए कम अवकाश नहीं।

अतएव, यदि पाठक इस दृष्टि से सावधान होकर पुस्तक को पढ़ें तो उन्हें इसमें प्रचुर उपयोगी विचार-सामग्री मिलेगी, मुझे इसमें संदेह नहीं।

सेक्स का स्वभाव—दूसरी पुस्तक 'सेक्स का स्वभाव' में मानों इस अवैज्ञानिक विचार-पद्धति को बदला सधाया गया है। यौन-जीवन-संबंधी पुस्तकों के प्रति लोगों की बढ़ती हुई रुचि एक ओर इस संबंध में उनकी स्वस्थ जिज्ञासा का द्योतक है, दूसरी ओर तत्संबंधी ज्ञान की वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता का। मुसीबत यह है कि इस विषय पर कलम उठानेवालों में कम लेखक ऐसे हैं जो पाठकों को हल्की उत्तेजना अथवा कृत्रिम तुष्टि प्रदान करने के लोभ को संवरण कर विषय को अनासक्त भाव से, वैज्ञानिक दृष्टि से सामने रखने का प्रयत्न करते हैं। मन्मथनाथ गुप्त, किंतु, ऐसे लेखकों में माने जा सकेंगे। प्रस्तुत पुस्तक में उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक इतना है कि वह व्यावहारिक धरातल पर वर्तमान भारतीय पाठक को, मुझे भय है, स्वीकार्य नहीं भी हो सकता है। यौन-जीवन के व्यवहारपक्ष की अपेक्षा उसके मनोवैज्ञानिक तथ्यों की छानबीन तो ग्रंथ का एक ऐसा पहलू है जिससे उसका धरातल ऊँचा होता है, किंतु जहाँ-कहीं भी व्यावहारिक यौन-संबंधों की चर्चा है, वहाँ विचार सर्वत्र और सर्वदा व्यवहार्य नहीं, चाहे वे वैज्ञानिक कितना भी क्यों न हों। कारण, यौन-भाव को केवल व्यक्ति-चेतना के रूप में देखा गया है, सामूहिक जीवन के परिवेश और मर्यादा से उसके सघन संबंध की अवहेलना की गई है। इस अतिवैज्ञानिकता का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय परंपरा में पला तथा मर्यादित यौन-जीवन के संस्कारों में स्नात पाठक लेखक के कतिपय मंतव्यों से सहमत नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए लेखक का यह विचार लिया जा सकता है कि आत्यंतिक इंद्रिय-निग्रह या यौन-संयम द्वारा शरीर एवं मन की शक्तियों का विकास नहीं, वरन् ह्रास होता है तथा यौन-भावना का उन्नयन सामान्यतः संभव ही नहीं है। भारतीय पुराण और इतिहास की गवाही तो इस विचार के विरुद्ध है ही, वर्तमान काल में कला, साहित्य, विज्ञान आदि के क्षेत्रों में विशिष्टता प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों के जीवन की निकट से जानकारी द्वारा भी इस विचार का खंडन ही होता है। गाँधी के इस देश में ही नहीं, अन्यत्र भी यौन-उन्नयन के उदाहरण उतने ही पर्याप्त हैं, जितने लेखक द्वारा दिए गए महापुरुषों द्वारा मुक्त यौनाचार के उदाहरण।

लेखक पाश्चात्य विचारकों से ही विशेष प्रभावित है। अतः पाश्चात्य दृष्टिकोण से ही उसने यौन-भावना के स्वरूप का प्रकाशन किया है। इस एकांगिता के बावजूद भी

पुस्तक अपनी गहन विचारात्मकता, वैज्ञानिक तथ्य-चयन तथा विषय के मूल तत्त्वों की विस्तृत एवं गंभीर व्याख्या के कारण प्रत्येक वयस्क पाठक के पढ़ने योग्य है।

—शिवनंदन प्रसाद

आग और पानी—लेखक—श्री रघुवीरशरण 'मित्र'; पृष्ठ-संख्या ५०८; मूल्य—७)

प्रस्तुत पुस्तक एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसके प्रधान नायक चाणक्य हैं। इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रेमियों से चाणक्य का चरित्र छिपा नहीं है। चाणक्य ने एक साधारण ब्राह्मण होकर भी, भारत को राष्ट्र और धर्म के एक ही झंडे के नीचे लाकर सुरक्षित खड़ा कर दिया था। हाँ, विशाल जनतंत्र की स्थापना के पीछे उनकी वैयक्तिक प्रतिशोध की भावना भी उतनी ही प्रबल थी। अपने पिता श्री चणक की हत्या का प्रतिशोध मगधसम्राट् महानंद से लेने की धुन ने ही चाणक्य को आगे बढ़ाया, पर लक्ष्य की परिमिति वहीं नहीं थी, वरन् चंद्रगुप्त के अधीन संपूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाकर ही चाणक्य को चैन मिला और अपने इस स्वप्न को साकार बनाने में चाणक्य को बड़े-बड़े त्याग करने पड़े; अपनी इच्छा, भावना और यहाँ तक कि अपनी प्रेमिका सुवासिनी तक का उन्होंने परित्याग कर दिया। और, अंत में मानव के कल्याणार्थ आग और पानी पर विजय पाने के लिए आग और पानी में ही वे समाहित हो गए। ये ही हैं इस उपन्यास की कथा की मूल रेखाएँ।

ऐतिहासिक कथावस्तु को विद्वान् लेखक ने बहुत ही रोचक और सरस ढंग से लिखा है। मुझे यह देखकर बड़ा ही संतोष हुआ कि लेखक ने बहुत अंशों में ऐतिहासिक तथ्यों की मर्यादा अक्षुण्ण रखी है। हाँ, कहीं-कहीं थोड़ी कल्पना का भी पुट है जो कथा-विस्तार और कथा-माधुर्य में बल ही देता है।

समष्टि में व्यष्टि का निहित हो जाना ही व्यष्टि की परिपूर्णता का लक्षण है। चाणक्य का जीवन इसका जीता-जागता उदाहरण है और विद्वान लेखक ने इस भाव की व्याख्या और पुष्टि मनोहारिणी रीति से की है। आज के युग का भी तो यही रोना है। काश, आज के भारत को भी चाणक्य-जैसा ही व्यक्ति मिल पाता!

भाषा तो भावानुकूल उतर सका है, पर मेरी समझ में भाषा में कुछ निखार की आवश्यकता है; क्योंकि विद्वान् लेखक ने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका प्रचलन हिंदी में मान्य नहीं; यों भाषा में माधुर्य और प्रवाह दोनों हैं और सबसे बड़ी बात है इसकी उत्सुकता। एक बार इस उपन्यास को हाथ में लेने पर बस एकमात्र यही इच्छा रहती है कि कैसे इसे जल्द खत्म कर लें। उपन्यास की सफलता का यह मापदंड है। छपाई, सफाई अच्छी कही जा सकती है; परंतु प्रूफ की अशुद्धियों के अभिशाप से इसे मुक्त नहीं कहा जा सकता।

—नरेंद्रनारायण लाल

ये शूल-फूल—रचयिता—श्री रामेश्वर झा द्विजेंद्र, एम० ए०; प्रकाशक—'रश्मि-प्रकाशन', भागलपुर; पृष्ठ ६६; मूल्य—२)

हिंदी के राष्ट्रभारती के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होने के उपरांत यह उत्तरदायित्व आलोचकों के कंधों पर आ गया है कि वैसी कृतियों या साहित्यिक व्यक्तियों को प्रकाश में लाएँ, जो अपनी आंतरिक शक्ति और प्रतिभा-किरणों के कारण राष्ट्रभाषा के भंडार को समृद्ध कर सकें। हिंदी की सीमा आज भारत के प्रत्येक प्रांत को आलिंगन करती है। आज अनजान दिशाओं से नई-नई प्रतिभाएँ अपनी स्वप्न-किरणों को हिंदी के विशाल क्षेत्र में फैला रही हैं। पर, इसके पहले कि हम नई प्रतिभाओं को देखें, हमें उन शक्तिशाली स्तंभों को देखना है, जिन्होंने पिछले पच्चीस वर्षों से भारती की अविराम अर्चना अपने काव्य-सुमनों से की है। पंत, प्रसाद, निराला, द्विज, वियोगी और प्रभात का यदि हम नाम लेते हैं तो उसी साँस में हमें श्री रामेश्वर झा 'द्विजेंद्र' का भी नाम लेना पड़ता है। यह कुछ अतिशयोक्ति नहीं। इसके विशेष कारण हैं। प्रचार कम होते हुए भी श्री द्विजेंद्र ने वाणी-वंदना में जो साधना के प्रदीप जलाए हैं, वे अमिट और अक्षय हैं। साहित्य के अनुसंधानकर्त्ता इसे खोजकर साहित्यानुरागियों के सम्मुख रख सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक—कविता-संग्रह—'ये शूल-फूल' में द्विजेंद्रजी की स्फुट कविताएँ संगृहीत हैं। ये कविताएँ, विश्वास मानिए, उन दिनों लिखी गई थीं, जब छायावादी युग अर्ध-विकसित ही था। निःसंदेह इसमें कुछ नई रचनाएँ भी जोड़ दी गई हैं। इस पुस्तक की भूमिका में संकेत करते हुए हिंदी के प्रसिद्ध कवि और वक्ता प्रिंसिपल द्विज लिखते हैं—हमें 'ये शूल-फूल' भेंट करनेवाले कवि

द्विजदजी साहित्य और साहित्यशास्त्र के गंभीर विद्वान होकर भी उन प्रकृत कलाकारों में हैं, जिनके हृद्गत भाव अपने-आप छंदों में ढलते चलते हैं।'

श्री द्विजेंद्र के संबंध में द्विजजी की यह स्थापना जहाँ अनुभव और ज्ञान प्रेरित करती है, वहीं यह तर्कसंमत भी है। द्विजेंद्रजी की कला में एक सहजता है; जो नदी की धारा की तरह बहती है और उनकी विद्वत्ता इतनी गहरी है कि भावनाओं की सहजता ही भारी दीखने लगती है। फिर भी, गति में कहीं बाधा-बंधन नहीं। इतना सत्य है कि उनके काव्य के माध्यम से वैयक्तिक भावनाएं अधिकतर प्रकाश पाती हैं। पर, उन भावनाओं की गंभीरता उन्हें सार्वदेशिक बना देती है। जो जीवन के संघर्ष में ही पड़ा रहा हो, जिसने आरंभ से आजतक मात्र स्वेद का ही स्वाद जाना हो, उसकी निम्नलिखित ये पंक्तियाँ जीवन के पराजित क्षणों को कितना उत्साह और आस्थामय करती हैं, यह सिद्ध आलोचक ही बता सकते हैं। मैं तो केवल पंक्तियों को आपके सामने रख दूँगा—

संघर्ष में विश्राम क्या ?
जब खुल चली तरणी, भला,
तब शांति क्या—आराम क्या ?
माना, भयंकर धार है,
विक्षुब्ध पारावार है
फिर भी तरी गुरु भार लेकर
जा रही उस पार है।
पर, भीत होने से चलेगा काम क्या ?

वैयक्तिक भावनाओं से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक स्वप्न-चित्रों के सृजन में जब कविवर द्विजेंद्र लीन होते हैं, तब उनकी काव्य-शैली, भावाभिव्यंजना, शब्दों की झंकार और चित्रमयता इतनी सुंदर और मनोहारी हो उठती है कि वैसी रचनाओं को हिंदी की श्रेष्ठ कविताओं में निर्विवाद रखा जा सकता है। उनकी 'सृजनमयी' इसी श्रेणी की एक कविता है, जिसमें नारी के प्रति कवि ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है—

तुम संस्कृति का पाथेय,
सत्य-शिव-सुंदर, नित विज्ञेय,
तुम्हीं हो ध्यान—चिरंतन ध्येय,
कहूँ फिर कैसे अबला—नारी ?
अयि सृजनमयी सुकुमारी !

जहाँ प्रकृति का आलंबन लेकर कवि ने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है, वहाँ उनकी काव्यगत भावनाएँ उदात्त हो उठी हैं और एक प्रकार की अलौकिकता का भान होने लगता है। पंत की शैली पर कभी-कभी हम 'कांत पदावली' का आरोपण करते हैं, पर द्विजेंद्रजी की कुछ कविताएँ इस प्रकार की झंकारमयी शैली और कोमलकांत पदावली में लिखी गई हैं कि पढ़ते ही हृदय भावमुग्ध हो उठता है। 'अभिरामा रजनी' इसी कोटि का एक गीत है। आद्योपांत यह कविता कोमल भावनाओं से भरी हुई है। चित्र भी इतने स्पष्ट उतर आए हैं कि कवि के चित्र खींचने की शक्ति पर गर्व होता है।

अभिरामा रजनी चली गई।
कुछ छोड़ व्योम में चरण-चिह्न,
मधुयामा रजनी चली गई।।

यों तो सारा संग्रह ही ऐसी कविताओं से भरा हुआ है जो प्रशंसनीय काव्य-शैली के उदाहरण हो सकती हैं। पर, जहाँ पाठक उनकी आंतरिक वैयक्तिक भावनाओं के निकट पहुँचता है, वहाँ मर्माहत-सा हो जाता है। जो शक्ति-पुंज हो, वह जीवन-पथ पर चलते-चलते थकान का अनुभव करने लगे और वैसी ही भावनाओं को शब्दों में बाँधकर पाठकों के सम्मुख रखे तो सचमुच दृश्य करुण हो उठता है। 'मधुयाचना' में कवि अपने म्रियमाण प्राण में ऐसे संजीवन की आकांक्षा करता है, जो उसे नई शक्ति, नया गान और नए छंद दे सकें—

मधुपान चाहता हूँ।
म्रियमाण हो चला हूँ, अनुप्राण चाहता हूँ।

श्री द्विजेंद्र हिंदी के एक शक्तिसंवलित कवि-प्रतिभा हैं, जिनके गीत आज बीसों बरसों से हिंदी-जगत् को अनुप्राणित करते आए हैं। उनके स्वप्न-चिंतन में गहराई है, शैली में प्रौढ़ता है और शब्दों में खींच सकने की शक्ति है। उनकी और पुस्तकें जो आगामी वर्षों में प्रकाशित होनेवाली हैं, उनके स्थान को और भी सुदृढ़ करेंगी और कलाकारों के हृदय को आप्यायित—ऐसा मेरा विश्वास है।

—हरेंद्रदेव नारायण

अनमोल साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुष	पं० छविनाथ पाण्डेय	३॥)
माँ की ममता	”	२॥)
कैदी की पत्नी	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
मीमांसा	श्री अनूपलाल मंडल	२॥)
दर्द की तस्वीरें	”	२)
समाज की वेदी पर	”	१॥)
बुझने न पाय	”	४)
वे अभागे	”	५)
रूप-रेखा	”	१॥)
सविता	”	३)
साकी	”	१॥)
बूचड़खाना	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)
लहरों के बीच	श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त	२॥)
अविरल आँसू	महंत धनराजपुरी	५)
सरस्वती की आत्महत्या	श्री रमण	२)

कहानी

लाल तारा	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
संसार की मनोरम कहानियाँ	”	१॥)
माटी की मूरतें	”	१॥)
प्रतिमा	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२॥)
रात की रानी	सुश्री उषादेवी मित्रा	२)
भीखू की टोली	सुश्री शारदा वेदालंकार	१)
हरदम आग	श्री कृष्णनन्दन सिनहा	२॥)
समानान्तर रेखाएँ	श्री राधाकृष्णप्रसाद, एम० ए०	२॥)
गौने की विदा	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	२)
सूरतें और सीरतें	प्रो० कपिल	१)
आज का प्रेम	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	२॥)

प्रहसन

दो घड़ी	श्री शिवपूजन सहाय	॥।)
कहकहा	श्री सरयूपंडा गौड़	१)
ससुराल की होली	”	२॥)
हँसो-हँसाओ	”	१॥)

नाटक

अम्बपाली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
तथागत	”	२)
वर्धमान महावीर	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)

पारिजात-मंजरी	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	१॥)
संस्कृति की झलक	श्री रमण	१॥)
जय	श्री रासविहारी लाल	२)
नवयुग का प्रभात	श्री उग्रमोहन झा	२)

यात्रा

भूमण्डल-यात्रा	श्री गोपाल नेवटिया	१॥।)
आज का जापान	भदंत आनंद कौसल्यायन	२॥)

प्रबन्ध-साहित्य

संस्कृत का अध्ययन	राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	२)
आगे बढ़ो	पं० छविनाथ पाण्डेय	१॥)
जीवन की सफलता	”	॥≡)
साहित्य-समीक्षा	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	२॥।)
दुग्ध-विज्ञान	श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'	१)
बौद्धधर्म के उपदेश	धर्मरक्षित	२)
निर्माण के चित्र	श्री रमण	१)
प्राणों की बाजी	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय	१॥)
हमारी सांस्कृतिक एकता	श्री रामधारी सिंह दिनकर	१॥।)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)

संकलन

गाँधी-अमृतवाणी	श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	१॥।)
संस्कृत-लोकोक्ति-सुधा	श्री जगदम्बाशरण राय	१॥।)

जीवनी

आत्म-कथा	राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद	१२)
कार्ल मार्क्स	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)

काव्य

कैकेयी	श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'	३)
कर्ण	”	१॥)
रश्मिरथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५)
धूप और धुआँ	”	२॥)
इतिहास के आँसू	”	३)
मधुविन्दु	श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर'	१)
नारायणी	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
द्रोण	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	१॥)
प्रेमगीत	श्री आरसीप्रसाद सिंह	२)

संस्मरण

बापू के कदमों में — राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद — ५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान — प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र — ६)
भारतीय संविधान और शासन — प्रो० विमलाप्रसाद — ६।।)

नीति-शास्त्र

नीति-शास्त्र — श्री क्षेमधारी सिंह — २।।)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक-शास्त्र — प्रो० दिवाकर झा — ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास — प्रो० मोतीचन्द गोविल — ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास — " — २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास — माननीय श्री रामचरित्र सिंह — २।।)
विश्वज्ञान-भारती — श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' — १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में — श्री शिवपूजन सहाय — १।।)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा — संपादक-मंडल — ।।=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है — " — ।।=)
हमें जानना चाहिए — " — ।।=)
किसान और मजदूर — " — ।।=)
हमारा कर्त्तव्य — " — ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा — " — ।।)
पशुपालन और भारत का पशुधन — " — ।।)
बिहार-पंचायत-राज और उसके अधिकार — " — ।।)
फल तथा सब्जीसंरक्षण — श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा — १।।।)
फलोत्पादन — " — १।।)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना — प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव — २।।)
काव्य और कल्पना — प्रो० रामखेलावन पाण्डेय — ३।।)
निर्गुण काव्यदर्शन — प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी — ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ — चित्रकार—श्यामलानन्द — २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग — प्रो० हरिमोहन झा — १।।)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।।)
नवरत्न — " — ।।।)
कथा-कहानी — " — ।।।)
सीख की बातें — " — ।।।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ — श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' — १।)
मूर्खों की कहानियाँ — " — १।)
मनोरंजक कहानियाँ — " — १।)
समुद्र के मोती — " — १।)
शेर का शिकारी — श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — ।।।)
लहरदार पूँछ — श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
नकली सिंह — " — ।।।)
ऊँचे ऊँट — " — ।।।)
साँढ़ और बेंग — " — ।।।)
चोर राजा — श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
दालिम कुमार — श्री शिवस्वरूप वर्मा — ।।।)
सीत-बसंत — " — ।।।)
हितोपदेश की कहानियाँ — श्री शशिनाथ झा — १।।)
मामाजी — " — ।।।)
रूसी जीवट की कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १।।।)
सत्तू में भैंस — सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी — ।।।)
जादू की वंशी — श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त — ।।।)
जादू का थैला — श्री जगदानन्द झा — ।।।)
काजी घोड़ा — " — ।।)
कासिम का चप्पल — " — ।।)
चालाक मुर्गी — " — ।।)
सियार का न्याय — " — ।।)
चाँद का दूत — " — ।=)

दादा का ढोल — श्री जगदानन्द झा — |=)
गधे की सूझ — " — |=)
समझदार मेंढ़क — " — |=)
बेटे हों तो ऐसे — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — |||)
बेटियाँ हों तो ऐसी — " — |||)
अनोखा संसार — " — ||=)
रोचक कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १|)
राजकुमारी का व्याह — श्री दयाभानु 'अलख' — १)
अनोखे देश में — श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग' — |||)
किंगकांग — " — |||)
सोने का कीड़ा — " — |||)
रिपवान विंकिल — " — |||)
जंगल बोलता है — " — १)
घरौंदा — श्री गोविन्दशरण, एम० ए० — १||)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ — श्री अनूपलाल मण्डल —भाग, १ |=)
भाग, २ |=); भाग, ३ ||=); भाग, ४ ||=)
इनके चरण-चिह्नों पर — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — |||)
माँ के सपूत — श्री शिवपूजन सहाय — ||-)

भौगोलिक कहानी

अपना देश — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — भाग १-|=, भाग २-||)

चित्रित कहानी

गोल-गपोड़े — श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' — |||)
ताक-धिनाधिन — " — |||)

चित्रित लोरी

आ री निंदिया — श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' — |||)
हँसी-खुशी — " — |||)

ऐतिहासिक कहानी

रत्नाकर — श्री शशिनाथ झा — १)
अष्टदल (दो भाग) प्रत्येक भाग — " — |=)
संक्षिप्त-रामायण-कथा — श्री नागार्जुन — १||)
बाल-महाभारत — श्री चन्द्रमाराय शर्मा — १)
चित्तौड़ का साका — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' — |||)

अमर कथाएँ — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १, |=)
भाग २, |=), भाग ३, |=), भाग ४, |≡)
हम इनकी संतान हैं — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
दो भाग, प्रत्येक भाग ||-)

सामान्य ज्ञान

छात्र-जीवन — श्री फूलदेवसहाय वर्मा — १|)
क्यों और कैसे ? — श्री जगदानन्द झा — १||)
प्रकृति पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — भाग १-||=)
भाग २-||=)||

यात्रा-वर्णन

सिन्दबाद की समुद्र-यात्रा — श्री जगदानन्द झा — १)
पृथ्वी पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी — भाग १-||-)||
भाग २-||=)||
विचित्र यात्रा — श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा — १)

कविता

मिर्च का मजा — श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' — |||)
पेटू पाँड़े — श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' — |||)
खट्टे हैं अंगूर — श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' — |||)
वीर बालक — श्री गंगाप्रसाद 'कौशल' — १)

उपन्यास

आदमी — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ||)
देशद्रोही — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ||)

रेखाचित्र

कुछ सच्चे सपने — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ||=)

जीवनी

चाणक्य — श्री मथुराप्रसाद दीक्षित — |=)
अशोक — श्री वीरेन्द्र नारायण — |=)
शिवाजी — " — |=)
लोकमान्य तिलक — श्री शुकदेव राय — ||)
लाला लाजपतराय — " — ||)
हिन्दी के प्राचीन कवि — " — ||)

हिन्दी के सात महारथी	"	॥)
महात्मा गान्धी	पं० छविनाथ पाण्डेय	॥।)
विद्रोही सुभाष	"	॥)
राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद	"	॥)
संसार के पथ-प्रदर्शक	"	१।)
महर्षि रमण	श्री अनूपलाल मंडल	॥।)
श्री अरविन्द	"	॥।)
अर्जुन	श्री शिवपूजन सहाय	१)
भीष्म	"	१)
आत्मकथा (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद)	"	१।)
अमर साहित्यिक	श्री शुकदेव राय	॥)
जगदीशचंद्र बोस	"	॥)
देशबंधु चित्तरंजन दास	"	॥)
मदनमोहन मालवीय	"	॥)
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	"	॥)
श्रीमती सरोजिनी नायडू	"	॥)

दिनकरजी की कुछ विशिष्ट रचनाएँ

कुरुक्षेत्र	३॥)
मिट्टी की ओर	४)
रसवन्ती	२॥)
सामधेनी	२॥)
धूप-छाँह	१।)
बापू	१।)

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

आज का जापान

लेखक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

हिन्दी के जाने-माने लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक, बौद्ध भिक्षु भदन्त आनन्द कौसल्यायन हाल में ही जापान गए थे। द्वितीय महायुद्ध से जर्जर जापान ने थोड़े दिनों में ही अपनी जैसी उन्नति की और जैसी कार्य-तत्परता एवं दक्षता दिखाई है, वह वहाँ की कर्मठ जनता के ही बूते की बात थी। पुस्तक में कौसल्यायनजी ने आधुनिक जापानी जीवन का आँखों-देखा वर्णन प्रस्तुत किया है। साथ ही भाषा इतनी सुबोध और शैली इतनी आकर्षक है कि इस पुस्तक को पढ़ने से यात्रा-विवरण की रूक्षता नहीं, अपितु उपन्यास के आनन्द की उपलब्धि होती है। छपाई-सफाई की दृष्टि से भी पुस्तक अद्वितीय है। मूल्य २॥)

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

आलोचना-साहित्य की अनुपम कृतियाँ

१. मिट्टी की ओर : श्री रामधारीसिंह दिनकर

वर्तमान कविता-साहित्य के संबंध में दिनकरजी के ओजस्वी भाषणों और सुचिंतित निबंधों का संग्रह। हिंदी-कविता की वर्तमान प्रगति को समझने के लिए इस पुस्तक से बढ़कर दूसरी कोई पुस्तक नहीं मिलेगी। इस पुस्तक की सभी रचनाएँ पढ़ने एवं मनन करने योग्य हैं। मूल्य—४)

२. दिनकर की काव्य-साधना : प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव

दिनकर-साहित्य के प्रेमियों की संख्या अगणित है। यह पुस्तक उन्हीं अध्ययनाभिलाषियों की सहायता करती है। दिनकरजी के काव्य की सभी विशेषताओं की ओर लेखक ने बहुत ही प्रभावशाली एवं रोचक ढंग से पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। मूल्य—२॥)

३. साहित्य-समीक्षा : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

यह पुस्तक लेखक के महत्त्वपूर्ण निबंधों का संग्रह है। साहित्य के सभी अंगों पर समुचित रूप से प्रकाश डाला गया है। लेखक की शैली ऐसी है कि बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। जगह-जगह तीखा व्यंग्य, दो टूक क्ति—लेखक की अपनी विशेषता है। मूल्य—२॥।)

४. काव्य और कल्पना : डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

इस पुस्तक के सभी निबंध लेखक के गंभीर अध्ययन एवं पर्याप्त विवेचन के द्योतक हैं। सभी निबंध विचारोत्तेजक हैं। हिंदी-साहित्य के पाठकों के लिए यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली है। मूल्य—३॥)

५. निर्गुण काव्य-दर्शन : प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी

निर्गुण-काव्य के संबंध में एक स्थान पर इतनी सामग्री इस पुस्तक को छोड़कर और कहीं नहीं मिलेगी। लेखक ने निर्गुण-साहित्य के मूल्यांकन में केवल अध्ययन का ही सहारा नहीं लिया है, उसने काफी चिंतन के बाद इसकी सभी बारीकियों का अंकन किया है। मूल्य—५)

६. उपन्यास के मूल तत्त्व : प्रो० जयनारायण, एम० ए०

सफल उपन्यास के लिए किन-किन तत्त्वों का होना आवश्यक है तथा उपन्यास-लेखक को उपन्यास लिखते समय किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए—आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पुस्तक उपन्यास के पाठकों के लिए ही नहीं, अपितु उपन्यास-लेखकों के लिए भी पठनीय है। मूल्य—१)

७. चिन्ताधारा : आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

यह पुस्तक लेखक के कई चिंतन-प्रधान निबंधों का संग्रह है। सभी निबंध अध्ययनपूर्ण, सुचिंतित एवं मौलिक हैं। लेखक ने प्रभावोत्पादक एवं तार्किक ढंग से साहित्य के संबंध में अपना विचार प्रकट किया है मूल्य—३)

८. साहित्य-विवेचन : प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

आलोचना-साहित्य में यह पुस्तक निराली है। इस पुस्तक के सभी निबंध पाठक को सोचने एवं मनन करने के लिए काफी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। साहित्य के अध्येताओं के लिए यह पुस्तक स्पृहणीय है। मूल्य—२॥)

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

Regd. No. P. 784 DECEMBER, 1954

AVANTIKA

Annual Subs. Rs. 10/- This Issue Rs. 1/-

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

की

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१. अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दों में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२. अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है।

३. अवन्तिका का वर्षारंभ जनवरी से होता है।

४. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

मुद्रक—श्रीराजेश्वर झा, श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४